श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १२१

राजानक-श्रीमहिमभट्टप्रणीतः

व्यक्तिविवेकः

श्रीराजानकरुय्यकविरचितसंस्कृतव्याख्यया

रायपुरस्थशासकीयसंस्कृतमहाविद्यालयप्राध्यापक-
एम०ए०-साहित्यशास्त्राचार्य-

पं० रेवाप्रसादद्विवेदिकृतः

तदुभयहिन्दीभाष्येण च सनाथीकृतः





चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९
जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी (भारत)

क्या ? (उत्तर) ऐसी शंका नहीं की जानी चाहिए, कारण कि यहाँ (अश्राद्धभोजी में) नञ् का श्राद्ध—इस उत्तरपदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता, अपितु उस (श्राद्ध) का भोजी इस—'भोजी' के साथ प्रतीत होता है, कारण कि भोजी ही प्रधान है क्योंकि वह यहाँ विशेष्य है। वहाँ ('भोजी' में) भी कर्त्रंश (णिच् प्रत्यय से प्रतीत भोजकर्ता) ही प्रधान है न कि (भुज) क्रियांश इससे—श्राद्धभोजन करने वाला कर्ता प्रतीत होता है, केवल श्राद्धभोजनमात्र नहीं। क्योंकि 'कर्ता' के लिए णिनि प्रत्यय किया गया है।

ततस्तदभिसम्बन्ध एव शाब्दो न क्रियाभिसम्बन्धः। स हि सामर्थ्यादवसीयते, तदुपादानमन्तरेण कर्तृत्वानुपपत्तेः। तच्छ्रवणमात्रविप्रलम्भकृतश्चायं प्रसज्यप्रतिषेधभ्रमः, न पुनरास्यतेन तत्र तद्रूपता नाम काचित् सम्भवति। सा हि वाक्यादेवावसीयते न वृत्तेः, तयोः सिद्धसाध्यार्थनिष्ठतया भिन्नार्थत्वादिति भवितव्यमेव तत्र समासेन। एवमसूर्यंपश्यादिष्वपि द्रष्टव्यम्। इह तु प्रतिषेधस्य प्राधान्यविवक्षा, न विधेः। तत् कोऽवकाशः समासस्य। यथा—

'भुङ्क्ते सदा श्राद्धमयं परांश्चोपतापयेदित्ययथार्थमेव।
सम्यक् स्वभावोऽवगतोऽस्य यावन्न श्राद्धभोजी न परोपतापी॥' इत्यत्र।

अत्र हि प्रतीयमानसत्तादिक्रियासमन्वयो नञर्थस्य प्राधान्येन प्रतीयते। न तु तद्विशिष्टस्योत्तरपदार्थस्य विधिरित्येष एव प्रसज्यप्रतिषेधविषयो युक्तो नान्यः अन्यथात्रापि समासवैशसोपगमप्रसङ्गः पूर्ववत् दुर्निवारः स्याद् विशेषाभावात्।

तस्मादस्य नञो विधेयार्थनिष्ठतया प्रधानस्यानूद्यमानार्थपरतया तद्विपरीतवृत्तिना संरब्धवत्पदेन सदाचारनिरतस्येव पतितेन तैर्विद्वद्भिर्नेष्यत एवेति स्थितम्।

नञर्थस्य विधेयत्वे निषेध्यस्य विपर्यये।
समासो नेष्यतेऽर्थस्य विपर्यासप्रसङ्गतः॥ ५॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

इस कारण शब्द द्वारा उस (कर्त्रंश) के साथ ही सम्बन्ध प्रतीत होता है, क्रिया के साथ नहीं। वह (क्रिया के साथ सम्बन्ध) तो (अपने आप) वाक्यार्थ के बल से प्रतीत हो जाता है, कारण कि (कर्ता का) कर्तृत्व क्रिया के बिना बनता नहीं। उस (क्रियांश) का शब्द द्वारा कथन होने से ही यह प्रसज्यप्रतिषेध का भ्रम हो उठा है। वस्तुतः वहाँ (अश्राद्धभोजी में) तद्रूपता (प्रसज्यप्रतिषेध रूपता) बनती नहीं। उसकी प्रतीति तो एकमात्र वाक्य से होती है। समास से नहीं। क्योंकि वे दोनों (वाक्य और समास) भिन्नार्थक, होते हैं। वाक्य साध्यार्थक होता है और समास सिद्धार्थक। इसलिए वहाँ (अश्राद्धभोजी पर्युदास में) तो समास होना ही चाहिए। इसी प्रकार असूर्यंपश्या आदि में समझना चाहिए। यहाँ (असंरब्धवत्) में

तो प्रतिषेध की प्रधानता विवक्षित है, विधि की नहीं। इसलिए (वहाँ) समास का मौका ही कहाँ ? जैसे यहाँ—

'यह सदा श्राद्ध खाता है। अतः शत्रुओं को भी परास्त कर सके—यह सर्वथा झूठ है। इसका स्वभाव ठीक से जान लिया गया है कि जबतक—श्राद्धभोजी नहीं होता तबतक परोपतापी भी नहीं होता।'

यहाँ नञ् का सम्बन्ध 'अस्ति' आदि सत्तावाचक क्रियाओं से ही प्रतीत होता है। वह भी प्रधान होकर उस (नञ्) से विशिष्ट उत्तरपदार्थ की विधि नहीं। अतः यही उदाहरण प्रसज्य-प्रतिषेध का ठीक स्थल समझा जाना चाहिए। और कोई नहीं। नहीं तो यहाँ भी (भुङ्क्ते सदा श्राद्धमयं में भी) समास वैशस—समासजन्य विवक्षितार्थघात स्वीकार करना पड़ जायगा। जैसे पहले (अश्राद्धभोजी) स्वीकार किया था। कारण कि अन्तर तो कोई है नहीं।

इसलिए इस (असंरब्धवत् के) नञ् का संरब्धवत् पद के साथ सम्बन्ध विद्वज्जन उसी प्रकार नहीं ही मानते जिस प्रकार सदाचारी का पतित के साथ, कारण कि नञ् विधेय-अर्थ-परक होने से प्रधान है, और 'संरब्धवत्' पद उद्देश्य-अर्थ परक होने से उससे विरुद्ध अप्रधान।

इस सम्पूर्ण विवेचन का संग्रह इस प्रकार होगा—

'जब नञर्थ (निषेध) प्रधान हो और निषेध्य अर्थ अप्रधान हो तब समास नहीं माना जाता। उससे वाक्यार्थ में उलट-फेर की सम्भावना होने लगती है।'

तच्छ्रवणं क्रियाश्रवणम्। तयोरिति सिद्धार्था वृत्तिः। साध्यार्थं वाक्यम्। असूर्यंपश्या-दिष्विति। अत्रापि नञः सूर्येणोत्तरपदार्थेन नाभिसम्बन्धः, अपितु तद्द्रष्ट्रर्थेनैव। तत्रापि कर्त्रंशः प्रधानं न क्रियांशः कर्त्तरि खशो विधानादिति पूर्ववदवसेयम्।

भुङ्क्त इति। अत्र हि वाक्यस्य क्रियाप्राधान्यं प्रतीयमानभवत्यादिक्रियादिक्रियापेक्षे नञः समन्वये श्राद्धभोजी न भवतीति वाक्यार्थः। अश्राद्धभोजीत्यत्र तु नञा भोक्तृसम-न्वये श्राद्धभोक्तृव्यतिरिक्तोऽपि विघसाश्यादिः प्रतीयते। यतश्चात्र अश्राद्धभोजीत्यादौ समासे प्रतिषेधो नेष्टः, तत एव समर्थसमासस्तद्विपर्ययेणासमर्थसमासश्च कारिकाद्वयेनो-क्तः। वाक्यभेदाभेदयोस्तु सामर्थ्यात् प्रतीतिरित्यवचनम्।

तच्छ्रवण = उसका श्रवण अर्थात् क्रिया का शब्द तक कथन।
अर्थात् समास सिद्धार्थ होता है। वाक्य साध्यार्थ।

असूर्यंपश्यादिषु = यहाँ भी नञ् का उत्तरपदार्थ सूर्य के साथ सम्बन्ध नहीं होता अपितु उसके द्रष्टा रूपी अर्थ के साथ हाँ उसमें कर्त्रंश प्रधान है। क्रियांश नहीं। कारण कि कर्त्ता-अर्थ में खश् प्रत्यय का विधान किया गया है। इस प्रकार पूर्ववत् संगति लगानी चाहिए।

भुङ्क्ते = इस श्लोक में वाक्यार्थ है—'श्राद्धभोजी नहीं है'। यह वाक्य है अतः इसमें क्रिया की प्रधानता है, और नञ् का सम्बन्ध भवति आदि उन क्रियाओं से होता है जो (श्लोक में कथित न होने से) ऊपर से लाई जाती हैं। इसके विरुद्ध 'अश्राद्धभोजी'—इत्यादि में नञ् का सम्बन्ध होता है भोक्ता से। तब श्राद्धभोक्ता से भिन्न—विघसाशी आदि भी प्रतीत होते हैं। और इसीलिए यहाँ समर्थ-समास सी है, क्योंकि 'अश्राद्धभोजी' इत्यादि समास में प्रतिषेध (निषेध) विवक्षित नहीं है। इसके विरुद्ध असमर्थसमास पिछली दो कारिकाओं द्वारा बतलाया गया है। (समास करने से वाक्य एक ही रहता है, समास न करने से वाक्य दो हो जाते हैं—ये जो)

वाक्यभेद तथा वाक्य की एकता (हैं वे स्वयं ही आकांक्षा आदि के) बल से समझ में आ जाती हैं, अतः उनको नहीं कहा गया।

विमर्श : आचार्य ने यह स्थिर किया था कि प्रसज्यप्रतिपेध में समास नहीं होता। क्योंकि उसमें नञ् प्रधान होता है। 'असंरब्धवत्' में नञ् प्रधान है अतः उसे समास में डालकर अप्रधान करना -विधेयाविमर्श दोष है। प्रतिपक्षी ने प्रसज्यप्रतिपेध में भी समास का अस्तित्व सिद्ध करना चाहा। उसने एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया जिसमें कारक और क्रिया दोनों अंश थे और उन दोनों में से उसके अनुसार नञ् का अन्वय क्रियांश से था। वह उदाहरण था—'अश्राद्धभोजी'। इसमें 'अ' यह नञ् है। श्राद्धकर्मक भोजन—क्रिया है और णिनिप्रत्यय कर्त्ता कारक का वाचक। प्रतिपक्षी यहाँ नञ् 'अ' का सम्बन्ध 'श्राद्धभोजन'-क्रिया से मानता है। प्रसज्यप्रतिपेध नें 'नञ्' का सम्बन्ध क्रिया से ही होता है, अतः उसकी स्थापना है कि यहाँ समास तो है ही—प्रसज्यप्रतिपेध भी है। इसलिए असंरब्धवत् में भी प्रसज्यप्रतिषेध के साथ समास सदोष नहीं।

आचार्य का उत्तर है कि 'अश्राद्धभोजी' में नञ् का सम्बन्ध क्रियांश से नहीं होता। कारकांश से ही होता है। यहाँ कारक दो हैं। एक श्राद्ध और दूसरा 'णिनि' प्रत्यय से प्रतीत श्राद्धभोजन का कर्त्ता। इनमें से नञ् का सम्बन्ध श्राद्ध-रूपी कारकांश से न होकर कर्त्ता-रूपी णिनिप्रत्ययार्थ कारकांश से होता है। (ऐसी स्थिति में उसका अर्थ हो जाता है—श्राद्ध के समान इस 'विघस'—भोजन के बाद शेष रहा थाली का उच्छिष्ट आदि खाने वाला।) कारण कि वही कारकांश प्रधान है, क्योंकि वही एक विशेष्य है अन्य—श्राद्ध, भोजन—विशेषण हैं। विशेषण कभी भी विशेपण में अन्वित नहीं होता। सभी विशेषण केवल विशेष्य में अन्वित होते हैं। इसी प्रकार 'असूर्यंपश्या'—'सूर्य को देखने वाली' में भी नञ् का अन्वय—'देखने वाली' इन शब्दों से प्रतीत द्रष्टा में होता है।

इसलिए वस्तुतः 'अश्राद्धभोजी' में भी पर्युदास ही है। प्रसज्यप्रतिषेध नहीं। यदि प्रसज्य-प्रतिपेध का प्रयोग करना हो तो 'न श्राद्धभोजी'—'श्राद्ध-भोजी नहीं' इस प्रकार नञ् को स्वतन्त्र रखना होगा। ग्रन्थकार ने इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए 'भुङ्क्ते सदा''' यह उदाहरण उपस्थित किया है।

निष्कर्ष यह कि प्रतिपक्षी द्वारा प्रतिपादित प्रसज्यप्रतिषेध में नञ् के समास का औचित्य सिद्ध नहीं हुआ। फलतः उसके दृष्टान्त से 'असंरब्धवत्' में भी प्रसज्यप्रतिषेध में समास का औचित्य सिद्ध नहीं हुआ। निदान यहाँ से विधेयाविमर्श दोष—हट नहीं सका।

प्रस्तुत प्रकरण के मूल ग्रन्थ की—'अन्यथात्रापि समासवैशसोपगमप्रसङ्गः पूर्ववद् दुर्निवारः स्यात्'—इस पंक्ति में—दो कठिनाई हैं—एक तो 'अत्र' सर्वनाम का परामर्श विषय समझना और दूसरी—समासवैशसोपगमप्रसङ्गः में 'समासवैशस' का अर्थ = समासकृत—वैशस अथवा समास विषयक वैशस'। हमने 'अत्र' का परामर्श विषय 'भुंक्ते सदा श्राद्ध' पद्य का 'न श्राद्धभोजी' अंश माना है और इसी के अनुसार 'समासवैशस—का अर्थ समासजनित या समासकृत—वैशस। कारण कि वही सन्निकृष्ट और प्रसङ्ग में तात्कालिक है।

एवमेकं विधेयाविमर्शं विचार्य द्वितीयमुदाहरति—योऽसावित्यत्रेति। **तच्छब्दं प्रत्याकाङ्क्षायाः केनाप्यनिवर्त्तनात्।**

इस प्रकार एक विधेयाविमर्श का विचार कर दूसरे (विधेयाविमर्श) को दिखलाते हैं— योऽसावित्यत्र इत्यादि द्वारा। (अर्थात् वहाँ केवल यद् का प्रयोग अधूरा है) कारण कि (वहाँ यद् शब्द की) तद् शब्द के प्रति जो आकांक्षा है उसे दूर करने वाला कोई नहीं है।

किञ्च योऽसावित्यत्र यदः केवलस्यैव प्रयोगोऽनुपपन्नः। यत्र यत्तदोरेकतरनिर्देशेनोपक्रमस्तत्र तत्प्रत्यवमर्शिना तदितरेणोपसंहारो न्याय्यः तयोरप्यनुवाद्यविधेयार्थत्वेनेष्टत्वात् तयोश्च परस्परापेक्षया नित्यत्वात्। अत एवाहुः–'यत्तदोर्नित्यमभिसम्बन्ध' इति। स चायमनयोरुपक्रमोपसंहारो द्विविधः शाब्दश्चार्थश्चेति। तत्रोभयोरुपादाने सति शाब्दः। यथा—

'यदुवाच न तन्मिथ्या यद् ददौ न जहार तत्।'

यथा च—

'स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः स पूज्यकर्मा सुहृदां शृणोति यः।' इति।

और भी, 'योऽसौ' इस प्रकार केवल 'यद्' शब्द का ही प्रयोग अधूरा रहता है। जहाँ (कहीं) 'यद्' में से किसी एक के निर्देश से (वाक्य) आरम्भ होता है वहाँ उसके प्रत्यवमर्शी दूसरे के निर्देश से ही उपसंहार करना उचित है। कारण कि वे दोनों (यद् और तद्) भी अनुवाद्य और विधेय पदार्थों के लिए प्रयुक्त होते हैं। और उनमें दोनों एक दूसरे की आकांक्षा सदा रखते हैं। इसलिए कहा है—यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः—यद् और तद् का सम्बन्ध नित्य है।

इन दोनों का जो यह उपक्रम और उपसंहार (का क्रम) है वह भी 'शाब्द और आर्थ' इस प्रकार दो प्रकार का होता है। दोनों में से शाब्द वह होता है जिसमें दोनों (यद् और तद्) शब्दोपात्त होते हैं। यथा—

'जो कह दिया वह झूठा नहीं किया और जो दे दिया उसे लौटाया नहीं।'

और जैसे—

'वह दुर्मति है जिसका झुकाव श्रेय की ओर नहीं। उसका कार्य पूज्य है जो सुहृज्जनों की सुनता है'

एकतरेति। क्वचिद्यच्छब्देनोपक्रमे तच्छब्देनोपसंहारः। क्वचित्तच्छब्देनोपक्रमे यच्छब्देनोपसंहारः प्रसज्येत। एतच्च द्वयं शाब्दोपक्रमोपसंहारक्रमेणोदाहरिष्यति। तयोरपीति। अपिशब्दो नञर्थं समुच्चिनोति। प्रसज्यप्रतिषेधे हि नञर्थो विधेयो निषेध्योऽर्थोऽनुवाद्यः। पर्युदासे तु विपर्यय इत्युक्तं प्राग्। अनुवाद्यविधेयेति। यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धेऽपि शब्दशक्तिस्वाभाव्याद् यदोऽनुवाद्यविषयत्वम्। नित्यत्वादिति। अपेक्षाप्राणतयावस्थानात्। शाब्द इति शब्देनोभयोः संस्पर्शात्। उभयोः संस्पर्शाभाव आर्थत्वम्। तत्र द्वयी गतिः अन्यतरानुपादानं [द्वयोरनुपादानञ्चेति] द्वयोरनुपादानमपि यत्तदाश्रयभावेन द्विधा। क्रमेण चैतदुदाहरिष्यति।

कहीं आरम्भ में 'यद्' शब्द रहता है तो उपसंहार 'तद्' शब्द से होता है। कहीं आरम्भ में 'तद्' शब्द रहता है तो उपसंहार 'यद्' शब्द से होता है। इन दोनों के उदाहरण उपक्रमोपसंहार क्रम के शाब्द-भेद के प्रसङ्ग में देंगे।

इसमें अपि शब्द 'नञर्थ' का समुच्चय करता है। जैसे कि पहले कहा है—प्रसज्यप्रतिषेध

में नञर्थ (निषेध) विधेय होता है और निषेध्य अर्थ अनुवाद्य या उद्देश्य और पर्युदास में इसके विरुद्ध ।

यद् और तद् का सम्बन्ध नित्य होने पर भी शब्द की शक्ति का कुछ ऐसा स्वभाव है कि यद् का विषय अनुवाद्य रहता है—और 'तद्' का विधेय ।

नित्य होने से अर्थात् अपेक्षा को प्राणतुल्य अपनाकर सम्बन्धित रहने से ।

दोनों का कथन शब्द से होने के कारण। दोनों ही शब्द से कथित न होने से आर्थ (अर्थात्—एक का शब्द से कथन हो दूसरे का नहीं)। उसमें (आर्थत्व में) भी दो प्रकार होते हैं—दो में से एक का अनुपादान—शब्द से कथन न होना और दोनों का ही अनुपादान—शब्द से कथन न होना। दोनों का अनुपादान भी दो तरह का होता है यद्—को लेकर और तद् को लेकर ।

विमर्श : व्यक्तिविवेककार—'संरम्भः करिकीट' पद्य में दूसरा विधेयाविमर्श दोष दिखलाते हैं। वह है यद् और तद् शब्द के आधार पर। यद् (जो) और 'तद्' (वह—या—सो)—दोनों ऐसे सर्वनाम हैं—जिनका सम्बन्ध प्रत्येक वाक्य में बना ही रहता है। जिस भी वाक्य में 'यद्' का प्रयोग होगा उसमें 'तद्' की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार जिस वाक्य में तद् का प्रयोग होगा उसमें यद् की। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि दोनों में से उपादान एक का ही होता है। परन्तु दूसरे की अपेक्षा वहाँ भी होती है। पाठक उसे अपने आप आक्षेप द्वारा खींच लाता है। परन्तु उसकी कुछ खास स्थितियाँ होती हैं जिन्हें अभी-अभी आगे स्वयं ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है। ऐसी स्थिति में जब कभी उन स्थितियों के नियमों के न होते हुए भी यद् या तद् में से किसी एक का ही उपादान होता है तो दूसरे के बिना वह वाक्यार्थ अधूरा पड़ा रह जाता है। तब दो दोष होते हैं—यद् का उपादान न होकर केवल तद् का उपादान होने से 'वाच्यावचन' और तद् का उपादान न होकर केवल यद् का उपादान 'विधेयाविमर्श'। कारण कि यद् पूर्वोक्त वस्तु का ज्ञान कराता है, वह किसी नवीन वस्तु का ज्ञापक नहीं, अतः वह अनुवाद्य विषयक—कहलाता है। अनुवाद्य का अर्थ है अनुवाद के योग्य अर्थात् जिसका कथन हो चुका है, अब केवल उसका उल्लेखमात्र कर देना है। अतः वह अप्रधान होता है। कारण कि वह सदा अप्रधानवाक्य में ही प्रयुक्त होता है। तद् सर्वदा नवीन वस्तु का ज्ञापक बनकर आता है। यह नवीन वस्तु—होती तो वही है जिसे पहले उपवाक्य में यद् कह चुकता है, किन्तु तद् द्वारा कहे जाते समय वह अनुवाद्य नहीं रहती। उसका सम्बन्ध प्रधान क्रिया से हो जाता है अतः वह विधेय कहलाती है। वाक्य में विधेय ही प्रधान होता है और यद् नवीन रूप से उपस्थित होता है। पिछले दिए उदाहरण में कहा गया 'उसे झूठा नहीं किया' जिज्ञासा हुई क्या ? या किसे ? इससे स्पष्ट है कि श्रोता को अभीतक 'उसे झूठा नहीं किया' इस क्रिया का कर्म विशेष रूप से ज्ञात नहीं है। वक्ता जब कहेगा तब ज्ञान होगा। ज्ञान होने के बाद यह साबित होगा कि वस्तु वह उसकी पूर्वानुभूत है। जैसे इसी वाक्य में वक्ता ने कहा—'जिसे कह दिया'। अर्थ निकला 'जिसे कह दिया—उसे झूठा नहीं किया'। श्रोता को ज्ञात हुआ कि 'झूठा न करने' का कर्म कथित 'वचन' था। वचन का ज्ञान श्रोता को पहले से था, इसीलिए उसने 'वचन' के लिए कोई जिज्ञासा प्रकट नहीं की। इस प्रकार 'तद्' शब्द द्वारा कथित पदार्थ—नवीन और प्रधान क्रिया से सम्बन्धित होने के कारण प्रधान होता है।

'यद्' के रहने से अनुवाद्य का ज्ञान जैसा स्पष्ट चाहिए वैसा नहीं हो पाता। तद् के प्रयोग में

अनुवाद्य का स्पष्ट कथन आवश्यक है और अनुवाद्य के लिए 'यद्' का कथन। इस प्रकार अवश्यकथनीय यद् शब्द का कथन न होने से वाच्यावचन दोष होता है कारण कि वाच्य का अर्थ होता है अवश्यकथनीय और अवचन का अर्थ अकथन। तद् के न रहने से अनुवाद्य की प्रतीति तो जैसो चाहिए वैसी हो जाती है पर विधेय की प्रतीति वैसी नहीं होती। विधेय की प्रतीति प्रधानरूप से होनी चाहिए। वह तभी संभव है जब उसका शब्दतः कथन हो। इसलिए तद् शब्द का प्रयोग भी आवश्यक होता है। इस प्रकार तद् शब्द के अभाव में विधेय की प्रतीति तो होती है परन्तु अप्रधान रूप से। प्रधानरूप से नहीं। जब कि होनी चाहिए प्रधानरूप से। अतः यहाँ 'विधेयाविमर्श' दोष होता है। विधेय का अर्थ होता है जिसका विधान किया जा रहा हो। विधान जिसका किया जाता है वाक्य में वही प्रधान होता है। जैसे एक बार 'पटं वय'—'कपड़ा बुन दो' कह दिया गया और उसके बाद 'रक्तं पटं वय'—'लाल कपड़ा बुनो' कहा जाय तो द्वितीय वाक्य में 'रक्त' ही नवीन तथा विधेय होता हैं, कारण कि इस वाक्य में उसी का नवीन विधान किया गया है। इसलिये 'रक्तं पटं वय' में पट और वयन क्रिया की अपेक्षा वही 'रक्तत्व' प्रधान भी होता है। यदि 'रक्त' शब्द न कहा जाय तो ऐसा हो सकता है कि दैवात् कपड़ा 'लाल' रङ्ग का ही बुन दिया जाय, तब भी 'रक्तं पटं वय' के कथन से लाल रङ्ग में जो प्रधानता आती थी वह प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार विधेयाविमर्श में विधेय का कथन न होने से उसकी प्रतीति तो यथाकथंचित् होती ही हैं कारण कि—यद् शब्द का प्रयोग रहता है, तथापि प्राधान्येन नहीं होती अतः—विधेय का प्राधान्येन अविमर्श या अज्ञान होने से विधेया-विमर्श दोष होता है।

यद्यपि विधेय भी अवश्यकथनीय होता है अतः उसका कथन न होने से वाच्यावचन दोष तद् शब्द के अनुपादान में भी माना जा सकता है, तथापि तद् के अभाव का यह दोष यद् के अभाव के दोष के समान केवल वाच्यावचन मात्र नहीं है, प्रत्युत वह विधेयाविमर्श भी है। 'यद् से प्रतीत अर्थ प्रधान नहीं होता—वह अप्रधान होता है, अतः उसके अभाव में प्राधान्येन अप्रतीति रूप विधेयाविमर्श सम्भव नहीं। इसके विरुद्ध तद् से प्रतीत अर्थ प्रधान होता है। अतः उसके अभाव में वाच्यावचन तो हो सकता है पर विधेयाविमर्श भी सम्भव है। दोनों दोषों में से विधेया-विमर्श ही अधिक अनौचित्यकारी सिद्ध होता है, अतः वही माना जाना चाहिये। जिसे वाच्या-वचन में अधिक अनौचित्य प्रतीत हो वह वाच्यावचन दोष मान सकता है।

विशेष—इस प्रसङ्ग में व्यक्तिविवेकव्याख्यान की एकपंक्ति खंडित प्रतीत होती है। वह है—'तत्र द्वयी गतिः, अन्यतरानुपादानं द्वयोरनुपादानमपि यत्तदाश्रयभावेन द्विधा क्रमेण चैतदुदाहरिष्यति।'—इसका ठीक अनुवाद यह होगा—उस (आर्थत्व) में भी दो पद्धति हैं। किसी एक का अनुपादान दोनों का अनुपादान भी यत्तदाश्रयभाव से दो प्रकार का होता है। इसी क्रम से इसके उदाहरण आगे देंगे।' यहाँ 'अपि' या 'भी' से प्रतीत होता है कि पंक्ति इस प्रकार की होनी चाहिये—'द्वयी गतिः अन्यतरानुपादानं द्वयोरनुपादानं च। द्वयोरनुपादानमपि।' अर्थात्—'दो पद्धति है किसी एक का अनुपादान और दोनों का अनुपादान। दोनों का अनुपादान भी०।' यहीं इसी विषय को स्पष्ट करते हुए 'द्वयोरनुपादानमपि द्विधा'—कहकर व्याख्या-नकार ने जो कहा है—'क्रमेण चैतदुदाहरिष्यति'—तदनुसार उभयानुपादन का उदाहरण 'उत्पत्स्यते तु मम' इत्यादि है। वहाँ यद् और तद् दोनों का अनुपादान दर्शित है। यही विषय काव्यप्रकाश में भी आया है। वहाँ अन्यतर के अनुपादान में ही दो भेद परिलक्षित होते हैं।

'द्वयोरनुपादान' का तो जो उदाहरण व्यक्तिविवेककार ने दिया है—'ये नाम' पद्य का उत्तरार्ध 'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोपि समानधर्मा' वही काव्यप्रकाशकार ने भी अपनाया है। इसी प्रकार हेमचन्द्र ने भी अपने काव्यानुशासन में अन्यतर अनुपादान के ही दो भेद माने हैं।

एकतरस्योपादाने सति आर्थः, तदितरस्य अर्थसामर्थ्येनाक्षेपात्।

तत्र तदः केवलस्योपादाने सत्यार्थस्त्रिविधः प्रसिद्धानुभूतप्रक्रान्तवस्तुविषयतयोपकल्पितसन्निधिना यदा तस्याभिसम्बन्धात्।

तत्र प्रसिद्धार्थ-विषयो यथा—

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥'

(वहाँ उपक्रमोपसंहार यद् तद् में सं) किसी एक के कथन होने पर आर्थ होता है, क्योंकि वहाँ दूसरे का अर्थ के आधार पर आक्षेप करना पड़ता है।

उनमें केवल तद् का उपादान होने पर आर्थ तीन प्रकार का होता है—कारण कि वह (तद् शब्द) तीन प्रकार का होता है—प्रसिद्ध वस्तु विषयक, अनुभूत वस्तु विषयक और प्रक्रान्त वस्तु विषयक। इसलिए यद् स्वयं उसके पास चला आता है और उसका उससे (तद् शब्द से) सम्बन्ध हो जाता है।

प्रसिद्धार्थ विषयक—जैसे (तुम्हारे इस) कपालधारी (शङ्कर) से मिलने के हठ से (तो) अब दो (चीजें) शोचनीय हो गईं। एक तो कलावान् की वह कान्ति भरी कला और दूसरी इस आँख वाले विश्व की नयनचन्द्रिका तुम।'

अनुभूतविषयो यथा–'ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती'ति। यथा—

'तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा तच्चेत् स्मितं का सुधा
सा दृष्टिर्यदि हारितं कुवलयैस्ताश्चेद्गिरो धिङ् मधु।
सा चेत् कान्तिरतन्त्रमेव कनकं किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः॥'

अनुभूतार्थ विषयक—जैसे (वासवदत्ता के जलने की खबर सुनकर उदयन रत्नावली में कहता है)—वे कातर आँखें (इधर-उधर) फेंकती हुई।' (और) जैसे—

यदि वह चेहरा (विद्यमान है) तो चाँद की कथनी बन्द, यदि वह मुसकान (है) तो अमृत क्या ? यदि वह नजर है तो नीले कमलों की हार समझिये, यदि वे पदावली हैं तो मधु को धिक्कार, यदि वह कान्ति है तो सुवर्ण की कोई पूछ नहीं। और अधिक क्या कहें—यह सच है कि विधाता की संसार रचना जोड़ी की दो चीजें बनाने में विमुख है।

प्रक्रान्तविषयो यथा—

'कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः॥'

प्रक्रान्तविषयक यथा—'केवल नीति कातरता है (और केवल) शौर्य शेर (जैसे हिंसक पशुओं) का कार्य है। इसलिये उसने (अतिथि ने) उन दोनों को मिलाकर सिद्धि चाही।'

उपकल्पितो नित्यसापेक्षत्वादुपस्थापितः। अत्र च प्रसिद्धादिविषयत्वं यदा निर्दिष्टम्।

सा कला या प्रसिद्धेति स्फुटत्वेन प्रतीतेः। क्वचित् तदाऽपि व्यपदिश्यते तस्य यच्छब्दे-नैकविषयत्वात्। ते इति ये मयैवानुभूते इत्यर्थः। अन्वियेष स इति। अत्र स इति यः प्रक्रान्त इत्यर्थः।

उपकल्पित—अर्थात् नित्यसापेक्ष होने से उपस्थित। यहाँ प्रसिद्ध-विषयता आदि—यद् शब्द से बतला दी गई है। क्योंकि वह कला जो प्रसिद्ध है—ऐसी प्रतीति स्पष्टरूप से हो जाती है। कहीं-कहीं तद् से भी बतलाई जाती है क्योंकि उसका भी वही विषय होता है जो यद् का।

ते—वे जिनका अनुभव अकेले मैंने ही किया है।

अन्वियेष स—यहाँ 'स = वह' का अर्थ है वह जो प्रकरण में चला आ रहा है।

विमर्श : तद् शब्द से चार प्रकार के पदार्थों का परामर्श होता है—

१. एक वे जो पूर्वानुभूत होते हैं।

२. दूसरे वे जो प्रसिद्ध होते हैं।

३. तीसरे वे जो प्रकरण से प्राप्त होते हैं और

४. चौथे वे जो इन तीनों से अतिरिक्त होते हैं।

इनमें अतिरिक्त तीनों के उदाहरण अभी अभी ऊपर दिये गये हैं। व्यक्तिविवेकव्याख्यान द्वारा वे स्पष्ट भी हैं। तीनों की विशेषता यह है कि इनके प्रयोग स्थलों में 'यद्' शब्द के उपादान की आवश्यकता नहीं होती। उसका स्वयं आक्षेप हो जाता है। 'कला च सा कान्तिमती', 'ते लोचने' और 'अन्वियेष सः' पर ध्यान देने से, यह बात स्पष्ट हो जाती है। अतः तद् शब्द को लेकर होने वाला आर्थ 'उपक्रमोपसंहारभाव' तीन प्रकार का होता है।

केचित् पुनरुपात्तवस्तुविषयतयोपकल्पितयोर्द्वयोरप्याक्षेपादस्य चतुर्थ-मपि प्रकारमिच्छन्ति। यथा—

'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥'

अत्र स कोऽप्युत्पत्स्यते यं प्रति यत्नो मे सफलीभविष्यतीत्युभयोरपि तयोरर्थादाक्षेपः।

कुछ लोग इसका चौथा भेद भी मानते हैं, कारण कि जब ये दोनों (यद् तद् शब्द) उन वस्तुओं के लिये प्रयुक्त होते हैं जो (वहीं) उपात्त रहती हैं तो दोनों का आक्षेप हो जाता है यथा—

'कुछ लोग, जो यहाँ वहाँ हमारी अवज्ञा करते हैं वे कुछ जानते भी हैं कि हमारा यह यत्न उनके लिये नहीं है। हमारे जैसा तो कोई पैदा होगा। इस काल की सीमा नहीं और पृथिवी भी बहुत बड़ी है।'

यहाँ 'वह कोई पैदा होगा जिसके लिये मेरा यत्न सफल होगा' इस प्रकार उन दोनों का आक्षेप अपने आप हो जाता है।

उपात्तवस्त्विति वक्ष्यमाणश्लोके कोऽपीति यदुपात्तं वस्तु तद्विषयत्वेनेत्यर्थः। अस्य उपक्रमोपसंहारस्य प्रक्रान्तवस्तुविषयस्य।

उपात्तवस्त्विति—अभिप्रायार्थ यह कि आगे कहे जाने वाले (ये नाम केचिदिह नः) पद्य में 'कोऽपि' इस प्रकार जो वस्तु कथित है उसके लिए।

अस्य—इसका = अर्थात् उपक्रमोपसंहार जो प्रक्रान्त वस्तु विषयक होता है उसका।

संगति—व्याख्या = 'तद् शब्द' का प्रयोग हर कहीं न हो—एतदर्थ नियम दिखलाते हुये त्याज्य स्थलों का निर्देश करते हुये लिखते हैं—

यश्चैकवाक्ये कर्तृत्वेनोक्तो यश्चेदमादिभिः।
तच्छब्देन परामर्शो न तयोरुपपद्यते॥ ६॥
यतोऽध्यक्षायमाणोऽर्थः स तेभ्यः प्रतिपद्यते।
न चासौ तत्परामर्शसहिष्णुरसमन्वयात्॥ ७॥

तद्यथा—

'स वः शशिकलामौलिस्तादात्म्यायोपकल्पताम्।'
'द्वैतबुद्धिमपास्येमां सा हि सर्वापदां पदम्॥'

अत्रैवेमामित्यत्रैतददसोः प्रयोगे तयोरप्येतदेवोदाहरणं द्रष्टव्यम्। अत्र चैकात्म्यायेति एषा हि विपदां पदमिति च पाठौ पठितव्यौ।

और जो (पदार्थ) एक वाक्य में कर्ता रूप से कथित हो या इदम् आदि सर्वनाम शब्दों से कथित हो उसका परामर्श 'तद्' शब्द से नहीं होता।

कारण कि उनके द्वारा (इदम् आदि द्वारा) जो पदार्थ निर्दिष्ट किया जाता है वह प्रत्यक्ष होता (वहीं उपस्थित रहता) है। इसलिये यह (अर्थ) तद् का परामर्श विषय नहीं बन सकता। कारण कि (तद् शब्द परोक्ष का परामर्श कराता है अतः इदम् आदि द्वारा परामृष्ट प्रत्यक्ष के साथ उसका) मेल नहीं बैठता। उदाहरणार्थ—

'वे चन्द्रचूड (शंकर) आपके लिये तादात्म्य के कारण बनें इस द्वैतभाव को दूर करो। वह सभी आपत्तियों का स्थान है॥' यहाँ 'इमाम्' की जगह 'एताम्' इस प्रकार 'एतद्' शब्द का प्रयोग तथा 'अमूम्' इस प्रकार 'अदस्' शब्द का प्रयोग करने पर उनका (इदम् तथा अदस् शब्दों का) उदाहरण भी यही पद्य समझना चाहिये। यहाँ (तादात्म्य की जगह) ऐकात्म्य और 'एषा हि विपदां पदम्' ऐसा पाठ होना चाहिये।

तच्छब्दात् प्रयोगातिप्रसङ्गनियमं प्रकाशयन् परिहाय विषयं प्रदर्शयति। यश्चैकवाक्य इति। एकवाक्यग्रहणेन परामृश्यस्य प्रत्यक्षायमाणतोक्ता। ततश्च वाक्यभेदे न दोषः। कर्तृत्वेनेति प्राधान्यं सूचयति अप्राधान्येऽस्य परामर्शो न दुष्यतीति ख्यापनार्थम्।

स इत्यर्थः परामृष्टः। तेभ्य इति कर्तृत्ववाचकादिदमादिभ्यश्च। असौ तच्छब्दः। असमन्वयादिति तच्छब्दस्य परोक्षार्थप्रतिपादकत्वे सम्बन्धविरोधादित्यर्थः। तादात्म्यायेति। शशिकलामौलिस्वरूपत्वायेत्यर्थः।

'तद्' के प्रयोग से वाक्य प्रयोग में जो अर्थ विषयक अव्यवस्था होती है उसे बतलाते हुए त्याज्य तत्त्वों पर प्रकाश डालते हैं—एकवाक्यग्रहणेन, 'एक वाक्य' शब्द के प्रयोग से यह बतलाया कि परामर्श विषय (वक्ता द्वारा वाक्यप्रयोग के समय) देखा जाता रहता है। इसलिये जहाँ वाक्य (एक न होकर) भिन्न हो तो (तद् शब्द के प्रयोग में) कोई दोष नहीं।

कर्तृत्वेन—'कर्तृत्व' शब्द द्वारा प्रधानता की सूचना दी। वह यह बतलाने के लिए कि अप्राधान्य (दशा) में इस (अप्रधान पदार्थ) का (तद् शब्द द्वारा किया गया) परामर्श दोषावह नहीं होता।

स (तेभ्यः प्रति०)—में 'स' इसके द्वारा (उसी पद्य में आया) 'अर्थ' का परामर्श किया गया।

तेभ्यः—अर्थात् कर्त्ता के वाचक और इदम्, अदस् आदि से 'शशिकलामौलिस्वरूप' बनने के लिये।

विमर्श : सामान्यतः 'तद्' शब्द परोक्षपदार्थ का परामर्शक होता है। किन्तु जब वह किसी एक वाक्य में कर्त्ता रूप से गृहीत होता है तब प्रत्यक्ष पदार्थ का ही परामर्श कराता है। इदम्, अदस् और 'एतद्' शब्द सदा प्रत्यक्ष पदार्थ का ही परामर्श कराते हैं।

इस स्थिति में परोक्षार्थवाची—तद् शब्द द्वारा प्रत्यक्षभूत अर्थ का परामर्श नहीं किया जा सकता। इतने पर भी कुछ स्थल ऐसे भी मिलते हैं जिनमें ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं।

उदाहरणार्थ—'वे भगवान् शंकर आपको उनके रूप में लीन करें'—इसमें 'वे' यह सर्वनाम (तद्) शब्द कर्त्ता के अर्थ में प्रयुक्त है। वाक्य एक ही है। अतः वह प्रत्यक्ष है और प्रधान भी है। ऐसी स्थिति में 'वे' शब्द का अर्थ पुनः 'तद् सर्वनाम' द्वारा नहीं कहा जाना चाहिये। कारण कि विना किसी सर्वनाम के भी वाक्यार्थ में कमी नहीं आती—'वे भगवान् शंकर आपको अभिन्न बना लें'—कहने से भी काम चल जाता है।

इस प्रसङ्ग में एक बात सोचने की यह है कि प्रकरण चल रहा था—तद् के प्रयोग में यद् के अध्याहार का। अतः उपर्युक्त विषय उससे मेल नहीं रखता। इतने पर भी प्रसङ्गपतित आनुसङ्गिक विषय भी कह दिया जाता है, अतः यह कह दिया गया।

'इदम्' और 'अदस्' की चर्चा भी 'योऽसौ कुत्र चमत्कृतेः' से संबन्धित नहीं है तथापि—एतद् आदि, शब्दों द्वारा कथित पदार्थ का भी परामर्श कभी-कभी—'तद्' शब्द द्वारा कर दिया जाता है—जैसे।

'इस द्वैतभाव को दूर करो, वह सभी आपदाओं की जड़ है।' इसमें—'इस', द्वारा उक्त द्वैतभाव का परामर्श 'तद्' = 'वह' द्वारा किया जा रहा है। इस प्रयार के प्रयोगों का निषेध करने के लिए—'इदम्–अदस्' की चर्चा भी की गई।

विशेष—व्य० व्याख्यान के 'तच्छब्दात्' की पंचमी के स्थान पर वस्तुतः षष्ठी चाहिए।

यदः पुनरार्थो द्विप्रकारः सम्भवति प्रक्रान्तवस्तुकल्पिततत्कर्मादिविषयेण तदा तस्याभिसम्बन्धात्। यथा 'यं सर्वशैला' इत्यादौ 'स हिमालयोऽस्ती'ति। यथा च 'आत्मा जानाति, यत् पापं माता जानाति यत् पिता' इत्यादौ तदात्मा जानातीत्यर्थावगतेः।

यद् का आर्थ (उपक्रमोपसंहार) दो प्रकार का हो सकता है। कारण कि 'प्रक्रान्तवस्तु को' तथा उस (कर्त्ता आदि रूप में कथित यद् शब्द) को कर्म आदि रूप से विषय बनाकर उपस्थित हुए (दो प्रकार के) 'तद्' शब्द से उसका सम्बन्ध होता है। जैसे—

'यं सर्वशैलाः = जिसे सभी पर्वतों ने' इत्यादि में 'स हिमालयोऽस्ति', 'ऐसा यह हिमालय है' इस प्रकार। या जैसे—

'आत्मा जानती है, जिस पाप को मां जानती है या जिसे पिता'—इत्यादि में 'उसे आत्मा जानती है' इस प्रकार का अर्थ समझ में आता है।

आर्थ इति उपक्रमोपसंहारक्रमो निर्दिष्टः। कल्पिततत्कर्मादीति। कल्पितं यद् यच्छब्द-निर्दिष्टं कर्मादि विषयोऽस्येति यच्छब्दार्थः कर्मकरणादितया विषयत्वेनास्य कल्पित इत्यर्थः।

आर्थ—इससे उपक्रमोपसंहारक्रम का निर्देश किया।

कल्पिततत्कर्मादि—कल्पित यद् शब्द से निर्दिष्ट कर्म आदि विषय है जिसका। अर्थात् 'यद्' शब्द का अर्थ कर्म करण (आदि कारक) रूप से जिसके लिए बताया गया हो।

विमर्शः पहले तद् शब्द के प्रयोग पर आश्रित—आर्थ उपक्रमोपसंहार—दिखलाया। अब 'यद्' शब्द के प्रयोग पर आश्रित—आर्थ उपक्रमोपसंहार दिखलाते हैं।—ग्रन्थकार का कहना है कि वह दो प्रकार का होता है। १. जहाँ प्रक्रान्तपरामर्शक तद् का आक्षेप होता है और २. जहाँ ऐसा तद् शब्द का (प्रयोग न हो) जिसके द्वारा ऐसे पदार्थ का परामर्श हो रहा हो जो यद् शब्द द्वारा कर्म या करण आदि कारक के रूप में कहा जा चुका हो। जैसे—कुमार संभव में—प्रथम पद्य में 'हिमालय' नाम दे दिया गया—'हिमालयो नाम' इत्यादि। इसके बाद कहा गया 'यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं''' = जिसे सब पहाड़ों ने बछड़ा बनाकर'''।' इस द्वितीय—वाक्य में केवल यद् शब्द दिया गया है। और उसके द्वारा कर्मकारक के रूप में हिमालय का परामर्श किया गया है। यहाँ 'तद्' शब्द नहीं है, अतः उसका आक्षेप होता है। यह आक्षेप स्वयं ग्रन्थकार ने इस प्रकार बतलाया है—जिसको बछड़ा बनाकर'''पृथिवी दुही गई = 'वह हिमालय है'—इस प्रकार यह आर्थ क्रम हुआ।

'यत् तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः।
दीव्यताक्षैस्तदानेन नूनं तदपि हारितम्॥'

इत्यादौ च यद्यपि तदो द्विरुपादानं सकृच्च यदः, तथापि तत्र तथोक्त-सम्बन्धद्वैविध्यानतिवृत्तिः। तथा हि यदः प्रक्रंस्यमानविषयेण तदपीत्यनेन तदाभिसम्बन्धाच्छाब्दः। यत्तदित्यस्य तु प्रसिद्धतेजोनिष्ठतयोपकल्पितेन यदाऽभिसम्बन्धादार्थः।

इस राजा का जो वह बड़ा चढ़ा अति उग्र क्षात्र तेज था, उस समय पाशे पलटते हुए इसने उसे भी हार दिया।

इत्यादि (स्थलों) में यद्यपि 'तद्' का दो बार उपादान है और 'यद्' का एक बार तथापि वहाँ ऊपर कहे दोनों सम्बन्धों का अभाव नहीं है। कारण कि 'यद्' शब्द 'तदपि' में आए 'तद्' शब्द से सम्बन्धित हो जाता है जिसका विषय अगले प्रकरण में प्राप्त होता। इसलिए वह शाब्द है। 'यत्तद्' में आया 'तद्' तेज की प्रसिद्धता को बतलाने के लिए प्रयुक्त है, इसलिए उसका 'यद्' से सम्बन्ध आर्थ है (शाब्द नहीं)।

सम्बन्धद्वैविध्येति शब्दार्थभेदेन द्वैविध्यम्। यत्तदिति। यच्छब्दसमीपे समानाधि-करणस्तच्छब्द उपादीयमानः शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् प्रसिद्धवस्तुविषयं यच्छब्दमाका-ङ्क्षति। वैयधिकरण्येन व्यवधानेन च निर्देशे तु निर्दिष्टेनैव यदा समन्वयं भजते। 'न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभागि'त्यत्र यद्यपि 'यः स' इति

यत्तदोर्नैरन्तर्येण सामानाधिकरण्येन च निर्देशः तथापि न 'यत्तदूर्जितमि'ति न्यायेन। इह यदि तच्छब्दो निरन्तरोपात्तयच्छब्दापेक्षयैव प्रयुज्यते तदा स्यादेष दोषः, यावता 'न केवलं य' इत्यत्र यच्छब्दापेक्षया व्यवधानेन प्राधान्यात् प्रयुक्तस्तच्छब्दान्तरानाकाङ्क्षः प्रसङ्गेन निरन्तरनिर्दिष्टयच्छब्दान्वयं भजमानः पूर्वसंस्कारेण न तच्छब्दान्तरमाकाङ्क्षतीत्यनवद्यमेतत्।

सम्बन्धद्वैविध्येति—शब्द और अर्थ इस प्रकार से उसमें द्वैविध्य हुआ।

'यत्तद्'—जब तद् शब्द यद् शब्द के समीप उसी विभक्ति में प्रयुक्त किया जाता है जिसमें यद् शब्द तो वह प्रसिद्धवस्तुविषयक यद् शब्द की आकाङ्क्षा रखता है। इसमें कारण है शब्दशक्ति का अपना स्वभाव। इसी प्रकार भिन्न विभक्ति में कहीं दूर 'तद्' का उपादान होता है तो वह वहीं प्रयुक्त यद् शब्द के साथ समन्वय रखता है। यद्यपि = 'न केवल वह जो बड़ों को गाली देता है—उससे सुनता है जो वह भी पापभागी होता है' यहाँ 'यः सः' = जो वह—इस प्रकार यद् और तद् का एक ही विभक्ति में और एक ही जगह प्रयोग हुआ है तब भी—'यत्तदूर्जितमत्युग्रं'—इसमें हुए प्रयोग की भाँति नहीं। यहाँ यदि तद् शब्द—विना व्यवधान के प्रयुक्त यद् शब्द की आकाङ्क्षा से प्रयुक्त होता तो—यह दोष हो सकता था, क्योंकि—'न केवलं यः' यहाँ के यद् शब्द से बहुत दूर और प्रधानतापूर्वक प्रयुक्त किया गया तद् शब्द एक ओर तो उसके साथ सटकर प्रयुक्त यद् शब्द से संबन्धित होता है, क्योंकि प्रसंग ही वैसा है और दूसरी ओर प्रथम यद् के लिए किसी दूसरे 'तद्' शब्द की जरूरत नहीं रहने देता। इसलिए यहाँ का ग्रंथ सर्वात्मना निर्दोष है।

विमर्शः 'न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्' से लेकर—प्रघट्टक के अन्त = अनवद्यमेतत्—तक के व्याख्यानांश में—'प्राधान्यात् प्रयुक्तस्तच्छब्दान्तरानाकाङ्क्षः 'प्रसंगेन'—इतने अंश का—तच्छब्दान्तरानाकांक्षः इतना अंश अधिक ज्ञात होता है। उसकी जगह केवल—'तच्छब्दः'—'प्रसङ्गेन' इतना ही रहना ठीक प्रतीत होता है।

एवञ्च योऽयमिह 'योऽसावि'त्यत्र यदः केवलस्यैव प्रयोगः स केनाभिसम्बध्यताम्, न ह्यत्र मुक्तके तदभिसम्बन्धसहः प्रक्रान्तः कश्चिदर्थः सम्भवति यदभिसम्बन्धोऽयं परिकल्प्येत। न च प्रक्रंस्यमानाम्बिकाकेसरिविषयोपकल्पितेन तदाऽस्याभिसम्बन्धः सम्भवी, तदुपादान एव तत्सम्बन्धप्रतीतिदर्शनात्। इतरथा 'यत्कोपाग्नौ शलभतां लेभे कामः शिवोऽवता'दित्यत्रापि शिवविषयतयोपकल्पितेन तदा तत्सम्बन्धप्रतीतौ सङ्गतार्थतैव स्याद् इत्ययुक्त एवायं यदः प्रयोगः।

इस प्रकार 'योऽसौ'—यहाँ जो केवल यद् शब्द का प्रयोग है वह किससे संबंधित हो। यह पद्य मुक्तक है इसलिए उससे संबधित होने योग्य कोई प्रक्रान्त अर्थ भी यहाँ संभव नहीं, जिससे इस यत् शब्द का संबन्ध समझ लिया जाए। ऐसा भी नहीं हो सकता कि आगे-आने वाले 'अम्बिकाकेसरी' के लिए कल्पित तत् शब्द—से इसका संबन्ध—मान लिया जाय, क्योंकि वह तभी संभव होता है जब उसका शब्दतः उपादान हो। नहीं तो (शब्दतः उपादान न होने पर भी किसी यद् शब्द से) तच्छब्द के साथ संबन्ध मान लेने पर—निम्नलिखित पद्य का अर्थ भी ठीक बैठा (संगत) मान लिया जाएगा—

'यत्कोपाग्नौ शलभतां लेभे कामः शिवोऽवतात्' अर्थात् 'जिसकी कोपाग्नि में काम ने शलभभाव प्राप्त किया, शिव रक्षा करें'—यहाँ भी शिव के लिए कल्पित तद् शब्द के साथ—संबन्ध प्रतीत हो सकता है। इसलिए ('योऽसौ' यहाँ का) यद् शब्द का प्रयोग गलत ही है।

तदित्थं यत्तदोरुपक्रमोपसंहारक्रमो द्विविधः परिघटितः। स चात्र श्लोके न युज्यत इत्याह—एवञ्चेति। तदुपादान इति। यदि तच्छब्दानन्तरं प्रत्यपेक्षायां यच्छब्देनात्र तदितिप्रक्रान्तस्तच्छब्दः परामृश्यते तत्सम्बन्धप्रतीतावित्यर्थः।

इस प्रकार यद् तद् के उपक्रमोपसंहार का क्रम दो प्रकार का ठहरा। दोनों ही प्रकार का इस श्लोक में नहीं बनता ऐसा—'एवञ्च' इत्यादि ग्रन्थ से प्रतिपादित कर रहे हैं। तदुपादान इति = अर्थ यह कि यदि, यद् शब्द के द्वारा यहाँ आगे प्रकरण में प्रयुक्त होने वाले 'तद्' शब्द का परामर्श किया जा रहा है ऐसा माना जाय तो वह तभी संभव है जब वहाँ तद् शब्द का प्रयोग हो:

'मीलितं यदभिरामताधिके साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम्।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः॥'

इत्यत्र तु पादयोः प्रमादजः पौर्वापर्यविपर्यय एवायुक्तो द्रष्टव्यः, न यदो यथोक्तविषयातिक्रमः।

'अपने से अधिक अभिराम चंद्रमा के उदित होने पर कमल जो निमीलित हुए; उन्होंने ठीक ही किया, अपने विजेता कामिनीमुख के सामने उदित होकर उसने किन्तु साहस किया।'

यहाँ पादप्रक्रमभङ्ग दोष है, पूर्वार्द्ध के दो चरण 'साधुचन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके' = इस प्रकार दिए जाने थे। असावधानी से उनमें उलट फेर हो गया। यद् शब्द द्वारा अपने विषय का पूर्वोक्त क्रम के अनुसार अतिक्रमण नहीं होता।

ननु प्रयोगदर्शनमेवात्र समर्थकं भविष्यतीत्याशङ्क्य प्रयोगस्य प्रामादिकपाठविपर्यासहेतुकत्वमाह—मीलितमिति।

पूर्वपक्षी—'तच्छब्द के बिना भी यद् शब्द का प्रयोग देखा जाता है', ऐसा कहकर—'मीलितं यदभि....' यह उदाहरण दे सकता था, और उसका समर्थन कर सकता था। उसके उत्तर में ग्रन्थकार ने इस उदाहरण को ही प्रमादपूर्ण बतलाया—अतः इस उदाहरण से यद् का तच्छब्द के अभाव में प्रयोग संपन्न सिद्ध नहीं हो सका।

विमर्श : पूर्वपक्षी का यह कथन था कि यद् का तद् शब्द के विना प्रयोग = योऽसौ—इत्यादि स्थलों में ठीक ही है, कारण कि ऐसे कुछ प्रयोग देखे जाते हैं—और उसमें 'मीलितं यदभिरामताधिके' प्रयोग उदाहरण में दिया। ग्रन्थकारने उसे प्रमादपूर्ण बतलाया। यह कहा कि उसमें यद् का प्रयोग अशुद्ध ही है, किन्तु उसका कारण श्लोक के चरणों का उलटफेर है। यदि प्रथम चरण को द्वितीय चरण और द्वियीय चरण को प्रथम चरण बना दिया गया होता तो यद् शब्द का दोष न होता, इसलिए इस श्लोक में वस्तुतः पादप्रक्रमभेद दोष है।

काव्यप्रकाशकार ने जहाँ यद् शब्द और तद् शब्द को लेकर विधेयाविमर्श दोष दिखलाया है—वहाँ यह पद्य—उसी प्रकार चरणों में परिवर्त्तन करके ही उपस्थित किया है। यथा—

'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके।
उद्यता.......................' (उदाहरण १८८ काव्यप्रकाश वामनी टीका)

उन्होंने इसकी कठिनाई को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि यदि यद् शब्द का प्रयोग पूर्व चरण में कर दिया जाय तो वह तच्छब्द के बिना साकांक्ष बना रहता है जैसे—इसी श्लोक में पूर्वार्द्ध दो चरणों के उलट देने से। इस उदाहरण से उन्होंने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि उत्तर वाक्य में आया यच्छब्द पूर्व वाक्य में तच्छब्द की आकाङ्क्षा नहीं रखता—यह शब्दशक्ति की विशेषता है।

ननु केनेदमुक्तं यदः केवलस्यैवात्र प्रयोगो न तद इति यावता तद्भिन्नार्थोऽत्रादश्शब्दः प्रयुक्त एवासाविति। अतश्च तदपेक्षया वाक्यार्थविश्रान्तेर्न कश्चिदुक्तदोषावकाशः। साधो! दुराशैषा। तस्य तदभिन्नार्थत्वासिद्धेः। तत्सिद्धौ हि प्रतीतेर्निराकाङ्क्षतैव स्यात्, न तु विवादः, यथा—'न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाग्' इत्यत्र।

(पूर्व पक्ष) अच्छा किसने यह कहा कि यहाँ (योऽसौ में) केवल यद् शब्द का ही प्रयोग है—तद् शब्द का नहीं, कारण कि 'असौ'—इस प्रकार यहाँ अदः शब्द का प्रयोग है ही, और वह तद् शब्द का पर्यायवाची है—उससे उसका अर्थ अभिन्न है। इसीलिये असौ को लेकर वाक्यार्थ पूरा हो जाता है और किसी प्रकार का दोष नहीं आता। (उत्तर पक्ष) (साधो) भले आदमी—यह दुराशा मात्र है। कारण कि 'योऽसौ' में आये असौ की तद् शब्द से अभिन्नार्थता सिद्ध नहीं होती। उसके सिद्ध हो जाने पर तो प्रतीति निराकाङ्क्ष ही हो जाती, और कोई विवाद ही न उठता—जैसे 'न केवलं यो…' इस जगह।

तदभिन्नार्थः तच्छब्दाभिन्नार्थः। तस्य अदश्शब्दस्य। तच्छब्दाभिन्नार्थत्वेऽदश्शब्दस्य दूषणद्वयमुक्तम्। केवलादश्शब्दप्रयोगे 'असौ मरुदि'त्यादौ यच्छब्दाकाङ्क्षा स्यादित्येकं यच्छब्दसहायस्यादश्शब्दस्य प्रयोगे 'योऽसौ जगत्त्रये'त्यादौ प्रयुक्ततच्छब्दाकाङ्क्षा न स्यादिति द्वितीयम्। अत्र यस्य प्रकोपेत्यदश्शब्दरहितयच्छब्दप्रयोगो दृष्टान्तत्वेनोक्तः, यथास्य केवलस्य तच्छब्दाकाङ्क्षा तथादश्शब्दयुक्तस्यापीत्यर्थः।

तदभिन्नार्थः—तच्छब्द से अभिन्नार्थ। तस्य = अदः शब्द का।

'अदस्' शब्द जब तद् शब्द से अभिन्नार्थ हो जाता है तब दो दोष आते हैं। एक तो यह कि केवल अदः शब्द का प्रयोग होने पर यद् शब्द की आकाङ्क्षा होती है जैसे—असौ मरुच्चुम्बित०० में, दूसरा यह कि यच्छब्द के साथ अदः शब्द का प्रयोग होने पर तच्छब्द की आकाङ्क्षा नहीं रहती—जैसे—'योऽसौ जगत्त्रयलयस्थितिसर्गहेतुः यायाद स वः शशिकलाकलितावतंसः' इसी श्लोक के पूर्वार्द्ध—यस्य प्रकोपशिखिना परिदीपितोऽभूद्…में। यहाँ ग्रन्थकार ने यह बतलाया कि अदः—शब्दरहित यद् शब्द तद् शब्द की आकांक्षा रखता है। वस्तुतः जैसे केवल यद् शब्द तद् शब्द की आकांक्षा रखता है वैसे ही अदः शब्द से युक्त यद् शब्द भी।

किञ्च तदभिन्नार्थत्वेऽस्योपगम्यमाने

'असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः॥'

इत्यत्र मुक्तके यच्छब्दपरामर्शापेक्षा प्रसज्येत, तस्य यथोक्तवस्तुविषयत्वासम्भावात्।

और यदि—अदः शब्द को तद् शब्द का अभिन्नार्थक शब्द माना जाने लगे तो—

'यह—वसन्तकाल हनुमान् के समान उपस्थित हुआ। उसके सुन्दर केसर पवन द्वारा चूमे गए हैं। वह प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणी है और वियुक्तरामातुरवीक्षित है।'

वसन्त पक्ष :	हनुमान् पक्ष :
केसर = केसर वृक्ष	गरदन के बाल
प्रसन्नताराधिप = चन्द्रमण्डल जिसका अग्रणी है।	तारा के पति सुग्रीव के कटक का जो अग्रणी है या प्रसन्न है सुग्रीव कटक का अग्रणी अङ्गद जिससे।
वियुक्तराम = बिछुड़ी रामा = बालाओं से आतुरतापूर्वक देखा गया।	बिछुड़े रामचन्द्र द्वारा आतुरतापूर्वक देखा गया।

० इस मुक्तक पद्य में भी यद् शब्द के परामर्श की अपेक्षा आ धमकेगी क्योंकि इस मत में अदस् शब्द की तद् शब्द से भिन्नार्थकता संभव नहीं।

तस्य यथोक्तवस्त्विति यथा अविगानेन शिष्टप्रसिद्धिपारम्पर्येणोक्तं वस्तु तच्छब्दार्थविविक्तो विषयस्तस्य त्वन्मते असम्भवः। त्वया ह्यदश्शब्दस्य तच्छब्दार्थत्वमुच्यते तत्र यच्छब्दपरामर्शापेक्षाप्रसङ्गः इत्यर्थः।

तस्य यथोक्तवस्त्विति = अदः शब्द का जो अर्थ शिष्टजनों में परम्परा द्वारा एक मत से मान्य है, जिसमें वह तच्छब्द से भिन्नार्थक है, वह अर्थ तो तुम्हारे मत में सम्भव नहीं। तुम तो अदस् शब्द को तच्छब्दार्थक मानते हो। इसलिये 'असौ मरु···' में यच्छब्दार्थ के परामर्श की अपेक्षा है ही।

'यस्य प्रकोपशिखिना परिदीपितोऽभूदुत्फुल्लकिंशुकतरुप्रतिमो मनोभूः।
योऽसौ जगत्त्रयलयस्थितिसर्गहेतुः पायात् स वः शशिकलाकलितावतंसः॥'
इत्यत्र च तच्छब्दपरामर्शस्य पौनरुक्त्यं स्यात्।

जिसकी—कोपाग्नि द्वारा जलाया काम = फूले हुये 'टेसू' के पेड़ सा [illegible] गया = जो तीनों लोकों के प्रलय, पालन और सर्ग का सेतु है वह शशिकला का आभूषण [illegible]ना—(चन्द्रमौलि भगवान् शंकर) आपकी रक्षा करे। यहाँ तच्छब्दार्थ का दो बार परामर्श मानना होगा—अतः पुनरुक्ति दोष होगा।

कथं तर्हि यत्तदोर्विषये कविभिरिदमेतददःप्रभृतयः शब्दाः प्रयुक्ताः, प्रयुज्यन्ते च। न च ह्यसति पर्यायत्वे तस्मिन्नेवार्थे पदान्तरप्रयोगमाद्रियन्ते स्वस्थचेतस इति प्रयोगप्रवाहप्रामाण्यादेषां तदभिन्नार्थता परिकल्प्यते। न हि तमन्तरेण शब्दानां तदतदर्थनिश्चयनिबन्धनमन्यत् किञ्चिदुत्पश्यामः।

(प्रश्न) तो कवियों द्वारा यद् और तद् के लिए इदम् अदस् एतद् आदि शब्दों का प्रयोग कैसे किया गया और किया जाता है। जिनकी बुद्धि स्वस्थ होती है वे पर्यायवाची न होने पर (एक शब्द के स्थान पर) दूसरे शब्द का प्रयोग अच्छा नहीं मानते। इसलिए चले आ रहे प्रयोग के प्रमाण पर इन (इदम् आदि शब्दों) को उन (यद् और तद् शब्दों) से अभिन्नार्थक मानना

पड़ता है। उसको छोड़ और कोई ऐसा प्रमाण हम नहीं पाते जिससे (किसी शब्द की किसी अन्य शब्द से) अभिन्नार्थता या भिन्नार्थता ठहराई जा सके।

परिकल्प्यत इति प्रयोगप्रवाहप्रामाण्यान्यथानुपपत्त्याऽऽयातयाऽर्थापत्त्येत्यर्थः। तमन्तरेणेति। तच्छब्देन प्रयोगप्रवाहः परामृष्टः। तदतदर्थत्वनिश्चयो विवक्षिताविवक्षितार्थत्वनिश्चयः।

परिकल्प्यते—अर्थात् प्रयोग प्रवाह के प्रामाण्य की और किसी प्रकार से (उपपत्ति) मान्यता नहीं होती अतः उपस्थित हुई अर्थापत्ति से यह कल्पना करनी होती है।

तमन्तरेण—में तद् शब्द से प्रयोगप्रवाह का परामर्श किया गया है।

तदतदर्थनिश्चय—विवक्षितार्थकता और अविवक्षितार्थकता का निश्चय।

अत्रोच्यते। उक्तनयेन तावत् तेषां तदभिन्नार्थतानुपपत्तिरुपपादितैव। यदि तु तामपह्नुत्य गतानुगतिकया—

'योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश ! निखिलं भवद्वपुः।

स्वात्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम् ॥'

इति 'स्मृतिभूस्मृतिभूर्विहितो येनासौ रक्षतात् क्षताद् युष्मान्' इत्यादिप्रयोगदर्शनमात्रानुरोधेन तेषां सा परिकल्प्यते तर्हि यथादर्शनं व्यवहितानामेव, अव्यवहितत्वे वा भिन्नविभक्तिकानामेव सा परिकल्प्यताम्। इतरथा तु तेषां तत्परिकल्पनमन्याय्यमेव।

इस (पूर्वपक्ष) पर (उत्तर) देते हैं—

उपर्युक्त प्रकार से हमने यह सिद्ध कर ही दिया है कि वे (अदः आदि शब्द) उन (तद् आदि शब्दों) से अभिन्नार्थक नहीं होते। पर यदि उसे (अभिन्नार्थकता के अभाव को) न मानकर केवल अँधाधुन्ध तौर पर 'जो (व्यक्ति) इस समस्त प्रपञ्च को विना किसी विकल्प के आपका शरीर देखा करता है, हे ईश ऐसे नित्य सुखी को किससे भय, उसके लिये तो सारा संसार अपने ही भाइयों से भरा होता है। इस प्रकार के और—'काम को जिसने केवल स्मरण की वस्तु बना दिया ऐसे (भगवान् शंकर) आप लोगों की हानि से रक्षा करें।'—इस प्रकार के प्रयोग को देखकर इतने से ही उनकी (अदः आदि शब्दों की) वह (तदादि से अभिन्नार्थकता) मानी जाती हो तो फिर (यदादि शब्दों से) दूरस्थ (अदस् आदि शब्दों) की ही (तदादिशब्दाभिन्नता) मानी जानी चाहिये। अथवा समीपस्थ पर अव्यवहित होने पर यदि वे (अदस् आदि शब्द) भिन्न विभक्ति में प्रयुक्त हों तब। और प्रकार से तो उनकी तदभिन्नार्थकता (अदस् आदि की तदादि से अभिन्नार्थता) का जानना अन्धेर ही है।

यदि तु तामिति तदभिन्नार्थतानुपपत्तिः परामृष्टा। गतेऽनुगतं यस्य स गतानुगतिकः। मत्वर्थीयोऽत्र ठन्प्रत्ययः। येनैव पथा एको गच्छति तेनैवाविचारितेनैव यो गच्छति स इत्यर्थः। ततो भावप्रत्ययः।

अविकल्पमित्यकारप्रश्लेषः। निःशङ्कमित्यर्थः। यद्वा न विकल्पमात्रेण, अपि तु साक्षादित्यर्थः। स्मृतिभूः कामः। द्वितीयः स्मृतिभूशब्दः स्मरणविषये प्रयुक्तः। दग्धत्वात् स्मृतिमात्रशेष इत्यर्थः। क्षतात् वधात्।

यदि तु ताम् = इसके द्वारा 'तदभिन्नार्थतानुपपत्ति' का परामर्श किया गया है। गये के पीछे जो जाए वह होगा गतानुगतिक, इसमें ठक् प्रत्यय मत्वर्थीय है। अर्थात् वह (व्यक्ति गतानुगतिक होता है) जो जिस रास्ते एक आदमी निकला उस पर विना विचारे चल पड़े। उससे भावार्थक प्रत्यय हुआ।

योऽविकल्प—इसमें अकार का प्रश्लेष है। (अविकल्प का) अर्थ हुआ—निश्शंक होकर। अथवा केवल विकल्प भर से नहीं अपितु साक्षात्।

स्मृतिभूः—काम। दूसरा स्मृतिभू शब्द 'जिसकी याद की जाय'—उसके अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। मतलब यह कि जल कर भस्म हो जाने से केवल स्मरण की चीज बनकर रह गया।

क्षनात् = वध से।

तत्र हि प्रत्युत सा तयोस्तदितरपरामर्शव्यपेक्षा सुतरामुन्मज्जति यथा 'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां वितनुते तदाचष्टे लोकः' इति 'सोऽयं वटः श्याम इति प्रकाशस्त्वया पुरस्तादुपयाचितो य' इत्यादौ च।

न चासाविहावश्यं प्रयोक्तव्यः सन् प्रयुक्त इति तदवस्थ एव दोषावकाशः।

उस स्थिति में तो उलट उनकी वह एक दूसरे के परामर्श की आकांक्षा और अधिक सामने आती है। उदाहरणार्थ—

'जो यह चन्द्र के बीच मेघखण्ड की छवि पैदा कर रहा है उसे लोग।' यह

और—

'(सामने) यह वह श्याम नामक वट है—पहले जिससे तुमने याचना की थी' ऐसे प्रयोगों में।

'योऽसौ' इस जगह यह (अदः शब्द) इसलिये प्रयुक्त नहीं है कि उसका प्रयोग अनिवार्य हो, इसलिए दोष की गुञ्जाइश तो वैसी की वैसी ही है।

व्यवहितानामेवेति यथा 'योऽविकल्प'मित्यादौ। अव्यवहितत्वे वेति। यथा 'स्मृतिभूरि'-त्यादौ। एतदर्थमेवोदाहरणद्वयमुक्तम्।

तत्र हीति इदमादिसहितप्रयोगे। तयोरिति यत्तदोः। तदितरेति यच्छब्दैकतरप्रयोगे अन्यतरापेक्षेत्यर्थः। सुतरामिति इदमादिसाहित्येन प्रयुक्तो यच्छब्दः स्वभावतो विकासितास्य एव तच्छब्दं प्रतीक्षते, एवं तच्छब्दोऽपि यच्छब्दमिति ज्ञेयम्। एतच्च क्रमेणोदाहृतं यदेतदिति, सोऽयमिति च।

व्यवहितानामेव—जैसे योऽविकल्प इत्यादि पद्य में।

अव्यवहितत्वे वा—जैसे स्मृतिभूः (स्मृतिभूः) पद्य में।

यही दिखलाने के लिए ये दो उदाहरण दिये हैं।

तत्र हीति—इदमादि के साथ साथ प्रयोग होने पर।

तयोः—अर्थात् यत् और तद् के।

तदितरः—स्वभावतः किसी एक के प्रयोग किये जाने पर अन्य की अपेक्षा।

सुतराम्—इदम् आदि के साथ प्रयोग में लाया गया यत् शब्द स्वाभाविक रूप से तच्छब्द की प्रतीक्षा में मानों मुँह बाये रहता है। इसी तरह तच्छब्द यच्छब्द के लिए। इसके उदाहरण भी इसी क्रम से दे दिये गये हैं—'यदेतद' और 'सोऽयम्' यह।

तस्मादपेतप्रक्रान्तसम्बन्धसहायस्यास्य यदोऽनुपपन्नप्रक्रंस्यमानवस्तुसमन्वयस्यैकाकिनः सार्थभ्रष्टस्येव तपस्विनः पथिकस्य सन्मार्गोपदेशिकं तच्छब्दाध्याहारमेवैकं शरणमन्तरेण नापरोऽभिमतार्थसङ्गमोपायः सम्भवति।

इसलिए जैसे सभी संगियों से बिछुड़कर अकेले पड़े किसी पथिक बेचारे के लिए सन्मार्ग बतलाने के बिना अपने लक्ष्य तक पहुँचने का उपाय सम्भव नहीं वैसे ही इस यच्छब्द के लिए भी तच्छब्द के अध्याहार के बिना विवक्षितार्थ तक पहुँचने का कोई उपाय नहीं रहता, कारण कि वह प्रकरण-प्राप्त अर्थ के सम्बन्ध की सहायता से छूटा ही हुआ है ऊपर से आगे आने वाले पदार्थ के साथ समन्वय बनता नहीं है।

यथान्यस्मिन् ग्रन्थे न प्रदर्शनमुपयुज्यते तद्वदस्य यच्छब्दस्य न प्रक्रान्तपरामर्शे सम्बन्धो, नापि प्रक्रंस्यमानवस्तुसमन्वयमार्गोपदेशे तच्छब्दाध्याहारः शरणम्। स च सत्काव्यकलङ्कायमानो हेय एव।

'यथा अन्यस्मिन् ग्रन्थे न प्रदर्शनमुपयुज्यते तद्वद्'—इस यद् शब्द का न तो प्रकरण से आ रहे किसी अर्थ के परामर्श से सम्बन्ध है और न आगे प्रकरण में आने वाले पदार्थ के साथ समन्वय करा सकने योग्य कोई तच्छब्द ही उसे प्राप्त है। इसलिए वह किसी भी अच्छे काव्य के लिए कलंकवत् है अतः त्याज्य ही है।

विमर्श : यहाँ यथा अन्यत्र तद्वद् तक का व्याख्यानांश ठीक बैठता नहीं है। कुछ अंश छूटा प्रतीत होता है।

स चैवंविधेषु सूक्तिरत्नेषु कलङ्कायमानो मनागपि न काव्यमाणिक्यवैकटिकानां सचेतसां मनांस्यावर्जयितुमलमिति।

और वह (सदोष साकाङ्क्ष यद् शब्द) इस प्रकार के उज्ज्वल पद्यों में कलङ्कतुल्य होता है। इसलिए सहृदय जनों के हृदय को लेशभर भी आकृष्ट नहीं कर सकता कारण कि वे तो काव्यरूपी मणि के पारखी होते हैं।

अनुक्त्वैव परामृश्यं प्रयोगो यत्र यत्तदोः।
निरन्तरः पुनस्तत्र तयोरुक्तिर्न दुष्यति ॥ ८ ॥
तयोर्निरन्तरोपात्तेष्विदमेतददस्सु च।
तयोस्तेषां च नापेक्षा तेष्वसत्स्विव शाम्यति ॥ ९ ॥
उदाहरणजातं यत् तत्साङ्कर्यसमुद्भवम्।
तस्य दिङ्मात्रमस्माभिरुक्तं विस्तरभीरुभिः ॥ १० ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

१—जहाँ परामर्श योग्य अर्थ को बिना कहे यत् और तत् का प्रयोग साथ-साथ मिलाकर कर दिया जाता है, वहाँ उनका पुनः प्रयोग दोषावह नहीं होता—(यथा-'यत्तदूर्जितं' इत्यादि में)

२—और उन (यद्-तद्) से सटकर = इदम्, एतद् अदस् के प्रयुक्त होने पर उन दोनों की आकाङ्क्षा ठीक वैसे ही शांत नहीं होती जैसे उनके न रहने पर।

'तयोस्तेषां च अपेक्षा—तेष्वसत्स्विव न शाम्यति।'

३—इस विषय में उनकी मिलावट से जितने उदाहरण बनते हैं उनमें से कुछेक ही हमने दिखलाये हैं। हमें विस्तार का भय था।

अनुक्त्वैवेति यत्तदोर्मध्ये परामृश्यमनुक्त्वा यत्र निरन्तरः प्रयोगः यथा 'यत्तदूर्जित-मि'त्यादौ तत्र तयोर्यत्तदोर्यथायोगं पुनःप्रयोगो न दुष्यति यथा 'नूनं तदपि हारित-मि'त्यादौ। तथा तयोर्यत्तदोः निरन्तरनिर्दिष्टेष्विदमादिषु सत्सु तयोर्यत्तदोः तेषामिदमा-दीनां च सङ्घटितत्वेन स्थितानां यथायोगं यत्तदोः प्रत्यपेक्षा न निवर्त्तते। यथा अप्रयु-क्तेष्विदमादिषु केवलयोः पृथगवस्थितयोरपेक्षा न निवर्त्तते तद्वत् प्रयुक्तेष्वपीत्यर्थः। यथा 'यदेतच्चन्द्रान्तरि'ति, 'सोऽयं वट' इति च। एवं प्रकृतेऽपि 'योऽसावि'ति।

तत्साङ्कर्येति। यच्छब्दस्य पृथगिदमादिसाहित्ये तच्छब्दस्य च पृथगिदमादिसाहित्ये यत्तदोः परस्परसाहित्ये च बहवो भेदाः, तेषामुदाहरणेषु दिङ्मात्रं दर्शितम्।

सम्प्रति प्रायेण वाक्यार्थसमन्वयव्यापिनोर्यत्तदोर्योऽयं नित्याभिसम्बन्धत्वेनोपक्रमोप-संहारक्रमः, स प्रसङ्गाद् विचार्यते। स च पुष्टापुष्टदुष्टभेदेन त्रिविधः। पुष्टोऽपि प्रथमं शाब्दत्वार्थत्वभेदेन द्विविधः। शाब्दोऽपि यच्छब्दोपक्रमस्तच्छब्दोपक्रमश्चेति द्विविधः। आर्थोऽपि यच्छब्दमात्रानुपादाने तच्छब्दस्योपात्तस्य प्रसिद्धानुभूतप्रक्रान्तविषयेण यदा-भिसम्बन्धात् त्रिविधः। यच्छब्दस्य च तच्छब्दानुपादाने केवलमुपात्तस्य प्रक्रान्तविषयेण कल्पिततत्कर्मादिविषयेण च तदाभिसम्बन्धाद् द्विविधः। उभयानुपादाने तु द्वयोरुपा-त्तवस्तुविषयताकल्पन एक एव भेदः। एवं शाब्दो द्विविध आर्थः षड्भेद इत्यष्टविधो यत्तदोरुपक्रमोपसंहारक्रमः पुष्टः। तच्चैतच्चेह ग्रन्थकृतोदाहृतम्। यत्तदूर्जितमित्यादौ तु शाब्दस्यार्थस्य चोपसंहारक्रमस्य सङ्कीर्णत्वमिति नास्य पृथग्भावः। अपुष्टस्य दुष्टमध्ये प्रसङ्गेन वर्णयिष्यमाणत्वादिदानीं दुष्टो व्याक्रियते। तत्र यत्तदोः स्थाने तच्छब्दयच्छब्द-नैरन्तर्येण सामानाधिकरण्येन चेदमादीनां दुष्टत्वैव तेषामतदर्थत्वात् तन्निकटे च प्रयुज्य-मानानां प्रसिद्धिमात्रपरामर्शकत्वाद् यथा 'योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरि'ति। एवं तच्छब्दसा-न्निध्येनेदमादीनामुदाहरणमूह्यम्। विप्रकृष्टत्वेन सन्निकृष्टत्वेऽपि वैयधिकरण्येन वा तेषां प्रयोगे न दुष्टं नादुष्टमित्यपुष्टत्वमेव यथा 'योऽविकल्पमि'ति 'स्मृतिभूः स्मृतिभूरि'ति च। एवं च तच्छब्दोपक्रम उदाहर्त्तव्यम्। तथा तच्छब्दस्य परोक्षायमाणार्थप्रत्यवमर्शित्वा-देकवाक्यस्थप्रत्यक्षायमाणप्रधानभूतार्थप्रत्यवमर्शे दुष्टत्वं 'यथा स वः शशिकलामौलिरि'-त्यादौ। प्रधानग्रहणेन न कर्तृमात्रं निर्दिष्टम् अपि तु कारकान्तरमपि प्राधान्येन विवक्षि-तत्वात् प्रत्यक्षायमाणम्। तेन—

'स मेदिनीं विनिर्जित्य चतुर्जलधिमेखलाम्।
सचिवार्पिततद्भारस्तस्यामास्ते यथासुखम्॥'

इति मेदिन्यास्तच्छब्दपरामर्शो न सुन्दर इत्याहुः।

अनुक्त्वैव = परामर्श विषय को कहे बिना ही यत् और तद् का जहाँ निरन्तर (सटकर) प्रयोग होता है—जैसे—'यत्तदूर्जित' इत्यादि से। वहाँ उन यद् और तद् का जहाँ जैसा हो—फिर से प्रयोग किया जाना—दोषावह नहीं होता यथा—वहीं 'नूनं तदपि हारितम्' इत्यादि में।

इसी प्रकार = यद् तद् शब्द के साथ सटकर इदम् आदि शब्दों का प्रयोग होने पर—उन यद् तद् शब्दों की, और उन = सटकर, प्रयुक्त इदम् आदि शब्दों की यद्तद्—विषयक—आकाङ्क्षा, वह भले ही जहाँ जैसी हो—शान्त नहीं होती। अभिप्राय यह कि, जैसे इदमादि के

प्रयोग न होने पर स्वतन्त्र रूप से अलग प्रयुक्त यद्-तद् की आकाङ्क्षा शान्त नहीं होती उसी प्रकार—सटकर प्रयुक्त होने पर भी। उदाहरणार्थ—

यदेवचन्द्रान्तर्जलदलवलीलाम्०० इसमें और सोऽयं वट श्याम इत्यादि में।

इसी प्रकार प्रकृत 'योऽसौ' में भी—तद् की आकाङ्क्षा अदस् शब्द के रहने पर भी शांत नहीं होती।

अलग आए इदम् आदि के साथ यद् शब्द के और, उसी प्रकार—अलग आए इदम् आदि के साथ तद् शब्द के प्रयोग तथा यद् और तद् के अपने सम्मिलित प्रयोग से बहुत से भेद हो जाते हैं। दिए उदाहरणों में उनका रास्ता दिखलाया गया है।

अब इसी प्रसंग में हम—वाक्यार्थ के समन्वय में कारणभूत यद् और तद् का जो नित्य सम्बन्धित उपक्रम और उपसंहार क्रम है—उसका विचार करते हैं।

वह 'उपक्रमोपसंहार' क्रम = 'पुष्ट, अपुष्ट और दुष्ट' भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें पुष्ट भी पहले पहल दो प्रकार का होता है—शाब्द और आर्थ। इनमें शाब्द दो प्रकार का होता है जिसका उपक्रम यद् शब्द से होता है और जिसका (उपक्रम)—तद् शब्द से। आर्थ भी तीन प्रकार का होता है = वहाँ केवल तच्छब्द का उपादान होता है। फिर वह तच्छब्द यद् शब्द की अपेक्षा करता है। यद् तीन प्रकार का होता है—प्रसिद्धिपरामर्शक, अनुभूतिपरामर्शक और प्रक्रमपरामर्शक। (इस प्रकार तीन प्रकार के यद् की अपेक्षा रखने से—तच्छब्द मात्र के उपादान से हुआ आर्थ 'उपक्रमोपसंहारभाव'—तीन प्रकार का हुआ। केवक यच्छब्द के उपादान होने पर उपक्रमोपसंहार भाव दो प्रकार का होता है—१. जब वह यच्छब्द—प्रक्रान्तविषयक तच्छब्द की आकाङ्क्षा रखता है और २. जब—यच्छब्द के अर्थ को कर्म आदि रूप में प्रतिनिर्दिष्ट करने वाले तद् शब्द की।

दोनों के अनुपादान में एक ही भेद होता है—उस समय उपात्तवस्तु में से ही किन्हीं को उन दोनों का विषय माना जाता है। इस प्रकार शाब्द दो प्रकार का और आर्थ छः प्रकार का = मिलकर = यह यत्तद् का पुष्ट—उपक्रमोपसंहार भाव ८ प्रकार का हुआ और वह (दो प्रकार का शाब्द उपक्रमोपसंहार भाव) तथा—यह (६ प्रकार का आर्थ उपक्रमोपसंहार भाव) ग्रन्थकार ने उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर दिया है। 'यत्तदूर्जित' इत्यादि पद्य में शाब्द और आर्थ दोनों ही उपक्रमोपसंहार मिले हैं—अतः वह वस्तुतः = दोनों का संकर हैं। वह अलग कोई भेद नहीं।

अपुष्ट को दुष्ट के बीच गिना जाएगा—इसलिए अब दुष्ट का स्पष्टीकरण किया जाता है।

यद् और तद् के स्थान पर तद् शब्द और यद् शब्द से मिलाकर इदम् आदि का एक ही विभक्ति में प्रयोग—दोषपूर्ण ही है, कारण कि वे (इदम् आदि) तदर्थक (तद्—यद् अर्थ के) नहीं होते और उनके निकट में प्रयुक्त होने पर एकमात्र प्रसिद्धि का परामर्श करते हैं। जैसे—योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं या त्वम्बिकाकेसरी—यहाँ ऐसे ही तच्छब्द के साथ आए—इदम् आदि के उदाहरण भी समझ लेने चाहिए।

दूर या समीप में भी—भिन्नविभक्तिक रूप से उन (इदम् आदि) का प्रयोग हो तो वह सदोष नहीं और न अदोष इसलिए वह अपुष्ट ही होता है। उदाहरणार्थ—'योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलम्' = इत्यादि। और 'स्मृतिभूः स्मृतिभू'—इत्यादि। इसी प्रकार तद् शब्द से आरम्भ होने वाले वाक्यों के उदाहरण ले लेने चाहिए—जैसे तच्छब्द—परोक्ष—अर्थ का प्रत्यवमर्श कराता है, इसलिए यदि वह एक वाक्य में ही स्थित प्रत्यक्ष अर्थका प्रत्यवमर्शक बनाकर उपस्थित कर दिया जाय तो सदोष होता है—यथा = 'स वः शशिकलामौलिः'। प्रधान कहने का

अभिप्राय यह नहीं कि केवल कर्त्ता ही प्रधान होने से प्रत्यक्ष अर्थ समझा जाय, अपितु प्रधान रूप से विवक्षित अन्य कारक भी प्रत्यक्ष अर्थ माने जा सकते हैं। यथा—

स मेदिनीं विनिर्जित्य चतुर्जलधिमेखलाम्। सचिवार्पिततद्भारस्तस्यामास्ते यथासुखम्॥

इसमें मेदिनी कर्मकारक है। वह पूर्वार्द्ध में उपात्त ही है, अतः उत्तरार्द्ध में उसका प्रत्यवमर्श= 'तस्याम्' इस प्रकार तद् शब्द द्वारा किया जाना सदोष है) इस जगह—मेदिनी का तच्छब्द से परामर्श सुन्दर नहीं।

तथा यत्तदोः पदार्थवाक्यार्थगतत्वेन द्विविधावस्थाने यदेकस्य पदार्थनिष्ठत्वादन्यस्य वाक्यार्थविषयत्वं तद् भिन्नविषयत्वेन नित्याभिसम्बन्धपरिपन्थि दुष्टमेव। यथा—

'हेम्नां भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण तदर्पितानि गुणिने बाणाय कुत्राद्य तत्।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिविसरैरुट्टङ्किताः कीर्त्तय-
स्तत् कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानताम्॥' इति।

या इति पदार्थविषयत्वमभियातस्य यच्छब्दस्य। तदिति तु वाक्यार्थविषयस्तच्छब्दः। पदार्थविषये ता इति स्यात्। अत्रैव 'यद्बाणेन तु तस्ये'ति 'ताः कल्पप्रलयेऽपि' इति च पाठे यदो वाक्यार्थविषयत्वे तदः पदार्थनिष्ठत्व उदाहरणं देयम्। तस्माद्या बाणेन त्विति ताः कल्पप्रलयेऽपीति च पठनीयम्। इह तु—

'इन्दीवरं यदतसीकुसुमस्य वृत्त्या यत् केतकं जरठभूर्जदलानुवृत्त्या।
यन्मन्यसे च वकुलं करवीरवृत्त्या सा साम्प्रतं मधुप! हन्त तवैव हानिः॥' इति।

न केवलं यच्छब्दो वाक्यार्थविषये, यावत्तच्छब्दोऽपि। यदिपरं स वाक्यार्थो हानिपदेन पिण्डीकृत्य प्रकाशितस्तच्छब्देन परामृष्टः। अत एवात्र तच्छब्दस्य विधेयपदार्थाभिप्रायेण स्त्रीलिङ्गत्वम्। अनुवाद्याभिप्रायेण तु तत् साम्प्रतमिति। उभयथापि लिङ्गपरिग्रहः शिष्टप्रवाहे स्थितः।

किञ्च यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धाद् गुणप्रधानयोश्च सम्बन्धार्हत्वात् परामृश्य एकत्र यच्छब्दवाक्ये तच्छब्दवाक्ये वा निर्दिष्ट इतरवाक्ये तदा यदा वा प्रत्यवमृश्यते। यच्छब्दवाक्ये तु निर्दिष्टो न यच्छब्दान्तरेण, गुणानां प्रधानानां च परस्परमभिसम्बन्धात्। एवञ्च तथाऽपरामर्शे द्वौ दुष्टताभेदौ। यथा—

'येषां तास्त्रिदशेभदानसरितः पीताः प्रतापोष्मभि-
र्लीलापानभुवश्च नन्दनतरुच्छायासु यैः कल्पिताः।
येषां हुङ्कृतयः कृतामरपुरक्षोभाः क्षपाचारिणां
किं तैस्त्वत्परितोषकारि विहितं किञ्चित् प्रवादोचितम्॥' इति।

क्षपाचारिणामिति षष्ठ्यन्तं यच्छब्देन सम्बद्धं यच्छब्दान्तरेण (एव च) प्रत्यवमृष्टम् [न तच्छब्देन इति शेषः]। क्षपाचारिभिरिति पाठो न्याय्यः, एवं तच्छब्दवाक्ये निर्दिष्टं यच्छब्दैः परामृश्यमानं न दुष्यति।

इसी प्रकार—यद् और तद् शब्द पदार्थ तथा वाक्यार्थ—विषयक होने से दो प्रकार के होते हैं, इस स्थिति में एक के पदार्थविषयक होने पर अन्य का वाक्यार्थविषयक होना दोषपूर्ण है, कारण कि उनका विषय भिन्न हो जाता है इस लिए वह (उनके) नित्य अभिसंबन्ध का विरोधी होता है। उदाहरणार्थ—

'श्रीहर्ष' ने गुणी बाण को जो सोने के सैकड़ों भार और मदमाते हाथियों के समुदाय समर्पित

किए—आज वे कहाँ है ! किन्तु बाण ने जो उस (श्री) हर्षकी कीर्ति अपने सूक्ति-समुदाय से उत्कीर्ण कर दी वह कल्पान्त तक में तनिक भी धूमिल नहीं होगी ।'

इसमें 'याः' इस प्रकार स्त्रीलिङ्ग बहुवचन यच्छब्द का विषय पदार्थ (कीर्ति) बनाया गया है किन्तु 'तद्' नपुंसक लिङ्ग एकवचन प्रथमा का वाक्यार्थ।'

यदि उससे पदार्थ का परामर्श अभीष्ट होता तो 'ताः' इस प्रकार पाठ होता। इसी उदाहरण में 'यद्' के वाक्यार्थ-विषयक होने तथा 'तद्' के पदार्थविषयक होने से (उत्पन्न दोष) का उदाहरण समझा जा सकता है यदि—'यद् बाणेन'''ताः कल्पप्रलयेऽपि० ऐसा पाठ कर दिया जाय। इसलिए 'या बाणेन'''ताः कल्पप्रलयेऽपि''' ऐसा पाठ चाहिये।

इस प्रसंग में (यह ध्यान देने की बात है कि) केवल यच्छब्द ही वाक्यार्थविषयक नहीं होता, तच्छब्द भी होता है। जैसे—

'इन्दीवरं यदतीकुसुमस्य वृत्त्या'''सा सांप्रतं मधुप हन्त तवैव हानिः। अर्थात्—हे मधु पीने वाले (भ्रमर) तुम जो इन्दीवर (नीलकमल) को अलसी का फूल, केतक को भूर्जपत्र और बकुल को करवीर मान रहे हो वह तुम्हारी ही हानि है' इस पद्य में सिर्फ वह वाक्यार्थ हानिपद द्वारा इकट्ठा करके प्रकाशित कर दिया गया है और फिर उसका तच्छब्द से परामर्श किया गया है। इसीलिए यहाँ विधेयपदार्थ के अनुसार तद्शब्द में स्त्रीलिङ्ग है। अनुवाद्य के अनुसार तो 'तत् साम्प्रतं' इस प्रकार उसमें नपुंसकलिङ्ग होता। शिष्टजन दोनों (अनुवाद्यानुसार और विधेयानुसार) प्रकार से लिङ्ग प्रयोग करते हैं।

अपरंच = किसी एक यच्छब्दवाक्य में या तच्छब्दवाक्य में दिया गया परामर्शविषयीभूत-पदार्थ—दूसरे वाक्य में तद् शब्द द्वारा या यद् शब्द द्वारा बतलाया जाता है क्योंकि यत्तद् का एक दूसरे से नित्य सम्बन्ध होता है और प्रधान तथा अप्रधान का संबन्ध हो भी सकता है। ऐसा नहीं कि यच्छब्द वाक्य में निर्दिष्ट विषय का किसी दूसरे यच्छब्द से ही प्रत्यवमर्श हो। क्योंकि संबन्ध सदा प्रधान और अप्रधान का होता है—(प्रधान प्रधान या अप्रधान अप्रधान का नहीं)। इस प्रकार दो दोष होते हैं। जैसे—

'जिनके प्रताप की गरमी से इन्द्र के हाथी के मद की नदियाँ सूख गईं, जिन्होंने नन्दन के वृक्षों की छाया में लीलापानस्थली बनाई, और जिन राक्षसों की हुङ्कार देवनगर को क्षुब्ध करने वाली थी—उन्होंने तुम्हें परितुष्ट करने योग्य क्या किया, जैसी कि वे डींग हाँकते रहते थे।'

यहाँ 'क्षपाचारिणाम्' यह षष्ठ्यन्त 'येषां' इस एक यच्छब्द से संबद्ध है और उसका प्रत्यवमर्श दूसरे यच्छब्द से ही किया जा रहा है (न कि तच्छब्द से) इसलिए 'क्षपाचारिभिः' ऐसा पाठ चाहिए। ऐसा करने से 'क्षपाचारि' पदार्थ का सम्बन्ध तच्छब्द वाक्य से हो जाता है फिर उसका संबन्ध सभी यच्छब्दों से हो सकता है। उसमें कोई दोष नहीं।

यथा च—

'पुण्ड्रेक्षोः परिपाकपाण्डुनिविडे यो मध्यमे पर्वणि
ख्यातः किञ्च रसः कषायमधुरो यो राजजम्बूफले।
तस्यास्वाददशाविलुण्ठनपटुर्येषां वचोविभ्रमः
सर्वत्रैव जयन्ति चित्रमतयस्ते भर्तृमेण्ठादयः॥' इति।

अत्र द्वितीये यच्छब्दवाक्ये रसः परामृश्यो निर्दिष्टस्तच्छब्देन परामृश्यते। प्रथमे यच्छब्दवाक्ये तु यच्छब्दपरामर्शो न युज्यते द्वयोरसम्बन्धात्। (इदानीं यत्र तत्पद-

परामृष्टस्य तेनैव तत्पदेन प्रत्यवमर्शः, न तु येन भाव्यः तेन यत्पदेन, तत्र दोषं दर्शयति) यथा—

'नमोऽस्तु ताभ्यो भुवने जयन्ति ताः सुधामुचस्ताश्च कवीन्द्रसूक्तयः।
भवैकविच्छेदि कथाशरीरतामुपैति यासां चरितं पिनाकिनः॥' इति।

कवीन्द्रसूक्तीनां तच्छब्दवति वाक्ये निर्दिष्टानां तच्छब्दान्तरेण परामर्शो न युक्तः।

किञ्च यत्तच्छब्दयोः स्वभावेन वाक्यभेदोत्थापकत्वेन यदेकतरवाक्येऽन्यतरदेव प्रयुज्यते तदपि दुष्टमेव। यथा—

'अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टैरत्यद्भुतैरपहृतस्य तथापि नास्था।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेयमाहात्म्यसारसमुदायमयः पदार्थः॥'

इत्यत्र यद्यपीत्यपेक्षितम्। न च तदेकवाक्यानां सम्बन्धुं योग्यम्।

एकत्रापि वाक्ये गुणक्रियादिगतं कल्पितं भेदमाश्रित्य प्रक्रान्तवस्तुविषयतच्छब्दप्रयोगे, प्रधानक्रियायां परामृश्यस्य प्रधानत्वादेव स्वरूपेण निर्देशे, गुणक्रियादिविषये तु तच्छब्देन परामर्शे न्याय्ये, यद्विपर्ययकरणं तद् दुष्टमेव। यथा—

'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥' इति।
'बलिं प्रजाभ्यो जग्राह स तासामेव भूतये' इति युक्तः पाठः।

और जैसे—

'पौड़े गन्ने की पक कर पीली पड़ी बीच वाली पोर में जो रस देखा जाता है और जो रस कषाय-मधुर बड़ी जामुन में, जिनकी वाणी का विलास—उसकी आस्वाद स्थिति को लूट लेने में चतुर है—वे भाँति भाँति की मति वाले भर्तृमेण्ठ आदि कवि सब जगह सर्वोत्कृष्ट हैं।'

यहाँ द्वितीय—यच्छब्द वाक्य में परामर्श का विषय—'रस' कह दिया गया, उसका प्रत्यवमर्श तच्छब्द से किया जा रहा है वस्तुतः पहले यच्छब्द वाक्य में यच्छब्द का परामर्श ठीक नहीं होता, कारण कि तब दोनों असंबद्ध रहे आते हैं।

(प्रथमे यच्छब्दवाक्ये का अभिप्राय वस्तुतः संगत नहीं है) जैसे—

उन्हें नमस्कार है, भुवन में उन सर्वविजयी का और उन सुधानिष्यन्दिनी—कविवरों की सूक्तियों को। भगवान् शंकर का संसारचक्र से छुड़ाने वाला चरित जिनकी कथा का शरीर बनता है।' इस प्रकार तच्छब्द वाले वाक्यों में बतलाए गए (कवीन्द्रसूक्ति आदि) पदार्थों का दूसरे तच्छब्दों से परामर्श ठीक नहीं है।

अपरं च—यत् और तत् शब्द स्वभावतः वाक्यभेद (वाक्य में भिन्नता) उपस्थित करते हैं। इस स्थिति में यदि एक वाक्य में किसी एक का ही प्रयोग होता है तो वह भी दुष्ट ही है। जैसे—

'असाधारण की और अत्यन्त अद्भुत लोकोत्तर चरित से अपहृत की तब भी आस्था नहीं है। यह कोई छोटे से वीर शिशु के आकार में—अमित प्रभाव और बल के समुदाय से युक्त पदार्थ है।'

यहाँ—(तथापि के लिए) यद्यपि चाहिए। और (यद्यपि का प्रयोग करने पर) वह एक वाक्य में ठीक बैठ नहीं सकता।

एक वाक्य में भी यदि गुण-क्रिया आदि में कल्पित भेद को लेकर प्रक्रान्त वस्तु विषयक

तच्छब्द का प्रयोग हो तो जहाँ प्रधान क्रिया में परामर्शनीय होने से प्रधान—पदार्थ का स्वरूपतः स्ववाचक शब्द द्वारा कथन किया जाना चाहिए और अप्रधान क्रिया में परामर्शनीय होने से तच्छब्द द्वारा परामर्श किया जाना चाहिए—वहाँ उसके विरुद्ध निर्देश करना दुष्ट ही है। यथा—

प्रजाओं की ही उन्नति के लिए उसने उनसे बलि ली। सूर्य हजार गुना देने के लिए रस लेता है। यहाँ—'बलिं प्रजाभ्यो जग्राह स तासामेव भूतये' यह पाठ होना चाहिए।

विमर्श : वाक्य-योजना का नियम यह है कि यदि उसमें 'प्रधान कार्य और फलकथन दोनों का उल्लेख—तत् सर्वनाम के प्रयोग द्वारा किया जाए तो सर्वनामको—फलकथन वाले वाक्यांश में रखना चाहिए, और प्रधान कार्यका निर्देश जिस वाक्यांश में हो उसमें सर्वनाम के परामृश्य को रखना चाहिए—जैसे यदि—'गुरु शिष्यों को पढ़ाता है। कारण कि वह उनकी उन्नति चाहता है' इस तथ्य को एक वाक्य में कहना होतो—'गुरु शिष्यों का पढ़ाता है—उनकी उन्नति के लिए' यह कहा जायगा—अर्थात् फलकथन वाले वाक्यांश में 'उनकी' इस प्रकार सर्वनाम रखा जायगा और उसके द्वारा निर्देश्य—शिष्यपदार्थ—प्रधान क्रिया वाले वाक्य में। ऐसा न कह कर 'गुरु शिष्यों की ही उन्नति के लिए उन्हें पढ़ाता है'—ऐसा कहना ठीक नहीं। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए व्याख्यानकार ने कालिदास का पद्य उद्धृत किया है—'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।' इसमें 'भूत्यर्थम्' यह फलकथन का वाक्यांश है। इसमें कवि ने—प्रजापदार्थ को रखा और उसका प्रतिनिर्देश 'तासाम्' द्वारा प्रधान क्रिया अग्रहीत् वाले वाक्यखंड में किया।

ऐसा करने से फलकथन जो विधेय है वह गौण हो जाता है, फलतः विधेयता की स्पष्ट प्रतीति न होने से विधेयाविमर्श दोष बन बैठता है। व्याख्यानकार इसका परिष्कार—'बलिं प्रजाभ्यो जग्राह स तासामेव भूतये'—इस प्रकार पाठ परिवर्त्तन द्वारा करते हैं। इसमें फलकथन वाक्यांश = 'तासामेव भूतये' में स्पष्ट रूप से विधेयता की प्रतीति होती है। अतः यही पाठ ठीक है।

तथैकविषयत्वे यत्तदोरेकस्य द्रव्यादिविषयत्वेऽन्यस्य कालादिगोचरत्वे दुष्टमेव। यथा—

'त्वमेवंसौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः।
अयि ! द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे ! संवदति वा-
मतः शेषं यत् स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया॥'

अत्र 'अतः शेषं चेत् स्यादि' ति पठनीयं चेच्छब्दस्य यदिशब्दार्थत्वात्।

इसी प्रकार जहाँ यद् और तद् दोनों का विषय एक ही होना चाहिए (वहां दोनों में से) एक का विषय द्रव्यादि हो जाए और दूसरे का कालादि तो वह भी दुष्ट ही है। उदाहरणार्थ—

'तुम इतनी सुन्दर हो और वह सुन्दरता का पारखी है। तुम्हीं दोनों कला की पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए हो। इसलिए हे सुन्दरि ! तुम दोनों का जोड़ा जँचता तो बहुत है पर इसके बाद बचा है—वह हो जाए तब तो फिर गुणों की ही विजय है।' (यहाँ—अन्तिम चरण में) 'अतः शेषं चेत्स्यान् जितमिह तदानीं गुणितया' इसके बाद जो बचा है यदि वह हो जाय तब तो···ऐसा पाठ चाहिए। क्योंकि चेत् शब्द यदि शब्द का पर्याय है।

विमर्श—अन्तिम चरण में यद् और तदानीं में तद् दोनों का प्रयोग है। पर प्रथम यद् मिलन क्रिया का वाचक है और तदानीं—'उस समय'-कालका, फलतः दोनों का विषय एक न

होकर भिन्न हो जाते हैं। इससे उद्देश्य-विधेयभाव का ज्ञान नहीं होता। यत् के स्थान पर चेत् दे देने से यदि का अर्थ आ जाता है तब तदानीं की संगति बैठ जाती है। वह निर्धारणार्थक हो जाता है।

काव्यप्रकाशकार ने प्रस्तुत पद्य को अभवन्मतयोग का उदाहरण माना है। उन्होंने—इस पद्य में दो आवश्यकताएँ बतलाई हैं। एक तो 'अतः शेषं यत् स्यात्' में यत् के लिए तद् की और 'जितमिह तदानीं' में—तदानीं के लिए—यदा की। दोनों की पूर्ति के लिए—अतः शेषं यत् तद् यदि-स्यात्—जितमिह तदानीं गुणितया' पाठ चाहिए।

प्रदीपोद्योतकार ने इस विषय को और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—प्रस्तुत पद्य में गुण-विजय के साथ प्रयोजकतासंबन्ध से अवशिष्ट घटना का हो जाना विवक्षित है। इसलिए 'शेष का पूर्ण होना' इन पदार्थों का गुणविजय के साथ (अन्वय) संबन्ध कवि को मान्य है। वह दो प्रकार से हो सकता है। एक तो अगर 'यत्'-का अर्थ यदि कर दिया जाय तब और दूसरे तब जब तद् और यदि की विवक्षा मानी जाय। प्रथम पक्ष के अनुसार यदि यत् को यदि माना जाय तो उसमें अवाचकत्व दोष होगा, कारण कि यद् की यदि में शक्ति नहीं, और दूसरे पक्ष के अनुसार यदि 'तद् यदि' की विवक्षा स्वीकार कर ली जाय तो न्यूनपदत्व दोष होता है। किसी भी प्रकार—'शेष संपत्ति' का गुणविजय में अन्वय नहीं होता।

सुधासागरकार का कहना है कि यत् का अर्थ यदि ही है। पर तदानीं का प्रयोग बहुत दूर किया गया है अतः अर्थप्रतीति में विलम्ब होने से चमत्कार में विलम्ब होता है अतः यहाँ अभवन्मतयोग है।

तथा प्रक्रान्तविषयत्वे तच्छब्दस्य व्यवस्थिते तद्विपर्यये प्रक्रम्यमाणवस्तुगोचरत्वं दोष एव। यथा—

'ये सन्तोषसुखप्रबुद्धमनसस्तेषां न भिन्नो मनो
येऽप्येते धनलोभसङ्कुलधियस्तेषां तु दूरे नृणाम्।
इत्थं कस्य कृते कृतः स विधिना तादृक् पदं सम्पदां
स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरुर्न मे रोचते॥'

अत्र मेरुः प्रक्रम्यमाणः स इत्यनेन परामृष्टः।

इसी प्रकार—तच्छब्द के लिए विषय रूप से प्रक्रान्त वस्तु ही निश्चित है। यदि उसको प्रक्रम्यमाण वस्तु के लिए प्रयुक्त कर दिया जाय तो वह दोष ही होगा। जैसे—

'मेरु मुझे नहीं रुचता। उसकी सुवर्ण-महिमा तो अपने ही आप में सीमित है। जिनका मन संतोषसुख में प्रबुद्ध है उनका तो 'उससे' मद नहीं टूटता, और जिनकी मति धन लोभ से घिरी है उन से दूर है। इस प्रकार विधाता ने उतनी बड़ी संपत्ति का स्थान उसे बनया ही क्यों? यहाँ मेरु प्रक्रम्यमाण है। और उसे 'सः' = 'वह' इस प्रकार 'तद्' सर्वनाम से बतलाया गया।

विमर्श : तद् परोक्षार्थ का वाचक है। यहाँ मेरु परोक्ष नहीं, प्रकरण में प्रत्यक्ष है। अतः उसका तद् से परामर्श ठीक नहीं।

एतद् वाक्यभेद उदाहरणम्। एकवाक्ये तु

'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्।'

इति देयम्।

वाक्यभेद होनेपर यह उदाहरण है—एक वाक्य में—'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्' यह उदाहरण देना चाहिए।'

विमर्श : व्यक्तिविवेक और व्य० व्या० दोनों के रचयिताओं की यह मान्यता है कि इस पद्य में 'तदीय' शब्द से 'गंगासंबन्धी' अर्थ विवक्षित है। ऐसा मानने पर गंगा प्रत्यक्ष है अतः उसके लिए तद् शब्द का प्रयोग दोषावह साबित होता है।

वस्तुतः 'तीर्थे तदीये' में 'तदीय' से 'विन्ध्यसंबन्धी' अर्थ विवक्षित है। इस विषयपर हम आगे विवेचन करेंगे।

तथा निर्वीप्सेनैकेनोपक्रमे सवीप्सेनान्येन परामर्शो दुष्ट एव। यथा—

'यः कल्याणबहिर्भूतः स स दुर्गतिमश्नुते।'

सवीप्सेन त्वेकेन प्रक्रमे निर्वीप्सेनान्येनोपसंहारः सवीप्सस्य प्रत्यवमृष्टत्वाददुष्टोऽन्वयः किन्त्वपुष्ट एव यथा—

इसी प्रकार यदि उपक्रम में एक (यद् या तद्) अकेला हो और उपसंहार में दूसरा (तद् या यद्) एकाधिक बार कह दिया गया हो तो वह सदोष है। यथा—

'जो कल्याण से दूर है वह वह दुर्गति पाता है'। पर उपक्रम में एकाधिक बार किसी का प्रयोग हो और उपसंहार में अकेले एक का तो वह अन्वय निर्दोष होता है। कारण कि वहाँ एकाधिक का प्रत्यवमर्श हो जाता है, पर वह अपुष्ट होता है—यथा—

'कल्याणानां त्वमसि महसामीशिषे त्वं विधत्से
पुण्यां लक्ष्मीमिह मयि चिरं धेहि देव! प्रसीद।
यद्यत् पापं प्रतिजहि जगन्नाथ! नम्रस्य तन्मे
भद्रं भद्रं वितर भगवन्! भूयसे मङ्गलाय॥' इति।

अत्र यद्यदिति निर्दिष्टं केवलेन तच्छब्देन परामृष्टम्। एतद् यच्छब्दस्य सवीप्सस्योदाहरणम्। तच्छब्दस्य तु सवीप्सस्य निर्वीप्सेन परामर्शं उदाहरणं यथा—

'क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः
सोढो दुस्सहशीतवाततपनक्लेशो न तप्तं तपः।
ध्यातं नित्यमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शम्भोः पदं
तत्तत् कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः॥' इति।

विमर्श : प्रस्तुत पद्य मालतीमाधव का है। इसमें तीन पाठ मिलते हैं—

१—कल्याणानां त्वमिह महसां भाजनं विश्वमूर्ते धुर्यां लक्ष्मीमथ मयि भृशं धेहि—

२—कल्याणानां त्वमिह महसामीशिषे त्वं विधत्से पुण्यां लक्ष्मीमथ मयि दृशं धेहि० तथा

३—यही—'कल्याणानां त्वमसि' व्य० व्या० का।

इनमें प्रथम पाठ—मालती-माधव मूल में मिलता है। उसके टीकाकार त्रिपुरारि और जगद्धर दोनों को यही पाठ मान्य है। साथ ही काव्यप्रकाश में भी यही पाठ प्राप्त होता है।

दूसरा पाठ—काव्यप्रकाश के नवीन टीकाकार वामन झलकीकर ने (अपनी बालबोधिनी में) दिया है। उन्होंने उसकी उपपत्ति में महसाम् का अर्थ उत्सवानाम् किया है और इसके साथ आई ईशिषे क्रिया में कल्याणानां महसां की षष्ठी को—'अधीगर्थदयेशां कर्मणि'के अनुसार कर्मार्थक बतलाया है। उनके इस पाठ में केवल तीन क्रिया हैं—ईशिषे, विधत्तां और धेहि। तदनुरूप

तीन कर्म भी हैं—महस्, लक्ष्मी और दृश्। व्यं० व्या० के पाठ में इन तीन क्रियाओं के साथ चौथी एक 'असि' क्रिया और है। और कर्म तीन ही हैं। अतः ठीक अन्वय नहीं बैठता। कभी कभी अस्ति, अस्मि आदि को विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय मान लिया जाता है जैसे 'त्वामस्मि वच्मि विदुषाम्' और 'अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः'—में अस्मि। परन्तु यहाँ त्वम् भी है अतः असि को क्रिया ही मानना पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि 'ईशिषे' को विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय मान लिया जाय और उसका अर्थ 'ईशिता' कर दिया जाय तो अन्वय हो सकता है, किन्तु इसमें संदेह है कि ऐसी क्रियाएँ भी विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय मानी जाती हैं या नहीं। ऐसे प्रयोग नहीं मिलते इसके अतिरिक्त जो 'असि' के स्थान पर 'इह' और इह के स्थान पर अथ, पाठ है उसमें कोई खास बात नहीं है।

हम यहाँ काव्यप्रकाश और मालतीमाधव के पाठ के अनुसार अनुवाद करते हैं—

हे विश्वमूर्ते—(सूर्य) तुम मंगलमय प्रकाशराशि के केन्द्र हो। तुम मुझपर विपुल मात्रा में पवित्र लक्ष्मी—(प्रकाश) आहित करो।

हे जगत् के स्वामी—मैं तुम्हारे समक्ष नत हूँ। मेरे जो जो पाप हैं उन्हें दूर करो। हे भगवान् तुम महामङ्गल के लिए उत्कृष्ट हित की वर्षा करो।'

यहाँ—यद् यद् (जो जो) इस प्रकार (वीप्सा के साथ=दो बार) निर्देश किया गया है और परामर्श एक अकेले तच्छब्द से किया गया है काव्यप्रकाशकार ने इसे निर्दोष माना है। परन्तु उनके कथन से व्य० व्या० की युक्ति का खण्डन नहीं होता। व्य० व्या०कार इस उदाहरण में अपुष्टता मानते हैं—दोष नहीं। वे स्वयं कहते हैं कि अन्वय हो जाता है। काव्यप्रकाशकार 'अन्वय दोष का अभाव इसमें दिखाते हैं अतः दोनों की मान्यताएँ अलग हैं। यह तो हुआ यत् शब्द की वीप्सा का उदाहरण। जहाँ वीप्सायुक्त तच्छब्द का वीप्सारहित यच्छब्द से परामर्श होता है उसका उदाहरण यह है—

'सहा, पर क्षमा के साथ नहीं। गृहसुख तजा, पर संतोष से नहीं। दुःसह ठंढ, हवा और गरमी का क्लेश सहा, पर तप नहीं किया। प्राणों को नियमित करके निरन्तर शिवचरणों का ध्यान नहीं किया (यां = भगवान् शंकर के चरणों का ध्यान किया, किन्तु रात-दिन लगकर और प्राणों को नियमित करके नहीं) इस प्रकार उन उन कामों को किया जरूर जिन्हें मुनि लोग करते हैं संहार पर उन उन फलों से वंचित रहे।'

विमर्शः यहाँ 'उन उन कामों' इसमें आरम्भ किया 'उन उन' इस प्रकार वीप्सा से परन्तु क्रिया केवल एक 'यद्' से अतः अपुष्टता हुई।

यत्र तु सवीप्सस्य प्रक्रमे सवीप्सेन प्रत्यवमर्शस्तत्र पुष्टत्वमेव यथा—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥' इति।

जहाँ कहीं वीप्सायुक्त से आरम्भ और वीप्सायुक्त से ही उपसंहार होता है वहाँ—अन्वय पुष्ट होता है। उदाहरण—

'पाण्डव सेना में अपनी भुजाओं का बड़ा गर्व रखने वाले जो जो शस्त्र धारण किए हुए हैं, बच्चा-बुड्ढा या गर्भ रूपमें जो जो भी पांचाल गोत्र में हैं, जो जो उस कृत्य का साक्षी है और युद्ध

करते समय जो जो मेरे विरुद्ध होगा—क्रोध से अंधा मैं उस उसका और क्या स्वयं जगद् के अन्तक—यम का भी अन्त करूँगा।

विमर्श : यहाँ जो जो—और—'उस उस' इस प्रकार आरंभ और उपसंहार दोनों वीप्सायुक्त यत् तत् पदों से हुआ है।

यत्र चानेकस्य सवीप्सस्य चानेकेन प्रत्यवमर्शस्तत्रापि पुष्टत्वमेव। यथा—

'यो यो यं यमवाप्नुयादवयवोद्देशं स्पृशन् पाणिना
तत्तन्मात्रकमेव यत्र स स ते रूपं परं मन्यते।
तज्जात्यन्धपुरं हहा करिपते! नीतोऽसि दुर्वेधसा
को नामात्र भवेद् बताखिलभवन्माहात्म्यवेदी जनः॥' इति।

यदि परं यूं यम् इति प्रक्रमे तत्तन्मात्रकमेवेति प्रत्यवमर्शे विधेयाविमर्शः सवीप्सस्य तदर्थस्य समासे गुणीभावात्। नैतत्। मात्रग्रहणेनावधारणमुच्यते यथा—'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे' इति। तच्चावधार्यमाणपरतन्त्रमित्यवधार्यमाणस्यैव सवीप्सस्य तदर्थस्योद्रेकात् प्राधान्यमखण्डितमेव। पूर्वपदार्थप्राधान्येन क्वचित् सुप्सुपेति समासो दृश्यते यथा—

'निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं सन्धुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन।
अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या॥' इति।

अत्र हि भूयिष्ठं निर्वाणं निर्वाणभूयिष्ठमिति समासे निर्वाणार्थस्यैव प्राधान्यं तस्य वीर्यविशेषणत्वेनावस्थितत्वात्। न तद्वदिह तत्तन्मात्रकमिति तदर्थस्य प्राधान्यं भविष्यति। केवलं कृतेऽवधारणार्थे मात्रशब्दे किमर्थः कप्रत्ययः। तस्मिन्नपि वा कृते एवशब्दः किमर्थः। एवशब्द एव वा किं न क्रियते। नैतत्। कप्रत्ययस्य तावदत्र कुत्साप्रतिपादकत्वात् न पौनरुक्त्यम्, तन्तमेवेति केवलैवशब्दप्रयोगे विच्छिन्न इव तदर्थः प्रतीयते। मात्रग्रहणे तु पिण्डितस्येव तदर्थस्य प्रतीतिरित्यस्ति विशेषः। यदि परं द्वयोरुपादानं लोकप्रतीत्यनुसरणेन दृढीकृतावधारणप्रतीत्यर्थम्। दृश्यते हीदृशेषु द्वयोरवधारणप्रतिपादकयोः प्रयोगः। यथा-'बाला केवलमेव रोदिति गलल्लोलोदकैरश्रुभिः'। अत्रैव तदिति निर्वीप्सेन तदा निर्दिष्टं जात्यन्धपुरं निर्वीप्सेनैव यदा प्रत्यवमृश्यते। ततश्चात्राननुगुणपरामर्शाच्च दोषः कश्चित्।

जहाँ अनेक प्रकार की वीप्सा से आरंभ हो और उसी प्रकार अनेक प्रकार की वीप्सा से उपसंहार वहाँ भी अन्वय पुष्ट होता है। यथा—

'हाथ से छूते समय जो जो व्यक्ति जिस जिस अवयव स्थान को पाता है वह वह तुम्हारा रूप केवल उतना उतना ही मानता है। इसलिए बड़े दुःख की बात है कि हे करिराज—तुम्हें वाम विधाता ने जन्मान्धों के नगर में भेज दिया है। आपके पूरे माहात्म्य को जानने योग्य यहाँ भला कौन मिल सकता है?'

किन्तु—'यं यं' इस प्रकार आरंभ कर 'तत्तन्मात्रकम्' इस प्रकार उपसंहार करने में विधेयाविमर्श दोष है, क्योंकि तद् शब्द का अर्थ दो बार कहा जाने पर भी समास में होने से गुण=अप्रधान हो गया। पर ऐसी बात नहीं है। मात्र शब्द से अवधारण बतलाया गया है जैसे—प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा में। और जो अवधारण है वह अवधार्यमाण पर आश्रित है, इसलिए

यहाँ तत् शब्द का वीप्सायुक्त जो अर्थ है वह अवधार्यमाण है अतः उसकी प्रधानता खण्डित नहीं ही होती। कहीं पूर्वपदार्थ की प्रधानता लिए हुए 'सुप्सुपा'से समास होता देखा जाता है—जैसे—

काम के निर्वाणभूयिष्ठ वीर्य को धौंकती हुई सी, पार्वती उपस्थित हुई। यहाँ—'भूयिष्ठं यत् निर्वाणम्' ऐसा समास करने पर निर्वाण अर्थ ही प्रधान होता है क्योंकि वही वीर्य का विशेषण होकर आता है। (शंका)—यहाँ उस (निर्वाणभूयिष्ठम्) के समान तत्तन्मात्र इस प्रकार तत् के अर्थ की प्रधानता नहीं हो सकती। क्योंकि यदि केवल अवधारण में ही मात्र शब्द का प्रयोग हो तो उसमें क प्रत्यय किस बात के लिए दिया गया है। और यदि मात्र शब्द का अर्थ अवधारण ही मान लिया जाय तो फिर 'एव' शब्द किस लिए ? अकेले 'एव' शब्द का ही प्रयोग क्यों नहीं कर दिया गया ? (उत्तर) ऐसी बात नहीं है—'क' प्रत्यय यहाँ कुत्सा का प्रतिपादक है। ('मात्रकमेव' में) पुनरुक्ति भी नहीं है। 'तन्तमेव' इस प्रकार यदि केवल 'एव' शब्द का प्रयोग करने पर तत् पदार्थ अलग अलग दिखाई देता है, मात्र पद देने से तत् का अर्थ पिण्डित होकर मिल कर सामने आता है, यह विशेषता है। 'मात्र' और 'एव' दोनों का एक साथ प्रयोग सिर्फ लोक का अनुसरण कर अवधारण की दृढ़ता के लिए किया गया है। ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ—अवधारण प्रतिपादक दोनों का साथ प्रयोग देखा जाता है-जैसे-'बाला केवलमेव रोदिति'।

यहीं एक बात और है कि वीप्साशून्य तत् पद से जन्मान्धपुर का बोध कराया और उपसंहार भी—वैसे ही वीप्साशून्य यद् पद से। इसलिए इस पद्य में परामर्श प्रक्रम के अनुरूप होने से कोई दोष नहीं।

तथा यत्र पूर्ववाक्ये यच्छब्दो निर्दिष्ट उत्तरवाक्ये तु न तच्छब्दो निर्दिष्टः, तत्र साकाङ्क्षत्वाद् दुष्टतैव। यथा—

'मीलितं यदभिरामताधिके साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम्।' इति।

उत्तरवाक्यगतत्वेन तु यच्छब्दप्रयोगे पूर्ववाक्ये तच्छब्दाप्रयोगे न दुष्टत्वम्, अपि तु प्राक्प्रतिपादितं पुष्टत्वमेव सामान्येनोपक्रमात् पश्चाद्विशेषस्योत्थापनात्। एतदभिप्रायेण कल्पिततत्कर्मादिविषयत्वमुक्तम्। उदाहरणं तु 'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके' इति पूर्वश्लोकार्धपाठविपर्यये।

जहाँ पूर्ववाक्य में यच्छब्द का निर्देश किया गया हो पर उत्तर वाक्य में तत् का नहीं, वहाँ वाक्यार्थ के सांकाङ्क्ष रहे आने से दोष होता है—जैसे—

अधिक सुन्दर चन्द्र के उदित होने पर कमल जो मुँद गए, उन्होंने अच्छा ही किया।

पर जहाँ यच्छब्द का प्रयोग उत्तरवाक्य में होता हो वहाँ पूर्ववाक्य में तच्छब्द का प्रयोग न करने से कोई दोष नहीं होता। उलटे—पूर्वप्रतिपादित पुष्टता ही होती है, कारण कि आरंभ सामान्य रूप से होता है, बाद में विशेष का कथन होता है। इसी अभिप्राय से तत्पद की कल्पित तत्कर्मादि-विषयता बतलाई गई है (मूल ग्रन्थ में—जहाँ यत् पदार्थ के आर्थ उपक्रमोपसंहार का वर्णन आया है) इसका उदाहरण—पूर्वश्लोकार्ध—'मीलितं यदभिरामताधिके' को उलट कर-'साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके' रखने से स्पष्ट है।

यत्तच्छब्दयोरविशिष्टेऽपि परामर्शकत्वे उत्तरवाक्ये निर्दिष्टो यच्छब्दः स्वभावत आविदूर्येण पूर्ववाक्यार्थश्लिष्टतया वस्तु परामृशति, तच्छब्दस्तु परोक्षायमाणार्थनिष्ठत्वात् वैदूर्येण। आविदूर्यं च प्रकृतार्थं प्रकृष्टतां नयद् वाक्यार्थं श्लेषयति। ततश्च तथाभूते विषये यच्छब्दस्य प्रयोगार्हत्वे तच्छब्दस्य प्रयोगोऽपुष्ट एव। यथा—

'तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरानतरेखयोर्या ।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥'

अत्र 'सा यां वीक्ष्ये'ति यत्तदौ विपर्ययेण पठनीयौ ।

यद्यपि यद् और तद् शब्दों की बराबर की परामर्श शक्तियों में कोई अन्तर नहीं है, इतने पर भी यत् शब्द का यह स्वभाव है कि जब वह उत्तर वाक्य में प्रयुक्त होता है तो किसी भी वस्तु का परामर्श आविदूर्येण = अर्थात् पूर्व वाक्यार्थ से सटाकर करता है । किन्तु तत् शब्द—वैदूर्येण = अर्थात् = पूर्ववाक्य से दूर रखकर, कारण कि उसका—विषय एकमात्र परोक्षस्थित अर्थ ही होता है । और आविदूर्य का यह गुण है कि वह वाक्यार्थ को इस प्रकार जोड़ता है कि उसमें प्रकृत अर्थ प्रकृष्ट रहता है. । इस (आविदूर्य की) स्थिति में जब विषय—उस प्रकार का (प्रधान) रहता है तो उसके लिए होना तो चाहिए यच्छब्द का प्रयोग, पर यदि तच्छब्द का प्रयोग कर दिया जाय तो वह—अपुष्ट होता है । जैसे—

उसकी (पार्वती की) झुकी हुई भौहों की—सलाई में अंजन लेकर बनाई गई सी जो कान्ति थी—लीला में चतुर उसे देख अनङ्ग ने अपने चापसौन्दर्य का मद विसार दिया ।' (कुमार० १।४७) ।

यहाँ—'सा यां वीक्ष्य' इस प्रकार यद् और तद् को बदलकर पढ़ना चाहिए ।

विमर्श : १. व्याख्यानकार का कहना है कि उक्त वाक्य की रचना इस प्रकार होनी चाहिए थी—'उस (पार्वती) की···भौहों की कान्ति ऐसी (वैसी) थी जिसे देख···' इस प्रकार पाठ करने में तत् (वह) पूर्ववाक्य में चला जाता है और यत् (यह) उत्तर वाक्य में । फलतः दोनों वाक्यार्थों में दूरी का अनुभव नहीं होता । याम् की जगह पूर्ववत् 'ताम्' पाठ रखने पर पूर्व वाक्यार्थ उत्तर वाक्यार्थ से दूर मालूम पड़ता है । कारण कि तत् पद दूरस्थ या परोक्ष अर्थ का विमर्श कराता है । उसकी जगह याम्—दे देने से परोक्षायमाणता पूर्ववाक्यार्थ में चली जाती है किन्तु उत्तरवाक्यार्थ पूर्ववाक्यार्थ से प्रत्यक्षतया जुड़ा दिखाई देता है ।

२. तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेवेन श्लोक के नीचे जो पंक्ति दी है—वह—इस प्रकार है—'यत्र सा वीक्ष्ये'ति यत्तदौ विपर्ययेण पठनीयौ' । इसमें यत्र की जगह या तो 'अत्र' पाठ चाहिए क्योंकि उक्त सब स्थलों के लिये 'अत्र' ही पाठ मिलता है ।

'सा वीक्ष्य' में बीच में 'याम्' चाहिए । सा उत्तरार्ध के अन्त में आए 'या' के स्थान पर और उत्तरार्ध के प्रथम शब्द 'ताम्' की स्थान पर याम् पाठ करने पर ही व्याख्यानकार का आशय स्पष्ट होता है ।

यथा च-

'दृष्टिर्नामृतवर्षिणी स्मितमधुप्रस्यन्दि वक्त्रं न किं
नार्द्रार्द्रं हृदयं न चन्दनरसस्पर्शानि वाङ्गानि च ।
कस्मिन् लब्धपदेन ते कृतमिदं क्रूरेण दग्धाग्निना ।
नूनं वज्रमयोऽन्य एव दहनस्तस्येदमाचेष्टितम् ॥'

अत्र यस्येति पठनीयम् ।

और जैसे—

उसकी चितवन क्या अमृत नहीं बरसाती थी, क्या उसका चेहरा मुसकुराहट की मिठास नहीं चुआता था, क्या उसका हृदय सभी अत्यधिक सरस न था, और उसके अंग-प्रत्यंग चन्दनरस-स्पर्श

से युक्त न थे, भला किस जगह—स्थान पाया कि—उस क्रूर (दाहक) आगी ने तुम्हें ऐसा बना दिया। निश्चित ही कोई दूसरी ही आगी थी, जो वज्रमय थी, उसीकी यह करतूत है।

यहाँ 'उसकी यह कर०' में तस्य उसकी जगह—यस्य जिसकी—पाठ होना चाहिए।

विमर्श : १. यहाँ श्लोक में—कस्मिन् की जगह यस्मिन् अच्छा रहेगा और वृत्ति में—अस्य की जगह यस्य। हमने कस्मिन् पाठ के अनुसार ही अर्थ कर दिया है।

यथा च—

'आचार्यो मे स खलु भगवानस्मदग्राह्यनामा
तस्मादेषा धनुरुपनिषत् तत्प्रसादात् क्षमोऽपि।
अध्यासीनः कथमहमहो वर्त्म वैखानसानां
सीतापाणिग्रहणपणितं चापमारोपयामि॥'

अत्र च 'यस्मादेषा धनुरुपनिषदि'ति पठनीयम्। एवञ्च प्रागुक्ते 'हेम्नो भारशतानी' त्यादौ 'ता वाणेन तु तस्य सूक्तिविसरैरुट्टङ्किताः कीर्तयो, याः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानतामि'ति पठनीयम्।

और जैसे—

'वे मेरे आचार्य हैं जिनका नाम हम नहीं ले सकते, उन्हीं से यह धनुर्विद्या और उन्हीं के प्रसाद से क्षमता भी (पाई है। फिर) मैं—वैखानसों के रास्ते कैसे चला आया। सीता के विवाह में—शर्त रूप से रखे इस धनुष को चढ़ाता हूँ।' यहाँ—यस्मात् = जिससे यह धनुर्विद्या पाई। पाठ चाहिए। इसी प्रकार पहले उदाहृत 'हेम्नां भारशतानि वा…' पद्य में भी 'ता बाणेन तु तस्य सूक्तिविसरैरुट्टङ्किताः कीर्त्तयो याः कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ् मन्ये परिम्लानाम्' पाठ चाहिए।

विमर्श : 'आचार्यो मे…'पद्य में तस्मात् की जगह यस्माद् तो चाहिए ही तत्प्रसादात् के तत् की जगह भी यत् चाहिए।

अपि च परामृश्यमनुक्त्वा यच्छब्देन च वाक्यार्थोपक्रमे तच्छब्दवति परामृश्यनिर्देशे पूर्ववाक्यार्थे परामृश्यमस्पृशन्ती उपप्लवमाना प्रतीतिरिति वाक्यार्थप्रतिपत्तिविप्रकर्षादपुष्टत्वम्। यथा—

'पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवावमानेन देहिनस्तद्वरं रजः॥'

अत एवात्र श्लोकार्धयोर्विपर्ययपाठे पुष्टत्वमेव। तथा पूर्ववाक्यार्थे निर्दिष्टस्यार्थस्योत्तरवाक्यार्थे सर्वनाममात्रेण परामर्शे न्याय्ये यः स्वशब्दसहितस्य सर्वनाम्नो निर्देशः स दुष्ट एव। यथा—

'उदन्वच्छिन्ना भूः स च निधिरपां योजनशतं
सदा पान्थः पूषा गगनपरिमाणं कलयति।
इति प्रायो भावः स्फुरदवधिमुद्रामुकुलितः
सतां प्रज्ञोन्मेषः पुनरयमसीमो विजयते॥' इति।

अत्र 'स च निधिरपामि'ति सस्वशब्दः सर्वनाम्नो निर्देशः।

और यदि परामृश्य न कहा जाय तथा वाक्यार्थ का उपक्रम यच्छब्द से किया जाय तो यदि (उत्तरवाक्य में) परामृश्य का कथन तच्छब्द के साथ किया जाता हो तो वह अपुष्टताजनक होता

है। कारण कि—इस स्थिति में जो उत्तर वाक्यार्थ-ज्ञान होता है वह पूर्ववाक्यार्थ में आए परामृश्य को झटिति नहीं छूता, फलतः-वाक्यार्थ की प्रतीति में दूरी हो जाती है। उदाहरण—

'लात से ठोकर खाकर जो उठती और सिर पर चढ़ जाती है—अपमान होने पर भी स्वस्थ ही बने रहने वाले व्यक्ति से (तो)—वह धूल अच्छी है।'

यहाँ इसीलिए—दोनों श्लोकार्धों को उलटकर पढ़ने में पुष्टता आ जाती है।

इसी प्रकार पूर्ववाक्यार्थ में बतलाया अर्थ उत्तरवाक्यार्थ में सर्वनाम मात्र से बतलाया जाना चाहिए—तब भी यदि स्ववाचक शब्द के साथ सर्वनाम का प्रयोग भी किया जाय तो वह पुष्ट है। यथा—

पृथिवी—समुद्र से घिरी है, वह जलनिधि भी सौ योजनों तक परिमित है। आकाश का जो विस्तार है उसे सततगतिशील सूर्य आँक लेता है, इस प्रकार प्रायः प्रत्येक पदार्थ—में अवधि (सीमा) की मुद्रा दिखाई देती है। विद्वानों की प्रज्ञा का यह उन्मेष ही केवल असीम और सर्वोत्कृष्ट है।'

यहाँ 'स च निधिरपाम्' इस अंश में समुद्रवाचक शब्द—'निधिरपां', के साथ सर्वनाम (स) का प्रयोग है।

विमर्श : एक बात समझ में आती है। पहले उदन्वान् दिया है और उसके बाद 'निधिरपाम्' इससे—समुद्र की महिमा व्यक्त होती है। अतः यदि सर्वनाम के साथ किसी पूर्वपरामृष्ट वस्तु की महिमा का द्योतक कोई विशेषण स्वरूप शब्द आए तो उसे—सदोष न मानकर उचित मानना ही ठीक है।

एवं 'रामगिर्याश्रमेष्वि'ति प्रक्रते 'तस्मिन्नद्रौ कतिचिदि'त्यत्र ज्ञेयम्। अत्र तु केचित् समर्थयन्ते—'रामगिर्याश्रमेष्वि'ति रामगिरिः समास उपसर्जनीभूतो बुद्धावुद्रेकेणानवभासात् कथं सर्वनाम्ना परामृश्यते 'सर्वनाम्नानुसन्धिर्वृत्तिच्छन्नस्ये'ति प्रधानभूतपरामृश्याभिप्रायेण स्थितं यथा 'सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति, तद् व्युत्पाद्यते' इति। अत्राद्राविति निर्दिश्यमानेऽद्रिमात्रप्रतीतेर्नं प्रकृतमद्रिं गमयेत्। तस्मादुभयमत्रोपादेयं यथा 'अथ शब्दानुशासनम्। केषां शब्दानाम्' इति। गिरिशब्देन गिरौ प्रक्रान्त अद्रिशब्देन पर्यायान्तरेण स्वागतमसामञ्जस्यं दुष्परिहरमेवेति। उदन्वच्छिन्ना भूरित्यत्र तु उदन्वतः परामृश्यस्य नैकत्वाद् योग्यत्वाच्च भुवः स्त्रीत्वेन स इति परामर्शानर्हत्वाच्च सर्वनामपरामर्श एव युक्तो न पुनः स्वशब्दगोचरत्वमित्यत्र दुष्टतैव।

इसी प्रकार—'रामगिर्याश्रमेषु' ऐसा आरंभ कर 'तस्मिन्नद्रौ' इस प्रकार के कथन में (दुष्टता) समझना चाहिए। पर यहाँ तो कुछ लोग समर्थन करते हैं। पर 'रामगिर्याश्रमेषु' इस प्रकार रामगिरि तो समास में गुणीकृत है। वह स्पष्ट रूप से बुद्धि में नहीं आता। अतः उसका सर्वनाम द्वारा परामर्श कैसे किया जा रहा है। और यह जो नियम है कि जो समास में गुणीभूत हो उसका अनुसंधान भी सर्वनाम द्वारा किया जा सकता है उसका तात्पर्य यह है कि जब परामृश्य प्रधान हो तभी वह सर्वनाम द्वारा परामृष्ट हो सकता है। जैसे—सभी पुरुषार्थों की सिद्धि सम्यग् ज्ञानपूर्वक होती है। अतः उसका निरूपण किया जाता है। इसमें यहाँ (तस्मिन्नद्रौ-में) अद्रिमात्र का कथन होता तो उससे सभी अद्रियों का बोध होता, फलतः वह (अद्रि शब्द) केवल प्रकृत अद्रि का बोध न कराता। इसलिए दोनों (स्ववाचक शब्द परामृश्यवाचक शब्द और तत्परामर्शक सर्वनाम) ही का उपादान यहाँ ठीक है। जैसे—'अथ शब्दानुशासनम्—केषां शब्दानाम्' यहाँ।

तब भी गिरि का उपक्रम गिरिशब्द से किया और उपसंहार में आ गया अद्रि उसका पर्याय—वाचीशब्द। यह जो असामञ्जस्य हुआ—यह—दुष्परिहार्य ही है।

'उदन्वच्छिन्ना भूः' में परामृश्य—'उदन्वान्' निकटस्थ है और परामर्श के योग्य है, साथ ही 'सः' इस पुंलिङ्ग सर्वनाम से 'भू' इस स्त्रीलिङ्ग अर्थ का परामर्श संभव नहीं, इसलिए केवल सर्वनाम द्वारा ही वस्तु का परामर्श उचित था—अपने वाचक शब्द द्वारा उसका स्पष्ट उल्लेख नहीं। इसलिए यहाँ तो दोष है ही।

किञ्च समुदायस्य कस्यचित् केनचिद्वाक्येन निर्देशे वाक्यान्तरे तदवयवस्य निर्धारणे तस्य समुदायस्य निर्धारणविषयप्रतीतये यच्छब्देन निर्देशे कर्त्तव्ये निर्धार्यमाणस्यावयवस्य निर्देशो दुष्ट एव। यथा—

'तस्मादजायत मनुर्नवराजबीजं यस्यान्वये स सगरः स भगीरथश्च।
एकेन येन जलधिः परिखानितोऽयमन्येन सिद्धसरिता परिपूरितश्च॥'

अत्र स सगरः स भगीरथश्चेति यन्निर्दिष्टं तस्यैकेत्यादिना निर्धारणं विहितम्। निर्धारणं च जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणम्। नचात्र समुदायः केनचित्पदेन निर्दिष्टः। यच्चैकेनेति निर्दिष्टं तन्न समुदायः, अपि त्वेकदेशः। ततश्च निर्देश्यानिर्देशादनिर्देश्यनिर्देशाच्चात्र दुष्टत्वम्। एवञ्च समुदायस्यैव निर्धारणविषयस्य यच्छब्देन निर्देशे कर्त्तव्ये 'एको ययोर्जलनिधीन् निचखान सप्त, गाङ्गैः पयोभिरभिवर्षितवान् द्वितीयः' इति पाठः श्रेयान्।

और यदि किसी वाक्य द्वारा किसी समुदाय का निर्देश हो—और दूसरे वाक्य में निर्धारण किया जाय उसके अंशविशेष का—तो वह भी दोष है। कारण कि यत् शब्द तो वहाँ समुदाय की प्रतीति कराएगा। उस जगह—समुदाय के अंश का निर्देश—ठीक नहीं होगा। यथा—

'उससे—नए राजाओं के बीजभूत मनु पैदा हुए, जिनके वंश में वे प्रसिद्ध सगर हुए और वैसे ही वे भगीरथ। जिस एक ने यह समुद्र खोदा और दूसरे ने सिद्धसरित् (गंगा) द्वारा उसे भरा।'

यहाँ 'स सगरः', 'स भगीरथः' इस प्रकार जिसका निर्देश किया उसका 'एक' इत्यादि द्वारा निर्धारण कर दिया। निर्धारण का अर्थ होता है जाति गुणक्रिया द्वारा समुदाय से उसके एक देश को अलग करना। पर यहाँ समुदाय किसी भी पद द्वारा नहीं बतलाया गया। 'एकेन' इस—प्रकार जिसका निर्देश किया गया है वह समुदाय नहीं है, अपितु उसका एक देश है। इसलिए जिसका निर्देश करना था उसके अनिर्देश से और जिसका निर्देश नहीं करना था उसके निर्देश से यहाँ सदोषता आ गई। इसलिए यहाँ समुदाय ही निर्धारणविषय होना चाहिए, और उसीका यत् शब्द द्वारा निर्देश किया जाना चाहिए इसलिए ऐसा पाठ अधिक अच्छा होगा—

'एको ययोर्जलनिधीन् निचखान सप्त गाङ्गैः पयोभिरभिवर्षितवान् द्वितीयः॥'

अर्थात् जिनमें से एक ने सात समुद्र खोदे और दूसरे ने गङ्गाजल से उन्हें भरा।

विमर्श : व्याख्यानकार ने जो पाठ दिया है उसमें 'अभिवर्षितवान्' की जगह 'अभिपूरितवान्' पाठ अच्छा होता।

तथा—गाङ्गैः पयोभिरभिवर्षितवान् द्वितीयः' की जगह—गाङ्गैः परश्च सलिलैः कृतवानशून्यान्। पाठ अधिक अच्छा होता।

क्वचिद्यत्तच्छब्दावग्रहणेन विध्यनुवादभावेन वाक्यार्थप्रस्तावे यदन्तरान्यथाकरणं तत्र दुष्टत्वं यथा—

'यत् त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम्' इति ।

अत्र प्रथमतृतीययोः पादयोर्यत्तच्छब्दपरिग्रहेण विध्यनुवादभावेनोपनिबन्धः । द्वितीयपादगतत्वेन तदुल्लङ्घनं दोषः । इन्दीवराणां राजहंसानां च बहुत्वात् सीतासम्बन्धिवस्तूपमितयोरिन्दीवरराजहंसयोर्व्यावृत्त्यर्थं विध्यनुवादभावपरिग्रहः । चन्द्रस्य त्वेकत्वात् तदकारणमिति केचित् । तदसत् । चन्द्रस्यापि द्वितीयाचन्द्रादिभेदेन बहुत्वसम्भवात् तत्रापि विध्यनुवादभावो युक्तः । इन्दीवराणां व्यक्तिभेदेन मुख्यो भेदः । चन्द्रस्य पुनरेकव्यक्तिरूपस्य कालभेदादवस्थाभेदाच्च भिन्नत्वममुख्यमिति चेन्न । भिन्ना एव चन्द्रव्यक्तयः । अन्यो हि द्वितीयाचन्द्रोऽन्यश्च पूर्णाचन्द्रः । अतश्चैवं द्वितीयाचन्द्रादिव्यावृत्त्या पूर्णाचन्द्रप्रतीत्यर्थं मुखच्छायानुकारीति विशेषणं दत्तम् । नहि शशिशब्दः पूर्णाचन्द्राभिधायी तस्य चन्द्रमात्रवाचकत्वात् । सङ्ख्याव्यवहारेषु चन्द्रस्यैकत्वप्रतीतिरिति चेत् क्वचिज्जातिव्यवहारेष्वपीन्दीवरादीनामेकत्वं सिद्धम् । तस्मात् कविव्यवहारे चन्द्रगतत्वेनानेकत्वस्य व्यवहारात् तदाश्रयेणेह विध्यनुवादभावः श्रेयान् ।

क्विचास्थानविनिवेशनं तच्छब्दस्य प्रतीतिविप्रकर्षायैव । यथा—

'मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः ।' इति

अत्र 'विरचय सिचयान्तमि'त्यत्र तच्छब्दो हेत्वर्थो विनिवेशयितव्यस्तृतीयपादादौ निवेशितः । नच तत्र तस्योपयोगः । अतस्तत्र प्रतीतिकुण्ठत्वमुत्पादयतीति ।

कहीं-कहीं यद् तद् शब्दों द्वारा वाक्यार्थ का आरंभ विध्यनुवाद-भाव से होने पर बीच में उसे बदल देना दोषावह होता है । यथा—

'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम् ।'

'तुम्हारे नेत्र के समान कान्ति वाला जो नील कमल था वह जल में डूब गया ।' इस पद्य में प्रथम और तृतीय पादों में तो यत् और तत् शब्द के द्वारा—विध्यनुवाद भाव के साथ—कथन हुआ है, पर दूसरे पाद में उसका अभाव है । अतः वह दोष है । कुछ लोगों का कहना है कि 'इन्दीवर' और चंद्र अनेक हैं । उनमें से केवल सीता के अंगों से मेल रखने वालों की ही व्यावृत्ति हो सके इसलिए—यहाँ विध्यनुवाद भाव से काम लिया । चंद्र तो एक ही है अतः उसमें 'वह नहीं किया गया ।'—पर यह ठीक नहीं । चंद्र भी द्वितीया आदि तिथि भेद से अनेक प्रकार का हो सकता है, अतः उसमें भी विध्यनुवादभाव चाहिए । ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि 'इन्दीवरों में तो व्यक्तिभेद से भेद है अतः वह चन्द्र तो एक व्यक्ति है उसमें भेद केवल काल और अवस्था के भेद से आता है—अतः वह अवास्तविक और नगण्य है, क्योंकि चंद्र भी व्यक्तिशः भिन्न है । द्वितीया का चंद्र अलग है और पूर्णिमा का अलग । अत एव—यहाँ द्वितीया चन्द्र को हटाकर पूर्णिमा के चंद्र की प्रतीति करने के लिए 'मुखच्छायानुकारी' कहा । शशी—शब्द पूर्णिमा के चंद्र का वाचक नहीं है । वह केवल चंद्र सामान्य का वाचक है । यदि यह कहा जाय कि गिनने में तो चंद्र को एक ही कहा जाता है—तो इन्दीवरों में भी वह बात लागू हो सकती है । इन्दीवरों को भी जाति द्वारा एक मानकर एक कह दिया जाता है । अतः कवियों के व्यवहार में चंद्रमा के अनेक होने से उसके लिए भी यहाँ विध्यनुवाद चाहिए ।

इसी प्रकार तच्छब्द यदि ठीक जगह न रखा जाय तब भी वाक्यार्थ प्रतीति में विप्रकर्ष = देरी ला देता है । यथा—

'पैर सम्हालकर रखो, जमीन में कुश हैं, सिर पर पल्ला डाल लो—घाम तेज है।' यहाँ—हेत्वर्थक तच्छब्द का प्रयोग—'विरचय सिचयान्तम्' इस वाक्य में होना चाहिए, पर उसका प्रयोग तृतीय चरण के आरंभ में किया गया है। वस्तुतः उसका वहाँ कोई उपयोग नहीं है इसलिए वह वाक्यार्थप्रतीति को रोकता है।

विमर्श : पूरा श्लोक इस प्रकार है—

'मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः।
नदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च॥'

क्वचित् प्रधानक्रियायां तदादिसर्वनाम्ना परामृष्टस्य गुणक्रियायां स्वशब्देनोपादानं दुष्टमेव। यथा 'प्रत्यासन्ने नभसी'ति। अत्र तस्मै इति सर्वनाम्ना पूर्वप्रक्रान्तो मेघः परामृश्यत उतैतच्छ्लोकगतो जीमूतः। तत्राद्ये पक्षे जीमूतग्रहणमनर्थकं प्रधानक्रियायां तदा परामृष्टस्य पूर्वप्रक्रान्तस्यैव मेघस्यार्थतः सम्बन्धयोग्यत्वात्। न हि यावतां येन सम्बन्धस्तावतां प्रत्येकं निर्देशः क्रियते। एकत्र कृतोऽन्यत्राकाङ्क्षादिनोपजीव्यते। तस्माज्जीमूतग्रहणं न कर्त्तव्यं, कृतं प्रत्युत वस्त्वन्तरप्रतीतिं जनयद्वैरस्यमावहति। अथ तच्छब्देनैतच्छ्लोकगतो जीमूतः प्रत्यवमृश्यते। तदसत्। सर्वत्रात्र प्रकरणे पूर्वप्रक्रान्तस्यैव मेघस्य परामर्शः स्थित इतीहापि तथैव परामर्शो न्याय्य इति पुनरपि जीमूतग्रहणमनर्थकमेव।

कहीं—प्रधान क्रिया में तदादि सर्वनाम द्वारा परामृष्ट पदार्थ का अप्रधान क्रिया में स्ववाचक शब्द द्वारा कथन—होता है वह भी दुष्ट ही है। यथा—

प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन् प्रवृत्तिम्।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितर्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार॥ (मेघदूत)

'श्रावण मास के पास आ जाने पर प्रियतमा के प्राणों को सहारा देने के लिए—मेघ द्वारा अपनी कुशलता की खबर भेजने के इच्छुक—उस यक्ष ने—नवीन कुटज पुष्पों से अर्घ देकर उससे—प्रीतिपूर्ण स्वागत शब्द कहे।'

यहाँ—(यह प्रश्न उठता है कि) 'तस्मै—उससे' इस सर्वनाम द्वारा पहले के श्लोकों में कहे मेघ का परामर्श कराया जा रहा है अथवा इसी श्लोक में जीमूत शब्द से कहे गए मेघ का? पहले पक्ष में (पूर्व श्लोकों में आए मेघ को परामर्श विषय मानने पर) जीमूतशब्द का उपादान व्यर्थ होता है। कारण कि प्रधान क्रिया—'व्याजहार' में तत्पद (तस्मै) द्वारा जिसका संबन्ध बताया जा रहा है वह पूर्वप्रक्रान्त मेघ ही है, उसका अपने आप संबन्ध हो जाएगा। एक वस्तु से जिन-जिन का संबन्ध हो वे सभी नहीं 'कही जातीं'। कारण कि उनका निर्देश एक जगह कर दिया जाता है और दूसरी जगह आकांक्षा आदि के द्वारा उनका बोध हो जाता है। इसलिए जीमूत का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। करने पर उलटे विरसता पैदा करता है, कारण कि उससे दूसरे मेघ की कल्पना होने लगती है। यदि (दूसरे पक्ष के अनुसार) इसी श्लोक का जीमूत लिया जाय तो वह ठीक नहीं कारण इस प्रकरण में सर्वत्र, पहले से चले आ रहे मेघ का ही निर्देश है, इसलिए यहाँ भी वैसे ही निर्देश करना ठीक है। इसलिए अब भी जीमूत ग्रहण व्यर्थ ही ठहरता है।

विमर्श : 'प्रत्यासन्ने' यह पद्य मेघदूत का चौथा पद्य है। इसके पहले दूसरे पद्य में 'मेघं ददर्श' आता है, और तीसरे में 'मेघालोके सुखिनोऽपि चेतः अन्यथावृत्ति भवति' आता है। चतुर्थ पद्य में

पुनः मेघ का वाचक जीमूत-पद व्य० व्या० की दृष्टि में व्यर्थ है। उसकी जगह 'तत्' इस प्रक्रान्त परामर्शक सर्वनाम का प्रयोग करने से प्रसङ्ग निर्वाह हो सकता था। जैसा कि उत्तरार्ध में कवि ने 'तस्मै' द्वारा किया भी है। परन्तु कवि ने ऐसा न कर पूर्वार्ध में जीमूत और उत्तरार्ध में उसका परामर्शक—'तस्मै' दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया। व्य० व्या० की शंका है कि यहाँ तस्मै से दो बातों का बोध हो सकता है पहले तो द्वितीय और तृतीय पद्य में आए मेघ का और—दूसरे इसी पद्य में आए जीमूत का। प्रथम पक्ष में इस पद्य का जीमूत शब्द व्यर्थ होता है। कारण कि तत्पद द्वारा 'जीमूत अर्थ' प्रकरण से खींच लिया जाएगा। दूसरे पक्ष में—व्य० व्या० का कहना है कि इस प्रकरण में सब जगह प्रकरणप्राप्त मेघ का परामर्श कराया गया है। जैसा कि—दूसरे और तीसरे पद्य में दिखाई देता है। दूसरे पद्य में कहा गया—'मेघं ददर्श' और तीसरे पद्य में मेघ को तत्पद से बतलाते हुए कहा गया—'तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः'। अतः यहाँ चतुर्थ पद्य में कवि को वैसा करना चाहिए। न करने से प्रक्रमभङ्ग दोष होता है।

इत्थं द्वितीयं विधेयाविमर्शं विविच्य तृतीयमप्यत्रैव श्लोके प्रपञ्चयितुमुपक्रमते अपि चेत्यादिना।

इस प्रकार द्वितीय विधेयाविमर्श का विवेचन कर चुकने पर तीसरे विधेयाविमर्श को भी इसी श्लोक में बतलाने चलते हैं—अपितु इत्यादि।

अपि च अम्बिकाकेसरीत्यत्र षष्ठीसमासो नोपपद्यते, यतः सर्वेषामेव समासानां तावत् प्रायेण विशेषणविशेष्याभिधायिपदोपरचितशरीरत्वं नाम सामान्यं लक्षणमाचचक्षिरे विचक्षणाः। इतरथा तेषां समर्थतानुपपत्तेः।

स च विशेषणविशेष्यभावो द्विधैव सम्भवति—समानाधिकरणो व्यधिकरणश्चेति। तत्राद्यः कर्मधारयस्य विषयः। यत्र तु द्वे बहूनि वा पदान्यन्यस्य पदस्यार्थे विशेषणभावं भजन्ते सा बहुव्रीहेः सरणिः। तत्रैव यदा सङ्ख्यायाः प्रतिषेधस्य च विशेषणभावो भवेत् तदा स द्विगोर्नञ्समासस्य च विषयः।

और यहाँ 'अम्बिकाकेसरी' में षष्ठी समास ठीक नहीं है। क्योंकि विद्वानों ने प्रायः सभी समासों को विशेषणविशेष्यों के वाचक शब्दों द्वारा घटित माना है। कारण कि इसके विना उनमें समर्थता नहीं बनती।

वह विशेषणविशेष्यभाव दो ही प्रकार का हो सकता है। समानाधिकरण और व्यधिकरण। उनमें पहला कर्मधारय में होता है। जहाँ दो या दो से अधिक पद किसी अतिरिक्त पद के अर्थ में विशेषण बनते हैं—वहाँ बहुव्रीहि होता है। उसमें भी संख्या या प्रतिषेध (Negation) विशेषण बनते हैं तब वह द्विगु या नञ् समास का विषय होता है।

प्रायेणेति द्वन्द्वं वर्जयित्वा तत्र युगपदधिकरणवचनतया सामर्थ्यं प्रकारान्तरेण समर्थितम्।

तत्राद्य इति 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारय' इति (१-१-४२) वचनात्। 'बहुव्रीहिः समानाधिकरणानाम्' इति वचनात् प्रायेण बहुव्रीहिः समानाधिकरणविषय एव। सुसूक्ष्मजटकेशादौ तु व्यधिकरणानामपीष्यते। तत्रैव समानाधिकरणे पदार्थे। यदा

सङ्ख्याया इति 'सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः' (२-१-५२) इति वचनात्। प्रतिषेधस्येति 'नञ्' (२-२-६) इति नञ्सूत्रारम्भात्।

'प्रायेण' का अभिप्राय यह कि द्वन्द्व को छोड़ कर अन्य समासों में विशेषण विशेष्यभाव होता है। वहाँ सामर्थ्य की सिद्धि दूसरे प्रकार से की जाती है। वह है—'युगवदधिकरणवचनता' अधिकरण द्रव्य अर्थ में पारिभाषिक शब्द है। अतः इसका अर्थ हुआ दो द्रव्यों को एक साथ बतलाना हो तो द्वन्द्व समास का प्रयोग होता है। अतः इसमें सामर्थ्य की सिद्धि उक्त ढंग से नहीं होती।

तत्राद्ये—'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १।१।४२' इस वचन के आधार पर। 'बहुव्रीहिः समानाधिकरणानाम्' इस वचन से प्रायः बहुव्रीहि समानाधिकरण पदार्थों में ही होता है—कभी-कभी 'सुसूक्ष्मकेश' आदि में व्यधिकरणों में भी वह हो जाता है।

तत्रैव—समानाधिकरण पदार्थ में।

यदा संख्यायाः—'संख्यापूर्वो द्विगुः' इस वचन के आधार पर।

प्रतिषेधस्य—'नञ्' इस सूत्र के आधार पर।

द्वितीयः प्रकारः कारकाणां सम्बन्धस्य च विशेषणत्वाद् बहुविधः। स तत्पुरुषस्य पन्थाः। तत्रापि यदाऽव्ययार्थस्य विशेष्यता स्यात् तदाऽसावव्ययीभावस्य मार्गः।

दूसरा प्रकार अनेक प्रकार का होता है। कारण कि उसमें कारक और सम्बन्ध विशेषण बनते हैं। वह तत्पुरुष का विषय है। उनमें भी जहाँ अव्ययार्थ का प्रधानत्व हो वहाँ अव्ययीभाव समास होता है।

द्वितीय इति व्यधिकरणः। कारकाणामिति 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इत्यादिना। सम्बन्धस्येति षष्ठी इत्यादिना तत्रापि कारकसम्बन्धयोगे अधिस्त्रि उपकुम्भमित्यादौ।

द्वितीयः—अर्थात् व्यधिकरण।

कारकाणाम्—'कर्तृकरणेकृत्य बहुलम्' इत्यादि द्वारा।

सम्बन्धस्य—'षष्ठी' इत्यादि द्वारा।

तत्रापि—अर्थात् कारक और सम्बन्ध के योग में जैसे—अधिस्त्रि और उपकुम्भ।

तदेवमेषां समासानां विशेषणविशेष्योभयांशसंस्पर्शित्वेऽपि यदा विशेषणांशः स्वाश्रयोत्कर्षाधानमुखेन वाक्यार्थचमत्कारकारणतया प्राधान्येन विवक्षितो विधेयधुरामधिरोहेद् इतरस्त्वनूद्यमानकल्पतया न्यग्भावमेव भजेत् तदासौ न वृत्तेर्विषयो भवितुमर्हति। तस्यां हि स प्रधानेतरभावस्तयोरस्तमियादित्युक्तम्। तच्चैतद्विशेषणमेकमनेकं वाऽस्तु न तयोर्विशेषः कश्चित्।

इस प्रकार यद्यपि समास विशेषण और विशेष्य दोनों में होता है तथापि जब विशेषणांश अपने आश्रय (विशेष्य) में उत्कर्ष दिखलाते हुये वाक्यार्थ में चमत्कार का कारण होने से प्रधान हो अतः विधेय बनने लायक हो साथ ही विशेष्य केवल उद्देश्य रूप से विशेषण की अपेक्षा घटकर उपस्थित हो रहा हो, तब वहाँ समास नहीं किया जाना चाहिये। समास होने पर विशेषण विशेष्य

की प्रधानता और अप्रधानता अस्तमित हो जायेगी। (ऐसा हमने पहले कह दिया है)। और यह विशेषण एक हो या अनेक उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

स्वाश्रयो विशेष्यम्। विधेयधुरामिति शब्दवृत्ते यो विधेयः तस्य कक्ष्यां वास्तवीं विधेयतामित्यर्थः। अनूद्यमानकल्पतयेति। शाब्दं प्राधान्यमनपेक्ष्य वास्तवेन प्राधान्येनेत्यर्थः। अस्तमियादिति एकार्थीभावात् विभक्तत्वेनाप्रतीतेरित्यर्थः।

स्वाश्रयः—विशेष्य।
विधेयधुराः—शब्द वृत्ति का जो विधेय उसकी कक्षा वास्तविक विधेयता को।
अनूद्यमान कल्पतया—शब्दगत प्रधानता को छोड़कर वास्तविक प्रधानता के कारण।
अस्तमियात्—एकार्थीभाव हो जाने के कारण, अलग-अलग प्रतीत न होने से।

ननु च विशेषणत्वमवच्छेदकत्वाद् गुणभावः विधेयत्वं च विवक्षितत्वात् प्राधान्यं तत्कथमनयोर्भावाभावयोरिवान्योन्यं विरोधादेकत्र समावेश उपपद्यते येनैकत्र नियमेन समासो निषिध्येत अन्यत्र चोपकल्प्येत।

नैष दोषः। विरोधस्योभयवस्तुनिष्ठत्वात् शीतोष्णादिवत्। न चेह वस्तुत्वमुभयोः सम्भवति, एकस्यैव वास्तवत्वाद्। अन्यस्य च वैवक्षिकत्वेन विपर्ययात्। न च वस्त्ववस्तुनोर्विरोधः। न हि सत्यहस्तिनः कल्पनाकेसरिणश्च कश्चिदन्योन्यं विरोधमवगच्छति। फलभेदस्त्वनयोर्निर्विवाद एव।

एकस्य हि सकलजगद्रम्यं शाब्दिकैकविषयः पदार्थसम्बन्धमात्रम्। अपरस्य पुनः कतिपयसहृदयसंवेदनीयः सन् कवीनामेव गोचरो वाक्यार्थचमत्कारातिशय इति।

(शंका) विशेषणत्व—तो (विशेषण के) अवच्छेदक होने से अप्रधानता रूप होता है और विधेयत्व—विवक्षितता रूप होने से प्रधानता रूप। इस प्रकार भावऔर अभाव के समान परस्पर विरुद्ध होने से इनका एक जगह समावेश कैसे सम्भव है जिससे एक विषय में (प्राधान्य के विषय में) नियमतः समास का निषेध किया जाय और दूसरेके लिये (अप्रधान के लिये) विधान।

उत्तर—यह दोष नहीं उठता। विरोध सदा दो (वास्तविक) वस्तुओं में रहता है शीत और उष्ण आदि के समान। यहाँ दोनों (अप्राधान्य और प्राधान्य) का वस्तुत्व सिद्ध नहीं होता। कारण कि उनमें से एक ही वास्तविक है। दूसरा तो विवक्षामात्राधीन होने (इच्छा द्वारा कल्पित विषय है। अतः) उलटा (अवास्तविक) है। वस्तु और अवस्तु का कभी विरोध नहीं होता। कोई भी सच्चे और कल्पित शेर का परस्पर विरोध नहीं मानता। जहाँ तक फलभेद का सम्बन्ध है वह तो दोनों में निर्विवाद ही है। एक का फल पदार्थ सम्बन्ध मात्र है, जो सारे संसार में दिखाइ देता है और जिसका ज्ञान शाब्दिकों का ही प्रधान विषय है। जो दूसरा है वह है वाक्यार्थ चमत्कारातिशय। उसे कुछ ही सहृदय जान पाते हैं, अतः वह कवि गणों (की प्रतिभा) का ही विषय है।

एकत्रेति विधेयानुवाद्यगर्भत्वे। अन्यत्रेति सम्बन्धमात्रप्रतिपादने। उपकल्प्येतेति महाविभाषया व्यवस्थितविभाषात्वादिति भावः।

एकस्यैवेति विशेषणगतस्य प्राधान्यस्य अन्यस्य तद्गतस्यैवाप्राधान्यस्य। एकस्य हीति, अपरस्य पुनरिति च। अत्र फलभेद इत्यत्र प्रक्रान्तं फलं सम्बन्धनीयम्।

अत्र चोदयति—'विरोधस्योभयवस्तुनिष्ठत्वासिद्धेरत्राभाव उक्तः। तदसत्। न हि सहानवस्थानलक्षणो वस्तुगत एक एव विरोधभेदो, यः शीतोष्णादौ लब्धवृत्तिः। किन्तर्हि परस्परपरिहारस्थितताकलक्षणो वस्त्ववस्त्वाश्रयो द्वितीयोऽप्यस्ति विरोधप्रकारः। तदा हि यदि वस्त्वाश्रयो न सम्भवति विरोधो वस्त्ववस्त्वाश्रयस्तु कथं न स्याद्। अतश्च स्यात् पूर्वपक्षवेलायां 'भावाभावयोरिवे' त्युक्तम्। नैष दोषः। वस्त्ववस्त्वाश्रयस्य विरोधस्य तादात्म्यनिषेधे व्यापारात्। यदि नाम प्राधान्यं, तस्यामेव कक्ष्यायां स्वयमप्राधान्यं न स्याद् अप्राधान्ये वा प्राधान्यम्। प्राधान्यविधेये पुनरपेक्षान्तरेणाप्राधान्यं कथं न स्यात्? न स्याद्, यदि शीतोष्णवद् द्वयोर्वस्तुत्वं स्यात्। न चात्रैतदस्ति वैवक्षिकस्यावस्तुत्वात्। यथा राजपुरुष इत्यत्र राज्ञो वैवक्षिकमेव प्राधान्यं वास्तवं पुनरप्राधान्यमेव तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्। तदयमत्र पिण्डार्थः संसर्गनिषेधोऽत्र कर्तव्यः। स च वस्तुद्वयनिष्ठ इति द्वयोरत्राभावाच्चैकेनापरत्र प्रतिषेध इति।

एकत्र—विधेयता और अनुवाद्यता दोनों से युक्त होने पर।

अन्यत्र—सम्बन्धमात्र प्रतिपादन होने पर।

उपकल्प्येत—महाविभाषा द्वारा व्यवस्थित विभाषात्व के कारण।

एकस्यैव—विशेषणगत प्रधानता का।

अन्यस्य—उसी में स्थित अप्रधानता का।

एकस्य—अपरस्य इनमें फल का सम्बन्ध समझना चाहिये। जिसे 'फलभेदः' इत्यादि द्वारा इसी प्रकरण में ऊपर कहा जा चुका है।

अत्र क्रमेणोदाहरणानि तत्र कर्मधारये यथा—

'उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा
धृत्वा चान्येन वासो विगलितकबरीभारमंसे वहन्त्याः।
भूयस्तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः
शय्यामालिङ्ग्य नीतं वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः पुनातु॥'

इत्यत्र विगलितकबरीभारत्वमलसलसद्बाहुत्वं चांसवपुषोर्विशेषणे रतेरुद्दीपनविभावतापादनेन वाक्यार्थस्य कामपि कमनीयतामावहत इति प्राधान्येन विवक्षितत्वाद् न ताभ्यां सह समासे कविना न्यग्भावं गमिते। यथा चात्रैव तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतित्वं हेतुभावगर्भं विशेषणं शौरेरुचिताचरणलक्षणमतिशयमादधद्विधेयतया प्राधान्येन विवक्षितमिति न तेन सह समासे निमीलितम्।

पदमेकमनेकं वा यद्विधेयार्थतां गतम्।
न तत्समासमन्येन न चाप्यन्योन्यमर्हति॥ ११॥

तत्रैकमुदाहृतमेव।

इस विषय में क्रम से उदाहरण (भी मिलते हैं।) पहले कर्मधारय का जैसे—

'सुरत के बाद लक्ष्मी उठने लगीं। उन्होंने एक हाथ टेककर शेष भाग पर वजन डाला, और दूसरे हाथ से अपना वस्त्र सम्हाला। उनके केश कन्धे पर बिखरे हुये थे। उस समय लक्ष्मी की ऐसी शोभा देख विष्णु की कामेच्छा दुगुनी हो गई और उन्होंने लक्ष्मी का आलस से झुके हाथों वाला शरीर पहले अपनी छाती से लगाया (आलिङ्गन किया) और फिर उसे पुनः बिस्तर पर लिटा लिया। लक्ष्मी का ऐसा शरीर आपको पवित्र करे।'—

यहाँ 'विगलितकबरीभारता' और—'अलसलसद्बाहुता' क्रमशः कन्धे और शरीर के विशेषण हैं। उनसे रति का उद्दीपन होता है। इसलिये वे वाक्यार्थ की शोभा बढ़ाते हैं, इसीलिये वे प्रधान रूप से कवि को विवक्षित भी हैं, अतएव कवि ने उन्हें समास में डालकर अप्रधान नहीं बनाया।'

इसी प्रकार यहीं—विष्णु का विशेषण है 'तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिता'। वह हेतु रूप है। उससे विष्णु द्वारा किये गये कार्य में (लक्ष्मी को पुनः लिटाने) में औचित्य रूप अतिशय की प्रतीति होती है। इसलिये वह विधेय है और इसलिये प्रधान रूप से विवक्षित होने के कारण विष्णु (रूप विशेष्य) के साथ समास करके कवि ने उसे अप्रधान नहीं होने दिया।

'एक या अनेक जो भी पद विधेयता को पहुँच चुका हो उसे दूसरे (विशेष्य) के साथ समास नहीं करना चाहिये, और न परस्पर (विशेषण के साथ)।

इनमें से एक पद का तो उदाहरण दे ही दिया गया।

अन्येनेति विशेष्याभिधायिनेत्यर्थः। अन्योन्यमिति। परस्परविशेषणानां यद्यपि 'विशेषणं विशेष्येण' (२–१–५७) इति विशेष्येणैव समास उक्तः, तथापि 'काणखञ्जादिषु सिद्धं विशेषणविशेष्ययोर्यथेष्टत्वाद्' इति वचनेनैकस्य विशेष्यत्वविवक्षामाश्रित्य परस्परं विशेषणानां समासः समर्थितः। तदभिप्रायेणान्योन्यमिति सम्भावना।

अन्येन—विशेष्य वाचक पद के साथ।

अन्योन्य—परस्पर विशेषणों का। यद्यपि 'विशेषणं विशेष्येण' इस सूत्र के द्वारा समास विशेषण और विशेष्यों में बतलाया गया है, तब भी 'कालखञ्जादिषु सिद्धं विशेषणविशेष्ययोर्यथेष्टत्वात्' द्वारा विशेषणों में किसी एक को विशेष्य मान लेने से विशेषणों में भी परस्पर समास बतलाया गया है। इसी अभिप्राय से 'अन्योन्य' यह कहा गया।

अनेकं यथा—

'अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति॥' इति।

अनेक (पदों) के उदाहरण—यथा—

लम्बी भुजा, चौड़ी छाती, और गोल तथा मोटी कमर का यह (व्यक्ति) अवन्तिनाथ (है जो) त्वष्टा ऋषि द्वारा चाक पर चढ़ाकर यत्नपूर्वक सुधारे गए सूर्य सा लगता है।

विमर्श : यहाँ सभी विशेषण अलग-अलग हैं।

यथा च—

'विद्वान् दारसखः परं परिणतो नीवारमुष्टिंपचः
सत्यज्ञाननिधिर्दधत् प्रहरणं होमार्जुनीहेतुतः।

रे दुःक्षत्रिय ! किं त्वया मम पिता शान्तं मया पुत्रवान्
नीतः कीर्त्यवशेषतां तदिह ते धिग् धिग् सहस्रं भुजान् ॥' इति ।

और जैसे—

रे दुष्ट क्षत्रिय ! तेरी हजार भुजाओं को धिक्कार है । तूने मेरे पिता को किस बात पर मारा । वे विद्वान् थे, सपत्नीक थे, काफी बूढ़े थे । जंगली धान से काम चलाते थे । सत्य और सच्चे ज्ञान की वे निधि थे । उन्होंने शस्त्र धारण किया था हविष्यार्थं अपनाई गौ के लिये । मुझ जैसा उनका पुत्र था ।

विमर्श : यहाँ पिता के सभी विशेषण स्वतन्त्र रूप से उपस्थित किये गये हैं ।

यथा वा—

'राज्ञो मानधनस्य कार्मुकभृतो दुर्योधनस्याग्रतः
प्रत्यक्षं कुरुबान्धवस्य मिषतः कर्णस्य शल्यस्य च ।
पीतं तस्य मयाद्य पाण्डववधूकेशाम्बराकर्षिणः
कोष्णं जीवत एव तीक्ष्णकरजक्षुण्णादसृग् वक्षसः ॥'

और जैसे—

मान को ही धन मानने वाले, धनुष हाथ में लिये हुये, उस राजा दुर्योधन के आगे, कुरुओं में हितैषी कर्ण और शल्य की आँखों के सामने (दुःशासन की) छाती आज मैंने तीखे नाखूनों से फाड़कर, उस पाण्डवों की पत्नी के बाल और वस्त्र खींचने वाले की छाती का खून उसके जीते जी पी लिया ।

विमर्श : दुर्योधन के सभी विशेषण स्वतन्त्र हैं ।

यथा च—

'हे हस्त ! दक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भखिन्न-
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ॥'

'एवमङ्गराज ! सेनापते ! राजवल्लभ ! द्रोणापहासिन् ! रक्ष भीमाद् दुश्शासनम्' इत्यादौ द्रष्टव्यम् ।

और जैसे—

ओ मेरे हाथ, दाहिने हाथ ? ब्राह्मण के मृत पुत्र के प्राणों के लिये शूद्र मुनि पर कृपाण छोड़ । तू राम का हाथ है । परिणत गर्भ से खिन्न सीता को जंगल में छुड़वा देने वाले तुझे करुणा कहाँ ।

इसी प्रकार-ओ अङ्गदेश के 'राजा, सेना के पति, राजा को प्यारे, द्रोण का उपहास करने वाले (कर्ण) वचा ले भीम से दुःसाशन को'—इत्यादि में देखना चाहिये ।

दारसख इति दाराणां सखेति तत्पुरुषः कर्तव्यः । बहुव्रीहौ 'राजाहस्सखिभ्य' (५-४-९१) इति टच् न स्यात् ।

हे हस्तेति। 'मृतस्य शिशोर्द्विजस्ये' त्यत्र समासः शङ्कितः। 'रामस्य पाणिरसी' ति तु षष्ठीसमास उदाहरणम्।

अत्र क्वचित् कर्तॄणां कर्मणाञ्च प्रथमान्तानां क्वापि सम्बन्धिनां कर्मणाञ्च षष्ठ्यन्तानां कुत्राप्यामन्त्रणानां समासः शङ्कितः। -

वक्ष्यमाणनयेनेति। 'व्यासः पाराशर्यः' इत्यादिविचारेषु। चापाचार्य इति। अत्र हि त्रिपुरविजयित्वाद्यनुवादेन चापाचार्यत्वादिविधिः। अनूद्यमानश्चार्थो विधेयस्योत्कर्षमावहन् प्रतीयते।

दारसख—दाराणां सखेति तत्पुरुषः कर्त्तव्यः अर्थात् 'दारा का सखा' इस प्रकार तत्पुरुष यहाँ करना चाहिये। बहुव्रीहि करने पर ('दारा है सखा जिसका'—इस प्रकार)—'राजाहःसखिभ्यष्टच्' सूत्र द्वारा टच् प्रत्यय नहीं होगा। (फलत 'दारसख' इस प्रकार ह्रस्व अकारान्त रूप नहीं बनेगा।)

हे हस्त—यहाँ 'मृतस्य शिशोर्द्विजस्य' में 'द्विजशिशोः' इस प्रकार समास हो सकता था। 'रामस्य पाणिरसि' में भी 'रामपाणिः' समास हो सकता था।

विध्यनुवादभावोऽपि वक्ष्यमाणनयेन विशेषणविशेष्यभावतुल्यफल इति तत्रापि तद्वदेव समासाभावोऽवगन्तव्यः। यथा—

'चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्त्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः॥' इति।

विध्यनुवादभाव का फल भी वैसा ही होता है जैसे विशेषण-विशेष्यभाव का जैसा कि आगे बतलाया जाएगा इसलिए वहाँ (विध्यनुवादभाव में) भी उसी (विशेषणविशेष्यभाव) के समान नहीं किया जाना चाहिए। जैसे—

धनुर्विद्या के आचार्य हैं—त्रिपुरासुर के विजेता शंकर, जिसे जीता है वह है कार्त्तिकेय, निवासस्थान है—वह समुद्र जिसे शस्त्र से दूर हटा दिया है, यह पृथिवी है हन्तकार (अतिथि को सोलह ग्रास करने योग्य अन्नदान)—यह सब कुछ है तो भी रेणुका का गला काटने वाले तुम्हारे इस—परशु से होड़ लगाते हुए मेरा चन्द्रहास (तलवार) लज्जित होता है।

विमर्शः यहाँ 'त्रिपुरविजयिचापाचार्यकस्य'–'विजितकार्त्तिकेयस्य' 'शस्त्रव्यस्तोदधिसदनस्य'—भूहन्तकारस्य—तव रेणुकाकण्ठबाधां कृतवता परशुना बद्धस्पर्धश्चन्द्रहासो लज्जते'—इस प्रकार विशेषणों का समास किया जा सकता था परन्तु वैसा करने पर 'त्रिपुरारि' 'कार्त्तिकेय' और 'उदधि' और-'भू' की व्यक्तिप्रतिष्ठा दब जाती। पृथक् करके प्रयोग करने से जिसे जीता वह है—कार्त्तिकेय अर्थात् संपूर्ण सुरसमुदाय का सेनानी सेनानायक इत्यादि अभिप्राय द्योतित होते हैं।

उलटा उदाहरण जैसे (प्रत्युदाहरण)

प्रत्युदाहरणं यथा—

'तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि।
स्वञ्च संहितममोघसायकं व्याजहार हरसूनुसन्निभः॥' इति।

तत्राप्यमोघमाशुगमिति युक्तः पाठः ।

यथा वा—

'स्रस्ताञ्चितस्वांदवलम्बमाना पुनः पुनः केसरपुष्पकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य ॥' इति ।

अत्र मौर्वीं द्वितीयामिति युक्तः पाठः । न चैवं वृत्तभङ्गाशङ्का कार्या । तस्य श्रव्यतामात्रलक्षणत्वात् । तदपेक्षयैव वसन्ततिलकादाविव गुर्वन्ततानियमस्य सकर्णकैरत्राप्यनादृतत्वात् । अत एव यमकानुप्रासयोरिव वृत्तस्यापि शब्दालङ्कारत्वमुपगतमस्माभिः ।

यथा च—

'कारणगुणानुवृत्त्या द्वौ ज्ञाने तपसि चातिशयमाप्तौ ।
व्यासः पाराशर्यः स च रामो जामदग्न्य इह ॥' इति ।

कृपा से कोमल राघव (राम) ने उन परशुराम को अपने आप में शक्तिशून्य देखा और अपने अमोघ वाण को धनुष पर चढ़ा तो कार्त्तिकेय के समान—वे बोले (रघुवंश ११ सर्ग) यहाँ भी (अमोघसायकम् की जगह) अमोघम् आशुगम् पाठ होना था या जैसे—

'कमर से बार बार खिसकती जा रही केसरपुष्पनिर्मित करधनी को बार बार सम्हालती जा रही थीं (पार्वती) मानो वह कामदेव के धनुष की अतिरिक्त प्रत्यंचा थी जिसे उसने उचित स्थान पर धरोहर के रूप में रख दिया था।'

यहाँ मौर्वीम्-द्वितीयाम् यह पाठ ठीक है। इस प्रकार छन्दोभङ्ग की शंका नहीं करनी चाहिए। छन्द का लक्षण (असाधारण धर्म) है—श्रव्यता। उसी के आधार पर परिपक्व कान वाले श्रोताओं ने वसन्ततिलका आदि के अन्त में गुरु आने का नियम नहीं माना है। इसीलिए हमने यमक और अनुप्रास आदि के समान छन्द को भी शब्द का अलंकार माना है।

और जैसे—

'कारण के गुण आजाने से दो व्यक्ति ज्ञान और तप में बहुत कुछ हो गए। एक तो वह पराशर का पुत्र व्यास और वह जमदग्नि का पुत्र परशुराम।'

नचैवमिति उपेन्द्रवज्रस्थाने इन्द्रवज्रप्रयोगात् । उपगतमस्माभिरिति । 'दुःश्रवत्वमपि वृत्तस्य शब्दानौचित्यमेव । तस्याप्यनुप्रासादेरिवे'त्यादि वदद्भिः ।

न चैवम्—उपेन्द्रवज्रा के स्थान पर इन्द्रवज्रा के प्रयोग से।

उपगतमस्माभिः—'वृत्त का दुःश्रवत्व भी शब्ददोष ही है। वह भी अनुप्रासादि के समान' इत्यादि आरंभ में कहते हुए।

विमर्श : स्रस्ताम्०यह उपजाति छन्द है। क्योंकि यहाँ प्रथम तथा तृतीय चरण में इन्द्रवज्रा का प्रयोग किया है और द्वितीय तथा चतुर्थ में उपेन्द्रवज्रा का। उपेन्द्रवज्रा में आरंभिक स्वर ह्रस्व होता है। वह द्वितीय मौर्वीं इस मूल पाठ में ही संभव है। मौर्वीं द्वितीयाम् पाठ करने पर 'मौ' का भी प्रथम स्वर दीर्घ हो जाता है। वह नित्यदीर्घ माना गया है। अतः चतुर्थ चरण भी इन्द्रवज्रा का ही हो जाता है। इस प्रकार १, ३ और ४ चरण इन्द्रवज्रा के हो जाते हैं, एक मात्र द्वितीय—उपेन्द्रवज्रा का एक चरण के भेद से कर्णमधुर उपजाति बनना संभव नहीं, अतः

द्वितीयमौर्वीम् की जगह 'मौर्वीं द्वितीयाम्' पाठ करने से छन्दोभङ्ग होता है। यह टीकाकारों की मान्यता है। इसके अतिरिक्त एक और कठिनाई आती है। इन्द्रवज्रा में अन्तिम स्वर गुरु होने का नियम है। 'स्मरेण द्वितीय' इस प्रकार जहाँ तृतीय तथा चतुर्थ चरणों का योग होता है वहाँ चतुर्थ चरण के आरंभ में आए 'द्वि' 'के' 'द्' तथा 'व्' इन दो व्यञ्जनों के संयोग से उसके नकट पूर्व का 'ण' का ह्रस्व अ गुरु हो जाता है। पर जब 'स्मरेण-मौर्वीम्' ऐसा पाठ होता है तब 'ण' का 'अ' ह्रस्व ही रहा आता है कारण कि 'मौ' तो 'द्वि' के समान संयुक्त व्यञ्जनों का समुदाय नहीं है। उसमें एक व्यञ्जन है—'म्' और एक स्वर है 'औ'। इस प्रकार दो कारणों से वृत्तभंग की शंका की जाती है। ग्रन्थकार का जोर द्वितीय कारण पर दिखाई देता है, क्योंकि उन्होंने—'गुर्वन्तता' का उल्लेख किया है। उत्तर में उनका कहना है कि वस्तुतः इतनी सी (छन्दगत-) कमी से छन्दोभङ्ग नहीं माना जाना चाहिए। उससे छन्द का उद्देश्य भंग नहीं होता। छन्द का उद्देश्य है—श्रव्यता अर्थात् श्रुतिसुखदता—कानों को प्रिय लगना। वह यदि इन्द्रवज्रा के अन्त में गुरु न हो और उपजाति में किसी एक ही छन्द के तीन चरण हो जायें तब भी बिगड़ता नहीं है। इसे वे लोग मानते भी हैं जिनके कान छन्द सुनने में अभ्यस्त और कुशल हो चुके हैं। उन्होंने इसीलिए छन्दःशास्त्र के नियमों में कुछ संशोधन भी किया है। 'वसन्ततिलका' वृत्त में अन्तिम स्वर दीर्घ चाहिए। सहृदय लोग ह्रस्व होने पर भी उसे सदोष नहीं मानते। वस्तुतः छन्द या वृत्त भी शब्द का एक अलंकार है। वह भी अनुप्रास और यमक आदि के समान ही शब्द में चारुता का आधान करता है। यदि कुछ हेरफेर से भी शब्द का चारुत्व छन्द द्वारा संभव हो रहा हो तो उसे सदोष नहीं मानना ही समझदारी है।

ननु यदा विशेषणविशेष्ययोर्विध्यनुवादभावो नाभिमतस्तदा स्वरूपमात्रविवक्षायां नीलोत्पलादिवदत्रापि समासः प्रसज्येत, न चेष्यत इत्यत्र हेतुर्वाच्यः।

उच्यते। पाराशर्यत्वाद्यसाधारणविशेषणसामर्थ्यावसिता व्यासादय इति तेषां पर्यायरूपत्वात् प्रयोग एव तावदनुपपन्नः किं पुनः समास इति पर्यायत्वमात्रं तदभावे हेतुर्नान्यः।

तद्यथा—

'शशाङ्कशेखरः शम्भुः पद्मजन्मा पितामहः' इत्यत्र।

एवं तक्षकसर्प इत्यादाववगन्तव्यम्।

(शंका)—जब विशेषण और विशेष्य में विध्यनुवाद भाव अभीष्ट न हो, केवल स्वरूप मात्र कहना अभीष्ट हो तब तो नीलोत्पल आदि के समान यहाँ भी समास हो सकता है, पर नहीं मानते, इसमें कारण क्या है? (उत्तर देते हैं) पाराशर्यत्व आदि विशेषण व्यासादि के असाधारण विशेषण हैं, उन्हीं विशेषणों के आधार पर वे (व्यास आदि) सर्वविदित हैं। इस प्रकार 'पाराशर्य' आदि शब्द व्यास आदि के पर्याय सिद्ध होते हैं, अतः उनका तो व्यासादि के साथ प्रयोग ही नहीं होना चाहिए। समास की तो बात ही अलग है। इस प्रकार समास के अभाव में पर्यायत्व मात्र हेतु है अन्य कोई वस्तु नहीं। जैसे शशांकशेखर शिव और कमलयोनि ब्रह्मा। इसी प्रकार 'तक्षक सर्प, आदि समझना चाहिए।

विमर्श : पहले यह कहा गया है कि उन विशेषणों का विशेष्य के साथ समास नहीं करना चाहिए जो विधेय होते हैं। परन्तु यदि विशेषण विधेय न होकर केवल (विशेष्य के) स्वरूप—मात्र के परिचय की दृष्टि से कहा गया हो तो उसका समास विशेष्य के साथ किया जाय या नहीं यह प्रश्न है। ग्रन्थकार का कहना है कि ऐसा विशेषण कहा ही नहीं जाना चाहिए जो विशेष्यगत विशेषता के ज्ञापन में आवश्यक न हो—विशेष्य का परिचय मात्र कराना ही उसे अभीष्ट हो। ऐसा विशेषण प्रत्युत पुनरुक्तिजनक होता है। 'कारणगुणानुवृत्या' में 'पाराशर्य' यह विशेषण-विशेष्य के समान ही अर्थ के ज्ञान की शक्ति रखता है—कारण कि पराशर के पुत्र रूप में केवल वही व्यक्ति प्रसिद्ध है जो व्यास रूप में है। अतः यदि 'पाराशर्य व्यास' कहा जाय तो दोनों में से एक शब्द व्यर्थ होगा। समास न करने पर यह प्रतीत होगा कि पराशर जो ज्ञान और तप की परम काष्ठा तक पहुँचे हुए थे—उनके पुत्र होने से व्यास महाज्ञानी हुए। इस प्रकार विशेषण साभिप्राय सिद्ध होता है। और साभिप्रायता में ही विशेषण की सार्थकता है। नहीं तो वह च, हि, तु, खलु, किल आदि के समान निरर्थक ही है।

लोहितस्तक्षक इति समासोऽत्रापि नेष्यते।
लौहित्यस्य विधावुक्तन्यायात्तस्याप्रवृत्तितः ॥ १२ ॥
स्वरूपमात्रस्योक्तौ तु लौहित्याव्यभिचारतः।
उष्णोऽग्निरितिवत् पक्षो न चास्त्यन्यस्तदत्यये ॥ १३ ॥

इत्यन्तरश्लोकौ।

'लोहित (लाल) तक्षक—यहाँ भी समास मान्य नहीं है। क्योंकि यहाँ लौहित्य (लालगुण) का विधान है, फलतः उपर्युक्त न्याय से वह (समास) हो ही नहीं सकता ॥ १२ ॥

यदि स्वरूपमात्र का कथन अभीष्ट हो तो 'उष्ण अग्नि' इत्यादि के समान उसका (लौहित्य विशेषण का) प्रयोग ही नहीं होना चाहिए, कारणकि लौहित्य विशेषण विशेष्य (तक्षक) से कभी अलग नहीं होता और इन दो पक्षों को छोड़कर कोई तीसरा तो (विशेषण विशेष्य के प्रयोग का) पक्ष ही नहीं है।'

अत्र 'यथा च कारकगुणे' त्यादिग्रन्थः अन्तरश्लोकपर्यन्तः 'प्रत्युदाहरणं यथा तं कृपामृदुरि'त्यतः पूर्वं पठितः सामञ्जस्यं भजते, प्रत्युदाहरणं चेति उदाहरणग्रन्थः समञ्जस एव स्यात्। दृश्यते च पुस्तकेष्वेवं पाठः। तस्मादत्र जागरणीयम्।

'अत्र यथा च कारकगुणे'—इस प्रसंग में 'यथा च कारकगुण' यहाँ से लेकर इन संग्रह कारिकाओं तक का ग्रन्थांश यदि 'प्रत्युदाहरणं यथा—तं कृपामृदु०' इसके पहले पढ़ा जाय तो ठीक बैठता है। और उदाहरणों के बीच जो 'प्रत्युदाहरणं यथा' यह जो ग्रन्थांश है वह भी समन्वित हो जाता है। कुछ पुस्तकों में ऐसा पाठ मिलता भी है। इसलिये इस प्रसंग में जागरूक होना चाहिये।

विमर्श : ग्रन्थांशों के परिवर्त्तित पाठ की जो चर्चा यहाँ की गई है—उसमें असामञ्जस्य का कोई हेतु उपस्थित नहीं किया गया। ऐसा लगता है कि—'सभी उदाहरण एक साथ रखे जायँ और प्रत्युदाहरण उनके बाद'—व्य० व्या० को यह क्रम अच्छा लगता है। ग्रन्थकार ने कर्मधारय के इस प्रसङ्ग में समास न करने के ९ उदाहरण दिये हैं और एक प्रत्युदाहरण। प्रत्युदाहरण को ७ उदाहरणों के बाद बीच में दे दिया। उसे शेष दो उदाहरणों को भी बतला देने के बाद उपस्थित किया जाता तो ठीक था।

व्य० व्या० की इस बात पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता, कारण कि उन्होंने स्वयं मूल का संशोधन नहीं किया जब कि वे पाठान्तर में वैसा पाठ पा चुके थे, इसका कारण सम्भवतः ग्रन्थकार के प्रति व्य० व्या० कार की घृणा हो। जो कभी-कभी उनमें दोष निकालने से स्पष्ट है। वस्तुतः अन्य ग्रन्थकारों के समान व्यक्तिविवेककार अपनी प्रज्ञा को रोकना नहीं जानते। प्रत्युदाहरण के बाद पुनः दो उदाहरण सूझ आये होंगे और उन्होंने उन्हें भी जोड़ दिया होगा। अथवा और कोई कारण सोचा जा सकता है।

कारणमत्र पराशरो जमदग्निश्च।

तदभावे हेतुरिति तच्छब्देन समासः परामृष्टः। ततश्चात्र पाराशर्यादिपदं व्यासादावुत्कर्पमर्पयत् पुनरुक्तम्।

कारणमत्र—यहाँ कारण हैं पराशर और जमदग्नि।

तदभावे हेतु—यहाँ 'तत्' शब्द से समास का परामर्श किया गया है। तत्र (समास होने पर) यहाँ पाराशर्यादि शब्द व्यास आदि में उत्कर्षाधान करते हुये पुनरुक्त नहीं हैं।

विमर्श : तदभावे ततश्चात्र—इस व्याख्यांश में पुनरुक्तम् के पहले 'न' और चाहिए।

तक्षकसर्प इति तक्षकशब्दादेव सर्पपदमुत्कर्षसमर्पणप्रवणमेवेति तदर्थस्य विधेयत्वम्।

लोहितस्तक्षक इति यथा तक्षकशब्दादेव सर्पत्वजातिः प्रतीता तद्वल्लोहितलक्षणो गुणोऽपि तत एवाव्यभिचाराद् प्रतीतः। ततस्तौ जातिगुणौ विधेयताभिप्रायेणोक्तौ न समासे न्यग्भावनीयौ। उक्तन्यायादिति विधेयत्वान्न समासः प्रवर्तत इत्यर्थः।

पक्षो न चास्त्यन्यस्तदत्यये इति। इह द्वौ पक्षावुल्लिखितौ तक्षकस्य स्वरूपमात्रप्रतिपादनं वा लोहिताख्यगुणविधिर्वा। उभयत्रापि कृता चर्चा। तदत्यये च कथितपक्षद्वयातिक्रमे चान्यस्तृतीयपक्षो नास्तीत्यर्थः।

तक्षकसर्प—यहाँ केवल तक्षक से ही सर्प शब्द (अपने अर्थ में) उत्कर्ष ज्ञान करा सकता है, अतः उसका अर्थ विधेय हो सकता है।

लोहितस्तक्षक—जिस प्रकार तक्षक शब्द से सर्पत्व जाति का ज्ञान हो जाता है वैसे ही 'लोहित' रूप गुण का भी उसी से ज्ञान हो जाता है कारण कि वह (लोहित गुण) उस (तक्षक) से अब दूर नहीं होता। इतने पर भी अलग अलग रख कर अपने वाचक शब्दों द्वारा उनका प्रयोग होने से वे दोनों 'जाति' और 'गुण' विधेय रूप से उपस्थित किए गये हैं, अतः समास में उन्हें दबाना नहीं चाहिए।

उक्तन्यात्—विधेय होने से समास नहीं लगता।

पक्षो न चास्त्यन्यः—इस प्रसंग में दो पक्षों का उल्लेख किया है या तो तक्षक का स्वरूपमात्र प्रतिपादन या लोहित का विधान। दोनों पर विवेचन कर दिया गया।

तदत्ययेच—इन दोनों पक्षों के अभाव में अन्य अर्थात् तृतीय पक्ष नहीं है।

एवमियता—इस प्रकार यहाँ तक के विवेचन से कर्मधारय का विचार कर बहुव्रीहि के निरूपण में कहा—

बहुव्रीहौ यथा—

> **येन स्थलीकृतो विन्ध्यो येनाचान्तः पयोनिधिः।**
> **वातापिस्तापितो येन स मुनिः श्रेयसेऽस्तु वः॥' इति।**

अत्र विन्ध्यादिविषयत्वेन स्थलीकरणादि यद्विशेषणतयोपात्तं तत्तत्कर्मकर्त्तुर्मुनेरतिदुष्करकारितया कमपि प्रभावप्रकर्षमवद्योतयति विन्ध्यस्य प्रतिदिवससमुच्छ्रायाच्छादितार्कप्रकाशस्य जगदान्ध्यविधायित्वात्, पयोनिधेरगाधत्वादपारत्वाच्च, वातापेः स्वमायापरिग्रहग्रस्तसमस्तलोकत्वात्। ततस्तत् प्राधान्येन विवक्षितमिति न तैः सह समासे निर्जीवीकृतम्।

-बहुव्रीहि में जैसे—

जिसने विन्ध्य को मैदान जैसा बना दिया और जिसने समुद्र को आचमन कर लिया, (साथ ही) जिसने वापाती को (जठराग्नि में) पचा लिया वह मुनि आपके और हमारे लिए कल्याणकर हो।

यहाँ विन्ध्य आदि में 'स्थल बना देने' आदि को जो विशेषण रूप से कहा गया उससे उस काम को करने वाले मुनि का अत्यन्त दुष्कर कार्य करने का शौर्य व्यक्त होता है और उससे प्रकृष्ट अलौकिक प्रभाव। कारण कि विन्ध्य रोज रोज ऊँचा होता जाता था, उसने सूर्य प्रकाश छिपा दिया था अतः संसार को अन्धकारमय बना दिया था। समुद्र की कोई थाह नहीं और न पार। वातापी ने अपनी माया से सम्पूर्ण विश्व को ग्रस लिया था। इसलिए वे विशेषण प्रधान रूप से कहे गए हैं और इसीलिए उनके साथ समास न करके उन्हें निर्जीव नहीं होने दिया।

एवमियता कर्मधारयं विचार्य बहुव्रीहिनिरूपणायाह बहुव्रीहौ यथेति। ततस्तदिति स्थलीकरणादि यद् विशेषणतयोपात्तं तत् परामृश्यते। तैर्विन्ध्यादिभिः।

तदप्रतीतिः उत्कर्षापकर्षाप्रतीतिः।

ततस्तत् (१९३) से—स्थलीकरण आदि जो विशेषण दिए गए हैं उन्हें कहा। तैः का अर्थ है विन्ध्यादि द्वारा।

प्रत्युदाहरणं यथा—

'यः स्थलीकृतविन्ध्याद्रिराचान्तापारवारिधिः।
यश्च तापितवातापिः स मुनिः श्रेयसेऽस्तु वः॥' इति।

केचित् पुनः अनयोरुदाहरणप्रत्युदाहरणयोरर्थस्योत्कर्षापकर्षप्रतीतिभेदो न कश्चिदुपलक्ष्यत इति मन्यन्ते। त इदं प्रष्टव्याः। किं सर्वेष्वेव समासेष्वियं तदप्रतीतिः उत बहुव्रीहावेवायं शाप इति। तत्र यदि सर्वेष्वेवेत्यभ्युमगमस्तर्हि सहृदयाः पृच्छ्यन्तां वयं तावन्महदन्तरमेतयोः प्रतीत्योः पश्यामः।

अथ बहुव्रीहावेवेत्युच्यते, तदयुक्तम्। न हि प्रतीतिभेदहेतौ प्रतीतिसामर्थ्ये सति अकस्मात् तदसम्भवो भणितुं न्याय्यः। एवं हि क्षित्यादिसामग्र्यामविकलायामङ्कुरादिकार्योत्पादाभावाभ्युपगमोऽपि प्रसज्येतेति सर्वत्रै-

वायं प्रतीतिभेदोऽभ्युपगन्तव्यः। नैव वा कुत्रचित्। न पुनरिदमर्धजरतीयं लभ्यते।

प्रत्युदाहरण जैसे—

'जो स्थलीकृतविन्ध्यादि है, जो आचान्तापारवारिधि है, जो तापितवातापि—है—वह मुनि आपके लिए श्रेयोजनक हों।'

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि यहाँ उदाहरण और प्रत्युदाहरण में कोई उत्कर्षापकर्ष नहीं भासता, उनसे यह पूछना चाहिए कि वह जो उत्कर्षापकर्ष का ज्ञान नहीं होता वह सभी समासों में नहीं होता या केवल बहुव्रीहि के लिए ही यह अभिशाप है। यदि सभी समासों में मानते हों तो इसके साक्षी सहृदय हैं उनसे पूछना चाहिए। हम तो इन ज्ञानों में बहुत बड़ा अन्तर देखते हैं।

और यदि केवल बहुव्रीहि ही में (यह माना जा रहा हो) तो ठीक नहीं। जब कर्मधारय आदि समास के ज्ञानों में समास ज्ञान और समासाभाव ज्ञान में भेद दिखलाने की शक्ति है तो निष्कारण उसे संभव न मानना युक्ति संगत नहीं। क्योंकि ऐसे तो भूमि आदि कारण समुदाय के रहते हुए भी अङ्कुरादि कार्य की उत्पत्ति का अभाव माना जाना भी संभव हो सकता है। इसलिए यह पतीतिभेद (समास और समासाभाव में) या ज्ञानगत भिन्नता माननी ही चाहिए। नहीं माननी हो तो कहीं भी नहीं मानी जानी चाहिए। इस अर्धजरतीय रीति से कोई लाभ नहीं।

प्रतीतिभेदहेतौ समासासमासयोगे। प्रतीतिसामर्थ्ये कर्मधारयादिविषये। तदसम्भवः प्रतीतिभेदासम्भवः। अन्त्यावस्थाप्राप्तकारणेषु युक्तैव कार्योत्पत्तिरित्यर्थः।

एतदभ्युपगमे दृष्टविरोधमाह। एवं हीति। नैव वेति न्यायविशेषात्। अर्धजरतीयमिति अर्धं जरत्या इति 'समासाच्च तद्विषया' (५-३-१०६) इति च्छप्रत्ययः। यथा जरत्या वराङ्गं कामयते मुखं न कामयते तद्वदेवेत्यर्थः।

प्रतीतिभे०—समास होने और समास होने पर।

प्रतीतिसा०—कर्मधारय आदि जिसके विषय हैं उन ज्ञानों में।

तदसंभव—प्रतीतिभेद का अभाव। जब कारण अन्तिम अवस्था तक पहुँच जाते हैं तब कार्य की उत्पत्ति मानना ठीक ही है।

एतदभ्युप०—ऐसा मानने पर दृष्ट अनुभूत वस्तु का विरोध दिखलाते हैं एवं हि इस प्रकार।

'नैव वा—किसी भी समास में०' इत्यादि न्याय के आधार पर। (जिस किसी उपाय से एक समास में प्रतीतिभेद नहीं माना उसीसे अन्य सभी समासों में प्रतीतिभेद नही मानना चाहिए।

अर्धजरतीय—'जरती का आधा' इस विग्रह के अनुसार 'अर्धजरती'—ऐसा समास होने पर 'समासाच्च तद्विषयात्' इस सूत्र से छ प्रत्यय हुआ (तब अर्धजरतीय शब्द बना)। जराजीर्ण, वृद्ध स्त्री का वराङ्ग (योनि) तो कामना करता है, पर चेहरा नहीं वैसे ही।

विमर्श : यहाँ अर्धजरतीय न्याय का स्वरूप 'यथा स्त्री न तरुणी श्लथस्तनत्वात् कृष्णकेशत्वान्न जरती वक्तुं शक्यते तद्वत्' यह होना चाहिए। व्या० महाभाष्य में ४।१।७८ सूत्र पर 'अर्धं जरत्याः कामयतेऽर्धं न' ऐसा अर्धजरतीय न्याय दिया है। व्याख्यानकार ने कदाचित् यही मान लिया है। अर्धजरतीयन्याय को 'अर्धवैशसन्याय' भी कहा जाता है।

[द्र० लौकिकन्यायाञ्जलि : निर्णयसागर भाग—१]

इह वा प्रतीतिवैचित्र्यं स्पष्टतरमवधारयतु मतिमान्, यत्र विध्यनुवादभावाभिधित्सयैव पदार्थानामुपनिबन्धस्तत्रापि हि प्रधानेतरभावविवक्षानिबन्धनौ समासस्य भावाभावावुपगतावेव। यथा—

"सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ।
स्वयं वृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः॥" इति।

अथवा बुद्धिमान् जी आप यहाँ भी प्रतीतिभेद मानिए (कहाँ–उत्तर) जहाँ पदार्थों का कथन विध्यनुवादभाव की विवक्षा से होता है। वहाँ भी तो प्रधानता-अप्रधानता की विवक्षा के आधार पर समास का होना न होना स्वीकार किया गया है। (उदाहरण) जैसे—

'जिसके मातामह (नाना) और पितामह (आजा) सूर्य तथा चंद्र हैं, जो दो के द्वारा स्वयं वरण किया गया पति है—उर्वशी द्वारा और पृथिवी द्वारा।'

अत्र हि त्रैलोक्यैकालङ्कारभूतौ चराचरस्य जगतो जीवितायमानौ भगवन्तौ सूर्याचन्द्रमसौ प्रसिद्धावनूद्य यन्मातामहपितामहभावा विहितस्ततोऽस्य पुरूरवसस्तौ लोकोत्तराभिजनजनितं महिमानं काष्ठामधिरोपयतः यतो विशेषणविशेष्यभावाभिहितेनैव न्यायेनात्राप्यनूद्यमानगतोऽतिशयो विधीयमानाकारसङ्क्रमणक्रमेण तत्सम्बन्धिनः पर्यवस्यति। तयोर्हि स्वरूपमात्रं भिन्नं फलं पुनः पारम्पर्येण वाक्यार्थोत्कर्षलक्षणमविलक्षणमिति प्राधान्येन विवक्षितत्वात् न तौ ताभ्यां सह समासे म्लानिमानीतौ।

यहाँ तीनों लोकों के आभूषण और चराचरात्मक विश्व के प्राणरूप प्रसिद्ध भगवान् सूर्य और चंद्र को शब्दतः कहकर (उनका) जो मातामहत्व और पितामहत्व बतलाया गया (विहित किया गया) उससे वे इस पुरूरवा के महत्त्व को जो सर्वोत्कृष्ट कुल के संबन्ध से उत्पन्न हुआ है, अद्भुत पराकाष्ठा को पहुँचा देते हैं। क्योंकि जो न्याय विशेषणविशेष्यभाव के लिए (समास या असमास का) बनाया गया है उसीसे इस पद्य में भी अनूद्यमान (सूर्य-चन्द्र आदि) में अवस्थित अतिशय (महत्त्व) उसके अपने विधीयमान (मातामह–पितामह) रूप में पहुँचता है और फिर वहाँ से उसके संबन्धी (पुरूरवा) में। उन दोनों का स्वरूप भर भिन्न है, जहाँ तक फल का संबन्ध है वह है-परंपरा से वाक्यार्थ का उत्कर्ष, वह दोनों में समान है। अतः प्रधान रूप से विवक्षित होने के कारण उनके साथ (विशेष्यों के साथ) समास में म्लान नहीं किए गए।

ततस्य इति तदिति तस्मात्। तौ सूर्याचन्द्रमसौ। तयोरिति अनुवाद्ययोस्सूर्याचन्द्रमसोः। पारम्पर्येणेति विधेयमातामहपितामहत्वद्वारेण। अत एव सूर्याचन्द्रमसाविति द्वन्द्वनिर्देशो द्वयोः स्पर्धितां प्रकाशयति। उर्वश्या च भुवा चेति समासाभावो वरणस्य मुख्यामुख्यत्वप्रदर्शनार्थम् एकस्य वास्तवत्वादपरस्य कविप्रौढोक्तिनिष्पादितत्वात्।

ततस्य—तत् अर्थात् तस्मात्।
तौ—सूर्य-चन्द्र।
तयोः—अनुवाद्य सूर्य और चन्द्र का।

पारम्पर्येण—विधेयभूत माता-पिता के महत्त्व के द्वारा। अत एव 'सूर्याचन्द्रमसौ' से, यह द्वन्द्व का निर्देश दोनों के स्पर्धाभाव को व्यक्त करता है।

उर्वश्या च भुवा—इस प्रकार समास का अभाव-वरण की मुख्यता और अमुख्यता के प्रतिपादन के लिए है। कारण कि उनमें से एक (उर्वशी द्वारा किया गया) वरण वास्तविक है और दूसरा (भू द्वारा किया गया) कविप्रौढोक्तिमात्र से संपादित है।

विमर्श : १. अन्य समासों के समान बहुव्रीहि में विशेषण का समास विशेषण की विधेयता को नष्ट नहीं होने देता। कारण कि बहुव्रीहि में अन्य पुरुष की प्रधानता रहती है।

स्थलीकृतविन्ध्याद्रि में स्थलीकरणविशिष्ट विन्ध्याद्रि स्वनिष्ठ-स्थलीकृतिजनकत्व संबन्ध से-मुनि में विशेषण है। मुनि स्वतंत्र रूप से पठित है। विशेषण अलग है और विशेष्य अलग। फलतः विशेषण की प्रधानता आहत नहीं होती। परन्तु

स्थलीकृतविन्ध्याद्रि में स्थलीकरणविशिष्ट विन्ध्याद्रि स्वनिष्ठ-स्थलीकृतिक्रियाजनकत्व संबन्ध से (अर्थात् विन्ध्याद्रि में दिखाई स्थलीकरण-क्रिया का जनक होने से) मुनि पदार्थ में विशेषण है। मुनि अलग पठित है। विशेषण अलग है विशेष्य अलग। अतः कहा जा सकता है कि विशेषण की प्रधानता नहीं होती।

परन्तु वस्तुतः—विन्ध्याद्रिकर्मक स्थलीकरणक्रिया मुनि में विशेषण है। इसलिए उसी स्थलीकरण की प्रधानता इस वाक्य से प्रतीत होती है। विन्ध्य की नहीं। वस्तुतः यहाँ मुनि में महत्त्व स्थलीकरण द्वारा नहीं दिखाया जा रहा, प्रत्युत, स्थलीकरण में कर्म रूप से विन्ध्य के संबन्ध से दिखलाया जा रहा है, विन्ध्य से मुनि में महत्त्व तब आसकता है जब स्वयं विन्ध्य का महत्त्व सामने आए। वह तभी आ सकता है जब विन्ध्य को स्थलीकरण से अलग रखा जाय। ऐसा इस स्थलीकृत विन्ध्याद्रि में नहीं होता। वह होता है 'येन स्थलीकृतो विन्ध्यः' में ही। फलतः-यह कहना ठीक नहीं कि बहुव्रीहि में समासगत विशेषण प्रधान रहता है।

हमारी दृष्टि में जहाँ दो या एकाधिक वस्तु मिलकर अन्य पदार्थ में विशेषण बन रही हों—वहाँ यदि दोनों या एक का प्राधान्य बतलाना हो तो समास नहीं किया जाना चाहिए, पर यदि केवल उत्तर पदार्थ का प्राधान्य दिखलाना हो बहुव्रीहि समास करना दोष नहीं है। इतना अवश्य है कि वहाँ उस उत्तर पदार्थ की विधेयता विगृहीत वाक्य के समान पुष्ट न होगी, अतः अपुष्टि दोष आएगा ही। यह अपुष्टि भी अन्य समासों की अपेक्षा कम होगी। अतः प्रतीतिभेद तो बहुव्रीहि और अन्य समासों में रहेगा ही। उसे सर्वात्मना अमान्य नहीं ठहराया जा सकता। ग्रन्थकारका मत यह है कि दोष तृण भर भी न रहे तो अच्छा। फिर बहुव्रीहि के एक देश में अपुष्ट प्रधानता को लेकर विशेषणगत विधेयता लिए सभी समासों को मान्य ठहराना युक्तिसंगत नहीं। जब बहुव्रीहि में पूर्वपदार्थगत विधेयता की प्रतीति समास द्वारा नहीं हो पाती तब अन्य समासों में उसे कैसे माना जा सकता है। एक अंश में मानना और दूसरे अंश में नहीं यह सिद्धान्त सिद्धि का प्रकार नहीं। विषमता से सिद्धान्त नहीं बनाए जा सकते।

२. यन्मातामह—पितामहभावो विहितस्ततोऽस्य—में आप ततोऽस्य के स्थान पर व्या० व्या० कार तत्तस्य पाठ मानते हैं। वस्तुतः ततोऽस्य ही अधिक अच्छा है। परन्तु और किसी प्राचीन प्रति में भी है या नहीं—यह देखने की आवश्यकता है यह पाठ संभवतः किसी आधुनिक ने बदला हो।

३. तयोः का अर्थ अनूद्यमान—दोनों टीकाकारों ने किया है। सचमुच यदि यही अर्थ हो तो 'तयोः स्वरूपमात्रं भिन्नम्' कहना व्यर्थ है। उसे हटा देने से कोई हानि नहीं होती।

इह च—

"जनको जनको यस्या या तातस्योचिता वधूः।
आर्यस्य गृहिणी या च स्तुतिस्तस्यास्त्रपास्पदम्" ॥ इति।

अथवा यहाँ (प्रतीतिभेद मानिये।)

'जनक जिसके जनक हैं, जो पिता जी की मान्य पुत्रवधू हैं बड़े भैया रामचन्द्र जी की जो धर्मपत्नी हैं, उनकी स्तुति करना लज्जा की बात है।'

विमर्श : यहाँ 'जनकजनका जानकी' इस प्रकार समास कर देने पर जनक (विदेह) का महत्त्व सामने नहीं आता। वह समास न करने पर ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार तात और आर्य का। फलतः बहुव्रीहि में भी विशेषण का प्रधानता के लिये समास न करना ही ठीक है।

इह चेति प्रतीतिवैचित्र्यं स्पष्टतरमवधारयतु मतिमानिति पाश्चात्यं सम्बन्धनीयम्। जनक इति। अत्र जनकाख्यराजर्षिप्रभृतयः पितृत्वादेरुत्कर्षमर्पयन्ति।

एवं बहुव्रीहिं विचार्य द्विगुं व्याचष्टे द्विगौ यथेति।

इस प्रकार बहुव्रीहि का विचार कर द्विगु का विचार आरम्भ करते हैं—

द्विगौ यथा।

"उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्ता त्वमापदाम् ॥" इति।

अत्र हि संख्यायाः संख्येयेष्वङ्गेषु निरवशेषताप्रतिपत्तिफलमतिशयमादधानायाः प्राधान्येन विवक्षा। तत एव हि तेषु द्विविधापत्प्रतीकारेण राज्ञः शिवोपपत्तिं परिपुष्यतीति तस्यास्तैः सह समासो न विहितः।

(राष्ट्र) के सातों अङ्गों में कुशलता है, सो ठीक ही है, आप जो मेरी दैवी और मानुषी आपत्तियों के निवारक हैं।

यहाँ संख्या की प्रतीति प्रधानता लिये हैं। उसमें एक विशेषण है जिससे सभी अङ्गों में कुशलता की प्रतीति होती है और उसीसे (विवक्षा से) दो प्रकार की आपत्ति के प्रतीकार द्वारा राजा की कुशलता में युक्तता सिद्ध होती है। इसीलिये उसका (संख्या) उन (अङ्गों) के साथ समास नहीं किया।

विमर्श : यहाँ ऐसा लगता है कि ग्रन्थकार को उक्त श्लोक का अन्वय—'यस्य मे शिवम् उपपन्नम्' ऐसा मान्य है। मल्लिनाथ ने—शिवम् उपपन्नम्, यस्य मे—आपदां प्रतिहर्त्ता त्वम्' ऐसा अन्वय माना है।

यथा च—

"निग्रहात् स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः।
रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु ॥" इति।

प्रत्युदाहरणमेतदेवोदाहरणं कृतसमासवैशसं द्रष्टव्यम्।

और जैसे—

बहिन के निग्रह से और अपने पूज्यों के वध से रावण ने अपने दसो सिरों पर राम का पैर रखा माना।

यहाँ भी दशसु अलग ही है। वह भी ऊपर के श्लोक के अनुसार निरवशेष प्रतीति करती है। प्रत्युदाहरण के लिये उन्हीं उदाहरणों में समास द्वारा—संख्या को संख्यावान् से जोड़ा जा सकता है।

निरवशेष इति सप्तत्वसङ्ख्यायां विधेयत्वेन संरम्भास्पदत्वं समासे तु न्यग्भावात्।

दशस्विति दशत्वसंख्याया विधेयत्वं रावणस्य परिभवातिशयं प्रकाशयति। एकस्मिन्नपि मूर्धनि पदन्यासः परिभवास्पदं किं पुनर्दशस्विति। प्रत्युदाहरणं सप्ताङ्ग्यामिह यस्य सः इतीत्यादिपाठे। वैशसं बाधः।

एवं द्विगुं व्याख्याय नञ्समासं व्याचष्टे नञ्समासेति।

निरवशेष—सप्तत्व संख्या का विधेय रूप से प्रयोग करना। समास में वह दब जाती।

दशत्व—दशत्व संख्या में दिखाई विधेयता रावण के अत्यन्त पराभव को प्रकाशित करती है। एक सिर पर भी पैर का रखा जाना परिभव की बात है, दस पर पैर रखना तो दूर की बात है।

प्रत्युदाहरण—'सप्ताङ्ग्याम्' (इह यस्य सः)—इत्यादि पाठ करने पर।

वैशस—बाधं।

इस प्रकार द्विगु की व्याख्या कर अब नञ्समास की व्याख्या करते हैं।

नञ्समासोदाहरणं यथा—"नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः। इत्येवमादि पूर्वमेवोपदर्शितमुपपादितं च। प्रत्युदाहरणं यथा—

"वाच्यवैचित्र्यरचनाचारु वाचस्पतेरपि।
दुर्वचं वचनं तेन बहु तत्राप्यनुक्तवान्॥" इति।

नञ्समास का उदाहरण जैसे—

'नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः'—इत्यादि। पहले ही दिखलाया जा चुका है और उसका उपपादन भी किया जा चुका है। प्रत्युदाहरण जैसे—

'वाच्यगत विचित्रता और रचना से सुन्दर कथन वाचस्पति के लिए भी कठिन है। इससे उस जगह भी बहुत नहीं कहा।'

उपदर्शितमिति असंरब्धवानित्यत्र विधेयाविमर्शविचारे अनुक्तवानिति नोक्तवानिति वाच्यम्।

तत्पुरुषे कर्त्रादीनां षण्णां कारकाणां सम्बन्धस्य च क्रमेणोदाहरणान्याह देशेत्यादिना। सोऽयमिति। अत्र स एवायमिति व्याख्या। आहितसम्बन्धिनां शस्त्राणां 'घस्मराणि प्रसनशीलानि अत एव गुरूणि।

उपदर्शितम्—असंरब्धवत् इस विधेयाविमर्श के विचार युक्त में।

अनुक्तवान्—'नोक्तवान्' यह कहना चाहिये।

तत्पुरुष में कर्त्ता आदि छ कारक और सम्बन्ध के स्वतन्त्र उदाहरण देते हैं—

तत्पुरुषे कर्तुर्यथा—

"देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः
क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः।
तान्येवाहितशस्त्रघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे
यद् रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः क्रोधनः॥" इति।

अत्र रामेणेति रामस्य कर्तृभावेन करणं प्रति यद्विशेषणत्वं, तत् तस्य दारुणतातिरेकात्मकमुत्कर्षं रौद्ररसपरिपोषपर्यवसायिनं समर्पयति, तस्य निरतिशयशौर्यशालित्वेन घोरतरनैर्घृण्यनिघ्नतया च प्रसिद्धेः। तेन तत्प्राधान्यान्न विशेष्येण सह समासे गुणतां नीतम्।

कर्त्रादीनां कारकाणामनेकेषां समशीर्षिकया विशेषणभावेन यदुपादानं स द्वन्द्वस्य विषय इति तत्स्वरूपनिरूपणावसर एव तेषां प्राधान्यमप्राधान्यं चाभिधास्यत इति न तदुदाहरणमिह प्रदर्शितम्। नापि विध्यनुवादभावोदाहरणं, तस्य विशेषणविशेष्यभावतुल्यफलतया तत्समानवृत्तान्तत्वोपपादनात्।

प्रत्युदाहरणं यथा—'यस्यावमत्य गुरुदत्तमिदं कुठारं डिम्भोऽपि राम इति नाम पदस्य हर्त्ता' इति।

तत्पुरुष में जैसे कर्त्ता का—

'यह वही स्थान है जहाँ शत्रुओं के रक्तरूपी जल से तालाब भर गये थे, पिता जी का केशग्रह—वैसा ही क्षत्रिय (धृष्टद्युम्न) से अपमान हुआ, मेरे चमचमाते हुये बड़े-बड़े अस्त्र भी शत्रुओं के शस्त्रों के भक्षक है।' इस प्रकार जो परशुराम ने किया था, वही क्रोधी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा करने जा रहा है।'

यहाँ—'राम द्वारा' इस प्रकार राम का 'उसने' इस शब्द की करण क्रिया में कर्त्ता रूप से जो विशेषणभाव है वह उसकी (करण क्रिया की) दारुणता के अतिरेक रूपी उत्कर्ष को बतलाता है, जिससे अन्ततः रौद्ररस की परिपुष्टि होती है, कारण कि उसकी (अश्वत्थामा) असामान्य शौर्य से युक्त होने और घोरतर निर्दयता के अधीन होने के लिये प्रसिद्धि है। इसलिये उस (कर्त्ता) की प्रधानता होने से उसे विशेष्य (क्रिया) के साथ समास करके गौण नहीं बनाया।

कर्त्ता आदि अनेक का तुल्य रूप से विशेषण भाव से जो कथन (होता है) वह द्वन्द्व का विषय (माना जाता है) इसलिये उसके स्वरूप के निरूपण के मौके पर भी उन (कर्त्ता आदि) की प्रधानता और अप्रधानता बतलायेंगे, इसलिये उसका उदाहरण यहाँ नहीं दिया। और न विध्यनुवाद भाव का उदाहरण ही दिया। कारण कि फल में उस (विध्यनुवादभाव के विशेषणविशेष्यभाव के बराबर होने से—स्थिति में भी समास का उपपादन किया गया है।

प्रत्युदाहरण जैसे—

'जिसके—(परशुराम के) इस गुरुप्रदत्त कुठार तक का अपमान कर बच्चा होते हुये भी 'राम' इस नाम का हरण करने वाला है।'

करणं प्रतीति क्रियां प्रतीत्यर्थः। तत्तस्येति प्रक्रान्तस्य विशेष्यस्य करणस्य। तस्येति रामस्य। शौर्यं बलम्। निघ्नः परवशः। तेन तदिति रामेणेतिविशेषणम्।

अनेकेषामिति। अनेकशब्दस्य नञ्समासे उत्तरपदार्थप्राधान्यादेकत्वप्रसङ्गः। सत्यम् किन्तु नञ्प्रयोगविषये एकशब्दस्यैकव्यतिरिक्तवस्तुविषयत्वं यथा अब्राह्मण इत्यत्र ब्राह्मणशब्दस्य क्षत्रियादिगोचरत्वम्। एकव्यतिरिक्तं च वस्तु कदाचिदेकत्वोपरक्तं प्रतीयते, कदाचिन्निजेनैव स्वरूपेण। आद्ये पक्षे अनेकमिति भवति द्वितीये त्वनेकानीति। यथा च

पतञ्जलिः—'प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्' इति। गुरुदत्तमिति गुरुणा दत्तमिति वाच्यम्।

करणं प्रति—अर्थात् क्रिया के प्रति।

तत्तस्य—प्रकरणप्राप्त विशेष्य = करण की।

तस्य—राम का।

शौर्यम्—बल।

निघ्न—परवश।

तेन तस्य—'रामेण' यह विशेषण।

अनेकेषाम् -(शंका) अनेक शब्द में जो नञ्समास है उसमें उत्तर पदार्थ प्रधान होने से एकत्व की आपत्ति है। (उत्तर) ठीक है, पर जहाँ 'नञ्' का प्रयोग हुआ रहता है, वहाँ एक शब्द का अर्थ एक से भिन्न वस्तु होता है, जैसे 'अब्राह्मण' यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द क्षत्रिय आदि का वाचक है। एक से भिन्न वस्तु कभी एकत्व से युक्त भी दिखाई देती है, कभी अपने ही स्वरूप से। प्रथम पक्ष में 'अनेकम्' एक वचन होता है और द्वितीय पक्ष में अनेकानि : बहुवचन। जैसा कि पतञ्जलि ने कहा है—

अनेक लोगों की प्रवृत्ति के भेद में एक ही कारण है।

गुरुदत्तम्—गुरुणा दत्तम् इस प्रकार कहना चाहिये।

कर्मणो यथा—

"कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितै-
र्वनमसि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथाऽम्बया।
नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये! स तव प्रियः॥" इति।

अत्र वनमिति यद् गमनक्रियायाः सीताविशेषणभूतायाः कर्मभावेन विशेषणं तत् तस्या रामप्रीतिप्रकर्षयुक्ताया अन्यकुलमहिलादुर्लभं दुष्करकारित्वं नामोत्कर्षमर्पयति वनवासदुःखस्यातिकष्टत्वात्। स चोत्कर्षो रामस्य रतेरुद्दीपनतां प्रतिपद्यत इति प्रधानं, न गतेत्यनेन सह समासे तिरस्कृतम्।

यथा च—'गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्' इति। अत्र गुर्वर्थमित्यर्थिनोऽर्थनक्रियामुखेन यद्विशेषणं, तत् तस्य श्लाघ्यतातिशयाधानद्वारेण रघोरुत्साहपरिपोषे पर्यवस्यतीति प्राधान्येन विवक्षितत्वान्नार्थिना सह समासे सतामवमततां गमितम्।

यथा च—"संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम्" इति।

कर्म का उदाहरण जैसे—

'जिसके प्रेम में—ऊपरी क्रोध, आँसुओं और दीनता युक्त दृष्टियों द्वारा माँ के रोकने पर भी तुम वन आईं, हे प्रिये—वही तुम्हारा कठोर हृदयवाला प्रिय नये मेघों से बीती दिशाएँ देखता हुआ भी जी ही रहा है।'

यहाँ—गमनक्रिया सीता में विशेषण है। उसमें (गमन क्रिया में) 'वन' जो कर्म रूप से विशेषण बनाया गया है वह राम की उत्कृष्टप्रीति से युक्त सीता के दुष्कर कार्य के लिये साहस रूपी उत्कर्ष का ज्ञान कराता है, जो अन्य कुलललनाओं में कठिनाई से मिल सकता है, कारण कि वनवास का दुःख अतीव कष्टकर है। वह उत्कर्ष भी राम के रतिरूपी स्थायी भाव में उद्दीपन बनता है—अतः प्रधान है, अतः 'गता' इसके साथ समास करके उसे अप्रधान नहीं किया गया।'

और जैसे—'गुरु के लिये याचना करने वाला, जो सुना उसके उस पार पहुँचा हुआ (कौत्स-ऋषि) रघु के पास से ईप्सित वस्तु न पाकर। (दूसरे—दाता के पास गया—अपयश का ऐसा नया अवतार न हो।)

यहाँ—'गुर्वर्थम्' यह पदार्थ अर्थी (याचकरूपी) पदार्थ में अर्थन क्रिया द्वारा—विशेषण है। इससे अर्थी में—

अतिशय—श्लाघ्यता की प्रतीति कराता है और उसके द्वारा रघु के उत्साह को बढ़ाने वाला ठहरता है इसलिये प्रधान रूप से कथित है, और अर्थी के साथ समास करके विद्वानों की दृष्टि में हेय नहीं बनाया गया है।

और जैसे—'पुत्रवत् पाले गये।'

विमर्श : यहाँ सुतनिर्विशेष अलग है। अतः सम्वर्धन क्रिया में अतिशयाधान करता है।

तत् तस्या इति सीताया विशेषणभूतायाः सीताकर्तृकाया गमनक्रियाया इत्यर्थः। गुर्वर्थमिति गुरवे इदं गुर्वर्थमिति क्रियाविशेषणमेतत्। क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकलिङ्गत्वं च। ईप्सिततमत्वे तु षष्ठी स्यात्। अर्थनक्रियामुखेनेति अर्थयत इति निगमनात्। तत् तस्येति तद् गुर्वर्थमिति विशेषणम्। तस्यार्थिनः। अवगततां अनभिप्रेतताम्। अवमतत्वं गर्हितत्वम्।

तत् तस्याः—सीता में विशेषण बनी-सीताकर्तृक गमनक्रिया का।

गुर्वर्थम्—गुरवे इदम्-गुर्वर्थम्—यह क्रिया विशेषण है, क्रियाविशेषण सदा कर्म होता है और नपुंसक लिङ्ग। यदि अत्यन्त 'इप्सितता' होती तो षष्ठी होती।

अर्थनक्रियामुखेन—अर्थयते इस प्रकार का कथन होने से।

तत् तस्य—तत् गुर्वर्थम् के लिये।

तस्य—अर्थी के लिये।

अवमतताम्—गर्हितता को।

प्रत्युदाहरणं यथा—'प्रदक्षिणक्रियातीतस्तस्याः कोपमजीजनः' इति, 'तमभ्यनन्दत् प्रथमप्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः' इति, 'यथाकामार्चितार्थिनाम्' इति, यथाकालप्रबोधिनामिति च।

प्रत्युदाहरण जैसे—

'प्रदक्षिणक्रियाशून्य तुमने उसका क्रोध जगा दिया और इन्द्र के सम्वाददाता द्वारा पहले ही से जान चुके—दिलीप ने ही उसका पहले अभिनन्दन किया।

और—'यथाकामार्चितार्थी।' 'यथाकालप्रबोधी।'

सुतनिर्विशेषमिति। क्रियाविशेषणमेव। प्रदक्षिणक्रियेति। अत्र प्रदक्षिणक्रियाया अत्यय-क्रियाकर्मभूताया अन्तरायहेतुकोपनिमित्तत्वात् प्राधान्यम्। एवं प्रथमबोधित इति प्राथ

स्यस्य। तथा यथाकामत्वयथाकालत्वयोर्ज्ञेयम्। यदवलोकनेति रूपसम्पत् परामृष्टा। स्वहस्तेनेति करणपदम्।

सुतनिर्विशेष—क्रियाविशेषण है।

प्रदक्षिणक्रिया—प्रदक्षिण क्रिया अत्यय (लंघन) क्रिया में कर्म है। वही (सन्तानोत्पत्ति में) विघ्नभूत कोप का कारण है, अतः प्रधान है। इसी प्रकार प्रथम-प्रबोधितः यहाँ 'प्रथम की प्रधानता होनी चाहिये (पर वह समास में दब गई है—'प्रथमं प्रबोधितः'—होने से वह उभर सकती है।) इसी प्रकार यथाकामत्व और यथाकालत्व के विषय में जानना चाहिये। (उनमें भी प्रधानता होती थी, पर समास द्वारा उसे दबा दिया गया है।)

यदवलोकन—में 'यत्' से रूप-सम्पत् का परामर्श किया गया।

स्वहस्तेनेति—करण पद यहाँ प्रधान रखा गया।

करणस्य यथा—

"आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न सम्भावित एव तावत् करेण रुद्धोऽपि न केशहस्तः॥" इति।

अत्र करेणेति यत् केशहस्तकर्मकस्य सम्भावितस्य रोधनस्य करणभावेन विशेषणं तत् तस्याः कस्याश्चिद्रभसौत्सुक्यप्रहर्षप्रकर्षरूपमतिशयं प्रतिपादयद् वधूवरयो रूपसम्पदमसाधारणीमभिव्यनक्ति यदवलोकनव्यवधानाधायिनीं तावतीमपि कालकलां विघ्नायमानां मन्यमानयानया सततं स्वाधीनेनैकेन करकमलेन रोधोऽप्यस्य न कृतः। तेन तत् प्रधानमिति न रुद्ध इत्यनेन सह समासेऽस्तमुपनीतम्।

यथा च—

"कर्त्तुमक्षमया मानं प्राणेशः प्रत्यभेदि यत्।
सोऽयं सखि! स्वहस्तेन समाकृष्टस्त्वयानलः॥"

करणकारक का जैसे—

'झरोखे के रास्ते पर तेजी से चल रही किसी का जूड़ा खुल गया और उसकी माला गिर गई। ऐसी अवस्था में उसने उसे बाँधा तो नहीं ही, हाथ से रोका भी नहीं।

यहाँ—केशहस्त को कर्म बनाकर सम्भावित रोधन क्रिया में कर 'करेण' इस प्रकार करणकारक बन कर विशेषण बना। उससे उस (स्त्री) की उत्कृष्ट शीघ्रता, उत्सुकता, और प्रसन्नता में प्रकर्षरूपी अतिशय प्रतीत होता है। उससे वधू और वर की आसाधारण रूप-संपत्ति का बोध होता है। जिसे देखने में रुकावट डालने वाली उतनी सी घड़ी को भी उसने विघ्न मानकर हमेशा अपने अधीन कर कमल से उसे रोका भी नहीं। इसलिये उस (करण) की यहाँ प्रधानता है—इसलिये 'न रुद्धः' इसके साथ समास में उसे गुणीभूत नहीं बनाया।

और जैसे—

मान करने में तुम समर्थ हो नहीं, और प्राणेश का मन खट्टा कर दिया। सखी—यह तुमने अपने हाथ से आग लगा ली।

प्रत्युदाहरणं यथा—

"धात्रा स्वहस्तलिखितानि ललाटपट्टे।
को वाऽक्षराणि परिमार्जयितुं समर्थः॥" इति।

प्रत्युदाहरण जैसे—

ललाटपट्ट पर विधाता द्वारा अपने हाथ से लिखे अक्षरों को कौन भला मिटा सकता है।

स्वहस्तलिखितानीति स्वहस्तशब्दोऽन्नादरप्रतीतिहेतुकत्वेन लेखनं प्रति उत्कर्षनिमित्तमपि समासे गुणीकृतः।

स्वहस्तलिखितानीति—यहाँ स्वहस्त शब्द आदर-ज्ञान कराता और लेखन के प्रति उत्कर्ष का कारण बनता है—इतने पर भी उसे समास में दबा दिया।

सम्प्रदानस्य यथा—

"पौलस्त्यः स्वयमेव याचत इति श्रुत्वा मनो मोदते
देयो नैव हरप्रसादपरशुस्तेनाधिकं ताम्यति।
तद् वाच्यः स दशाननो मम गिरा दत्ता द्विजेभ्यो मही
तुभ्यं ब्रूहि रसातलत्रिदिवयोर्निर्जित्य किं दीयताम्॥" इति।

द्विजेभ्य इति निर्जयपूर्वकस्य भार्गवकर्तृकस्य महीदानस्य सम्प्रदानत्वेन यद्विशेषणं तन्मह्याः पात्रसात्करणोत्कर्षमादधद् भार्गवशौर्यातिरेकस्य व्यञ्जनेन दशाननस्य कोपोद्दीपनपर्यवसायि भवतीति प्राधान्येन विवक्षितत्वान्न दत्तेत्यनेन सह समासे कविना विच्छायीकृतम्। प्रत्युदाहरणमेतदेव पूर्ववद् द्रष्टव्यम्।

सम्प्रदान का जैसे—

'पुलस्त्य का वंशज रावण स्वयं माँग रहा है यह सुनकर मन प्रसन्न होता है और शिवप्रसाद से प्राप्त परशु देने लायक नहीं है इससे अधिक दुःखी भी होता है। इसलिए मेरे शब्दों में उस दस सिर वाले (रावण) से कहो कि—पृथिवी तो ब्राह्मणों को दे दी, बोलो पाताल और स्वर्ग में से तुम्हें क्या जीतकर दे दिया जाय?'

यहाँ—भार्गव (परशुराम) द्वारा जीत कर किए गए पृथिवीदान में 'द्विजेभ्यः' यह सम्प्रदान रूप से विशेषण है, उससे पृथिवी में सत्पात्र को दिए जाने का गौरव आता है, और उसके द्वारा परशुराम के शौर्यातिरेक की व्यञ्जना होती है—इस प्रकार वह (विशेषण) रावण के कोप को जगानेवाला ठहरता है—इसलिए वह प्रधानरूप से कहा गया है और इसलिए 'दत्ता' के साथ समास करके उसे कवि ने श्रीहीन नहीं बनाया।

पहले के समान—('विप्रप्रदत्ता मही' इस प्रकार समास करने पर) यही प्रत्युदाहरण बन जाता है।

पूर्ववदिति कृतसमासवैशसम्। तच्च विप्रप्रदत्ता महीति पाठे।

पूर्ववद्—समासजनित हानि कर देने पर। वह 'विप्रप्रदत्ता मही' इस पाठ में सम्भव है।

अपादानस्य यथा—

'ताताज्जन्म वपुर्विलङ्घितवियत् क्रौर्यं कृतान्ताधिकं
शक्तिः कृत्स्नसुरासुरोष्मशमनी नीता तथोच्चैःपदम् ।
सर्वं वत्स ! तवातिशायि निधनं क्षुद्रात्तु यत् तापसात्
तेनाहं त्रपया शुचा च विवशः कष्टां दशामागतः ॥'

अत्र तातादिति क्षुद्रात्तु यत्तापसादिति च ये जन्मनिधनयोरपादानभावेन विशेषणे ते तातस्य पितामहपितामहतया महामुनेः पुलस्त्यस्यापत्यतया च क्षुद्रतापसस्य च गणनानर्हतया तयोरुत्कर्षापकर्षद्वारेण तद्वतः कुम्भकर्णस्य कामपि कुलीनतां शौर्यापकर्षं चादधाने भ्रातुर्दशाननस्य शोकत्रपापावकेन्धनभावेन परिणमत इति प्राधान्येन विवक्षिते न ताभ्यां सह समासे गुणतां गमिते ।

प्रत्युदाहरणं यथा—अत्रैव 'क्रौर्यं कृतान्ताधिकम्' इति । यथा च 'आसमुद्रक्षितीशानामिति' ।

अपादान का जैसे—

'पिताजी से जन्म, आकाश नाप लेने वाला शरीर, यम से भी ज्यादा क्रूरता, और सभी देव और दानवों की गरमी उतार देनेवाली—उतनी ऊँची पहुँची हुई शक्ति, इस प्रकार हे वत्स ! तुम्हारा सब कुछ सर्वातिशायी था, किन्तु केवल निधन क्षुद्र तपस्वी से हुआ, इसलिए मैं लाज और शोक से विवश हो बड़ी बुरी हालत में आ पड़ा हूँ ।'

यहाँ 'तात से' और 'क्षुद्र तापस से' ये जो दो अपादान रूप से जन्म तथा निधन के विशेषण बनाए गए हैं, वे उत्कर्ष और अपकर्ष द्वारा उनसे युक्त कुम्भकर्ण की अत्यधिक कुलीनता तथा शक्तिहीनता का ज्ञान कराते हैं, पिता (ब्रह्मा) के पौत्र होने तथा महामुनि पुलस्त्य के पुत्र होने से—(तातात्—यह अपादान कुलीनता का ज्ञान कराता है) तथा क्षुद्र तापस की नगण्यता से (तापसाद्—यह अपादान—शौर्यापकर्ष का) । उसके बाद वे ही—भाई दशानन (रावण) के शोक और लज्जा की आग में ईंधन बनते हैं, अतः प्रधानरूप से विवक्षित हैं, इसीलिए—उन (जन्म और निधन) के साथ समास में गुणीभूत नहीं किए गए ।

प्रत्युदाहरण जैसे—इसी पद्य में 'क्रौर्यं कृतान्ताधिकम्' ।

और जैसे—'आसमुद्रक्षितीशानाम्' ।

पितामहपितामहतयेति पितामहो ब्रह्मा पितामहः पूर्वपुरुषो यस्य । तयोर्जन्मनिधनयोः । तद्वतो जन्मनिधनवतः । ताभ्यां जन्मनिधनाभ्याम् । कृतान्तादधिकमिति आ समुद्रात् क्षितीशानामिति च वाच्यम् । अपादानसमानन्यायत्वादवधिरपि पञ्चम्यन्तोऽत्र गृह्यत इति प्रत्युदाहरणोपपत्तिः ।

पितामहपितामहतया—पितामह ब्रह्मा है पितामह पूर्वपुरुष जिसका ।

तयोः—जन्म और निधन का ।

तद्वतोः—जन्म और निधन युक्त का ।

ताभ्याम्—जन्म और निधन से ।

कृतान्तात्—अधिकम्' और 'आसमुद्रात् क्षितीशानाम्' ऐसा पाठ चाहिए।

अपादान के समान अवधि (अभिविधि भी) पञ्चम्यन्त—मानी जाती है, इस प्रकार उदाहरण की संगति होती है।

विमर्श : अपादान का अर्थ होता है वह पदार्थ जहाँ से विश्लेष हो, जैसे—वृक्ष से पत्र गिरता है में—विश्लेप वृक्ष से होता है अतः वह अपादान है। अवधि का अर्थ है सीमा। सीमा से किसी का विश्लेष नहीं होता, प्रत्युत विशिष्ट वस्तु में सीमा भी गिन ली जाती है। अतः वस्तुतः उसमें पञ्चमी होना नहीं चाहिए, तथापि सीमारूप अवधि अपादानरूप पदार्थ से अधिक भिन्न नहीं है अतः उसमें पञ्चमी हो सकती है।

अधिकरणस्य यथा—

'तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते च या ॥'
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः। इति।

अत्र रणाश्वमेध इति यत् पशुताया यशस्विकर्तृकोपागमकर्मभूताया अधिकरणभावेन विशेषणं तत् तस्या इतरपशुवैलक्षण्यलक्षणमतिशयमादधानं शूराणां समरमरणोत्साहमुद्दीपयतीति प्राधान्येन विवक्षितत्वान्न तया सह समासे समशीर्षिकतां नीतम्।

यथा च—

'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥' इति।

जैसे— अधिकरण का—

'तपस्वी लोग जिसे देर से पाते हैं, याज्ञिक जिसे पर्याप्त श्रम के पश्चात् प्राप्त करते हैं, उस गति को रणरूपी अश्वमेध में पशुता को प्राप्त हुए यशस्वी वीर तत्काल पा जाते हैं।'

यहाँ 'रणाश्वमेधे' यह जो यशस्वी की प्रगति रूप क्रिया के प्रति कर्म बनी पशुता का अधिकरण रूप से—विशेषण है वह उसके अन्य पशुओं से विलक्षणतारूपी अतिशय को साधता है। अतः प्रधानरूप से विवक्षित है। और इसीलिए समास में बराबरी तक नहीं लाया गया।

और जैसे—

'बचपन में विद्याभ्यास कर लेने वाले, यौवन में विषय की चाह रखने वाले, वृद्धावस्था में मुनियों के समान रहनेवाले तथा अन्त में योग से शरीर छोड़नेवाले—रघुवंशियों का…'।

विमर्श : यहाँ सभी अधिकरण विधेय रूप से कथित हैं।

उपागमेति **उपागता इति निर्दिष्टा उपागमक्रिया।** रणभूषित **इति। अत्र रणभुवीति वाच्यम्।**

उपागम—उपागता इसमें निर्दिष्ट उपागम क्रिया।

रणभूषित—यहाँ 'रणभुवि' इस प्रकार अधिकरण को पृथक्रूप से बतलाना चाहिए।

प्रत्युदाहरणं यथा—

रेणुरक्तविलिप्ताङ्गो विक्षतो व्रणभूषितः।
कदा दुष्प्रत्यभिज्ञानो भवेयं रणभूषितः ॥ इति।

प्रत्युदाहरण जैसे—

'धूल और खून से विलिप्त शरीर वाला, विकृत घावों से अलंकृत—इस प्रकार रणभूषित होकर मैं कब कठिनाई से पहचानने लायक बनूँगा।

सम्बन्धस्य यथा—

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।' इति।

अत्र कपालिन इति यत् समागमप्रार्थनायाः शोचनीयतागतौ हेतुत्वेनोपात्तायाः सम्बधिद्वारेण विशेषणं तत् तस्यास्तत्र यत् सामर्थ्यं तत् सुतरामुपबृंहयति तस्य सकलामङ्गलनिलयतया निन्दिताचारनिरततया च दर्शनसम्भाषणादीनामपि प्रतिषिद्धत्वात्। अतो विधेयार्थतया प्राधान्येन विवक्षितं विशेष्येण सह समासे न प्रत्यवरीकृतम्।

यथा च—

'जनको जनको यस्या या तातस्योचिता वधूः।
आर्यस्य गृहिणी या च स्तुतिस्तस्यास्त्रपास्पदम्॥' इति।

'स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञ' इति। 'कः क्षमेत तवानुज' इति।

संबन्ध का जैसे—

'उस कपालधारी के लिए दुराग्रह से—अब दो—शोचनीय बन गए—'

यहाँ—शोचनीयता को प्राप्त होने के प्रति हेतु रूप से जो समागम—की प्रार्थना है उसमें सम्बन्धिद्वारा 'कपालिनः' यह विशेषण है। वह उस (समागम-प्रार्थना) का (शोचनीयताप्राप्ति) के प्रति जो सामर्थ्य है उसे और बढ़ा देता है। कारण कि जो कपालधारी है वह सब प्रकार के अमंगल का घर है, वह निन्दित आचरण में लगा हुआ है, अतः उसके दर्शन और संभाषण आदि भी निषिद्ध है। अतः विधेय होने से—प्रधानतया वह (विशेषण), विवक्षित है, फलतः उसे समास में घटने नहीं दिया।

और जैसे—

'जनक जिसके जनक हैं, जो पिताजी की अनुरूप स्नुषा (पुत्रवधू) है, जो बड़े भैया की धर्मपत्नी है, उसकी स्तुति लज्जास्पद है।'

'स्कन्द की मा के दूध का स्वाद जाननेवाला है। 'कौनसा तुम्हारा—छोटा भाई सह सकता है।

शोचनीयतागतिः क्रिया। अत्र समागमप्रार्थना हेतुत्वेनोपात्ता। तस्याः सम्बन्धिद्वारेण सम्बन्धित्वमुखेन कपालिन इति विशेषणम्। अत्र सम्बन्धिशब्दो भाववृत्तिः सम्बन्धित्वे वर्तते, यथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (१-४-२२) इति, सधीरमुवाचेति। तत्तस्या इति। तद्विशेषणम्। तस्यास्समागमप्रार्थनायाः। तत्र शोचनीयतागतौ। सामर्थ्यमव्यभिचारेण सम्पादकत्वम्। तस्य सकलेति तच्छब्दः कपालिन इत्यस्य परामर्शकः। विशेष्येण समागमप्रार्थनयेत्यनेन प्रत्यवरं गुणभूतम्।

एवं तातस्येति, आर्यस्येति, स्कन्दस्येति, तवेति चेत्येषां विशेषणानामुत्कर्षसमर्पकत्वं ज्ञेयम्।

शोचनीयतागतिः—यह क्रिया है। उसमें समागम की प्रार्थना हेतुरूप से कही गई है। उसका सम्बन्धित्व द्वारा 'कपालिनः' यह विशेषण है। यहाँ सम्बन्धी शब्द भावार्थक है, उसका तात्पर्य है

सम्बन्धित्व, जैसे—द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने—में (द्वि का द्वित्व और एक का एकत्व अर्थ मांना जाता है।) इसलिए उसे धैर्य के साथ (?) (सधीरम्) कहा।

तत्तस्याः—तत्—विशेषण, तस्याः—समागम-प्रार्थना का। तत्र—शोचनीयतागति में।

सामर्थ्यम्—नियमतः (विना चूके) कार्य करने की शक्ति।

तस्य सकलेति—तत् शब्द कपालिनः का परामर्शक है।

विशेष्येण—समागम-प्रार्थना (रूपी विशेष्य) से।

प्रत्यवरम्—गुणीभूत—अप्रधान।

तातस्य, आर्यस्य, स्कन्दस्य, तव—ये विशेषण उत्कर्षाधायक हैं।

विमर्श : जनको जनको यस्याः—की जगह 'जनकस्यात्मजाता या' यह पाठ प्रक्रमानुरोधी होगा।

प्रत्युदाहरणं यथा—

'पृथ्वि ! स्थिरीभव भुजङ्गम ! धारयैनां
त्वं कूर्मराज ! तदिदं द्वितयं दधीथाः।
दिक्कुञ्जराः ! कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥' इति।

यत्र हि हरसम्बन्धनिबन्धनः कार्मुकस्य गौरवातिरेको दुरारोपता चेति तस्यैव विधेयतया प्राधान्यं न कार्मुकमात्रस्य, तच्च तस्य वृत्तावन्तरितं, तेन 'देवो धनुः पुररिपोर्विदधात्यधिज्य'मित्यत्र युक्तः पाठः। अस्मिंश्च पाठे कल्पितार्थस्याप्रयुक्तस्य वाततज्यस्य प्रयोगपरिहाराद् गुणान्तरलाभ इति। यथा—

'किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
मात्रा, स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥'

अत्र ह्यार्यस्यानुज इति तातस्य कलत्रमित्युचितं वक्तुम्।

यथा च—

'जयाशा यत्र चास्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा।
हरिचक्रेण तेनास्य कण्ठे निष्क इवार्पितः ॥' इति।

अत्र हरेः सम्बन्धेन चक्रस्य जयाशास्पदत्वमिति हरेरेव प्राधान्य-विवक्षा न चक्रमात्रस्य, तच्च तस्य समासेऽस्तमुपगतम्। विभक्त्यन्वय-व्यतिरेकानुविधायिनी हि विशेषणानां विधेयतावगतिः। तत एव चैषां विशेष्ये प्रमाणान्तरसिद्धस्वोत्कर्षाधायिनां शाब्दे गुणभावेऽप्यार्थे प्राधान्यं विशेष्याणां च शाब्दे प्राधान्ये आर्थो गुणभावोऽनूद्यमानत्वा-दित्युक्तम्। वक्ष्यते च।

प्रत्युदाहरण जैसे—

'हे—पृथिवी ! स्थिर हो जा, शेषनाग—इसे धरे रहो, और कूर्मराज तुम—इन दोनों को

सम्हाले रहो, दिग्गजो! तुम लोग इन तीनों को धारण करने में तत्पर रहो, (हमारे) आर्य—(रामचन्द्र) शिवधनुप पर प्रत्यंचा चढ़ा रहे हैं।'

यहाँ धनुप में गौरव और ताने जाने में कठिनाई शिव के सम्बन्ध से चढ़ी-बढ़ी दिखाई देती है। इसलिए वही (हरसम्बन्ध) विधेय है और इसलिए वही प्रधान, न कि केवल धनुपमात्र। पर वह [हररूपी विशेपण] समास में अप्रधान बना दिया गया। अतः—देवो धनुः पुररिपोर्विदधात्यधिज्यम्' पाठ ठीक है। इस पाठ में एक और लाभ है—कि जिसका अर्थ कल्पित है जिसका प्रयोग भी नहीं होता उस 'आततज्य' शब्द का परिहार भी हो जाता है।

जैसे—

क्या भरत को लोभ ने अन्धा बना दिया, जिससे वे माँ के कहने पर ऐसा कर बैठे, या मेरी मझली माँ ही नारीसुलभ तुच्छता में आ गई? नहीं मेरे ये दोनों वितर्क झूठे हैं, भैया भरत—आर्यानुज (बड़े भैया राम के अनुज) हैं, और माँ तात (पिता) पत्नी हैं। अतः मैं सोचता हूँ यह अनुचित कार्य विधाता ने किया।'

यहाँ—आर्यस्य अनुजः, और तातस्य कलत्रम्' कहना उचित था। और जैसे—

'और जिस पर हमारी जयाशा थी उस टक्कर से चिनगारी उड़ा रहे हरिचक्र (सुदर्शन) ने इसके कण्ठ में निष्क (गले का हार) मानो पहना दिया।

यहाँ हरि के सम्बन्ध से चक्र के विपय में जयाशा हो सकती सकती है इसलिए प्राधान्य हरि में ही चाहिए, केवल चक्र में नहीं, पर उसका (हरि का) वह (प्राधान्य) समास में डूब गया।

विशेपणों में विधेयता की जो प्रतीति होती है वह विभक्ति के रहने पर ही, विभक्ति के अभाव में उसकी प्रतीति नहीं होती। और उसी से इनमें (विशेपणों में) शब्दतः तो अप्रधानता रहती है पर अर्थतः प्रधानता ही, कारण कि ये विशेष्य में—दूसरे प्रमाणों से सिद्ध अपने (विशेपणों के) गुणों का उत्कर्ष डालते हैं। और उसी से विशेष्यों में शब्दतः प्रधानता तथा अर्थतः अप्रधानता की प्रतीति होती है। क्योंकि उन (विशेष्यों) का तो केवल अनुवाद होता है। यह हमने कहा है और आगे भी कहेंगे।

तस्यैवेति **गौरवदुरारोपत्वनिबन्धनस्य हरस्य।** तदेति **प्राधान्यम्।** तस्येति **हरस्य।** कल्पितार्थस्येति **विस्तारितकृत्रिमत्वमात्रवाचिनोऽधिज्यत्वमात्रलक्षणार्थारोपात्** अप्रयुक्तस्येति **उक्तनयेनास्मिन्नर्थे कविभिरप्रयुज्यमानस्य।** गुणान्तरलाभ **इति वक्ष्यमाणलक्षणस्य वाच्यावचनस्य परिहारात्।**

मात्रेति **'एवं कृतम्' इत्यत्र करणम्।**

निष्क **आभरणविशेषः।** विभक्त्यन्वयेति **श्रूयमाणाया विभक्तेरित्यर्थः।**

तथा च 'षष्ठ्या आक्रोशे' (६-३-२१) इति ज्ञापकमुपदेश इष्यत इति प्रमाणान्तरेण 'लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधमि' त्युक्तरूपेण सिद्धौ यौ स्वस्य विशेषणस्योत्कर्षापकर्षौ तदाधायिनाम् अर्थाद्विशेष्यं प्रतीत्यर्थः। आर्थे **वास्तवम्।**

विभक्त्यन्वयव्यतिरेक०—अर्थात् अपने स्वरूप में दिखाई दे रही विभक्ति के साथ।

तथा च षष्ठ्याः—इसके लिए 'षष्ठ्या आक्रोशे'—(निन्दा व्यक्त होती हो तो षष्ठी का लोप समास में नहीं होता')—इस सूत्र का ज्ञापक—माना जाता है।

प्रमाणान्तरे०—'लोको वेदस्तथाध्यात्म्यं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्' इस प्रकार जो पहले कहा गया

है उससे सिद्ध हुए, जो अपने उत्कर्ष तथा अपकर्ष उनका आधान करने वाले अर्थात् विशेष्य में (उनका आधान करने वाले)।

अर्थ—वास्तव।

विमर्श : १. विशेषण विशेष्य में उत्कर्ष की प्रतीति तभी करा पाते हैं जब उनके शब्दों में विभक्ति का उपयोग किया जाय। कारण कि ऐसा करने से विशेषण अपने उत्कर्ष का आधान विशेष्य में कर सकते हैं, यदि यह शंका की जाय कि विशेष्य में उत्कर्ष विशेषणों द्वारा प्रतीत होता है, पर विशेषण में उसकी प्रतीति कैसे होती है तो उसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं विशेषणों में उत्कर्ष की प्रतीति लोक-वेद तथा अध्यात्म-इन प्रमाणों से हो जाती है।

२. यहाँ एक बात ध्यान देने की है मूल में प्रमाणान्तरसिद्ध स्वोत्कर्षाधा० इतना ही पाठ है। उसमें अपकर्ष शब्द का उल्लेख नहीं है। परन्तु व्य० व्या० और मधुसूदनी विवृति दोनों में उत्कर्ष, अपकर्ष दोनों का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः उत्कर्षमात्रपाठ ठीक है। विशेषण उत्कर्ष की ही प्रतीति कराते हैं अपकर्ष की नहीं यदि विशेष्य में अपकर्ष होता भी है तो विशेषण वहाँ उसी अपकर्ष में उत्कर्ष दिखलाते हैं।

३. विशेष्य शब्दतः तो वाक्य में प्रधान होता है, क्योंकि सभी विशेषण उसी में संमिलित होते हैं, परन्तु 'श्वेत कमल' कह देने के बाद 'नील कमल' कहते समय विशेष्य कमल ही प्रधान होगा, कारण कि विशेषण ठीक उसी में संमिलित होता है, इतने पर भी प्रधान होगा नील ही, कमल तो पहले के वाक्य श्वेत कमल (श्वेत कमल) से ही विदित है, अब जो 'नील कमल' वाक्य कहा जा रहा है उसका अभिप्राय कमल का ज्ञानकराना नहीं प्रत्युत उसमें 'नीलिमा' का ज्ञान कराना ही है। अतः तात्पर्यभूत ज्ञान का विषय होने से अर्थात्=नील कमल में नील ही प्रधान माना जाना चाहिए। पूर्व वाक्य से ज्ञात पदार्थ को दूसरे वाक्य में उसका अनुवाद कहा जाता है, जिसका अनुवाद होता है वह प्रधान नहीं होता, वह पूरक होता है। अतः इस दृष्टि से 'नील कमल' का कमल अनुवाद का विषय है अनूद्यमान है वह प्रधान नहीं कहा जा सकता।

एतदाचार्यस्याप्यनुमतमेवेति ज्ञायते, यदयं 'वृषल्याः कामुको' 'दास्याः पुत्र'इत्यादौ कामुकादेराक्रोशादपकर्षप्रतिपत्तये समासेऽपि विभक्तेरलुकमाह। कुतस्तर्हि दासीपुत्र इत्यतः पुत्रस्याक्रोशावगतिः, न ह्यत्र विभक्तिरस्ति। को वा मन्यते। स्वरूपमात्रमेवातः पुत्रस्य प्रतीयते नाक्रोश इति सूत्रारम्भप्रयोजनमेव चिन्त्यम्।

समासे च विभक्तिलोपान्नोत्कर्षापकर्षावगतिरिति न तन्निबन्धना रसादिप्रतीतिरिति तदात्मनः काव्यस्यायं विधेयाविमर्शो दोषतयोक्त इति।

यह आचार्य को भी मान्य है ऐसा लगता है। क्योंकि उन्होंने 'वृषल्याः कामुकः' 'दास्याः पुत्रः' इत्यादि स्थलों में कामुक आदि में आक्रोश [निन्दा] जनित अपकर्ष की प्रतीति के लिये समास में भी विभक्ति का लोप नहीं माना। [शंका]—तो फिर 'दासीपुत्र' [इस प्रकार के समासयुक्त शब्द] से आक्रोश की प्रतीति कैसे होती है ? यहाँ तो विभक्ति है नहीं [उत्तर] मानता ही कौन है ? [कि यहाँ आक्रोश की प्रतीति होती है]। इससे केवल पुत्र के स्वरूपमात्र की प्रतीति होती है, आक्रोश की नहीं। यही बात तो 'सूत्र' [षष्ठ्या आक्रोशे] के निर्माण का प्रयोजन है। विभक्ति

के लोप होने से आक्रोश की प्रतीति नहीं होती [इसी तथ्य को बतलाने के प्रयोजन से यह सूत्र बनाया गया है]

समास में विभक्ति का लोप हो जाता है इसलिए उत्कर्ष-अपकर्ष का ज्ञान नहीं होता। इसीलिए उस [उत्कर्षापकर्ष] आश्रित रस आदि की प्रतीति नहीं होती इसलिए वह [रस] जिसकी आत्मा है ऐसे काव्य के विधेयांश का यह [उत्कर्ष] प्रतीत न होना दोष समझा गया।

अलुकमाह **'षष्ठ्या आक्रोश'** (६-३-२१) इत्यनेन चिन्त्यमिति। एतदवगमाय विचार्य-मित्यर्थः।

अलुक् समास बतलाते हैं—(**षष्ठ्या अक्रोशे**) इससे।

चिन्त्यम्—यह समझने के लिए विचारना चाहिए।

समासे च विभक्तिलोपादिति। **इह हि विभक्तिश्रवणाश्रवणे अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विशेषणगतयोर्वास्तवयोः प्रयोजकतां भजेते। ते तु प्रायेण वाक्यसमासगतत्वेनोपलभ्यमाने समासस्य विभक्त्यश्रवणाद्विधेयाविमर्शतामुत्पादयतः। अत एव समासेऽपि यदि विभक्तिः श्रूयते तदा न विधेयाविमर्शो यथा दास्याः कामुक इत्यादौ। समासस्तु तत्रैकपद्यादिप्रयो-जनत्वेन कृतः। तन्निबन्धनेति उत्कर्षापकर्षनिबन्धना। एवञ्च विभक्त्यश्रवणान्वयव्यतिरेका-नुविधायित्वं विधेयाविमर्शस्य व्याप्त्या प्रदर्शितं भवति।**

वाक्य-प्रयोग में विभक्ति का सद्भाव या अभाव अन्वय-व्यतिरेकसे विशेषणों में विद्यमान वास्तविकताओं का कारण बनते हैं। और वे [विभक्ति के सद्भाव और अभाव] क्रमशः = वाक्य और समास में पाये जाते हैं। समास में विभक्ति का अभाव होता है, अतः विधेयाविमर्श दोष को पैदा करते हैं। इसीलिए समास में भी जब विभक्ति रहती है तो विधेयाविमर्श दोष नहीं होता। जैसे दास्याः कामुकः = इत्यादि में। वहाँ समास सिर्फ दोनों पदों को एक पद मानने के लिए किया जाता है।

तन्निबन्धना—उत्कर्ष-अपकर्ष पर निर्भर। इस प्रकार विधेयाविमर्श का अन्वयव्यतिरेक विभक्ति के सद्भाव और अभाव के साथ दिखलाया गया। उससे विधेयाविमर्श और विभक्ति के अभाव का व्याप्यव्यापकभाव बतलाया गया।

विमर्श : विशेषणों में रहने वाले वास्तवयोः 'दो वास्तवों' के स्थान पर हमें लगता है—'वास्तवावास्तवयोः' पाठ होना चाहिए। इसमें वास्तव का अर्थ साभिप्राय होगा और अवास्तव का निरभिप्राय या निरर्थक। विभक्ति का सद्भाव विशेषण को साभिप्राय सिद्ध करना है और अभाव निरभिप्राय। 'वे' का अर्थ विभक्ति का श्रवण, अश्रवण ही ठीक है। वे विधेयाविमर्श दोष को जन्म देते हैं इस कथन में अरुचि यह आती है कि विभक्ति का सद्भाव तो उलटे विधेया-विमर्श को दूर करता है तब विभक्ति के अभाव के समान उसे भी विधेयाविमर्श जनक कैसे बतलाया गया? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि समूहालम्बन द्वारा पहले दोनों में विधेयाविमर्शजनकता कहकर बाद में स्पष्टीकरण करते हुए समास मात्र में विभक्ति के अभाव को विधेयाविमर्श का कारण बतलाया गया। जैसा कि—आनन्दवर्धन ने भी—'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यस्यात्मा व्यवस्थितः। वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ' में किया है। इतने पर भी 'समूहालम्बन' का कोई अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। इसलिए बात बनती नहीं है। इसके लिए 'समासस्य = विभक्त्यश्रवणात्',—इस अंश को 'उत्पादयतः' के बाद पढ़ना

चाहिए। इतने पर भी समूहालम्बन और उसके लिए पंक्ति का अन्वय आगे करना अनावश्यक है, वस्तुतः यह ग्रन्थांश साफ नहीं है।

एवञ्च सप्तप्रकारं तत्पुरुषं निरूप्याव्ययीभावं निरूपयति अव्ययीभाव इति।

इस प्रकार सात प्रकार के तत्पुरुष का निरूपण कर अब अव्ययीभाव का निरूपण करते हैं—

अव्ययीभावे यथा—

'सा दयितस्य समीपेऽवस्थातुं नापि चलितुमुत्सहते।
ह्रीसाध्वसरसविवशा स्पृशति दशां कामपि नवोढा॥' इति

अत्र दयितस्येति सम्बन्धितया यत् समीपस्य विशेषणं तत् तस्य सुकृतशतलभ्यतालक्षणमुत्कर्षमादधद्रतेरुद्दीपने पर्यवस्यतीति प्राधान्येन विवक्षितत्वान्नोपदयितमितिवत् समीपार्थेनाव्ययेन सह समासेऽवसादं गमितम्।

अव्ययीभाव में जैसे—

'वह प्रिय के पास न तो ठहर पाती है न हट ही पाती। नई ब्याही वह लाज और भय दोनों के मारे एक विचित्र दशा का अनुभव कर रही है।'—यह।

यहाँ—जो 'दयितस्य' यह सम्बन्ध तत्त्व द्वारा—'समीप' का विशेषण है वह दयित में यह उत्कर्ष सिद्ध करता है कि वह (दयित) अनगिनत अच्छे कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है, अतः वह रति का उद्दीपक बन जाता है। इसीलिए वह प्रधान रूप से विवक्षित है। और इसीलिए 'उपदयितम्' इस प्रकार समीपार्थक अव्यय (उप) के साथ समास में रख कर अप्रधान नहीं बनाया गया।

समीपं विशेष्यं प्रति दयितस्येति यद्विशेषणं तत् तस्य समीपस्येति योजना।

'अत्र दयितस्य—तत् तस्य' इस वाक्यांश की पद योजना इस प्रकार करनी चाहिए—'समीपं विशेष्यं प्रति दयितस्येति यद् विशेषणं तत् तस्य समीपस्य'—अर्थात् समीपरूपी विशेष्य के प्रति जो दयितरूपी विशेषण है वह उस समीप का… ।

विमर्श : यहाँ 'तस्य' का अर्थ 'समीपस्य' नहीं होना चाहिए अपि तु दयित ही होना चाहिए।

प्रत्युदाहरणं यथा—

'मध्येव्योम त्रिशङ्कोः शतमखविमुखः स्वर्गसर्गं चकार'। इति

अत्र हि भगवतो विश्वामित्रस्य तपसः प्रभावप्रकर्षप्रतिपादनं प्रस्तुतम्। स च तस्य निरुपकरणस्य सतः शून्ये व्योम्नि स्वर्गसर्गसामर्थ्येनैव प्रतिपादितो भवतीति व्योमैव प्राधान्येन विवक्षितं, न तन्मध्यम्। तेनाविषय एवायं समासः कविना कृत इति मध्ये व्योम्न इति युक्तः पाठः।

प्रत्युदाहरण जैसे—

'सौ यज्ञ करने वाले इंद्र से बिगड़ कर जिसने त्रिशंकु के लिए आकाश के बीच नया स्वर्ग बना दिया'—यह।

यहाँ भगवान् विश्वामित्र के तप के प्रभाव का प्रकर्ष बतलाया जा रहा है। और वह बिना सामग्री के सूने आकाश में स्वर्गसृष्टि से प्रतिपादित होता है इसलिए वही [आकाश ही] प्रधान

रूप से विवक्षित है, न कि उसका मध्यभाग। इसलिए कवि ने [मध्येव्योम इस प्रकार] यह समास वेमौके किया, अतः [यहाँ] 'मध्ये व्योम्नः' ऐसा पाठ ठीक होता।

मध्येव्योमेति 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा (२-१-१८) इत्यव्ययीभावः। स चेति प्रकर्षः।

'मध्येव्योम'—इसमें 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' २।१।१८ इस सूत्र से अव्ययीभाव समास हुआ। स च = प्रकर्ष।

एवमियता द्वन्द्ववर्जं समासवृत्तिर्विचारिता। इदानीमतिदेशमुखेन कृत्तद्धितवृत्तिर्निरूप्यते अनेनैवेत्यादिना।

इस प्रकार यहाँ तक द्वन्द्व समास पर विचार किया गया। अब अतिदेश द्वारा कृत् और तद्धित वृत्तिका विचार—'अनेनैव' इत्यादि ग्रन्थ से आरम्भ करते हैं—

अनेनैव न्यायेन कृत्तद्धितवृत्त्योरपि प्रतिषेधोऽवगन्तव्यः तत्राप्युक्तक्रमेण प्राधान्येतरभावविवक्षाविशेषात्।

इसी प्रकार कृत् और तद्धित वृत्तियों का प्रतिषेध भी समझ लेना चाहिए। क्योंकि उनमें भी उक्त प्रकार से प्रधानता और अप्रधानता की विवक्षा रहती ही है।

विवक्षाविशेषादित्यकारप्रश्लेषः।

विवक्षाविशेषात्—में ('विवक्षा अविशेषात्' इस प्रकार) अकार—की सवर्णदीर्घसंधि है।

तयोरुदाहरणं यथा—

'यः सर्वं कषति खलो, बिभर्त्ति यः कुक्षिमेव सत्यतिथौ।
यश्च विधुं तुदति सदा, शीर्षच्छेदं त्रयोऽपि तेऽर्हन्ति॥' इति।

अत्र सर्वादीनां कषणादिषु कर्मभावेन विशेषणतयोपात्तानामुत्कर्षाधायितया प्राधान्येन विवक्षितत्वान्न तैः सह वृत्तौ न्यग्भावो विहितः। सर्वार्थस्य भुवनाभयदानदीक्षाबद्धकक्ष्याणां बोधिसत्त्वानामपि चरितस्य तदन्तःपातित्वात्। खलाः खलु दम्भादिदोषारोपेण तदपि तेषां कषन्त्येव। कायोपलक्षणस्य कुक्षेः कायस्य सर्वाशुचिनिधानत्वाद्विनश्वरत्वाच्च। विधोश्च सकलजगदानन्दहेतुत्वात्, कषणादिकर्तृष्वकार्यकारितयापराधातिरेकलक्षणमुत्कर्षमादधतां प्राधान्येन विवक्षा शीर्षच्छेदस्य च शारीरेषु निग्रहेषु तदतिरिक्तस्यान्यस्य निग्रहस्याऽसम्भवात्।

उन दोनों—(कृत् और तद्धित) के उदाहरण जैसे—'जो खल सब को दुःख देता है, जो अतिथि उपस्थित रहने पर भी अपना ही पेट भरता है, और जो चंद्रमा को ग्रसता है—वे तीनों शिरश्छेद के पात्र हैं।'

यहाँ 'सर्व' अदि 'कषण' आदि के प्रति कर्मभाव से ग्रहण किए गए हैं। वे उनमें उत्कर्ष का आधान करते हैं। इसलिए प्रधान रूप से विवक्षित हैं। इसलिए उनके साथ ('सर्वंकषः', 'कुक्षिम्भरिः', और 'विधुन्तुदः') इस प्रकार कृत् वृत्ति करके उन्हें गौण नहीं बनाया।

'सर्व' शब्द के अर्थ के अन्तर्गत संपूर्ण संसार को अभय दान की दीक्षा में जो कटिबद्ध रहते हैं उन बोधिसत्त्वों के चरितों का भी संग्रह हो जाता है। जो खल होते हैं, वे दम्भ आदि दोष का आरोप कर उनके भी चरित को लाञ्छित करते हैं।

यहाँ कुक्षि शरीर का उपलक्षण (प्रतिनिधि) है और वह सर्वथा अशुचि है और विनश्वर है। विधु सकल जगत् को आनन्द देता है।

इस लिए ये सब कपण आदि के कर्त्ताओं में अकार्य करने के कारण जो अपराध सिद्ध होता है—उसमें उत्कर्ष—लाते हैं, अतः प्रधान रूप से विवक्षित है। शीर्षच्छेद भी उनमें उत्कर्ष का आधान करता है, कारण कि शारीर दण्डों में उससे बड़ा दण्ड संभव नहीं।

सर्वं कषनीति 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' (३-२-४२) इति खचोऽयं विषयः। बिभर्त्ति यः इति 'कुक्षिम्भरिश्चे'ति निपातितस्य कुक्षिम्भरिशब्दस्यायं गोचरः। विधुन्तुद इति 'विध्वरुषोस्तुद' (३-२-३५) इति खश्प्रत्ययस्थानम्। शीर्षच्छेदमिति 'शीर्षच्छेदाद्यच्च' (५-२-६५) इति तद्धितस्य यत्प्रत्ययस्येदं पदम्। तैरिति कषणादिभिः। सर्वार्थस्येति, कायोपलक्षणस्य कुक्षेरिति, विधोश्चेति उत्कर्षमादधतां प्राधान्येन विवक्षेत्यत्र सामस्त्येन योजनीयम्। शीर्षच्छेदस्य चेति उत्कर्षमादधतः प्राधान्येन विवक्षेति सम्बन्धनीयम्। पूर्वेभ्योऽस्य पृथङ्निर्देशस्तद्धितवृत्तिविषयत्वेन भिन्नजातीयत्वात्। अत्र च सर्वार्थादीनां चतुर्णामुत्कर्षाधाने समनन्तरनिर्दिष्टभुवनाभयेत्यादिचतुष्टयं क्रमेण हेतुत्वेन द्रष्टव्यम्। तदपीति चरितम्। कषणादिकर्तृष्विति खलौदरिकराहुष्वित्यर्थः।

सर्वं कषतीति = 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' (३।२।४२) इस सूत्र से होनेवाला खच् प्रत्यय यहाँ हो सकता है।

बिभर्त्ति यः—में 'कुक्षिम्भरिश्च' द्वारा निपातनात् सिद्ध किए गए 'कुक्षिम्भरि' रूप का यह विषय है।

विधुन्तुदः—यह 'विध्वरुषोस्तुदः' इससे हुए खश् प्रत्यय का विषय है।

शीर्षच्छेद्यम् = यह 'शीर्षच्छेदाद्यच्च' (५।२।६५) इस सूत्र से हुए तद्धित के यत् प्रत्यय का विषय है।

तैः = कषणादि द्वारा।

सर्वार्थ—सर्व शब्द का अर्थ कायोपलक्षण कुक्षि और विधु इनका एकवचन वाले शब्दों का 'उत्कर्षम् आदधताम्—इस बहुवचन वाले शब्द में समूहरूप से अन्वय करके—'उनकी प्रधान रूप से विवक्षा है'—इस बचे वाक्य में अन्वय करना चाहिए।

शीर्षच्छेदस्य—उसका सम्बन्ध भी उत्कर्षाधान करते हुए प्रधान रूप से विवक्षित है—इस प्रकार संबन्ध करना चाहिए।

सर्व, कुक्षि और विधु इन तीनों पूर्ववर्त्तियों से शीर्षच्छेद का निरूपण अलग किया गया। कारण कि वह शब्द तद्धितवृत्ति का है (पूर्ववर्ती तीनों कृत् वृत्ति के)। इसलिए उसकी वृत्ति में विजातीयता है।

यहाँ सर्वार्थादि जो चार शब्द हैं वे उनके द्वारा उत्कर्ष का आधान करने में—उन्हीं के तुरन्त बाद बतलाए गए—'भुवनाभयदानदीक्षाबद्धकक्ष्या०, सर्वाशुचिनिधानत्वात् विनश्वरत्वात्, जगदानन्दहेतुत्वात्, ये—चार—हेतु समझे जाने चाहिए।

तदपि—चरितम्।

कषणादिकर्तृषु—अर्थात् खल—पेटभरू, राहु = इनमें।

विमर्श : सर्वंकषः, कुक्षिम्भरिः, और विधुन्तुदः कहने से जो कृत् प्रत्यय द्वारा समास सा हो जाता—उससे सर्व, कुक्षि और विधु—दब जाते, फलतः खल, पेटू और राहु—में अपराध की मात्रा बड़ी साबित न होती। उनके अलग रहने से उनकी स्वगत विशेषताओं का बोध होता है

और उनके सहारे उनपर किए जाने वाले अत्याचारों द्वारा खल आदि के अपराध में उत्कर्ष आता है।

'सर्व' को प्रधान रखने से उसके भीतर जगद्धितैषी लोग भी चले आते हैं। उन्हें सताने से खल का अपराध अक्षम्य हो जाता है। अतिथि-सत्कार से उत्पन्न धर्म जैसे पवित्र तत्त्व की उपेक्षा कर अशुचि और विनश्वर शरीर के पोषण से—उसके पोषक व्यक्ति का अपराध अक्षम्य साबित होता है और इसी प्रकार विधु—चंद्रमा—जगत् को सुख देता है, उसे पीड़ा पहुँचाने से राहु का अपराध अक्षम्य है। इसलिए उन्हें—सबसे बड़ा दण्ड—शिरश्छेद देना उपयुक्त सिद्ध होता है। शिरश्छेद दण्ड से भी उनके अपराधों की घोरता प्रतीत होती है।

यथा 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति 'उचितकारित्वं प्रति किमुच्यते रामभद्रस्य दशरथस्य हि प्रसूतिरसावि' ति च।

और जैसे—राम हूँ, सब सह रहा हूँ, राम की उचित कार्य करने की मनोवृत्ति के लिए क्या कहना है—वे दशरथ के न पुत्र हैं?

रामोऽस्मि सर्वं सह इति। 'पूस्सर्वयोर्दारिसहोः (३-२-४१) इति खचोऽयं विषयः। दशरथस्य हि प्रसूतिरसाविति 'तस्याऽपत्यमि'ति इञ् प्रत्यये तद्धिते कृते दाशरथिशब्दस्यायं गोचरः।

रामोऽस्मि सर्वं सहे = —यहाँ 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' सूत्र से खच् प्रत्यय हो कर—सर्वंसहः—रूप बनाया जा सकता था।

दशरथस्य प्रसूतिः = यहाँ 'तस्यापत्यम्' द्वारा तद्धित में इञ् प्रत्यय होने से दाशरथि शब्द बनाया जा सकता था।

प्रत्ययोत्पत्तौ पुनर्न्यग्भूतसर्वादिकर्मभावः कषणादिषु कर्त्रंश एवोन्मग्नतया प्रकाशते न कर्मांशः तत्रैव प्रत्ययोत्पत्तेः।

वाक्ये तु यद्यपि शब्दवृत्तौ क्रियायाः प्रधानभावेन प्रतीतिस्तथापि तत्रान्यो विवक्षाकृतः साधनानामपि स प्रतीयत एव।

न चैकस्मिन्नेव वाक्ये द्वयोः साध्यसाधनयोर्युगपत्प्रधानभावोऽनुपपन्न इति शक्यं वक्तुं शब्दार्थसामर्थ्यविवक्षाकृतानां त्रयाणामप्येकस्यैव विवक्षाकृतस्य प्राधान्यस्य बलीयस्तया तयोः समशीर्षिकाभावात्।

प्रत्यय लग जाने पर तो कषण आदि में सर्व आदि का कर्मांश दबा कर स्वयं कर्तृ-अंश ही प्रधान रूप से दिखाई देने लगता है; सर्व आदि का कर्मांश इसलिए प्रधान नहीं हो पाता, क्योंकि उसी [कर्त्तृ] अर्थ में प्रत्यय का विधान होता। वाक्य में यद्यपि शाब्दबोध में क्रिया की ही प्रतीति प्रधान रूप से होती है, तब भी कारकों में भी प्रधानता प्रतीत होती ही है, उसका एक दूसरा ही हेतु है—[वह है] विवक्षा। ऐसा कहना ठीक नहीं कि—'एक ही वाक्य में साध्य (क्रिया) और साधन (कारक) दोनों का एक साथ प्राधान्य संभव नहीं', क्योंकि प्राधान्य तीन प्रकार से होते हैं—शब्दसामर्थ्यकृत, अर्थसामर्थ्यकृत और विवक्षाकृत। तीनों में विवक्षाकृत प्राधान्य बलवत्तर होता है। अन्य प्राधान्य उसके बराबर होते नहीं।

वाक्ये तु यद्यपीति। तदुक्तम्—'क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते' इति। अन्य इति वक्ष्यमाणन्यायेन शब्दकृतसामर्थ्योक्तिः। स इति प्रधानभावेनेत्यत्र निर्दिष्टः प्रधानभावः।

शब्दार्थसामर्थ्यविवक्षाकृतानां त्रयाणामपीति शब्दकृतं शब्दसंस्कार-महिम्ना निष्पन्नं यथा कर्मधारयादुत्तरपदस्य। अर्थसामर्थ्यकृतं वस्तुवृत्तनिष्पादितं यथा 'गृहं सम्मार्ष्टी'त्यादौ गृहादेः' तस्य संस्कार्यत्वेन वस्तुतः प्राधान्यम्। विवक्षाकृतं यथा 'रामस्य पाणिरसी'त्यादौ रामादेः। तत्र त्रिषु प्राधान्येषु विवक्षाकृतमेव प्राधान्यं प्रधानम्। तत्कृतत्वात् काव्यार्थचमत्कारस्य। अत एवोक्तं तयोः समशीर्षिकाभावादिति। तयोरिति शब्दार्थसामर्थ्यकृतयोः विवक्षाकृतेन सहेत्यर्थात्।

ननु पूर्वं शब्दस्यैव प्राधान्यस्य वैवक्षिकत्वमुक्तम्, अन्यस्य तु वास्तवत्वम्। तत् कथमिह शाब्दवैवक्षिकयोरन्यत्वमुच्यते। अन्यत्वे वा प्राधान्यत्रयप्रतिपादनेऽर्थसामर्थ्यकृतविवक्षाकृतयोः को विशेषः। शब्दकृताद्धि प्राधान्यादन्यदर्थसामर्थ्यमुच्यते। तेन विवक्षाकृतस्य उक्तत्वात्। तत् किमर्थसामर्थ्यकृतमवशिष्यत इति। नैष दोषः। पूर्वं हि शाब्दिकैकगोचरस्य शाब्दिकविवक्षाकृतत्वाद् वैवक्षिकत्वम्। अन्यस्य तु कविगोचरस्य वास्तवत्वं तदेवार्थत्वम्। इह पुनः सहृदयैकगोचरस्य कविविवक्षावशाद्वैवक्षिकत्वमुच्यते। शाब्दिकैकविषयस्य शाब्दत्वमित्यपेक्षाभेदात् पूर्वस्तावन्न विरोधः।

यदपि प्राधान्यत्रयप्रतिपादनेऽर्थसामर्थ्यविवक्षाकृतयोर्भेद उक्तस्तत्रायं भावः—इह शाब्दं वास्तवं चेति द्विविधमेव प्राधान्यम्। वास्तवत्वस्य च विवक्षानपेक्षत्वेन वस्तुसामर्थ्यप्रयोजकाधीनत्वादर्थसामर्थ्यकृतत्वमुक्तम्। सत्यपि शब्दकृतादन्यत्व उत्कर्षापकर्षप्रतिपादनप्रयुक्तविविक्षाकृतत्वे वास्तवमेव विवक्षाकृतं प्रतिपादितम्। तथा च 'गृहं सम्मार्ष्टी'ति वैदिकं विवक्षानपेक्षमर्थसामर्थ्यकृतस्योदाहरणं दत्तमिति विषयविभागव्यवस्थितेर्न द्वितीयोऽपि विरोध इति समञ्जसं सर्वम्।

वाक्ये तु यद्यपीति = जैसे कहा है—जिसमें क्रिया प्रधान हो जो अप्रधान कारकों से युक्त हो और सभी शब्दों का अर्थ परस्पर समन्वित हो वह वाक्य कहलाता है।

अन्य इति—आगे कहे जाने वाले ढंग से अन्य का अर्थ है—शब्दकृत सामर्थ्य।

स—वह अर्थात् 'प्रधानभावेन' इसमें बतलाया गया प्रधानभाव।

शब्दार्थसंस्कारकृत—शब्दकृत प्राधान्य अर्थात् शब्द-संस्कार से उत्पन्न प्रधानता जैसे कर्मधारय से उत्तरपद की। अर्थसामर्थ्यकृत प्राधान्य अर्थात् वस्तु की स्थितिविशेष से निष्पादित प्राधान्य—जैसे—'घर में झाड़ू देता है' इत्यादि में घर आदि का। उस (घर आदि) की प्रधानता संस्कार्य होने से वस्तुजनित है। विवक्षाकृत प्राधान्य—जैसे—'रामस्य पाणिरसि' इत्यादि में राम आदि का। इन तीनों प्राधान्यों में विवक्षाकृत प्राधान्य ही प्रधान प्राधान्य है। कारण कि काव्यार्थ में चमत्कार उसी से आता है। इसी से कहा कि अन्य दो (प्राधान्य) इसके बराबर नहीं होते। अन्य दो का अर्थ है = शब्दसामर्थ्यकृत और अर्थसामर्थ्यकृत। इन दोनों का अप्राधान्य जिससे है उस तृतीय विवक्षाकृत प्राधान्य का ज्ञान अपने आप हो जाता है।

शंका होती है कि—'पहले तो [१७३ तथा २३० पृष्ठ पर] शब्दसामर्थ्यकृत प्रधानता को ही विवक्षाकृत प्रधानता बतलाया है अर्थकृत प्राधान्य को वास्तविक (अर्थात् इच्छा न होने पर भी होने वाला) तो यहाँ शब्दकृत और विवक्षाकृत प्राधान्यों में भेद कैसे बतलाया जा रहा है। भेद होने पर भी अर्थकृत प्राधान्य और विवक्षाकृत प्राधान्य में अन्तर क्या?

शब्दकृत प्राधान्य से भिन्न प्राधान्य एकमात्र अर्थ का प्राधान्य होता है। उसीमें विवक्षाकृत प्राधान्य अन्तर्भूत हो जाता है। तो अर्थसामर्थ्यकृत प्राधान्य (विवक्षाकृत प्राधान्य से भिन्न) रह ही क्या जाता है :

(उत्तर)—यह दोष नहीं बनता। कारण कि पहले जो विवक्षाकृत प्राधान्य बतलाया गया है वहाँ की विवक्षा में और यहाँ की विवक्षा में भेद है। वहाँ की विवक्षा व्याकरण के विद्वान् की विवक्षा है इसलिए केवल वैयाकरण तक वह सीमित है। यहाँ की विवक्षा कवि की विवक्षा है। वह सहृदयजनों से संबंधित है। जहाँ शाब्दिक, वैयाकरण की विवक्षा होती है वहाँ उससे भिन्न कवि-विवक्षाकृत प्राधान्य ही वास्तविक प्राधान्य है। वही अर्थतः प्राप्त प्राधान्य है। इसलिए एकमात्र शाब्दिक की विवक्षा का विषय होने से यहाँ प्राधान्य शाब्द माना गया है। इस प्रकार विवक्षागत अपेक्षा के भेद से प्रथम जो विरोधरूपी दोष है, वह नहीं बनता।

तीन प्राधान्यों में से अर्थकृत प्राधान्य और विवक्षाकृत प्राधान्य—में जो भेद बतलाया गया है—उसमें प्रस्तुतः रहस्य यह है कि—वस्तुतः वाङ्मय में प्राधान्य दो प्रकार का ही है—शाब्द और वास्तविक। इनमें जो वास्तविक है उसे विवक्षा की अपेक्षा नहीं होती वह वस्तु-सामर्थ्य से आता है अतः उसके अधीन है। इसलिए वह अर्थसामर्थ्यकृत कहा गया है। इनमें वास्तविक भी दो प्रकार का होता है। विवक्षानिरपेक्ष और विवक्षासापेक्ष। विवक्षा का अर्थ है—उत्कर्ष-अपकर्ष के आधान की इच्छा। 'गृहं संमार्ष्टि' जो यह उदाहरण दिया गया है, वह उत्कर्ष-अपकर्ष की विवक्षा से शून्य शुद्ध वास्तविक अर्थकृत प्राधान्य का उदारण है, कारण कि वह वैदिक प्रयोग है। इस प्रकार वास्तविक प्राधान्य में भी विषय-विभाग में भी व्यवस्था बन जाती है, अतः दूसरा दोष भी कोई महत्त्व नहीं रखता।

एवं कृत्तद्धितवृत्तिविषये आतिदेशिकं गुणप्रधानभावं विचार्य समासगतत्वेनौपदेशिकं प्रकृतमनुसन्धत्ते तदिदमत्रेति।

इस प्रकार तद्धित वृत्तियों में प्रसङ्गागत गुण-प्रधानभाव पर विचार कर प्रकृत समासकृत की ही ओर ध्यान दिलाते हैं—'तदिदमत्र' इत्यादि द्वारा—

तदिदमत्र तात्पर्यं यत् कथञ्चिदपि प्रधानतया विवक्षितं न तन्नियमेनेतरेण सह समासमर्हतीति। इतरत्तु विशेष्यमन्यद् वाऽस्तु न तत्र नियमः। तेन द्वन्द्वपदानां सरूपाणां च पदानामर्थस्यान्योन्यं विशेषणविशेष्यभावाभावेऽपि यदा प्रत्येकं क्रियाभिसम्बन्धोपगमलक्षणं प्राधान्यं विवक्ष्यते तदा तेषामपि समास एकशेषश्च नेष्यत एव। यथा—

'किमञ्जनेनायतलोचनाया हारेण किं पीनपयोधरायाः।
पर्याप्तमेतन्ननु मण्डनं ते रूपं च कान्तिश्च विदग्धता च॥'

इत्यत्र रूपादीनां प्रत्येकं मण्डनक्रियाभिसम्बन्धकृतं प्राधान्यं रत्युद्दीपनपर्यवसायि विवक्षितमिति न तत् तेषां समासेऽवसादितम्। यथा च—

'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः॥' इति।

तो इस प्रसंग का तात्पर्य यह निकला कि जो भी कोई किसी भी तरह प्रधानरूप से विवक्षित हो वह दूसरे के साथ समास में नहीं डाला जा सकता। और यह भी कोई नियत नहीं है कि दूसरा विशेष्य ही हो। वह और भी कुछ हो सकता है। इस नियम के अनुसार द्वंद्व पद और सरूप पदों के अर्थ में विशेषण-विशेष्यभाव न होने पर भी जब क्रिया के साथ संबन्ध की विवक्षा-रूप प्रधानता विवक्षित हो तो उनका भी समास और एकशेष नहीं माना जाता। जैसे—

तुम्हारी आँखों में विशालता है अतः अब अञ्जन व्यर्थ है (इसी भाँति) तुम्हारे स्तनों में स्थूलता है अतः हार अनावश्यक है। अन्य आभूषण भी अपेक्षित नहीं क्योंकि सुडौल अंग (रूप) चमक और विदग्धता तुम्हारे पास हैं ही।

यहाँ रूप आदि प्रत्येक का एक मण्डन-क्रिया से संबन्ध दिखलाया गया है अतः उससे उनकी प्रधानता सिद्ध होती है। वह रति के उद्दीपन के लिए यहाँ विवक्षित भी है। इसलिए उन रूप आदि की वह प्रधानता उन्हें समास में डालकर नष्ट नहीं की। और जैसे—

वह—उलटा कर तिरछे किए गए वृन्त पर लगे शतदल कमल के समान अपना चेहरा गर्दन कुछ टेढ़ाकर के मेरे ओर किए जा रही थी। उस घनी बरौनी वाली पलकों की आँखों से युक्त सुन्दरी ने अमृत और विष से बुझा अपना कटाक्ष मेरे हृदय में बुरी तरह गड़ा दिया है।

सरूपाणामिति द्वन्द्वसमाससमानन्यायत्वादेकशेषवृत्तिरपि स्वीकृता। विशेषणविशेष्य-भावाभावेऽपीति समासोट्टङ्कनिकायां प्रायग्रहणप्रयोजनं प्रकाशयति।

रूपं च कान्तिश्च विदग्धता चेति, अमृतेन विषेणेति च अभिहितानभिहितकर्तृविभागेनोदाहरणद्वयम्। रूपमित्यादौ हि गम्यमानभवनक्रियापेक्षं रूपादीनां कर्तृत्वम्। एतेन तत्पुरुषस्य कर्त्रुदाहरणप्रस्तावे कर्त्रादीनां कारकाणाम् अनेकेषामिति यदुक्तं, तत् समाहितम्।

सरूपाणामिति—द्वन्द्व समास के समान होने से एकशेष वृत्ति भी अपना ली गई है।

विशेषणविशेष्यभावाभावेऽपि—इससे समास वाले इस प्रकरण के आरम्भ में जो प्रायः शब्द कहा है उसका प्रयोजन स्पष्ट किया।

रूपं च कान्तिश्च—एक यह और—अमृतेन विषेण—एक यह=इस प्रकार जो दो उदाहरण दिए उनमें एक [प्रथम] में कर्त्ता का उल्लेख नहीं है, दूसरे में है। रूपम्—इत्यादि में ऊपर से आने वाली 'भू' भवन (होना) क्रिया को लेकर रूप आदि कर्त्ता हैं। इससे तत्पुरुष के कर्त्ता के उदाहरण-के प्रसंग में 'कर्त्ता-आदि अनेक कारकों का' इत्यादि जो कहा है उसका समाधान किया।

एकशेषे यथा—

'प्राप्तावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः।
कश्च कश्च ?
अर्जुनश्च स कर्णारिः स च क्रूरो वृकोदरः॥'

प्रत्युदाहरणमेतदेव कृतैकशेषमवगन्तव्यम्।

एक शेष में जैसे—
'तुम्हें' इधर-उधर पूछते हुए एक ही रथ पर बैठे वे दोनों आए।
[प्रश्न] कौन कौन ?
[उत्तर] कर्ण का शत्रु वह अर्जुन, और वह क्रूर भीम।
यही उदाहरण एकशेष कर देने पर प्रत्युदाहरण समझा जा सकता है।

कश्च कश्चेति। अत्रैकशेषो न कृतः। कृतैकशेषमिति काविति प्रयोगे।

अधुना प्रधानेतरभावापत्तिं दर्शयति यत्र पुनरिति।

कश्च कश्च = यहाँ एकशेष नहीं किया।

वृत्तैकशेषम्—अर्थात् 'कौ' इस तरह प्रयोग करने पर।

अब प्रधानेतरभाव में छूट दिखलाते हैं—यत्र पुनः इत्यादि द्वारा—

यत्र पुनरेष प्रधानेतरभावो न विवक्षितः स्वरूपमात्रप्रतिपत्तिफलश्च विशेषणविशेष्यभावस्तत्र समासासमासयोः कामचारः। यथा—

'स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्॥

इत्यत्र तु भवत इति रिपुस्त्रीणामिति च रिपुस्त्रीणां स्तनयुगस्य च सम्बन्धित्वेन यद्विशेषणं न ततस्तेषामुत्कर्षयोगः कश्चिद्विवक्षितः, अपि तु तत्सम्बन्धप्रतीतिमात्रम्। तच्च व्रतमिव भवदरिवधूस्तनद्वितयमित्यतः समासादपि तुल्यमेव। यथा चात्रैव रिपुस्त्रीणामिति रिपुसम्बन्धमात्रप्रतीतिः स्त्रीणामिति।

जहाँ यह प्रधानेतरभाव विवक्षित नहीं होता विशेषण-विशेष्यभाव केवल स्वरूप मात्र की प्रतीति कराता है, वहाँ समास करना न करना अपनी इच्छा पर है। जैसे—

'आपकी शत्रु-स्त्रियों के दोनों स्तन व्रत सा कर रहे हैं। वे आँसू से नहाए हुए हैं। हृदय शोक की अग्नि के अत्यधिक समीप हैं 'और विमुक्ताहार (विमुक्त = त्यक्त आहार वाले, मुक्ताहार विरहित) हैं।'

यहाँ जो रिपुस्त्री के प्रति भवतः और स्तनयुग के प्रति रिपुस्त्री—संवन्ध के विशेषण रूप से—उपस्थित किए गए हैं उससे उनका कोई उत्कर्ष वतलाना अभीष्ट नहीं है। केवल उनके सम्वन्ध भर की उससे प्रतीति होती है। वह सम्वन्ध-प्रतीति 'व्रतमिव भवदरिवधूस्तनद्वयम्' इस समास से भी उसी स्तर की होती है। जैसा कि उसी पद्य में—रिपुस्त्रीणाम् में स्त्री के साथ रिपु का संवन्ध मात्र अभीष्ट है और समास भी प्रतीत हो रहा है।

भवत इति रिपुस्त्रीणां सम्बन्धित्वेन, रिपुस्त्रीणामिति च स्तनयुगस्य सम्बन्धित्वेनेति योजना। रिपुस्त्रीणामिति समासस्योदाहरणम्। न चात्र सम्बन्धमात्रादतिरिक्तं प्रतीयते।

यहाँ भवतः यह 'रिपुस्त्रीणाम्' = के सम्वन्धी रूप से और 'रिपुस्त्रीणाम्'—यह—स्तनयुग के संवन्धी रूप से—(विवक्षित) है।

रिपुस्त्रीणाम्—यह समास का उदाहरण है। यहाँ समास से सम्बन्ध के अतिरिक्त कुछ भी प्रतीत नहीं होता।

विनोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वदन्तेऽर्था न जातुचित्।
तदर्थमेव कवयोऽलङ्कारान् पर्युपासते॥ १४॥
तौ विधेयानुवाद्यत्वविवक्षैकनिबन्धनौ।
सा समासेऽस्तमायातीत्यसकृत् प्रतिपादितम्॥ १५॥

अत एव च वैदर्भीरीतिरेकैव शस्यते।
यतः समाससंस्पर्शस्तत्र नैवोपपद्यते ॥ १६ ॥
सम्बन्धमात्रमर्थानां समासो ह्यवबोधयेत्।
नोत्कर्षमपकर्षं वा—

यथा—

'ऊर्ध्वाक्षितापगलितेन्दुसुधालवाक्तजीवत्कपालचयमुक्तमहाट्टहास-
सन्त्रस्तमुग्धगिरिजावलिताङ्गसङ्गहृष्टं वपुर्जयति हारि पिनाकपाणेः ॥' इति।

उत्कर्ष और अपकर्ष के विना पदार्थ कदापि चमत्कारी नहीं लगते। उस चमत्कार के लिए ही कविलोग अलंकारों का प्रयोग करते हैं। वे (उत्कर्ष-अपकर्ष) विधेय और अनुवाद्य रूप से की गई विवक्षा पर निर्भर होते हैं। और वह (विवक्षा) समास में डूब जाती है यह कई बार बतलाया जा चुका। इसीलिए एक वैदर्भी रीति ही अच्छी मानी जाती है। क्योंकि उसमें समास का स्पर्श भी नहीं रहता। समास तो अर्थों का संबन्ध भर बतला सकता है। उत्कर्ष-अपकर्ष को नहीं। जैसे—

'शंकर का ऊपरी आँख (के) ताप (से) गले चंद्र (के) अमृतकण (से) सिंचित (होने से) जीवित कपालवृन्द (के द्वारा किये गये) अट्टहास (से) डरी हुई भोली पार्वती (द्वारा) सिकोड़े गये अङ्गों (के) सङ्ग (से) प्रसन्न शरीर सर्वोत्कृष्ट है। यहाँ

तदर्थमेवेति उपमोत्प्रेक्षादयोऽप्यलङ्काराः उपमेयोत्प्रेक्ष्यादीनामुत्कर्षमपकर्षं वा प्रतिपादयितुं विधीयन्ते। अन्यथा तद्विरचनं निष्प्रयोजनं स्यात्। तौ विधेयेति। उत्कर्षापकर्षौ। सा समास इति विवक्षा परामृश्यते। वैदर्भीति यद्यपि वामनमते असमासा पाञ्चाली, मध्यसमासा तु वैदर्भी, तथापि मतान्तरे विपर्ययः स्थित इति तदभिप्रायेणेहासमासा वैदर्भी कथिता।

तदर्थमेवेति—उपमा उत्प्रेक्षा आदि अलंकार उपमेय और उत्प्रेक्ष्य (संभावना विषय) आदि के उत्कर्ष या अपकर्ष के प्रतिपादन के लिए रचे जाते हैं, नहीं तो उनकी योजना निरर्थक हो जाय। तौ विधेयेति—उत्कर्ष और अपकर्ष। सा समास—यहाँ ('सा' इस सर्वनाम द्वारा) विवक्षा का परामर्श किया जा रहा है। वैदर्भीति—यद्यपि (रीतिसंप्रादयप्रवर्त्तक) वामन के अनुसार समास का अभाव पांचाली में होता है और वैदर्भी में छोटे-छोटे समास, तथापि कुछ मतों में इससे उलटा भी है। यहाँ उन्हीं (मतों) के अनुसार वैदर्भी को समासरहित कहा गया है।

विमर्श: वामन ने वैदर्भी रीति के दो भेद माने हैं—१. शुद्ध वैदर्भी और २. सामान्य वैदर्भी। इनमें 'समास का अभाव होने पर वैदर्भी को शुद्ध वैदर्भी कहा है तथा गौडी और पाञ्चाली की छटा वाली वैदर्भी को सामान्य वैदर्भी। मूलकार का इंगित शुद्ध वैदर्भी की ओर है, अतः मतान्तरों का आधार लेना अनावश्यक है [द्र० का० सू० वृ० १।२।११, १९] सामान्य शब्द हमने जोड़ा है।

कारिकामध्य एव सम्बन्धमात्रप्रतीतौ समासस्योदाहरणम्। ऊर्ध्वाक्षितापेति। अत्र चतुर्थपादैकदेशयुक्तस्य पादत्रयस्य समासे सम्बन्धमात्रं प्रतीयते नोत्कर्षापकर्षौ।

कारिका के बीच ही सम्बन्ध मात्र की प्रतीति कराने वाले समास का उदाहरण दिया—ऊर्ध्वाक्षितापेति। यहाँ तीन चरण चौथे चरण के प्रथम पाद तक समासयुक्त है। इससे केवल सम्बन्ध भर की प्रतीति होती है। उत्कर्ष-अपकर्ष की नहीं।

वाक्यात्तूभयमप्यदः ॥ १७ ॥

यथा—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥' इति ।

'वाक्य से तो ये दोनों ही प्रतीत हो जाते हैं। यथा—

पहला अपमान तो मेरा यही है कि मेरे भी शत्रु हैं, तिस पर भी यह तपस्वी (मेरा शत्रु है) और वह (तपस्वी) भी यहीं (मेरे क्षेत्र में) राक्षसकुल को मारता जा रहा है। आश्चर्य है कि इतने पर भी रावण जीता बचा है। इन्द्र के विजेता मेघनाद को धिक्कार है। जगाये गये कुम्भकर्ण से भी क्या और स्वर्ग रूपी गाँवड़े को लूटने से वृथा मोटी मेरी इन भुजाओं से भी क्या ?

वाक्यात्तूभयमिति। उभयं सम्बन्धरूपमुत्कर्षापकर्षरूपं च वस्त्वित्यर्थः।

अत्रोदाहरणं मे यदरय इति। समासे हि मदरय इति स्यात्। न चास्मादतिशयः प्रतीतः। ननु पदादुत्तरपदयोर्युष्मदस्मदोः 'तेमयावेकवचनस्य' (८–१–२२) इति तेमयावादेशावुक्तौ। न चात्र पदात् परोऽस्मच्छब्दः। एवशब्दः पदमिति चेन्न। तत्प्रयोगे 'नच-वाहाहैवयुक्ते' (८–१–२४) इति निषेधाद् भिन्नवाक्यगतत्वाच्च। समानवाक्ये हि निपाताद् युष्मदस्मदादेशाः। एतेन 'नैव 'मे' इति व्यतिरिक्तं पदान्तरमिति' प्रत्युक्तम्। उत्तरपद एव मे इति शब्दादेशः।

अत्र केचिदाहुः वाच्ये तावद्रसप्रतीतिर्निर्व्यूढा। तामनुपमर्दयन् काव्ये यद्यसाधुशब्दोऽपि स्यान्न तदा स्थूलः कश्चिद् दोषः। काव्ये हि रसप्रतीतिः प्रधानम्। तदनिर्वाहे काव्यमेव न स्यात्। अपशब्दप्रयोगे तु लक्षणास्मरणमात्रम्। तदुक्तम्—

'नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः॥' इति।

अन्ये त्वाहुः। भवतु रसापेक्षयापशब्दस्य स्वल्पदोषत्वं तथापि महाकवीनामपशब्दप्रयोगो महान् दोषः। तेनात्र 'ते-मेशब्दौ निपातेष्वि'ति सदृशो विभक्तिप्रतिरूपको मेशब्दो निपातः, यथा—अहन्ता अहंयुरित्यादौ 'अहं' शब्दः। ततश्च नात्र कश्चिद् विशेष इति।

वाक्यात्तूभयमप्यदः—उभय अर्थात् सम्बन्ध और उत्कर्षापकर्ष रूपी पदार्थ। इसमें उदाहरण है 'मे यदरयः'। समास में तो 'मदरयः' इस प्रकार का रूप होता और इससे विशेषता की प्रतीति नहीं होती। (शंका) युष्मद् और अस्मद् शब्द जब किसी पद से परे होते हैं तभी 'तेमयावेकवचनस्य' सूत्र के अनुसार उनके स्थान पर 'ते' और 'मे' आदेश होते हैं। यहाँ—'००मेव मे यद००' में अस्मद् शब्द पद से परे नहीं है। 'एव' शब्द पद है—ऐसा यदि कहा जाय तो भी बात नहीं बनती, कारण कि एक तो 'नचवाहाहैवयुक्ते' सूत्र द्वारा 'च वा हा ह एव' इन पाँच के योग में 'ते मे' आदेश की मनाही की गई है और दूसरे 'एव' दूसरे वाक्य में है, 'मे' से नया वाक्य शुरू होता है। वाक्य यदि एक ही हो तो उसमें पद से परे युष्मद् और अस्मद् को 'ते मे' आदेश निपातन से होते हैं। इसीलिये यह भी बात नहीं उठती कि 'मे' यह एक स्वतन्त्र पद है। 'मे' शब्द एक आदेश द्वारा बना शब्द है, वह आदेश सदा उत्तरपद में होता है।

इस विषय में कुछ लोगों का कहना है कि [इस पद्य के] वाच्यार्थ (या वाक्यार्थ) में रस की प्रतीति (अनुभूति) का निर्वाह किया गया है उसकी रक्षा में यदि काव्य में कोई असाधु (व्याकरण से असिद्ध) शब्द भी आ जाये तो कोई बड़ा दोष नहीं होता। काव्य में प्रधान होती है रस की प्रतीति। विना उसके निर्वाह के काव्य काव्य ही नहीं होता। अपशब्द के प्रयोग में केवल इतना ही होता है कि लोग कवि का नाम रखते हैं।—कहा भी है—नीरस रचना कवि की बहुत बड़ी कुकीर्ति है। उससे तो वह कवि 'ही' न हो, जिससे दूसरे नाम न रखें।'

दूसरे लोग कहते हैं—यह ठीक है कि रस को सुरक्षित रखने के लिये किया गया अपशब्द का प्रयोग कुछ ही दोषपूर्ण होता है, इतने पर भी जो महाकवि हैं उनके लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग बहुत ही बड़ा दोष है। इसलिये यहाँ यह मानना उचित है कि 'ते-मे-शब्दौ निपातेषु' इस नियम के अनुसार 'मे' शब्द और यहाँ विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है। वह निपात से सिद्ध है। जैसे 'अहंता' और 'अहंयु' आदि शब्दों में अहम्। इसलिये यहाँ कोई खास बात नहीं।'

विमर्शः अस्मद् शब्द को 'मे' बना दिया जाता है जब वह वाक्य के बीच में आता है। किन्तु यदि च, वा, हा, ह और एव के साथ आता है तो 'मे' नहीं होता। यहाँ 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' में 'मे' शब्द 'एव' के साथ है और भिन्न वाक्य में है। 'मे यदरयः' यह इस श्लोक का दूसरा वाक्य है। अपने में पूर्ण है। उसके बीच में न आकर यह शब्द उसके आरम्भ में आया है, अतः ठीक नहीं हैं। उत्तर में यह कहा गया है कि काव्य में प्रधान वस्तु है रस। इस पद्य में उसका निर्वाह भलीभाँति हुआ है अतः इतना दोष नगण्य है। यह भी उत्तर दिया जाता है कि वस्तुतः यहाँ जो 'मे' शब्द आया है वह एक स्वतन्त्र शब्द है, अस्मद् का स्थानापन्न नहीं, जैसे 'अहंयु' में अहं शब्द स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार कोई दोष नहीं उठता। हमारी दृष्टि में दो समाधान आते हैं—एक तो यह कि वस्तुतः 'न्यक्कारो०' पद्य का अन्वय वाक्य इस तरह का बनता हैं—न्यक्कारः हि अयमेव यत् मे अरयः—धिक्कार की बात तो पहले यही है कि मेरे भी शत्रु हैं। इसमें 'यत्' यह वाक्ययोजक अव्यय है, इससे 'न्यक्कारो ह्ययमेव' और 'मे अरयः' दोनों वाक्य सम्बन्धित वाक्य होकर एक बन जाते हैं।–जैसे–'विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य 'गृहे भुङ्क्थाः' में एकवाक्यता 'च' के आधार पर काव्यप्रकाश (५ उल्लास) में मानी गई है। दूसरे यह कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से 'मे' शब्द अस्मद् का विकार न मानकर स्वतन्त्र भी माना जा सकता है। यह आग्रह अब मान्य नहीं कि अत्यन्त विरूप शब्द किसी से उत्पन्न मान लिया जाय। आदेश का अर्थ ही यह है कि एक शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द का हठात् प्रयोग। यदि 'मे' शब्द स्वतन्त्र न होता और वह सार्थक न होता तो वह किसी स्थान पर लाया ही कैसे जाता। बात रही प्रयोग की—कि उसका ('मे' का) प्रयोग वाक्य के आरम्भ में नहीं होना चाहिये तो इसका उत्तर 'विषं भुङ्क्ष्व' वाली पद्धति से मिल जाता है। आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि रावण जो इसका वक्ता है वह आविष्ट है। आविष्ट के कथन में दोष रसापकर्षक नहीं प्रत्युत चमत्कृतिजनक होते हैं।

इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि व्य० व्याख्यान में—'अपशब्दप्रयोगे तु लक्षणास्मरणमात्रम्'—कहकर प्रमाणरूप से ध्वनि-कारिका 'नीरसस्तु प्रबन्धो यः'··· प्रस्तुत की गई है। इनमें दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं। कारिका में अपशब्द का अर्थ गाली है। मूल में अपशब्दों का प्रयोग—अशुद्ध शब्द के लिये है। ध्वनिकारिका में लक्षणास्मरण (नामरखाई से बचाव) को नीरस कवि के लिये काव्य न बनाने में गौरवास्पद तथ्य बतलाया गया है। उसका अपशब्द से सम्बन्ध नहीं है।

किं सर्वात्मना करणस्य दुष्टत्वमेव ? नेत्याह किन्त्विति।

'क्या समास करना हर हालत में दोषावह ही है?' 'किन्तु' इत्यादि द्वारा इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं—

किन्तु प्रवृत्तिरेतस्य रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
शान्तश्रृङ्गारकरुणानन्तरेण प्रशस्यते ॥ १८ ॥
यतः समासो वृत्तं च वृत्तयः काकवस्तथा।
वाचिकाभिनयात्मत्वाद्रसाभिव्यक्तिहेतवः ॥ १९ ॥
स चार्धान्तावधिः कार्यो नाधिको गद्यताश्रितः।
गद्ये हि वृत्तवैकल्ये न्यूना तद्व्यक्तिहेतुता ॥ २० ॥

यथानन्तरोक्त उदाहरणे।

तस्याच्छिन्नः पदार्थानां सम्बन्धश्चेत् परस्परम्।
न विच्छेदोऽन्तरा कार्यो रसभङ्गकरो हि सः ॥ २१ ॥

इत्यन्तरश्लोकाः।

यथा—

'माद्यद्दिग्गजगण्डभित्तिकषणैर्भग्नस्रवच्चन्दनः'। इति

अत्र हि क्षुण्णद्रवच्चन्दन इति युक्तः पाठः। क्वाप्ययमपि पाठो दृश्यते।

किन्तु इस (समास) का प्रयोग शान्त, श्रृङ्गार, करुण रसों को छोड़कर (अन्य वीर आदि रसों में) अच्छा माना जाता है। इसलिये कि ऐसा ही करने पर रस की अभिव्यक्ति होती है [अर्थात् शान्त आदि में समास न करने से रस की अभिव्यक्ति होती है और वीर आदि में समास करने से] कारण कि समास, छन्द (कैशिकी, उपनागरिका आदि) वृत्ति और काकु ये रस की अभिव्यक्ति के हेतु हैं, कारण कि यह वाचिक अभिनय के अन्तर्गत आते हैं।

और वह [समास भी] आधे पद्य तक करना चाहिये [अर्थात् द्वितीय और तृतीय चरण में नहीं, प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरण में ही समास किया जाना चाहिये] कारण कि [वैसा न करने से श्लोक एक प्रकार से] गद्य सा बन जाता है। गद्य में छन्द नहीं रहता, इसलिये उस (छन्द) से होनेवाली रस की अभिव्यक्ति में एक कारण कम पड़ जाता है। जैसा कि अभी-अभी पीछे दिये उदाहरण [ऊर्ध्वाक्षिताप…] से स्पष्ट है। यदि समास से उस [में आए पदों के अर्थों] के सम्बन्ध आपस में न टूटते हों तो उस (समास) को बीच में न तोड़ना चाहिये। वैसा करना रसभङ्गकारक होता है। जैसे:—

'माद्यद्दिग्गजगण्ड०' [इत्यादि में] अर्थात् मदमाते दिग्गजों के कपोलतल के घर्षण से टूटे और रस चुआते हैं चन्दन जहाँ। यहाँ 'क्षुण्णद्रवच्चन्दनः' इस प्रकार पाठ चाहिये। कहीं-कहीं यह पाठ भी देखा जता है।

एतस्य समासस्य। अन्तरेणेति वीररौद्रादेः समासेन प्रकाश्यत्वात्।

वृत्तं वसन्ततिलकादि। वृत्तयः कैशिक्याद्याः उपनागरिकाद्याश्च। काकुः काक्ध्यायलक्षितो ध्वनिविकाररूपो वा। वाचिकाभिनयो वाग्विकाररूपोऽनुभावः। अर्धान्तावधिरिति श्लोकापेक्षया अर्धमन्तावधिः। न्यूनेति पद्यापेक्षया न्यूनं रसाभिव्यक्तिहेतुत्वमित्यर्थः। यथा पूर्वोक्त इति 'ऊर्ध्वाक्षितापे'त्यादौ। समासोऽर्धान्तावधिः कार्यो नाधिक इत्यनेन व्याव-

त्यंस्याधिकस्य तदुदाहरणम् । तस्येति पदार्थानां परस्परसम्बन्धश्चेन्न विच्छिद्यते तदा तस्य समासस्य मध्ये विच्छेदो न कार्यं इत्यर्थः ।

एतस्य = इसकी = समास की ।

अन्तरेण—वीर रौद्र आदि समास से ही अभिव्यक्त होते हैं इसलिये ।

वृत्तम् = वसन्ततिलक आदि छन्द ।

वृत्तयः = कैशिकी आदि और उपनागरिका आदि ।

काकुः =(भरतनाट्यशास्त्र के) काकु अध्याय में बतलाया गया, या फिर स्वरगत अथवा उच्चारणगत विशेषतास्वरूप ।

वाचिकाभिनयः—एक अनुभाव जो उच्चारण तथा वाक्प्रयोग की विशेषता से अभिन्न माना जाता है ।

अर्धान्तावधि—श्लोक में आधा अंश =(समास की) अन्तिम सीमा । अर्थात् पूर्वार्ध का समास जहाँ नियमतः समाप्त हो जाता है, आगे नहीं बढ़ता ।

न्यूने—श्लोक वाक्य में छन्दः से होनेवाली रसाभिव्यक्ति की कमी [अर्थात् श्लोकवाक्य = रस की अभिव्यक्ति कई कारणों से करता है । उनमें छन्द भी एक है । चारों चरणों में एक ही समास होने से छन्द का छन्दस्त्व नहीं रहता । अतः वाक्य में रसाभिव्यक्ति का एक हेतु समास हो जाता है । उतने अंश में वाक्य में रसाभिव्यक्ति के प्रति क्षमता की कमी रहती है ।]

यथापूर्वोक्त—जैसे—ऊर्ध्वाक्षिताप—इत्यादि श्लोक में । वह उदाहरण समास की अधिकता का, जिसका व्यावर्त्तन = निषेध०—'समासोऽर्ध्वान्तावधिः कार्यः, नाधिकः' इसके द्वारा किया गया है ।

तस्य—यदि पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध टूटता न हो तो उस समास का बीच में विच्छेद नहीं करना चाहिये ।

विधेयत्वं चैतत् प्राधान्योपलक्षणमव्यभिचारात् । ततश्च प्रधानाविमर्शोऽपि दोषतयावगन्तव्यः । यथा—

'स्नेहं समापिबति कज्जलमादधाति
सर्वान् गुणान् दहति पात्रमधः करोति ।
योऽयं कृशानुकणसञ्चयसम्भृतात्मा
दीपः प्रकाशयति तत् तमसो महत्त्वम् ॥'

अत्र हि प्रकाशनक्रियाया एव प्राधान्यविवक्षा नान्यासामिति तासां तत्समशीर्षिकया निर्देशो दोष एव । स हि तत्र शत्रादिभिरेव वक्तुं न्याय्यो नाख्यातेन । यथा—

'बिभ्राणः शक्तिमाशु प्रशमितबलवत्तारकौर्जित्यगुर्वीं
कुर्वाणो लीलयाधः शिखिनमपि लसच्चन्द्रकान्तावभासम् ।
आधेयादन्धकारे रतिमतिशयिनीमावहन् वीक्षणानां
बालो लक्ष्मीमपारामपर इव गुहोऽहर्पतेरातपो वः ॥' इत्यादौ ।

और यह जो विधेयत्व है वह प्राधान्य का उपलक्षण है । कारण कि ऐसी बात नहीं देखी जाती

कि जहाँ प्राधान्य हो वहाँ विधेयत्व न हो। इसलिये—प्रधान पदार्थ का प्रधान रूप से उपस्थित न होना भी दोष मानना चाहिये। जैसेः—

'स्नेह (तैल और प्रीति) को पीता है। कज्जल = कालौंच चढ़ाए रहता है, गुणनाम की चीज (बत्ती और शील आदि गुण) को पूर्णरूप से जला डालता है और पात्र (बरतन और योग्य व्यक्ति) को नीचे रखता है। इस प्रकार आग के कणों से बना जो यह दीपक प्रकाश करता है वह महत्त्व है—तम का।'

यहाँ प्रकाशन क्रिया की ही प्रधानता विवक्षित है, अन्य क्रियाओं की नहीं। इसलिये उन क्रियाओं का उस (प्रकाशन) क्रिया के साथ बराबरी से जो निर्देश है—वह दोष ही है। उन क्रियाओं का निर्देश शतृ आदि प्रत्ययों से करना ठीक था, आख्यात से नहीं। जैसे—

'तत्काल बलवान् तारक (तारकासुर, और तारों) के पराक्रम को शान्त करने से महती-शक्ति (एक अस्त्र और सामर्थ्य) लिये हुए, खेल-खेल में शिखो (मयूर-अग्नि) को नीचे करते हुए और चमचमाती चन्द्रकान्तमणि को भी नीचे करते हुए, अन्धकारि शिव की आँखों के समान अन्धकार में आँखों को अत्यधिक सुख देने वाला दूसरे कार्तिकेय के समान दिनपति सूर्य का बाल आतप (घाम) आपको अपार लक्ष्मी (श्री सौन्दर्य) प्रदान करे।'

विमर्शः यहाँ—दो अर्थ निकलते हैं—एक सूर्यतेज के पक्ष में और दूसरा गुह = कार्त्तिकेय के पक्ष में। दोनों में—शक्ति, तारक, शिखी, चन्द्रकान्त, अन्धकारे रति बराबर लगते हैं।

शक्ति = १. गुह—एक अस्त्र। २. सूर्य—अधिक वर्चस्व।

तारक—१. गुह—तारकासुर। २. सूर्य—तारे, सितारे।

शिखी—१. गुह—मयूर, २ सूर्य—अग्नि। चन्द्रकान्त—१. गुह—मयूरपिच्छ का सुन्दर चँदोवा, २. सूर्य—चन्द्रकान्तमणि। अन्धकारे रति—१. गुह—अन्धकारेः रति, अन्धकासुर के शत्रु शिव की रति, २. सूर्य०—अन्धकारे, रति = अन्धरे में रति।

अव्यभिचारादिति विधेयत्वं हि प्राधान्याविनाभावः।

स्नेहमिति। अत्र पानादीनां प्रकाशनस्य च विध्यनुवादलोपित्वैककर्तृकाणां प्राधान्यभावो नापस्मर्तव्यम् (?)। अत्र च योऽयमिति यच्छब्देन दीपस्य पदार्थस्य परामर्शोपक्रमे तत्तमस इति तच्छब्देन वाक्यार्थस्य परामर्शो दुष्ट इत्युपपादितं प्राक्।

विभ्राण इति। शक्तिः सामर्थ्यम् आयुधभेदश्च। तारकाः ज्योतींषि दैत्यविशेषश्च तारकः अधो निस्तेजस्त्वेन वाहनत्वेन च। शिखी वह्निर्मयूरश्च। चन्द्रस्य सुवर्णस्य सम्बन्धी कान्तावभासो लसन् देदीप्यमानो यस्मिन्। चन्द्रकाणां मेचकानामवभासो लसन् स्फुरद् यस्य। अन्धकारे तमसि अन्धकारेर्हरस्य। गुहः कुमारः। अपर इवेति अत्रापरशब्दसामर्थ्याद् गुहे द्वितीयगुहत्वप्रतीतौ वस्तुतस्तदसम्भवे तत्सम्भावनायामुत्प्रेक्षा। अपरशब्दाभावे तु स्वस्वरूपस्थितस्यैव वास्तवस्य गुहस्य प्रतीतावियमुपमा स्यात्। एवम् 'अपर इव पाकशासनो' 'मौर्वी द्वितीयामि'त्यादौ च मन्तव्यम्। अहर्पतेरिति। 'अहरादीनां पत्यादिषु' इति वचनाद् रेफः। अत्र धारणादीनां गुणभावः। आधानस्य तु प्राधान्यम्।

अव्यभिचारात् = विधेयत्व यानी = प्राधान्य के विना जिसका अभाव हो (अर्थात् = प्राधान्य के साथ व्याप्ति)।

स्नेहम्—पानादीनाम्—नापस्मर्तव्यम्—[पंक्ति स्पष्ट नहीं होती]

अत्र योऽयमिति = यहाँ योऽयम् इस प्रकार शुरू में यत् शब्द से दीपरूपी पदार्थ का परामर्श

करके अन्त में 'तत्तमसः' इस प्रकार 'तत्' शब्द से वाक्यार्थ का परामर्श करना दोष है—ऐसा स्पष्ट कर दिया गया है।

विभ्राणः—शक्ति = सामर्थ्य और एक खास तरह का औजार।

तारकाः = नक्षत्र और तारक नाम का एक दैत्य।

अधः = निस्तेज बनाने से और वाहन बनाने से।

शिखी = अग्नि और मयूर।

चन्द्रकान्तावभास = चन्द्र = सोने का उजला प्रकाश देदीप्यमान है जिसमें। और चन्द्रक— मेचकों (मयूरपिच्छ के चँदोवे) का प्रकाश है झिलमिलाता जिसमें।

अन्धकारे = अन्धेरे में, अन्धकारेः = शिव की।

गुहः = कुमार (नामक कार्त्तिकेय)।

अपर इव—यहाँ अपरशब्द के बल पर गुह में द्वितीय गुहत्व की प्रतीति होती है, अतः यहाँ ऐसा उत्प्रेक्षालंकार है जिसका विषयी कल्पित है [ऐसी उत्प्रेक्षा के लिए द्रष्टव्य-अलंकारसर्वस्व] अपरशब्द न होता तो अपने प्रसिद्ध रूप मात्र से गुह का ज्ञान होता है। तब यहाँ उपमा होती।—इसी प्रकार—अपर इव पाकशासनः—दूसरे इन्द्र जैसा, 'मौर्वीं द्वितीयाम्' दूसरी सी प्रत्यंचा = इत्यादि में मानना चाहिये।

अहर्पतेः—यहाँ—'अहरादीनां पत्यादिषु' इस नियम से रेफ हुआ। यहाँ धारण आदि अप्रधान है। आधान मात्र प्रधान है।

विमर्श : व्य० व्याख्यान में चन्द्रकान्तावभास को तीन खण्डों में विभक्त किया गया है—चन्द्र, कान्त और अवभास इस प्रकार, तथा चन्द्रक—अन्त और अवभास। प्रथम पदच्छेद में चन्द्र का अर्थ सुवर्ण अर्थात् सोना किया गया है। मेदिनी और अमर में—चन्द्र को सोने का वाचक माना भी गया है—चन्द्रः कर्पूरकाम्पिल्लसुधांशुस्वर्णवारिषु—[मेदिनी] स्वर्णेऽपि भूरिचन्द्रौ द्वौ। [अमर]—यहाँ अर्थ यह निकलता है कि सोने के समान कान्तिवाले अग्नि को सूर्यतेज ने दबा दिया। अर्थ में कोई—चमत्कार नहीं। कारण कि इससे सूर्यतेज से अग्नि का दब जाना भर सिद्ध होता है। दबने से जो विकार अग्नि में आता है इससे ज्ञात नहीं होता। चन्द्रकान्तमणि के समान अवभास वाला अर्थ करने में उसका ज्ञान होता है। सूर्य के प्रकाश में अग्नि की ज्योति चन्द्रकान्तमणि की ज्योति के समान क्षीण रहती है। वेद में सूर्यप्रकाश में अग्नि का अभाव बतलाया जाता है। सायण ने मीमांसा की पद्धति से उसे समझाते हुए लिखता है—धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिः, तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूमः—तै० ब्रा० २।१।२। सायण = दूरभूयस्त्वात् = 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिति सायं जुहोति। सूर्यो ज्योतिः सूर्य इति प्रातः—इत्येतौ विधी स्तोतुं सोऽर्थवादः। यस्मादर्चिर्न दिवा ज्ञायते तस्मात् सूर्यमन्त्र एव प्रातः प्रयोक्तव्यः।' [ऋग्वेद-भाष्य भूमिका पृ० ३० चौ० सं०]

यहाँ व्य० व्याख्यान में 'अपरशब्दसामर्थ्यात्' के बाद आए 'गुहे' इस पद के स्थान पर त्रिवेन्द्रम् तथा चौखम्बा दोनों से प्रकाशित प्रतियों में 'भूपे' पद छपा है, और एक टिप्पणी देकर इसके स्थान पर 'आतपे' पद की सम्भावना व्यक्त की है। वस्तुतः उत्प्रेक्षा का विषय तो आतप ही है किन्तु उस पर द्वितीय गुहत्व की सम्भावना की जा रही है न कि द्वितीयत्व की, द्वितीयत्व की सम्भावना का विषय तो गुह ही है। अतः हमने अपनी ओर से 'भूपे' को बदलकर 'गुहे' पाठ बना दिया है।

प्रस्तुत पद्य मयूरकृत सूर्यशतक का २५वाँ पद्य है। उसके प्राचीन टीकाकार त्रिभुवनपाल ने चन्द्रकान्त का एक अर्थ—चन्द्रकान्तमणि भी किया है। पर उसे शिखी का विशेषण नहीं माना। उन्होंने चन्द्र को वसु, सुवर्ण, रत्न, मणि चार अर्थ में माना है और उसके समान जिसकी कान्ति है—इस प्रकार बहुव्रीहि द्वारा शिखी का विशेषण भी बनाया है। चन्द्रक का अर्थ—मेचक [मोरंगा] वे भी करते हैं।

सर्वासां पुनः प्राधान्यविवक्षायां नाख्यातवाच्यत्वं दोषः। यथा—

'सौधादुद्विजते, त्यजत्युपवनं, द्वेष्टि प्रभामैन्दवीं
द्वारान्नश्यति चित्रकेलिसदसो, वेषं विषं मन्यते।
आस्ते केवलमब्जिनीकिसलयप्रस्तारशय्यातले
सङ्कल्पोपनतत्वदाकृतिरसायत्तेन चित्तेन सा॥'

जब सभी (क्रियाओं) का प्राधान्य विवक्षित हो तो उन्हें आख्यात से कहने में कोई दोष नहीं है। जैसे—भावनामात्र से मन में चढ़े तुम्हारे सूरत के अधीन जब से उसका चित्त हुआ—वह चूने से पुती अटारी की ऊपरी मंजिल से डरती है, बगीचे को नहीं जाती, चन्द्रमा की ज्योति से नफरत रखती है, चित्रक्रीड़ा के कमरे के दरवाजे तक जाकर छिप जाती है, वेष को जहर मानती है, बैठती है केवल कमलिनी की बिछी हुई कोंपलों की सेज पर।

कर्त्ता हि गुणक्रियां निष्पादयन् प्रधानक्रियामैदम्पर्येण निष्पादयति, न तु तास्वैदम्पर्यम्। यत्र सर्वास्वैदम्पर्यं तत्र भवत्येव सर्वासामाख्यातवाच्यत्वम्। यथा—सौधादित्यादि।

कर्त्ता का स्वभाव है कि वह तात्पर्य रूप से प्रधान क्रिया को निष्पन्न करता है, साथ ही साथ अप्रधान क्रिया को भी निष्पन्न करता जाता है, किन्तु इन अप्रधान क्रियाओं में उसका तात्पर्य नहीं रहता। किन्तु जहाँ सभी क्रियाओं में तात्पर्य होता है वहाँ सभी आख्यात द्वारा कही जाती हैं। जैसे—सौधादुद्विजते-में। [इस तथ्य को पद्यबद्ध करते हैं]—

यत्रैककर्तृकानेका प्राधान्येतरभाक् क्रिया।
तत्राख्यातेन वाच्याद्या शत्राद्यैरपरा पुनः॥ २२॥

इत्यन्तरश्लोकः।

'जहाँ कर्त्ता एक हो और उसकी क्रिया एकाधिक, वहाँ यदि क्रिया में प्राधान्य अप्राधान्य हो तो प्रधान क्रियायें आख्यात द्वारा बतलायी जाती हैं और अन्य अप्रधान क्रियाएँ शतृ आदि प्रत्ययों द्वारा।'

इतरदप्राधान्यम्। आद्या प्रधानभूता। अपरा अप्राधान्यवती।

इतरत्—(प्राधान्य से भिन्न) अप्राधान्य।

आद्या—प्रधानभूत।

अपरा—अप्रधानभूत क्रिया।

ननु च, आचार्येणैवानिष्टनिवृत्त्यर्थं समासविधौ बहुलग्रहणं कृतम्। अतस्तेनैव क्वचिदेवंविधे विषये वृत्तिर्न भविष्यति, अन्यत्र भविष्यतीति किमनेन प्रधानेतरभावपरिकल्पनप्रयासेन?

सत्यम्। किन्तु समासविधेः प्रधानेतरभावविवक्षानिबन्धनस्य च

तत्प्रतिषेधस्योत्सर्गापवादभावेनावस्थानं द्रष्टव्यमित्यपवादस्यैवायं विषयो भवितुमर्हति न बहुलग्रहणस्य।

यत्र तु क्वचिदुत्सर्गापवादयोर्विषयव्यवस्थानियमः कथञ्चनापि कर्तुमशक्यः स तस्य विषयो वेदितव्यः। अन्यथा गोदः कम्बलद इत्यत्राणभावोऽपि तद्विषयः स्यात्। इह तूक्तक्रमेण नियमः शक्यक्रिय एवेति नायं बहुलग्रहणस्य विषयः कल्पनीयः।

(शंका) इस प्रधान अप्रधान की लम्बी-चौड़ी कल्पना की मेहनत से क्या ? स्वयं आचार्य (पाणिनि) ने ही गड़बड़ी दूर करने के लिये समास-विधान करते समय बहुल शब्द का प्रयोग किया है। (अर्थात् समास हो तो ठीक न हो तो कोई बात नहीं)। उसीसे इस तरह के जो कोई विषय होंगे उनमें समास नहीं होगा, अन्यत्र होगा।

(उत्तर) ठीक है। किन्तु समास-विधान और प्राधान्य-अप्राधान्य-विवक्षा को लेकर उसका होने वाला निषेध इन्हें उत्सर्ग और अपवाद रूप मानना चाहिये। इसलिये यह (प्रधानाप्रधान-भाव) केवल अपवाद का ही विषय हो सकता है। बहुल-ग्रहण का नहीं। हाँ, जहाँ कहीं उत्सर्ग और अपवाद के क्षेत्र-विभाजन का ठीक-ठिकाना किसी भी तरह करना सम्भव न हो—उसे उस (बहुल) का विषय मानना चाहिये। नहीं तो 'गोदः' और 'कम्बलदः' आदि में अण् प्रत्यय का अभाव भी 'बहुल' का विषय बन जाएगा। पर यहाँ (विध्यनुवादभाव में या प्रधानेतरभाव में) तो उक्त क्रम से नियम (ठीक-ठिकाना) किया ही जा सकता है इसलिये इसे बहुल-ग्रहण का विषय नहीं मानना चाहिये।

बहुलग्रहणमिति। 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२–१–५७) इत्यत्र। क्वचिदित्यादि। क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिरिति बहुलग्रहणप्रयोजनस्य व्यवस्थितत्वात्। उत्सर्गेति समासविधिः सामान्यरूपत्वादुत्सर्गः प्राधान्यादिविवक्षानिमित्तश्च तत्प्रतिषेधो विशेषरूपत्वादपवादः।

अपवादस्यैवेति। 'अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य प्रवृत्ति'रिति न्यायात्। कर्तुमशक्य इति। व्यवस्थितविषयत्वात्। यथा 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्'(६–३–१२२) इत्यत्र। परिशब्दे त्वयं भवति—परिवादः, परीवाद इति। विवाद इत्यत्र नैव भवति।

तद्विषयः स्यादिति 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३–३–११३) इत्यादिगतस्य बहुलग्रहणस्य विध्यनुवादभावविषये सामर्थ्याभावात् समासाभाव इति भावः।

बहुलग्रहणम्—'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इस सूत्र में।

क्वचिदित्यादि—कहीं लगना, कहीं न लगना—इस प्रकार बहुल शब्द को देने का प्रयोजन माना गया है [यथा—क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥]

उत्सर्ग—समास-विधान सामान्य विधान है अतः उत्सर्गात्मक है, उसका प्रतिषेध जो प्राधान्यादि की विवक्षा के अधीन है वह विशेष है अतः वह अपवादात्मक है।

अपवादस्यैव—'यह एक नियम है कि उत्सर्ग-नियम अपवाद-नियम के क्षेत्र से अतिरिक्त क्षेत्र में लगता है। कर्तुमशक्यः—कारण कि उसका क्षेत्र निश्चित है। जैसे—'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' (६।३।१२२)। इसमें (दीर्घ करने का)। परि उपसर्ग में तो यह (दीर्घ-विधान) होता है, परिवाद-परीवाद इत्यादि। किन्तु विवाद में नहीं होता।

तद्विषयः स्यात्—'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) इत्यादि में आये बहुल ग्रहण का विध्यनुवादभाव के विषय में सामर्थ्य नहीं है। अतः समास नहीं होता।

विमर्श: व्यक्तिविवेककार ने—इस प्रकरण में यह सिद्ध किया था कि जहाँ विशेषण में प्रधानता हो वहाँ उसका विशेष्य के साथ समास नहीं होना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ कि महिमभट्ट को समास का वैकल्पिक होना अभिमत है। महर्षि पाणिनि ने भी अपने सूत्र 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' में बहुल शब्द देकर यहीं सिद्ध किया था कि विशेषण-विशेष्यों का समास कहीं हो सकता है कहीं नहीं। महिमभट्ट ने पाणिनि के सिद्धान्त से अपने सिद्धान्त की भिन्नता बतलाते हुये कहा है कि बहुल का अर्थ है विकल्प। जहाँ विशेषण में प्रधानता रहती है और विशेष्य में अप्रधानता वहाँ समास कदापि नहीं होता। वहाँ समास विकल्प से भी सम्भव नहीं। इसलिये पाणिनि से इनका मत एक डग आगे है। पाणिनि जी (जैसी कि व्याख्याकारों की मान्यता है) विशेषणसमास को विकल्प द्वारा सर्वत्र मानते हैं। महिमभट्ट प्रधानेतरभाव विवक्षा होने पर कहीं भी नहीं। इस प्रकार प्रधानेतर समास का अपवाद या बाधक सिद्ध हुआ। जैसे गोदः, कम्बलदः में 'कर्मण्यण्' से अण् प्रत्यय प्राप्त होता है, उसका अपवाद या बाध 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र से होता है और अण् के बजाय 'क' प्रत्यय होता है। फलतः अण् कहीं एक भी जगह नहीं हो पाता जहाँ 'आतोऽनुपसर्गे कः' लगता है किन्तु विकल्प जहाँ होता है वहाँ की स्थिति भिन्न होती है। 'उपसर्गे घञ्यमनुष्ये बहुलम्'—में विकल्प होता है अर्थात् घञ् प्रत्ययान्त उत्तरपद होने पर उपसर्ग को विकल्प से दीर्घ होता है। इसके उदाहरण हैं परीवाद और परिवाद, परीरम्भ और परिरम्भ। कहीं यह नहीं भी लगता जैसे विवाद में जिस प्रकार उक्त स्थलों में जहाँ अपवाद होता है वहाँ पूर्व नियम कदापि नहीं लगता—उसी प्रकार जहाँ ठीक विशेषण में प्रधानभाव होता है वहाँ समास कदापि नहीं होता। फलतः पाणिनि जी का समास के लिये जो नियम है वह विकल्पस्वरूप है और महिमभट्ट का उत्सर्ग और अपवाद रूप। उत्सर्ग का अर्थ होता है सामान्य और अपवाद का विशेष। सामान्य को विशेष बाध देता है। जैसे 'हिंसा न करना' सामान्य नियम है। इसे 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह विशेष नियम तोड़ता है।

न चायमर्थः स्वमनोषिकयैवास्माभिरुपकल्पितः किन्तर्हि, आचार्यस्याप्यभिमत एव, यदयं समासविधौ समर्थग्रहणं कृतवान्। केवलं तदभिप्रायमनवगच्छद्भिर्व्याख्यातृभिः सापेक्षतादिदोषान्तरव्यावृत्तिपरतयैव तद् व्याख्यातं न पुनरेतद्व्यावृत्तिपरतयापीति तदभिप्रायमेवास्माभिः प्रकटयद्भिस्तस्येहार्थत्वमपि प्रतिपादितं न त्वपूर्वं किञ्चित्।

ऐसी भी बात नहीं है कि यह विषय हमने अपनी बुद्धि से गढ़ा है, आचार्य को भी यह मान्य है, क्योंकि समास-विधान करते समय उन्होंने 'समर्थः' शब्द का प्रयोग किया। किन्तु हुआ यह कि व्याख्याता लोगों ने उनका मूल अभिप्राय नहीं समझा और उसका फल (समर्थ शब्द का ग्रहण) केवल सापेक्षता आदि मान्य दोषों की व्यावृत्तिमात्र बतलाया, इस प्रधानेतरभाव की व्यावृत्ति को नहीं, इसलिये उसी का अभिप्राय स्पष्ट करते हुये हमने उसका अर्थ यह—फल (प्रधानेतर की व्यावृत्ति) भी बतलाया है कोई नई बात नहीं।

तदभिप्रायमिति आचार्याभिप्रायम्। सापेक्षतादीति ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इत्यादौ। तत् समर्थग्रहणम्। एतद्व्यावृत्तीति एतच्छब्देन प्रधानेतरभावः परामृष्टः। तस्येहार्थत्वमपीति समर्थग्रहणं प्रधानेतरभावविषयनिवृत्त्यर्थमपीत्यर्थः।

तदभिप्रायमिति—प्रधानेतरभावविषय की भी निवृत्ति के लिए।

तदभिप्राय = आचार्य का अभिप्राय।

सापेक्षता आदि = ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः इत्यादि में।

तत् = समर्थ-ग्रहण।

एतद्व्यावृत्ति—यहाँ एतद् शब्द से प्रधानेतरभाव का परामर्श किया गया ('समर्थः पदविधिः सूत्र में।)

तस्येहार्थत्वमपि—समर्थ शब्द का ग्रहण प्रधानेतरभाव के क्षेत्र में समास न होने देने के लिये भी है।

विधेयोद्देश्यभावोऽयं वक्तुं वृत्त्या न पार्यते।
यत् तेनानभिधानं वा समर्थग्रहणं च वा ॥ २३ ॥
कारणद्वयमेवेष्टं बहुलग्रहणं न तु।
अशक्यनियमो ह्यर्थो विषयस्तस्य नेतरः ॥ २४ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकौ।

विधेयोद्देश्यभाव समास द्वारा नहीं कहा जा सकता। इसलिये दो ही कारण (समासाभाव में) माने जा सकते हैं—(प्रधानेतरभाव का) न कहा जाना या ('समर्थः पदविधिः' सूत्र में) समर्थ शब्द का अपनाया जाना ('विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' में आया) बहुल (शब्द) का ग्रहण (उसका कारण नहीं माना जाना चाहिये) कारण कि उसका क्षेत्र वही अर्थ है जिसमें कोई नियम न हों, और कोई नहीं।

विधेयोद्देश्येति उद्देश्योऽत्रोर्ध्वदेशार्हत्वादनुवाद्यः। यत् तेनेति यच्छब्दः पूर्वार्धसम्बद्धः। तेनापारणेन अनभिधानं वेति अनभिधानलक्षणा हि कृत्तद्धितसमासा इति। समर्थग्रहणं च वेति चशब्दोऽत्रातिरिक्तः, समुच्चयविकल्पयोर्विरोधात्। एवञ्च—

'दृष्टिर्नामृतवर्षिणी स्मितमधुप्रस्यन्दि वक्त्रं न त-
स्यार्द्रार्द्रं हृदयं न चन्दनरसस्पर्शानि चाङ्गानि वा ॥'

इत्यत्र च-वाशब्दद्वयं प्रयुक्तं, च-वाशब्दार्थयोरेकत्र विरोधात्।

विधेयोद्देश्य—यहाँ उद्देश्य ही ऊर्ध्व (वाक्य में पहले) देश (स्थान) योग्य होने से—अनुवाद्य हुआ।

यत् तेन—यहाँ यत् शब्द पूर्वार्ध से सम्बन्धित है। तेन अर्थात् न हो सकने से;

अनभिधानं वा—कृत्, तद्धित और समास का स्वभाव (प्रधानेतरभाव का) अनभिधान है।

समर्थग्रहणं च—यहाँ 'च' शब्द अधिक है, समुच्चय और विकल्प का विरोध होने से। 'दृष्टिर्नामृत०' इस पद्य में भी 'च' और 'वा' दोनों का एक साथ प्रयोग है, उन दोनों 'च' और 'वा' शब्दों का एक ही वाक्य में विरोध होता है।

यद्वा कवीनामेवैष विषयो न खण्डिकोपाध्यायानामित्यनवगततदभिप्रायैस्तैरुपेक्षितमेतत्। ते हि स्वप्नेऽप्यनासादितसाहित्यसुधारसास्वादचमत्काराः शुष्कशब्दव्युत्पत्तिमात्रोपजनिताभिमानदुर्विग्धा विविधाभिधानाधानोद्धारा अभिधेयप्रतीतिवैचित्र्यविवेककौशलशालीनाः लक्षणमस्तीत्येव-रसाभिव्यक्तिविघ्नभूतमपरमपि बहुतरमवकरप्रायं प्रयुञ्जत इति रसास्वादानु-

गुणप्रयोगावहितचेतसां कवीनामेव तच्चिन्तोचिता नान्येषाम् । अस्माभिस्तु वितस्तरतस्तत् पुरस्तादभिधास्यते ।

प्रकरणकाक्वादिसखो यस्यार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।
इष्टार्थभङ्गभीतेः शब्दो न समासमर्हति सः ॥ २५ ॥

इति सङ्ग्रहार्या ।

अथवा यह 'विषय 'कवियों के लिये है खण्डिकोपाध्यायों का नहीं, इसलिये उन्होंने इसकी उपेक्षा की । वे इसका अभिप्राय नहीं समझ सके। उन्होंने साहित्य के अमृत रस का आस्वाद करके सपने में भी आनन्द नहीं पाया । उन्हें केवल शुष्क शब्दों की व्युत्पत्ति भर का अभिमान है, जिससे वे बिगड़ गये हैं । उनका काम केवल भांति-भांति के शब्दों का हेर-फेर ही है । उनमें कौशल है केवल अभिधावृत्ति से ज्ञात अर्थ की प्रतीति के वैचित्र्य का । वे रसाभिव्यक्ति में विघ्न बनने वाले हैं और अनेक शब्दों के कचरे-कूड़े को काम में लाते रहते हैं—केवल इसलिये कि वे प्रयोग व्याकरण-सम्मत है। इसलिये उन कवियों को ही इस प्राधनेतरभाव की चिन्ता शोभा देती है जिनका चित्त रसास्वाद के अनुरूप प्रयोग पर लगा रहता है, और लोगों को नहीं । हम इस विषय को आगे और अधिक विस्तार से उपस्थित करेंगे ।

संक्षेप में—प्रकरण, काकु आदि की सहायता से जिस शब्द का अर्थ दूसरे अर्थ को प्रकाशित करता है, अभिमत अर्थ के प्रतीत न होने के भय से वह शब्द समासयोग्य नहीं होता ।

खण्डिकेति खण्डो ग्रन्थसम्बन्धी न तु समस्तो ग्रन्थः स विद्यते येषाम् । अनवगततदभिप्रायैरिति । समर्थग्रहणं प्रति आचार्यस्य हि तैरभिप्रायो नावगतः । अभिधानाधानोद्धारेति । अभिधानानां शब्दानामाधानमभिनवानां न्यसनम् उद्धारः पूर्वकाणामुद्धरणम् । शालीना अधृष्टा अविचारका इत्यर्थः । अपरमपीति पुनरुक्तादिकम् । तच्चिन्तेति । प्रधानेतरभावेन समासासमासचिन्ता ।

प्रकरणेति । यत्रार्थप्रकरणादिना शब्दस्य वाच्योर्थः प्रकर्षाप्रकर्षादिकमर्थान्तरं प्रकाशयति तत्राभिप्रेतार्थविनाशभयात् समासो न कर्त्तव्यः । यथा 'रामस्य पाणिरसी'ति । प्रकरणशब्दादिसख इति पाठः । तथा काकुग्रहणेन स्वरविशेष उच्यते यः 'कालो व्यक्तिस्वरादयः' इति काव्यगतत्वेन स्वीकृतः ।

खण्डिकेति, खण्ड = किसी ग्रन्थ का अंश, न कि पूरा ग्रन्थ । उतना ही जिनकी थाती हो ।

अनवगततदभिप्रायैरिति—आचार्य के समर्थ शब्द का अभिप्राय उन्होंने नहीं जाना ।

अभिधानाधानोद्धार—अभिधान = शब्द—उसका आधान = प्रयोग अर्थात् नवीन शब्दों का प्रयोग, उद्धार = हटाना अर्थात् पुराने शब्दों का त्याग ।

शालीनाः—अधिक चतुर नहीं । अर्थात् अधिक विचार न कर सकने वाले ।

अपरमपि—अर्थात् और भी किसी पुनरुक्त द्विरुक्त आदि को ।

तच्चिन्ता—उस प्रधानेतरभाव से समास के होने न होने की चिन्ता ।

प्रकरण = जहाँ प्रयोजन और प्रकरण आदि से शब्द का वाच्य अर्थ प्रकर्ष और अपकर्षादि दूसरे अर्थों को प्रकाशित करना हो वहाँ विवक्षित अर्थ की प्रतीति के अभाव के भय से समास नहीं करना चाहिये । जैसे—'राम का पाणि है' इत्यादि में । 'कहीं' 'प्रकरण-शब्दादिसखः' यह (भी) पाठ है । काकु शब्द से एक विशेष प्रकार का स्वर कहा गया जो—'कालो व्यक्तिः' (इत्यादि) करके काव्य में माना गया है ।

विमर्श: यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि—'कालो व्यक्तिः स्वरादयः' में जो 'स्वर' शब्द आया है—उसे व्याख्याकार काकुवाचक मानते हैं। मम्मटाचार्य, विश्वनाथ कविराज और जगन्नाथ पण्डितराज ने इस जगह के स्वर शब्द को उदात्त आदि का वाचक माना है। मम्मटाचार्य और विश्वनाथ कविराज ने तो यह भी कहा है कि ये स्वर काव्य-मार्ग में नहीं गिने जाते, काव्य में उनका उपयोग नहीं होता।

एवं प्रसक्तानुप्रसक्तिक्रया समासगतत्वेन तदतिदेशेन समग्रवृत्तिगतत्वेनापि गुणप्रधानभावविवक्षां महता प्रपञ्चेन परिघट्य्य प्रकृतोदाहरणे षष्ठीतत्पुरुषगतत्वेन योजयितुमाह—इत्थमवस्थित इति।

इस प्रकार लगे में लगे—गुणप्रधानभाव का समास में और उससे आगे सभी वृत्तियों में काफी विस्तार से विचार कर प्रकृत उदाहरण में षष्ठी तत्पुरुष समास में उसे दिखलाने के लिये कहना शुरू करते हैं—इत्थमवस्थिते इत्यादि।

इत्थमवस्थिते समासासमासयोर्विषयविभागप्रतिनियमे सति यदेतदिहाऽम्बिकायाः केसरिणो विशेषणभावेनोपादानं तत् किमितरकेसरिव्यावृत्तिमात्रफलम् आहोस्विदसमासे वा समासादितभगवतीपादार्पणप्रसादोपनतविश्वातिशायिशौर्यातिरेकप्रतिपादनप्रयोजनम्।

इस प्रकार समास और असमास दोनों का विषय-विभाग निश्चित हो जाने पर केसरी के प्रति अम्बिका का जो विशेषण रूप से उपादान है वह क्या—दूसरे केसरियों की व्यावृत्ति के लिये है या समास न कर उस (केसरी) के ऐसे शौर्य को बतलाने के लिये जो भगवती के चरण रखने की कृपा से उसे प्राप्त है और जो सम्पूर्ण विश्व को मात करता है।

अम्बिकाया उपादानमिति सम्बन्धः। तत् किमिति। विशेषणस्यान्यकेसरिव्यावृत्तिर्वा, केसरिगतप्रकर्षप्रतिपादनं वा फलम्। आद्ये पक्षे निर्दिष्टचमत्कारासम्भावना। द्वितीये तु समासानुपपत्तिरिति तात्पर्यम्।

'अम्बिका का उपादान' इस प्रकार अन्वय करना चाहिये।

तत् किम् = विशेषण का फल क्या है—१-इतर केसरी की व्यावृत्ति या २-केसरी में उत्कर्ष की प्रतीति। प्रथम पक्ष में दिखाये जा रहे चमत्कार का असम्भव होगा और द्वितीय में—समास का न होना।

तत्र प्रथमपक्षे तस्य केसरिणो विवक्षितजातिमात्रविहितहेवाकातिरिक्तचमत्कारातिशयाभावोऽन्यकेसरिण इव निर्निबन्धन एव स्यात्।

न हि इतरेभ्योऽन्यसम्बन्धिभ्यः स्वतन्त्रेभ्योऽपि वा व्यावृत्तस्य तस्याऽम्बिकासम्बन्धमात्रात् तस्याः कामप्युपकारकणिकामनासादयत एवाकस्मात् तथाविधचमत्काराविर्भावः सम्भाव्यते।

'दोनों में से प्रथम पक्ष मानने पर इस सिंह में जो उत्कृष्ट (चमत्कारी) शौर्य का आविर्भाव दिखलाया गया है—जो सिंहजातिमात्र में प्राप्त होने वाली चेष्टाओं से भिन्न है, अन्य सिंहों के समान, उसके लिये कोई हेतु नहीं रह जाता। ऐसा सम्भव नहीं कि—दूसरों के सम्बन्धी या असम्बन्धी—स्वतन्त्र सिंहों से अलग करके दिखलाये गये इस सिंह में अम्बिका के सम्बन्धमात्र से, उसका थोड़ा भी अनुग्रह बिना पाये, ऐसे ही—उतना बड़ा शौर्य आ जाय।

विविक्षितपदं चमत्कारातिशयपदेन योजनीयम् ।

तस्या इत्यम्बिकायास्सकाशात् ।

विवक्षित पद को चमत्कारातिशय के साथ जोड़ना चाहिये।

तस्याः = अर्थात् अम्बिका के पास से ।

विमर्श : यहाँ मूल में यह कहा गया है—कि अम्बिका के सिंह—में दिग्गज और प्रलयघटा को देखकर भी चमत्कृत न होने का जो एक सर्वातिशायी शौर्य आया है उसका हेतु अम्बिका का प्रसाद ही है, जो अन्य सिंहों को प्राप्त नहीं है। यदि यह मान लिया जाय कि यहाँ अम्बिका-केसरी शब्द में अम्बिका का ग्रहण अम्बिका-सिंह से भिन्न सिंहों से अलग कर अम्बिका-सिंह को बतलाने भर के लिये किया गया है, तो अम्बिका-सिंह में अधिक शौर्य होते हुए भी उसका कोई हेतु प्रतीत नहीं होता जैसे इतर सिंहों में अधिक शौर्य के हेतु का अभाव है। फलतः जिस प्रकार अन्य सिंहों में अधिक शौर्य प्रतीत नहीं होता केवल जातिसुलभ शौर्य ही प्रतीत होता है—अम्बिका-सिंह में भी उतना ही शौर्य प्रतीत होगा। अधिक नहीं जो कि विवक्षित है। इस प्रकार अम्बिका इस विशेषण को केवल इतरव्यावर्तक मानने पर अम्बिकाकेसरी में विवक्षित शौर्याधिक्य की प्रतीति नहीं होती, जो वस्तुतः दोष है। यहाँ 'चमत्कारातिशयाविर्भावः' पाठ मानने पर चमत्कारातिशय शब्द का अर्थ संरम्भ = करिकीट......चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिकाकेशरी—में आए चमत्कारातिशय-शब्द के अर्थ से भिन्न मानना होगा। श्लोक में काकु द्वारा चमत्कारातिशय का अभाव उस सिंह में बतलाया गया है, आविर्भाव नहीं। इस प्रकार यहाँ चमत्कारातिशय का अर्थ शौर्याधिक्य करना उचित है। इस अर्थ में 'अन्यकेसरिण इव निर्निबन्धन एव स्यात्'—इस अंश का अर्थ कठिनाई से निकलता है। 'चमत्कारातिशयाभाव' पाठ मानने पर 'अधिक चमत्कार के अभाव का हेतु जैसे अन्य सिंहों में नहीं वैसे ही इस सिंह में भी नहीं मिलता' यह अर्थ बैठ जाता है। और चमत्कारातिशय शब्द का श्लोक के चमत्कारातिशय शब्द से समन्वय भी हो जाता है। व्याख्यान में केवल चमत्कारातिशय शब्द दिया है—उसका आविर्भाव नहीं।

अथ जात्यन्तरावच्छिन्नो विशिष्ट एव केसरी केसरिशब्देनात्राभिमतः यत्र स्वजातिनियत एव स तादृशोऽतिशयो येनासावितरकेसरिसाधारणेन हेवाकलवेन लज्जमानः करकीटजलदशकलावज्ञया दिग्द्विरदप्रलयपयोदघटाबन्धेऽपि न संरभते, यथा 'मोहन्तु हरेर्विहङ्गमो हन्तु' इत्यत्र विहङ्गमशब्देन विहङ्गमविशेषो गरुडजात्यवच्छिन्नः कश्चिदेव प्रत्याय्यते।

तत्र च यथा भगवतो हरेरतिशयाधानानपेक्षयैव सम्बन्धमात्राद् विशेषणभावस्तद्वदिहापि भविष्यतीत्युच्यते, तदप्ययुक्तम्। भगवत्यनुग्रहसम्पत्सम्पर्कशून्यस्य कस्यचिदेवंविधस्य केसरिविशेषस्य भगवतीवाहनत्वेनाप्रसिद्धेः।

और यदि 'दूसरी जाति का कोई अन्य केसरी यहाँ केसरी शब्द से मान्य हो, जिसमें अपनी जाति के गुण से ही वैसा कोई वैशिष्ट्य है जिससे वह अन्य सिंहों में प्राप्त तनिक से चमत्कार से लज्जित होता है और छोटे हाथी तथा मेघखण्डों को कुछ न समझकर दिग्गज तथा प्रलयकाल की मेघघटा को भी कुछ नहीं समझता। जैसे—'मोह को हरि का विहङ्गम दूर करे।' यहाँ विहंगम शब्द से एक विशिष्ट विहङ्गम जो गरुड जाति का होता है, बतलाया जाता है।'

और वहाँ ('मोहं तु—हन्तु'-में) जैसे भगवान् विष्णु को किसी अतिशयाधान की दृष्टि से नहीं, अपितु संबन्धमात्र से विशेषण बनाया जाता है—उसी प्रकार यहाँ (अम्बिकाकेसरी) भी—माना जा सकता है—ऐसा कहते हैं—तो वह भी ठीक नहीं। कारण की अम्बिका के अनुग्रह की संपत्ति से रहित इस प्रकार का अन्य कोई भी सिंह अम्बिका के वाहन रूप से प्रसिद्ध नहीं है।

जात्यन्तरं विशिष्टावान्तरकेसरिजातिः तयावच्छिन्नो विशिष्टः। विशिष्ट एवेति लोकोत्तरः। मोहन्त्विति हरेर्विहङ्गमो गरुडः मोहमज्ञानं हन्त्वित्यर्थः। गरुडजात्यवच्छिन्न सौगतदृशा गरुडानां बहुत्वादिति भावः। विहङ्गमविशेषत्वं तु जात्यादिवैलक्षण्यात्।

जात्यन्तरम् = किसी विशिष्ट केसरी की ही कोई अवान्तर जाति, उससे युक्त।

विशिष्ट एव = असाधारण।

मोहं तु०—हरि का पक्षी मोह = अज्ञान को नष्ट करे।

गरुडजात्यवच्छिन्न—बौद्धमत के अनुसार गरुड अनेक हैं। विहङ्गमविशेषत्वम्—जाति आदि की विशिष्टता से पक्षी की विशिष्टता।

न चायमर्थः कवेरभिप्रेतः। तथा ह्यसमाभियोगाभिमुखीभूतभगवत्सरस्वतीप्रसादासादितासामान्यवैदुष्यातिशयशालिनमात्मानं मन्यमानस्य कस्यचित् कवेरितरमनीषिमात्रसमुचितेनाचरितेन लज्जमानस्य महतोऽपि तज्जातीयानगणयतो निजगुणगरिमोद्दामकण्डूविनोदसुखसमाश्रयमनुरूपमपरमपश्यतः सहृदयचूडामणिमानिनो विमनसः समानधर्माणमप्रकृतमेवाम्बिकाकेसरिणं पुरस्कृत्य स्वाभिप्रायाविष्करणमेतत्।

न च तत्र स्वाभाविक एव कवेर्विद्याचमत्कारातिशयलाभोऽभिमतः अपि तु सरस्वतीपादप्रसादजनित एव। तस्याश्चात्मनश्चोभयोरपि बिम्बप्रतिबिम्बभावेनाम्बिकाकेसरिणोरुपादानात्।

और न कवि को यह अर्थ अभिप्रेत ही है, क्योंकि यह अपने जैसे सिंह को आगेकर किसी ऐसे कवि ने अपना अभिप्राय व्यक्त किया है जो निज को असाधारण उपासना से प्रसन्न भगवती सरस्वती की कृपा से असामान्य और चमत्कारपूर्ण वैशिष्ट्य से युक्त मानता था, जो अन्य सभी विद्वानों के जैसे आचरणों से लज्जित होता था, और बड़े-बड़े प्रसिद्ध विद्वानों को जो नहीं गिनता था जिसे अपनी गुणगरिमा की उद्दाम खुजलाहट शांत करने का कोई दूसरा अपने जैसा आश्रय नहीं दीखता था, और जो अपने आपको सहृदयों में भी शिरोमणि मानता था, इसलिये जो उदास था। कवि के इस कथन में कवि की विद्या का अतिशयित चमत्कार—(बिना कुछ किए सहज रूप से) स्वभावतः प्राप्त है ऐसा मान्य नहीं, अपितु उसे वह सरस्वती के प्रसाद से प्राप्त है—ऐसा मान्य है। क्योंकि इसलिये—सरस्वती और खुद दोनों के लिये बिम्बप्रतिबिम्बभाव से यहाँ अम्बिका और केसरी का उपादान किया गया।

स्वाभिप्रायाविष्करणमिति। **सादृश्यमूलयाऽप्रस्तुतप्रशंसयेति भावः। तस्याश्चेति तच्छब्देन सरस्वती परामृष्टा। सरस्वत्या अम्बिका प्रतिबिम्बम् आत्मनश्च केसरीत्यर्थः।**

स्वाभिप्रायाविष्करणमिति—सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा द्वारा।

तस्याश्च = तत् शब्द से यहाँ सरस्वती का निर्देश किया गया। सरस्वती का प्रतिबिम्ब है अम्बिका और अपना (कवि का) सिंह।

द्वितीयपक्षपरिग्रहे पुनर्न भवितव्यमेव समासेन, अम्बिकाया विशेषणभूताया उत्साहपरिपोषपर्यवसायिकेसरिचमत्कारातिशयाधाननिबन्धनभावेन विधेयतया प्राधान्येन विवक्षितत्वात् समासे चास्य विध्यनुवादभावस्य निमज्जनादित्युक्तमेव।

द्वितीय पक्ष (समास न करके सिंह पर अम्बिका के अनुग्रह से शौर्यातिरेक बतलाने के लिये अम्बिका पद का उपादान)—स्वीकार करने पर तो समास यहाँ नहीं ही होना चाहिये। कारण कि (केसरी के प्रति) विशेषणभूत अम्बिकारूपी अर्थ प्रधान रूप से विवक्षित होगा, और वही विधेय होगा, इसलिये कि उत्साह को परिपुष्ट करने वाला केसरीगत जो अतिशय चमत्कार = शौर्य है उसका वह (अम्बिका पदार्थ) कारण है। समास करने पर यह विध्यनुवादमात्र स्फुट नहीं होता। ऐसा पहले कहा ही जा चुका है।

द्वितियपक्ष इति। केशरिगतप्रकर्षप्रतिपादनपक्षे।

द्वितीयपक्ष = केसरी के प्रकर्ष का प्रतिपादन।

ननु च यदि विशेषणस्य विवक्षितत्वे सति विशेष्यस्य कोऽपि चमत्कारः समुन्मिषति स च तस्य समासेऽस्तमुपयातीत्युच्यते तर्हि समासादसौ न प्राप्नोति, इष्यते च कैश्चित् ततोऽपीति वृत्तिवाक्ययोस्तस्य यदेतदुदयास्तमयपरिकल्पनं तदयुक्तमेव।

उच्यते। उदयास्तमययोर्यत् तावदर्थस्य वैचित्र्यं तदुपदर्शितमेव प्राक्। यत् पुनः समासचमत्काराभावप्राप्तिप्रसञ्जनं,न तच्चोद्यम्, इष्टं हि नामाप्राप्तच्चा चोद्यते। न चास्माभिरसौ समासादपीष्यते, वाक्यादेव तत्सिद्धेरिष्टत्वात् यैस्तु ततोऽपीष्यते तेषां वृत्तिवाक्ययोर्नूनमिदमर्थवैचित्र्यं न प्रतिभातमेव।

(शंका) यदि यह कहा जाता है कि 'विशेषण विवक्षित हो तो उससे विशेष्य में विशेषता दिखाई देती है—पर समास करने पर नहीं'—तो (इसका अर्थ यह हुआ कि) समास से वह (विशेषता) व्यक्त नहीं होती, पर कुछ लोग उसे उस समास से भी मानते हैं—इसलिये (उनकी दृष्टि से) वृत्ति (समास) में इस (चमत्कार या विशेषण द्वारा विशेष्य में आई विशेषता) के अस्त और वाक्य में उदित होने की बात ठीक नहीं।

(समाधान) उदय और अस्त में जो पदार्थगत विशेषता दिखाई देती है—उसे पहले ही दिखलाया जा चुका है, और जहाँ तक 'समास में चमत्कार नहीं रहता' इस सिद्धान्त पर आपत्ति की बात है—उसे (हमारे सामने) नहीं उठाना चाहिये, कारण कि जो तथ्य अभिमत होता है—यदि वह प्राप्त (सिद्ध) नहीं हो रहा हो तो उसके लिये तर्क उठाया जाता है, यह (चमत्कार) समास से भी प्राप्त होता है—ऐसा हमें मान्य नहीं। उसकी प्राप्ति वाक्य से ही होती हुई मान्य है। जिन्हें उस (समास) से भी चमत्कार-प्राप्ति होती है उन्हें निश्चित ही समास और वाक्य का यह अर्थभेद नहीं सूझा।

समासादसाविति अम्बिकाकेसरिशब्दाद् उन्मिषत्येव स चमत्कार इत्यर्थः। उदयास्तमयेति। वृत्तौ चमत्कारस्यास्तमयता, वाक्ये उदय इति चूलिकाक्रमेण योगः। उपदर्शितमेव प्रागिति उदाहरणप्रत्युदाहरणप्रदर्शनद्वारेण। इष्टं हीति अभिप्रेतस्या-

प्राप्तिर्या, सा चोदनार्हा इष्टमेतन्न सिध्यतीति। यत्तु नाभिप्रेतं तस्याप्राप्तिर्भूषणं न तु दूषणमित्यर्थः। अस्माभिरसाविति असौ चमत्कारः।

समासादसा०—अर्थात् अम्बिकाकेसरी—इस (समासयुक्त) शब्द से भी वह चमत्कार मिलता ही है।

उदयास्तमय—वृत्ति (समास) में चमत्कार अस्त होता है, और वाक्य में उदित,—इस प्रकार उलटकर पदार्थों का योग करना चाहिये।

उपदर्शितमेव प्राक्—अर्थात् उदाहरण प्रत्युदाहरण-दिखलाकर।

इष्टं हि—मान्य अर्थ का न मिलना। उस पर कहा जा सकता है—यह मान्य है और स्पष्ट नहीं हो रहा है। जो अमान्य नहीं है—उसका न मिलना अच्छा ही है, दोषावह नहीं।

अस्माभिरसौ—हमने यह—अर्थात् चमत्कार।

या पुनरेषां वृत्तेरपि चमत्कारातिशयावगतिः यथा—

"मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम्" इति।

अत्रार्यानुज इत्यतस्तातकलत्रमित्यतश्च सा भ्रान्तिरेवाभिमानिकी शुक्तिरजतप्रतीतिवत्। परमार्थतस्तु सा व्याख्यावाक्यादेव तेषां, न समासात्, केवलं तत्रारोपितेत्युदयास्तमयपरिकल्पनमुपपन्नमेवेति सिद्धम्।

इन लोगों की जो समास में भी चमत्कार-प्राप्ति की बात है—जैसे—'मिथ्यैतन्मम चिन्तितम्' इस पद्य में 'आर्यानुज' इस शब्द से और 'तातकलत्र' इस शब्द से वह उनकी आभिमानिकी भ्रान्ति है, जैसे शुक्ति में रजत की प्रतीति। सच पूछिए तो वह व्याख्या वाक्य से ही (प्राप्त होती है)। समास से नहीं। केवल समास पर वह लाद दी गई है। इसलिये (वृत्ति से चमत्कार के) अस्त और (वाक्य से चमत्कार के) उदय को जो बतलाया है वह ठीक ही है—यह सिद्ध होता है।

सा भ्रान्तिरेवेति निर्विकल्पाविकल्पभेदेन द्विविधा भ्रान्तिः। तत्राद्या तिमिराद्युपप्लुतेन्द्रियस्य द्विचन्द्रादिप्रतीतिरूपा। द्वितीया त्वभिमानरूपा शुक्तिरजतादिप्रतीतिस्वरूपा। सेति चमत्कारावगतिः। व्याख्यावाक्यादेवेति अम्बिकायाः केसरीति समासविवरणवाक्यात्। तेषामिति प्रतीतिवैचित्र्यानभ्युपगमवादिनाम्। तत्रारोपितेति तत्र समासे शुक्तिस्थानीये रजतमिवारोपिताऽवास्तवीत्यर्थः। उदयास्तमयपदौ क्रमाद् वाक्यसमासगतौ।

सा भ्रान्तिः—भ्रान्ति दो प्रकार की होती है, निर्विकल्प और अविकल्प। दोनों में प्रथम है—रतौंधी आदि रोग से मारी गई आँख वाले को दो चन्द्रों की प्रतीति, दूसरी है अभिमान रूप—जैसे—शुक्ति में रजत की प्रतीति।

सा—चमत्कार की अवगति।

व्याख्यावाक्यादेव—अम्बिका का केसरी इस प्रकार से समास को तोड़ने से बने वाक्य से।

तेषाम्—अर्थात् जिन्हें प्रतीति में भेद मान्य नहीं है।

तत्रारोपिता—तत्र समास में अर्थात् शुक्ति के समान समास पर रजत के समान आरोपित अर्थात् अवास्तविक। उदय और अस्तमय की बात क्रमशः वाक्य और समास से लागू होती है।

विमर्श : व्याख्याकार द्वारा यहाँ दो प्रकार की भ्रान्तियों का निरूपण किया गया है एक निर्विकल्प और दूसरी अविकल्प। दोनों के उदाहरण दिए गए हैं। क्रमशः तिमिर (रतौंधी) रोग आदि

से विकृत नेत्रवाले को दो चन्द्रों आदि की प्रतीति तथा सीप में चाँदी की प्रतीति। इनमें द्वितीय को आभिमानिकी भ्रान्ति कहा गया है। उदाहरणों से स्पष्ट है कि—आभिमानिकी भ्रान्ति वह है जिसमें दोष विषयगत हो प्रमाणगत नहीं। उदाहरण 'शुक्तिकारजत' में चाकचक्यरूपी दोष शुक्तिका में रहता है द्रष्टा की आँखों में नहीं। समास में विधेयताकृत चमत्कार की प्रतीति भी आभिमानिकी भ्रान्ति ही है, कारण कि दोष वस्तुतः कवि की समासपूर्ण वाक्ययोजना में ही है, पढ़नेवाले की बुद्धि में नहीं। वस्तुतः यहाँ आभिमानिकी भ्रान्ति का अर्थ प्रातिभासिकी प्रतीति करना चाहिये, जैसे भूत प्रेत की प्रतीति होती है। उसका स्थूल शरीर नहीं रहता किन्तु द्रष्टा कभी-कभी देखता है। वस्तुतः वह द्रष्टा द्वारा ही कल्पित आकार है। इसी प्रकार समास में चमत्कार कतई रहता ही नहीं। इतने पर भी जिन्हें समास में भी चमत्कार की प्रतीति होती है उनकी यह प्रतीति भ्रान्ति ही है और उसका कोई आधार न होने से वह आभिमानिकी है 'भ्रान्तिरेवाभिमानिकी' को बदलकर 'प्रतीतिरेवाभिमानिकी' पाठ बनाना, जैसा कि चौखम्भा के पिछले संस्करण में दिखाई देता है, सर्वथा अनुचित है।

तस्मादेवमत्र पाठः कर्तव्यः—

"उद्योगः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः
सर्वस्यैव स जातिमात्रनियतो हेवाकलेशः किल।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽपि नोद्युक्तवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं गौर्या हरिर्यातु सः॥" इति।

इत्थश्चोक्तदोषत्रयावकाशः प्रतिविहितो भवति।

इसलिए यहाँ ऐसा पाठ बना लेना चाहिए—[उद्योगः—हरिर्यातु सः]

'करिकीट (छोटे हाथी) और मेघशकल (छोटे मेघ) के प्रति सिंह का जो अभियोग है वह एक ऐसी तुच्छ चेष्टा है जो प्रत्येक सिंह में सहज (जन्मसिद्ध) है, ऐसा सोचकर जो दिग्गजों तथा प्रलयघटाओं पर भी अभियोग नहीं करता वह भगवती पार्वती का सिंह, अतिशय चमत्कृत होना तो दूर रहा थोड़ा भी चमत्कृत किसे देखकर हो।'

इस प्रकार (का पाठ बनाने से) तीनों दोषों की जड़ कट जाती है (उनका निराकरण हो जाता है)।'

उद्योग इति। संरम्भपदं निरस्योद्योगपदकरणं प्रक्रम्यमाणोद्युक्तवत्पदक्रमाभेदाय। योऽसावित्यदः शब्दःप्रसिद्धिपरामर्शकः यच्छब्दप्रतिनिर्देशस्य तच्छब्देन करिष्यमाणत्वात्।

उद्योग—यहाँ संरम्भ-पद हटाकर उद्योग-पद आगे आनेवाले 'उद्युक्तवत्' से मेल रखने के लिए रखा गया है।

योऽसौ—इसका 'अदः' शब्द प्रसिद्धि का परामर्शक है क्योंकि 'यत्' शब्द का प्रतिनिर्देश 'तत्' शब्द से किया जानेवाला है।

यद्यपि च योऽसावित्यत्र प्रतिपादिताभिसम्बन्धक्रममेकमेव तदमुपादाय सोऽयमिपि पाठे विपर्यासिते सत्येकवाक्यतायां न यथोक्तयत्तदभिसम्बन्धदोषावकाशः, यथा—

"तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम्।
वसुन्धरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन॥" इत्यत्र।

तथापि तत्रार्थस्य चमत्कारातिशयो न्यग्भवत्येव। स हि भिन्नवाक्यतायामेव सहृदयैकसंवेद्यः समुन्मिषतीति तदनुगुणार्थोऽयमेव पाठः श्रेयानिति।

यद्यपि 'योऽसौ' की जगह जिसके अभिसम्बन्ध का प्रकार बतलाया जा चुका है (केवल तच्छब्द के प्रयोग से भी आर्थ उपक्रमोपसंहार क्रम बतलाया गया है) ऐसे एक ही तद् शब्द को दे देने से पाठ बदलकर 'सोऽयम्' किया जा सकता है, उससे वाक्य एक ही रहेगा और कोई यद्-तद् के अभिसम्बन्ध का दोष भी नहीं रहेगा, जैसा कि—

'चल पड़े उस (कुश) की सेनाओं को पीड़ा को सहने में असमर्थ होती हुई सी पृथिवी धूल के बहाने आकाश में चढ़ गई।' (१६।२८ रघु०) में है, तथापि इस पाठ में अर्थ का चमत्कारातिरेक छिप ही जाता है। वह भिन्न वाक्य में ही उभरता है और केवल सहृदय-जन को दिखाई पड़ता है। इसलिए इसके अनुरूप यही पाठ अधिक उपयुक्त है।

प्रतिपादितेति। **आर्थो हि केवलतच्छब्दस्य प्रयोगनिबन्धन उपक्रमोपसंहारक्रमः प्रतिपादित एव।**

रजश्छलेनेति। **छलेवशब्दप्रयोगे सापह्नवेयमुत्प्रेक्षा। केवलच्छलशब्दप्रयोगेऽपह्नुतिः। केवलेवशब्दप्रयोगे च सम्भावनप्रतीतावुत्प्रेक्षा। द्वयप्रयोगे तु शबला प्रतीतिः। न चात्रापह्नुत्युत्प्रेक्षयोः सङ्करः। उत्प्रेक्षा ह्यपह्नुत्यविनाभाविनी। सोऽपह्नवः क्वचित् गर्भीकृतो यथा 'नखक्षतानीव वनस्थलीनामि'त्यत्र, न पलाशानि किन्तु सम्भावयामि नखक्षतानीति प्रतीतेः। क्वचित्तु शब्देन प्रतिपाद्यते यथा 'अध्यारुरोहेवे'ति। एवञ्चास्या अपह्नुत्यविनाभाविन्या अपह्नुतिबाधकत्वं, न तया सह सङ्करः।**

भिन्नवाक्यतायामेवेति। **तत्र हि विध्यनुवादभाव आञ्जस्येन क्रमेण प्रतीयते।**

प्रतिपादितेति = केवल तत् शब्द के प्रयोग से होने वाला आर्थ उपक्रमोपसंहारक्रम बतलाया ही जा चुका है।

रजश्छलेन—'छल' और 'इव' शब्द के प्रयोग से यहाँ यह अपह्नव से युक्त उत्प्रेक्षा हुई। केवल 'छल' शब्द के प्रयोग में अपह्नुति होती, और केवल 'इव' शब्द के प्रयोग में सम्भावनामूला उत्प्रेक्षा, दोनों के प्रयोग में जो प्रतीति हो रही है वह दोनों (अपह्नव और सम्भावना) से मिश्रित है।

यहाँ अपह्नुति और उत्प्रेक्षा का संकर भी नहीं माना जा सकता उत्प्रेक्षा तो अपह्नुति से कभी भी अलग नहीं रहती। यह अपह्नव कहीं उत्प्रेक्षा में छिपा रहता है जैसे—'नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्' में, कारण कि—'पलाश नहीं, ऐसा लगता है कि नखक्षत है' ऐसी प्रतीति होती है। कहीं (वह = अपह्नव) शब्दतः कथित होता है जैसे—यहीं 'अध्यारुरोहेव' में। इसलिए उत्प्रेक्षा अपह्नुति के बिना नहीं होती अतः उसे अपह्नुति की बाधिका मानना चाहिए, अपह्नुति के साथ उसका संकर नहीं।

भिन्नवाक्यतायामेवेति—वाक्य भिन्न होने पर विध्यनुवादभाव साफ-साफ और यथाक्रम सामने आता है।

विमर्श : इस स्थल में व्यक्तिविवेक-व्याख्यानकार ने एक अप्रासंगिक विवेचन किया, उन्हें विवेचन तो करना था 'तस्य प्रयातस्य' पद्य में आई एक व्याख्या पर, किन्तु वे विवेचन कर गए इस पद्य के अलंकार पर। इस पद्य में—शुरू से आखीर तक एक ही वाक्य है। जैसे यहाँ यत् और तत् को नहीं दिया, अतः अनेक सम्बन्ध के बनने-बिगड़ने की बात ही नहीं रही—ठीक

वैसे है 'उद्योगः करिकीट' इसके संशोधित पाठ में भी 'योऽसौ' की जगह 'सोऽयं' पाठ में वह यत्-तत् का दोष नहीं रहता। दोषपरिहार की दृष्टि से यह पाठ भी अच्छा था। परन्तु मूलकार का कहना है कि उद्देश्यविधेयभाव एक वाक्य में उभरता नहीं है, वह सदा भिन्न वाक्यों में ही उभरता है इसलिए 'योऽसौ—सः' ऐसा ही पाठ ठीक है। व्याख्यानकार—यहाँ उत्प्रेक्षासिद्धि करते हैं। उनका कहना है कि छल शब्द के आधार पर अपह्नुति भी मानी जा सकती है केवल अपह्नुति नहीं। और न दोनों का संकर। अपह्नुति तो सर्वत्र भासित होती है कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट अतः सादृश्य के समान वह भी उत्प्रेक्षा द्वारा बाध्य है। विवृतिकार ने प्रस्तुत पद्य—का अर्थ करते हुए लिखा है—'प्रयातस्य युद्धार्थमभिगच्छतः तस्य राज्ञः' यहाँ एक तो प्र—पूर्वक 'या' धातु का पर्याय 'अभि' पूर्वक 'गम्' धातु नहीं होती, निर्—उपसर्गपूर्वक 'गम्' धातु हो सकती है। इसके अतिरिक्त यह पद्य रघुवंश में कुश के लिए लिखा गया है, जब वह कुशावती से राजधानी हटाकर अयोध्या ले जा रहा था, इसलिए 'योद्धुं गच्छतः' यह असंगत है। कदाचित् उन्हें यह विदित नहीं कि यह पद्य कहाँ का है। इसीलिए उन्होंने 'तस्य' का पर्याय 'राज्ञः' दिया 'कुशस्य' नहीं।

मूलकार ने 'संरम्भः करिकीट' को सुधार कर जो पद्य उपस्थित किया उस पर अधिक विवेचन किया जाये तो और भी कई दोष दिखाई देते हैं जैसे—

'न उद्युक्तवान् यः' इसमें विधेयाविमर्श। विधेय उद्देश्य के बाद आना चाहिए। उद्युक्तवान् यत्पदार्थ में विधेय है अतः 'यो नोद्युक्तवान्' पाठ होना चाहिए। जैसा कि स्वयं ग्रन्थकार ने—'शय्या शाद्वलम्' पद्य में आगे स्थिर किया है

इसी प्रकार अतिशय पद के प्रयोग में अवाच्यवचन दोष है। उसके बिना भी चमत्कारमात्र से काम चल सकता है। अथवा उसे पुनरुक्त कहा जा सकता है जैसे कि 'प्रयुक्ते चाप्रयुक्ते च यस्मिन्' से स्पष्ट किया है। यदि चमत्कार में कोई विशेषता लानी है और उससे सिंह में तो उसके साथ लव और लेश आदि शब्द जोड़ने में अतिशय नहीं। कहना था कि जब प्रलयघटा और दिग्गजों पर भी उसे चमत्कार नहीं हुआ तो अब ऐसी कौन सी जगह है जहाँ उसे थोड़ा भी चमत्कार हो। अतिशय से यह अर्थ निकलता है कि वह दिग्गज आदि में थोड़ा बहुत तो चमत्कृत होता ही है—ऐसा करने पर—'नोद्युक्तवान्' का विरोध होता है। चमत्कृत होना भी एक मानस उद्योग है।

फिर नोद्युक्तवान् की जगह—'नोद्योगवान्' पाठ चाहिए। 'करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य य उद्योगः स जातिमात्रनियतः हेवाकलेशः, इति आशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽपि योऽसौ उद्योगवान् न'—इस प्रकार कहने से छोटे सिंहों में जिस उद्योग का अस्तित्व दिखलाया गया—उसका स्पष्ट अभाव इस सिंह में भासित होता है। उद्युक्तवान्—में उद्योग अत्यधिक प्रच्छन्न हो जाता है। और भी कई दोष इस संशोधित पद्य में भी है जैसे द्वितीय चरण का अन्तिम स्वर लघु है। गुरु होना चाहिए। वस्तुतः पाठ ऐसा कुछ होना चाहिए—

'संरम्भो गजजाति-मेघनिवहोद्देशेन सिंहेषु यः
सर्वेष्वेव स तेषु हन्त सहजो नो मादृशां कीर्त्यते।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेऽप्युपेक्षाञ्चितो
गौर्यां यः किल सिंहराट् स लभतां संरम्भलाभं क्व वा॥'

यत्रोत्कर्षोऽपकर्षो वा विशेष्यस्य विशेषणात्।
तदेव वा विधेयं स्यात् समासस्तत्र नेष्यते॥ २६॥

अन्यत्र त्वर्थसम्बन्धमात्रे वक्तुमभीप्सिते ।
कामचारस्तदर्थं हि समर्थग्रहणं मतम् ॥ २७ ॥
न तु सापेक्षताद्यन्यदोषजातनिवृत्तये ।
पित्रोः स्वतेव वन्द्यत्वे सा हि न्यायेन सिध्यति ॥ २८ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः

जहाँ विशेषण से विशेष्य का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है अथवा वही (विशेषण) विधेय होता हो तो वहाँ समास नहीं किया जाता और जहाँ कहीं केवल अर्थों का सम्बन्धमात्र अभीष्ट हो वहाँ समास करने न करने की छूट है, इसके लिए ही (समर्थः पदविधिः' सूत्र में) समर्थ-ग्रहण किया गया है, न कि सापेक्षता आदि अन्य दोषों की निवृत्ति के लिए। वह (अन्य दोषों की निवृत्ति) तो अपने आप सिद्ध हो जाती है जैसे माता-पिता के पूज्यत्व में स्वता (अर्थात् पुत्र का निजत्व = उसके अपने ही माता-पिता—उसके लिए पूज्य हो सकते हैं)।

तदेव वेति **विशेषणम् , विध्यनुवादभावविवक्षायां विधेयम् । अन्यत्रेति उत्कर्षापकर्षयोर्विधेयत्वस्य चाभावे ।** कामचार **इति समासासमासयोः ।** तदर्थमिति **उत्कर्षादिविषयो हि समासनिषेधार्थम् ।** सापेक्षेति **सापेक्षमसमर्थं भवतीत्येतावन्मात्रप्रतीतये ।** पित्रोः स्वतेवेति **यथा पितरौ वन्दनीयाविति नित्यसंबन्धन्यायाद् निजावेव पितरौ प्रतीयेते, तद्वद् सापेक्षाणामनभिधानाख्येन न्यायेन समासाभावः प्रत्येष्यते । स्वता आत्मीयत्वमिव । सा दोषप्रकारनिवृत्तिः ।**

तदेव वेति = अर्थात् विशेषण । वह (विशेषण) विध्यनुवादभाव की विवक्षा में विधेय होता है।

अन्यत्र—उत्कर्ष, अपकर्ष और विधेयता के अभाव में ।

कामचारः—अर्थात् समास और समासाभाव से ।

तदर्थम्—उत्कर्ष आदि के लिये, समास-निषेध करने के लिये ।

सापेक्ष०—जो सापेक्ष होता है वह असमर्थ होता है—इतने ही को बतलाने के लिये ।

पित्रोः स्वतेव—जैसे माता-पिता पूज्य हैं ऐसा कहने पर नित्य सम्बन्ध होने से अपने ही माता-पिता का (पूजाविषयरूप से) भान होता है उसी प्रकार 'सापेक्ष पदार्थों का अभिधान नहीं होता' इस न्याय से समास की अप्राप्ति भी भासित हो जायेगी ।

स्वता = आत्मीयता—अपनापन ।

सा—अन्य दोषों की निवृत्ति (पूर्वार्ध में कथित ।)

अधुना सर्वोत्कर्षशालिताप्रकटनार्थं स्वपरिश्रमं पिण्डीकृत्य श्लोकेन दर्शयितुमाह काव्यकाञ्चनेति ।

अब अपनी सर्वोत्कृष्टता जतलाने के लिये अपने परिश्रम को इकट्ठा कर श्लोक द्वारा दिखलाने के लिये कहते हैं—

काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि ।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शितो मया ॥ २९ ॥

'अपने आपको काव्यरूपी सुवर्ण के लिए कसौटी मानने वाले कुन्तक ने अपने 'काव्यलक्षण' ग्रन्थ (वक्रोक्तिजीवित) में जिसे सब प्रकार से निर्दोष बतलाया था—वही यह श्लोक मैंने भी उपस्थित किया ।

काव्यमेव परीक्षणीयत्वात् सुवर्णं तत्र परीक्षास्थानं निकषोपलमात्मानं मन्यते, न पुनरुक्तक्रमेण परमार्थतस्स निकषोपलः। अत एव कुन्तकेनेति ख्यातस्याप्युल्लुण्ठवचनम्। श्लोक एष इति। यः सर्वसारतया प्रदर्शितस्तत्रेयती दूषणवृष्टिर्मुक्ता। तत्रान्यस्य ग्रन्थस्य का गणनेति सूचितम्। निदर्शितः स्थालीपुलाकन्यायेनोदाहृतः।

अत्र श्लोके वक्ष्यमाणैतदीयन्यायानुसारेण कषेण नियमेन काञ्चनपदं पौनरुक्त्यदोषदुष्टम्। निजकाव्यलक्ष्मणीनांस्यत्र निजार्थस्य संरम्भास्पदत्वेन विधेयत्वात् समासकरणं विधेयाविमर्शदूषितं केचिदाचक्षते विचक्षणाः। तत्त्वनेनैव ग्रन्थकृता 'स्वकृतिष्वयन्त्रित' इत्यादिना दत्तोत्तरमेव। अस्य च विधेयाविमर्शस्यानन्तेतरप्रसिद्धलक्ष्यपातित्वेनास्माभिर्नाटकमीमांसायां साहित्यमीमांसायां च तेषु तेषु स्थानेषु प्रपञ्चः प्रदर्शित इति ग्रन्थविस्तरभयादित एवोपरम्यते।

काव्य ही परीक्षणीय होने से सुवर्ण हुआ। उसके लिए परीक्षा का स्थान हुआ कसौटी का पत्थर, कुन्तक स्वयं को तद्रूप (कसौटीरूपी पत्थर रूप) मानता है, वस्तुतः उक्त ढंग से वह सच्चा निकषोपल नहीं है। इसीलिए—'कुन्तकेन', इस प्रकार प्रसिद्ध व्यक्ति को भी भर्त्सना की दृष्टि से नाम द्वारा बतलाया।

श्लोकस्य—जिसे सब प्रकार से सुन्दर कहकर उदाहरण रूप उपस्थित किया उसमें इतनी बड़ी दोषों की झड़ी लगाई। तब और (शेष)—ग्रन्थ की तो बात ही क्या।

निदर्शितः—स्थालीपुलाकन्याय से दिखलाया (जैसे अंदाज के लिए बटलोई का एक कण टटोला जाता है—वैसे एक अंश देखा)।

'इस श्लोक में इन्हीं के आगे बतलाये नियम के अनुसार 'कष' कहते ही नियमतः काञ्चन की प्रतीति हो जाती है अतः कांचन पद पौनरुक्त्य दोष से युक्त है। निज काव्य-लक्षण में निजपदार्थ पर कवि का संरंभ है। अतः वह विधेय है। इसलिए उसके साथ किया समास विधेयाविमर्श दोष से युक्त है।' ऐसा कुछ बुद्धिमान् लोग कहते हैं किन्तु उन्हें तो स्वयं ग्रन्थकार ने 'स्वकृतिस्वयन्त्रितः०' इस प्रकार पहले ही उत्तर दे दिया है। यह विधेयाविमर्श दोष दूसरे अनेक पद्यों में आता है। उसे हमने नाटकमीमांसा और साहित्यमीमांसा में स्थान-स्थान पर विस्तारपूर्वक दिखलाया है इसलिए ग्रन्थ के विस्तार के भय से हम इसे यदि छोड़ते हैं।

विमर्श : राजानक कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ में 'संरम्भः करिकीट०' पद्य पर इस प्रकार विवेचन किया है—

'अत्र करिणां 'कीट'—व्यपदेशेन तिरस्कारः, तोयदानां च शकलशब्दाभिधानेनानादरः। 'सर्वस्य' इति यस्य कस्यचित् तुच्छतरप्रायस्येत्यवहेला, जातेश्च मात्रशब्दविशिष्टत्वेनावलेपः। हेवाकस्य लेशशब्दाभिधानेनाल्पताप्रतिपत्तिरित्येते विवक्षितार्थैकवाचकत्वं द्योतयन्ति। घटाबन्धशब्दश्च प्रस्तुतमहत्त्वप्रतिपादनपरत्वेनोपात्तत्वात्तन्निबन्धनतां प्रतिपद्यते।'

अर्थात् यहाँ (इस श्लोक में) 'कीट' कहने से हाथियों का तिरस्कार दिखलाया गया, और 'शकल'शब्द कहकर मेघों का अनादर। 'सर्वस्य' अर्थात् हर किसी—अत्यंत तुच्छ का भी (उद्योग) इस प्रकार अवहेलना (बतलाई गई)। 'जातिमात्र' इस प्रकार 'जाति' शब्द के साथ मात्र शब्द देने से—(अम्बिकाकेसरी का) अभिमान व्यक्त होता है। लेश शब्द के कथन से हेवाक में अल्पता की प्रतीति होती है। इस प्रकार ये (शब्द) एकमात्र विवक्षित अर्थ को कह सकने का सामर्थ्य सिद्ध करते हैं। और 'घटाबन्ध' शब्द प्रस्तुत (मेघ और अम्बिका

केसरी) के महत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए अपनाया गया है, अतः भलीभाँति उसका कारण बन रहा है। [वक्रोक्तिजीवित, दिल्लीसंस्करण उदाहरण सं० २८]

इस प्रकार वक्रोक्तिजीवितकार ने इस पद्य के शब्दविन्यास पर आंशिक प्रकाश डाला था। उन्होंने इसकी सर्वनिरवद्यता बिलकुल नहीं बतलाई। यह महिमाचार्य की ही महिमा है। महिमभट्ट ने जो श्लोक दिया है उससे वक्रोक्तिजीवित में दिया श्लोक भिन्न है। वक्रोक्तिजीवित में 'नियतो' की जगह 'विहितो' है और 'असंरब्धवान्' की जगह 'असंरम्भवान्'। संभव है कुन्तक ने कोई दूसरा भी ग्रन्थ इस विषय पर लिखा हो।

'काव्यकांचन०' पद्य में कुछ दोष व्याख्यानकार ने दिखलाए हैं, कुछ दोष इस प्रकार समझे जा सकते हैं—

१. काव्यलक्ष्मणि = के बजाय काव्यलक्षणे और २. 'निदर्शितः' की जगह 'समीक्षितः' पाठ करने पर अन्त का लघु गुरु हो जाता है और निदर्शितः की जगह समीक्षितः अधिक साफ अर्थ देता है। यदि 'दृश्' धातु पर ही आग्रह हो तो इस प्रकार पाठ करना चाहिए—'यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता पद्यमेतदुपदर्शितं मया।' इसमें भवभूतिके 'अन्तर्व्यापृतविद्युदम्बुद इव धामम्युदस्थाद्दरिः' के समान नादसौन्दर्य भी आ जाता है।

२ प्रक्रमभेद

एवं विधेयाविमर्शं प्रकारवैचित्र्येण लक्षयित्वा प्रक्रमभेदं लक्षयितुमाह-प्रक्रमभेदोऽपीति।

इस प्रकार कई प्रकार से विधेयाविमर्श को बतलाकर अब प्रक्रमभेद को बतलाते हैं—

प्रक्रमभेदोऽपि शब्दानौचित्यमेव। स हि यथाप्रक्रममेकरसप्रवृत्तायाः प्रतिपत्तृप्रतीतेरुत्खात इव परिस्खलनखेददायी रसभङ्गाय पर्यवस्यति। किञ्च सर्वत्रैव शब्दार्थव्यवहारे विद्वद्भिरपि लौकिकक्रमोऽनुसर्त्तव्यः। लोकश्च मा भूद्रसास्वादप्रतीतेः परिम्लानतेति यथाप्रक्रममेवैनमाद्रियते नान्यथा।

प्रक्रमभेद भी शब्द का ही अनौचित्य (दोष) है। वह रसभङ्ग का कारण बनता है (कारण कि) वह उपक्रम के अनुसार एक रूप से बढ़ती जा रही ज्ञाता को ज्ञानधारा को गिराकर गड्ढे के समान दुःख देता है। और शब्द और अर्थ का जो व्यवहार है उसमें सभी जगह विद्वानों को लोकसंमत-क्रम को ही मानना चाहिये। और लोक की यह प्रवृत्ति है कि वह रसास्वाद की प्रतीति फीकी न पड़े इसलिये उपक्रम के अनुसार होने पर ही इसे (शब्दार्थ-व्यवहार को) आदर देता है, नहीं तो नहीं।

प्रतिपत्तृप्रतीतेरिति रथस्थानीया प्रतिपत्तृप्रतीतिः। उत्खातो विषमोन्नतः प्रदेशः। एनमिति शब्दार्थव्यवहारम्।

प्रतिपत्तृ—प्रतिपत्ता = (ज्ञाता) की प्रतीति (= ज्ञान धारा।) हुई रथ-स्थानीय।

उत्खात—नीची-ऊँची जगह।

एनम्—शब्दार्थ-व्यवहार को।

स चायमनन्तप्रकारः सम्भवति। प्रकृतिप्रत्ययपर्यायादीनां तद्विषयभावाभिमतानामानन्त्यात्।

तत्र प्रकृतिप्रक्रमभेदो यथा—

"सततमनभिभाषणं मया ते परिपणितं भवतीमनानयन्त्या।
गतधृतिरवलम्बितुं बतासूननलमनालपनादहं भवत्याः॥"

अत्र हि भाषतिलपत्योरुभयोरपि वचनार्थाविशेषेऽपि यदा भाषतिप्रयोगक्रमेण वस्तु वक्तुमुपक्रान्तं तदा तेनैव निर्वाहः कर्तुमुचितो नेतरेण। एवंविधस्य प्रक्रमाभेदाख्यस्य शब्दौचित्यस्य विध्यनुवादभावप्रकारत्वोपगमात् यथा—

"ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति।
रइकिरणाणुग्गहिआइ होन्ति कमलाइ कमलाइ॥"

यथा च—

"एमेअ जणो तिस्सा देउ कवोलोपमाइ शशिविम्बम्।
परमत्थविआरे उण चन्दो चन्दो विअ वराओ॥"

अत्र ह्युत्कर्षमात्रविवक्षया परिकल्पितभेदेऽप्येकस्मिन्नर्थे विधेयानुवाद्यविषयेण एकेनैवाभिधानेन विध्यनुवादभावो भणित इति प्रक्रमाभेदप्रकार एवायमिति मन्तव्यम्। केवलं पर्यायप्रक्रमभेदनिवृत्तये शशिबिम्बमित्यत्र चन्दमिणमिति पाठः परिणमयितव्यः।

और वह (प्रक्रमभेद) अनेक प्रकार का हो सकता है कारण कि प्रकृति, प्रत्यय, पर्याय आदि उसके क्षेत्र में आने वाले (तत्त्व) अनेक हैं। इनमें से प्रकृति-प्रक्रमभेद जैसे—

तुम उन्हें नहीं लाई, इसलिये अब तुमसे मेरा सदा के लिये सम्भाषण वन्द। मेरा धैर्य छूट चुका है, इसलिये मैं उनकी बोली सुने विना जी नहीं सकता।

यहाँ 'भाष्' और 'लप्' दोनों क्रियाओं का बोलना अर्थ बराबर है, तब भी वाक्य का आरम्भ 'भाष्' क्रिया से किया गया इसलिये निर्वाह भी उसीसे करना उचित था, और किसी से नहीं। कारण कि ऐसी जो 'प्रक्रम का अभेद' कहा जाने वाला शब्दगत औचित्य है, वह भी— विध्यनुवादभाव के ही समान माना गया है। जैसे—

(गुण) गुण तब होते हैं जब वे सहृदयों द्वारा अपना लिये जाते हैं। कमल तब होते हैं जब वे रविकिरणों का अनुग्रह पा लेते हैं। और जैसे—

लोग उसके कपोलों की उपमा में शशिबिम्ब को ऐसे ही [उपमान रूप से] देते रहते हैं— सच बात तो यह है कि चन्द्र तो बेचारा चन्द्र ही है। (दोनों पद्यों की छाया व्याख्यान में देखिए)।

यहाँ केवल उत्कर्ष और अपकर्ष की विवक्षा के कारण एक ही शब्द का (दो वार) प्रयोग कर विध्यनुवादभाव स्वरूप बतलाया गया, इसके लिये अर्थ में भेद की कल्पना की, यद्यपि वह एक ही था। इसलिये इसे प्रक्रम के अभेद (न टूटने) का ही प्रकार मानना चाहिये। केवल पर्यायगत प्रक्रम में भेद आ गया है, उसे हटाने के लिये शशिबिम्ब की जगह 'चन्दमिण' यह पाठ कर लेना चाहिये।

तद्विषयभावः प्रक्रमभेदविषयत्वम् ।

अनभिभाषणं तत्कर्तृकभाषणाभावः । एवमनालपनं ज्ञेयम् । अनलमसमर्था ।

विध्यनुवादभावप्रकारतोपगमादिति प्रकारः सादृश्यम् । उपक्रान्तं ह्यनुवादस्थानीयम् । निर्वाहकं च विधेयप्रख्यम् । तत्र स्पष्टं विधेयानुवाद्यप्रकारमुदाहरति यथेति ।

'तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥'
'एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिबिम्बम् ।
परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र इव वराकः ॥'

उत्कर्षापकर्षमात्रेति कमलानामुत्कर्षविवक्षा । अत एवोदाहरणद्वयं दत्तम् । प्रक्रमाभेदप्रकार इति प्रकारोऽत्र विशेषः । पर्यायप्रक्रमेति । चन्द्रशब्दार्थस्य शशिशब्देन पर्यायान्तरनिर्देशो न युक्तो वक्ष्यमाणप्रक्रमभेदप्रसङ्गात् ।

तद्विषय—प्रक्रमभेदविषय । अनभिभाषणम् = उसके द्वारा किये जाने वाले भाषण (बोलने) का अभाव । इसी प्रकार अनपलपन समझ लेना चाहिये ।

अनलम् = असमर्थ ।

प्रकारः—सादृश्य । उपक्रान्त जो है वह अनुवाद स्थानीय है और निर्वाहक विधेय स्थानीय । इस प्रकार स्पष्ट रूप से विधेयानुवाद्य प्रकार उदाहरण देकर सिद्ध करते हैं । यथा—'तदा जायन्ते—इव वराकः ।'

उत्कर्षापकर्ष—कमलों के उत्कर्ष की विवक्षा । इसलिए दो उदाहरण दिये । प्रक्रमाभेदप्रकारः—इसमें प्रकार का अर्थ विशेष है ।

पर्यायप्रक्रम—चन्द्रशब्द के अर्थ के लिए शशिशब्द द्वारा दूसरे पर्याय का निर्देश करना ठीक नहीं, ऐसा करने से आगे बतलाए जाने वाले प्रक्रमभेद दोष की संभावना रहती है ।

विमर्श : सततम् = इत्यादि पद्य में वक्ता पुरुष है । श्रोता = उसकी भेजी दूती, जो उसकी प्रेयसी को नहीं लाई । उस पुरुष का कहना है कि मैं तुमसे नहीं बोलूँगा क्योंकि तुम प्यारी को बिना लाये चली आई, मैं प्यारी से बातचीत किये बिना क्षण भर नहीं जी सकता । इस प्रकार प्रकार 'अनलम्' यह पुरुष का विशेषण है । व्याख्यानकार ने उसे स्त्री का मान कर उसका अर्थ 'असमर्था' किया है । प्रक्रमा भेद गुण है और प्रक्रम भेद दोष । प्रक्रम भेद विध्यनुवाद भाव मूलक होता है, इसलिये वह विधेयाविमर्श का ही एक प्रकार साबित होता है, परन्तु जहाँ तक दोष का सम्बन्ध है वह विधेय के अविमर्श से अधिक प्रक्रम के भेद पर निर्भर है । अतः ग्रन्थाकार ऐसी जगह विधेया विमर्श न मानकर प्रक्रम भेद ही मानना ठीक समझते हैं । उदाहरणार्थ—'कमल कमल तब होते हैं जब वे रविकिरणों के द्वारा अनुगृहीत होते हैं'—इसमें एक ओर प्रथम कमल उद्देश्य है, दूसरा विधेय और दूसरी ओर रविकिरणों के अनुग्रह का जिसमें विधान करना था उसे (प्रथम) कमल शब्द से (उद्दिष्ट किया) कहा गया इसलिए अनुग्रह प्राप्त होने पर उसे पुनः (द्वितीय) कमल शब्द से ही कहा । इससे जिस ढंग से आरंभ किया था अंत भी उसी ढंग से हुआ । भवन्ति कमलानि पद्मानि कहने पर वह एकता की प्रतीति न होती और ऐसा लगता जैसे कमल रविकिरण का अनुग्रह या कुछ और ही हो गया अभिन्नता की प्रतीति देर से होती । इतने पर भी उद्देश्यविधेयभाव में कोई भी कमी न आती । कमल उद्देश्य और पद्म विधेय बन जाता । इसलिए दोष का आधार प्रक्रम का भेद ही हुआ । अतः प्रक्रम भेद को दोष मानना ठीक है—उसे विधेयाविमर्श के भीतर डालना ठीक नहीं । व्याख्यानकार ने—'प्रक्रमाभेदाख्यस्य

शब्दौचित्यस्यें विध्यनुवादभावप्रकारतोपगमात्' में प्रकार शब्द का अर्थ सादृश्य किया है। हमारे विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार गुण रूप में प्रक्रमाभेद और विधेया विमर्श को अभिन्न मानते हैं, दोष रूप में भिन्न। अतः प्रकार का अर्थ अवान्तर भेद मानना भी अनुचित नहीं है।

यथा—

"एवनुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यभाषत।" इति।

तेन प्रत्यवोचत इति अत्र पाठो युक्तः।

यथा च—

"नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तं गते हन्त निशापि याता।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति॥" इति।

अत्र हि 'गता निशापी'ति युक्तः पाठः।

न चैवं शब्दपुनरुक्तिदोषप्रसङ्गः-यथान्ये मन्यन्ते 'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' (वामनस्य का० सू० ५।१।१) इति, तयोर्भिन्नविषयत्वात्। यथोद्देशं हि प्रतिनिर्देशोऽस्य विषयः। उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावाभावविषयस्तु शब्द-पुनरुक्तिदोष इति कुतस्तस्य प्रसङ्गः।

"व्रजतः क तात! वजसीति परिचयगतार्थमस्फुटम्।
धैर्यमभिनदुदितं शिशुना जननीनिर्भर्त्सनविवृद्धमन्युना॥"

इत्यत्र शिशुना व्रजतिरेव प्रयुक्तो न वजतिः, तत्रैव परिचयगतार्थत्वा-स्फुटत्वधैर्यभेदत्वसम्भवात्। केवलं शक्तिवैकल्याद्रेफोऽऽनेन नोच्चारि-त इति प्रत्युदाहरणमेतत्।

और जैसे—

'मंत्रियों द्वारा इस प्रकार कहा गया रावण बोला।' यहाँ प्रत्यवोचत (कहने लगा) पाठ करना चाहिए। और जैसे—

'विधिवशात्—जब रात्रि का स्वामी अस्ताचल को चला गया तो वह भी चल बसी। कुल-बालाओं की दशा के अनुरूप इससे अच्छा और कुछ नहीं।'

यहाँ निशा भी 'गता' = (चली गई), यही पाठ चाहिये।

ऐसा करने पर पुनरुक्ति दोष की शंका भी नहीं उठती—जैसा कि दूसरे लोग (वामन) मानते हैं—'प्रायः एक शब्द दो बार नहीं कहा जाना चाहिए, कारण कि—दोनों के विषय भिन्न होते हैं। इस (प्रक्रमाभेद) का विषय है—आरम्भ में जिस प्रकार की उक्ति हो अन्त में भी उसी प्रकार की उक्ति होना। शब्दपुनरुक्ति दोष वहाँ होता है जहाँ 'उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभाव' नहीं रहता, इसलिए उसकी यहाँ संभावना ही कैसी?

'माँ के डाँटने से अधिक चिढ़े बच्चे ने 'तात क वजसि'—'हे तात कहाँ जा रहे हो'—इस प्रकार (बच्चे की बोली में रेफ आदि के न रहने पर भी उन्हें सुनने का) अभ्यास होने से जिसका अर्थ समझा जा सकता था और जो वस्तुतः साफ उच्चारित न था ऐसा जो कहा, उससे जाने वाले का धैर्य छूट गया।'.

['जननीनिर्भर्त्सनविवृद्धमन्युना परिचयगतार्थम् अस्फुटम् 'तात क व्रजसि—इति उदितं व्रजतः धैर्यम् अभिनत्' इत्यन्वयः]।'

यहाँ शिशु ने व्रज धातु का ही प्रयोग किया था, वज धातु का नहीं, कारण कि परिचय होने से अर्थ समझ में आने की बात उसी (व्रज) से बन सकती है और उससे अर्थ की (उसी के रेफ का उच्चारण न करने से) अस्फुटता तथा धैर्य छूटने की बात भी। यहाँ सिर्फ (रेफ के उच्चारण की) शक्ति न होने से इस (शिशु) ने रेफ न बोला—इतने से ही यह पद्य (प्रक्रमाभेद का) प्रत्युदाहरण हो गया (अर्थात् इसमें प्रक्रमभेद नहीं हुआ)।

न चैवमिति तेनैव शब्देनोपसंहार इत्यर्थः।

तयोरिति प्रक्रमाभेदपुनरुक्तयोः। अस्येति प्रक्रमाभेदस्य परामर्शः। तत्र हि यथोद्देशं प्रतिनिर्देशेन पौनरुक्त्यम्, ऐकरस्येन प्रतीतिप्रसरणात्। उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावो न पौनरुक्त्यस्य विषयः। यथा—

'क्षामाङ्ग्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद्बाष्पाम्बुधौताननाः'। इति।

अत्र गलच्छब्दद्वयं निर्दिष्टं यथोद्देशं प्रतिनिर्देशोऽस्य विषय इति समञ्जसम्।

न चैवम्—उसी शब्द से उपसंहार करना।

तयोः—अर्थात् प्रक्रमाभेद और पुनरुक्त का।

अस्य—इससे प्रक्रमाभेद का परामर्श किया। प्रक्रमाभेद में उद्देश्य के अनुसार ही प्रतिनिर्देश करने से पुनरुक्तता आती है ऐसा करने से प्रतीतिधारा एकरस बहती चलती है। उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभाव में (शब्द) पुनरुक्ति दोष नहीं होती जैसे—

क्षामाङ्ग्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद्बाष्पाम्बुधौताननाः

यहाँ 'गलत्' शब्द दो बार प्रयुक्त किया गया है, इसका अभिप्राय उद्देश्य के अनुसार प्रतिनिर्देश करना है। अतः ठीक है।

विमर्श: प्रस्तुत पद्य, ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश में भी आया है। दोनों जगह इसका पाठ भिन्न है।

ध्वन्यालोक	काव्यप्रकाश	व्यक्तिविवेकव्याख्यान
१. क्रामन्त्यः···वलद्रक्तैः	१. क्रामन्त्यः···गलद्रक्तैः	१. क्षामाङ्ग्यः–गल०
२. पतद्बाष्पाम्बु	२. गलद्बाष्पाम्बु०	२. गलद्बाष्पाम्बु

साहित्यदर्पण, वक्रोक्तिजीवित और स्वयं व्यक्तिविवेक मूल में यह पद्य नहीं है। काव्यप्रकाश की टीका काव्यप्रदीप में भी वही पाठ है जो काव्यप्रकाश में और उदाहरणचन्द्रिका में भी वही। 'क्रामन्त्यः' पाठ अर्थ की दृष्टि से उचित है। क्षामाङ्ग्यः पाठ में 'क्षामाङ्ग्यः' कर्त्ता बनता है और स्थली कर्म। क्रिया का अभाव रहता है। 'क्षामाङ्ग्यः' पाठ वस्तुतः भ्रान्तिपूर्ण है। व्याख्यानकार को केवल इतना ही बतलाना था कि इस पद्य में आरम्भ में गलत् शब्द दिया गया है उसी प्रकार अन्त में भी गलत् शब्द। यहाँ आरम्भ और अन्त दोनों में अभिन्नता दिखलाना अभीष्ट होने से एक ही 'गलत्' के दो बार प्रयोग होने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं हुआ।

ननु 'व्रजतः क्व तात! वजसी'त्यत्र व्रजिना प्रक्रमे वजिना च निर्वाहे कथं न प्रक्रमभेदः (यतो हि) वजतिरपि धातुरस्ति, 'वज व्रज गतौ' इति पाठाद् इत्याशङ्क्योक्तं व्रजत इति। उदितं शिशु नेति उदितमित्यस्य विशेषणम्। परिचयगतार्थमिति अस्फुटमिति च। भावे च प्रत्ययः।

कार्यार्थं पथि गच्छतः पश्चान्नामोदीरणं विरुद्धमिति शिशुना ललितवचसा नामन्युदीरिते जनन्यास्य भर्त्सनं कृतमिति ततोऽस्य मन्युर्विवृद्ध इत्यत्र तात्पर्यार्थः।

शंका—बतलाइये कि 'व्रजतः क्व तात वजसि' यहाँ आरम्भ में है 'व्रज' धातु और अन्त में 'वज', इसलिये यहाँ प्रक्रम भेद क्यों न माना जाय ? यह शंका इसलिये की गई है कि व्रज के समान जाने अर्थ में 'वज्' धातु भी है। धातु पाठ में 'वज व्रज गतौ' ऐसा पाठ मिलता है।

व्रजतः परिचयगतार्थम्—यह शब्द 'उदितं शिशुना' में आये उदित शब्द का विशेषण है और 'अस्फुटम्' यह भी। यहाँ जो प्रत्यय हुआ है वह भाव में है।

यहाँ यह भाव है—किसी काम से रास्ते में जा रहे व्यक्ति का पीछे से नाम पुकारना (अथवा 'कहाँ जा रहे हो' ऐसा पूछना—आचार) विरुद्ध होता है। इसलिये शिशु ने आड़ में जब नाम ले दिया (या पूछ दिया) तो माँ ने उसे डाँटा। उससे इस (बच्चे) का क्रोध और बढ़ गया।

एवं धातुरूपायाः प्रकृतेः प्रक्रमभेदं प्रदर्श्य सम्प्रति प्रातिपदिकरूपायास्तस्या मध्ये च सर्वनामादीनां प्रकारवैचित्र्येण तं दर्शयति सर्वनामेति।

इस प्रकार धातुरूप प्रकृति का प्रक्रमभेद दिखला कर अब प्रातिपदिकरूप प्रकृति का और उसके बीच सर्वनाम आदि का प्रक्रमभेद भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखलाते हैं।

सर्वनामप्रक्रमभेदो यथा—

"ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः॥"

अत्र हि भगवन्तं शूलिनं प्रक्रान्तमिदमा परामृश्य तेनैवोक्तरीत्या तत्परामर्शः कर्तुं युक्तो न तदा तयोर्देवदत्तयज्ञदत्तशब्दयोरिव भिन्नार्थत्वात्। न चासौ कृत इति सर्वनामप्रक्रमभेदः।

न चैवं यत्तदोरिदमेतददसां चाभिन्नार्थत्वेऽप्येतद्दोषविषयत्वप्रसङ्गः। तेषामुक्तप्रकारेण स्वभावतोऽन्योन्यापेक्षसम्बन्धोपपादनात्। तेनेदमादिभिस्त्रिभिस्तस्य परामर्शो, न तदेति स्थितम्।

सर्वनाम का प्रक्रम भेद जैसे—

'हिमालय से जाने की अनुज्ञा लेकर फिर से शंकर जी के दर्शन कर और उन्हें कार्य सिद्धि की सूचना दे—उनके द्वारा विसर्जित किये गये वे (सप्तर्षि)—आकाश में उड़ गये।' (कुमार सम्भव ६।९४)

यहाँ भगवान् शंकर प्रकरण प्राप्त है। उनका इदम् (अस्मै) द्वारा निर्देश कर पुनः उसीसे (इदम् ही से) परामर्श करना उचित था, जैसा कि पहले बतलाला गया है, न कि तद् शब्द द्वारा, क्योंकि उन (इदम् तद्) दोनों के अर्थों में उतना भेद है जितना देवदत्त और यज्ञदत्त के अर्थों में। ऐसा किया नहीं गया, अतः सर्वनाम का प्रक्रम टूट गया।

ऐसा करने पर यह बात नहीं है कि—अभिन्नार्थक इदम् एतद् अदस् शब्दों में भी यह दोष होने लगे, कारण कि जैसा पहले बतलाया जा चुका है—वे (इदम् एतद् और अदस्) स्वभावतः एक दूसरे में सापेक्ष सम्बन्धों का प्रतिपादन करते हैं। इसलिये 'उसका (शिव का) परामर्श इदम् आदि तीनों में किसी एक के द्वारा करना चाहिये। तद् के द्वारा नहीं' यही बात स्थिर रही।

क्वचित् पुनः पुस्तकेषु प्रकृतिप्रक्रमभेदादनन्तरं प्रत्ययप्रक्रमभेदोदाहरणं तत्पश्चात् सर्वनामप्रक्रमभेदनिर्देशो दृश्यते। तत्र च प्रकृतेरनन्तरं प्रत्ययस्यैव निर्देश उचित इति स एव कथित इति सङ्गतिः। ततः परं प्रकृतिविशेषाणां प्रत्ययविशेषाणां तत्समुदायानां च तत्प्रक्रमभेदो निरूपयिष्यते।

उक्तरीत्येति। 'यस्त्वेकवाक्ये कर्तृत्वेनोक्तो यश्चेदमादिभिरि'त्यत्रोक्तेन क्रमेणेत्यर्थः। ननु यच्छब्देन प्रक्रमे तच्छब्देनेदमादिभिर्वा कथमुपसंहार इत्याह न चैवमिति। अन्योन्यापेक्षे इति। यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्ध इत्युक्तम्। एवं तच्छब्दाद् दूरविप्रकृष्टार्थेष्विदमादिषु प्रागुक्ते 'योऽविकल्पम्' इत्यादौ ज्ञेयम्। तेनेति प्रकृतोपसंहारः। इदमादीनां परस्परावान्तरवैचित्र्येऽपि स्थूलदृष्ट्या एकार्थत्वम्।

कहीं कहीं पुस्तकों में प्रकृतिप्रक्रमभेद के बाद प्रत्ययप्रक्रमभेद का उदाहरण मिलता है—उसके बाद सर्वनामप्रक्रमभेद का निर्देश दिखाई देता है। उस पाठ में इस प्रकार संगति लगानी चाहिये कि प्रकृति के बाद प्रत्यय का ही निर्देश करना उचित है। उसके बाद विशेष प्रकार की प्रकृति विशेष प्रकार के प्रत्यय और उनके समुदाय का प्रक्रम भेद दिखलाया जायगा।

उक्तरीत्या—अर्थात् 'यस्त्वेकवाक्ये कर्तृत्वे०' इत्यादि जो कहा गया है—उसी रीति से।

शंका = यद् पद से जहाँ आरम्भ हो वहाँ तद् पद के द्वारा या इदम् आदि द्वारा उपसंहार कैसे किया जाता है? इस पर उत्तर देते हैं न चैवम्—इत्यादि। क्योंकि यद् और तद् का नित्य सम्बन्ध है ऐसा पहले कहा जा चुका है। इसी प्रकार तद् शब्द से दूर या विप्रकृष्ट अर्थों में प्रयुक्त इदम् आदि में भी नित्य सम्बन्ध होता है जो कि 'योऽविकल्प' इत्यादि में दिखलाया गया।

तेन—प्रकृत का उपसंहार करते हैं। इदम् आदि में परस्पर में अवान्तर भेद है, तब भी मोटे तौर से वे एकार्थक ही होते हैं।

प्रत्ययप्रक्रमभेदो यथा—

"रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतेरवाप्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथाः शरीरिणाम्॥" इति।

अत्र हि 'कुत एव तु सानुरोदना'दिति युक्तः पाठः।

प्रत्यय प्रक्रम भेद यथा—

'रोकर क्या उस (इन्दुमती) के पीछे मर कर भी आप उसे नहीं पा सकते। जो शरीर धारी परलोक चले जाते हैं, उनकी गति के पथ अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं।'

यहाँ 'कुत एव तु सानुरोदनात्' ऐसा पाठ करना ठीक है।

अत्र हीति अत्र हि कर्तृविशेषणद्वारेणैकस्य हेतुत्वमपरस्य साक्षादिति प्रक्रमभेदः।

यहाँ एक प्रत्यय (रुदता का शतृ) तो कर्ता का विशेषण बनाकर क्रिया में अन्वित होता है और दूसरा (अनुमृति का क्ति) साक्षात्। इसलिये यहाँ प्रक्रम भिन्न हुआ।

विमर्श : प्रस्तुत पद्य रघुवंश ८।८५वाँ पद्य है। इसके द्वितीय चरण के तीन पाठ हैं—

१. व्यक्तिविवेक के अनुसार—अनुमृतेरवाप्यते।

२. हेमाद्रि और मल्लिनाथ के अनुसार—अनुमृतापि लभ्यते और

३. एक—अनुमृतेन लभ्यते।

एक चौथा पाठ और है जो वल्लभदेव ने अपनाया है—

रुदितेन न सा निवर्तते नृप ! तत्त्वावदनर्थकं तव ।
न भवाननुसंस्थितोऽपि तां लभते कर्मवशा हि देहिनः ॥

उक्त पाठों में 'अनुमृता' की दो व्याख्यायें हैं। एक अनुम्रियत इति अनुमृत्—क्विप्, तेन,—अनुमृतवता इत्यर्थः। यह अर्थ मल्लिनाथ और हेमाद्रि दोनों ने अपनाया है। हमारी दृष्टि से—'अन्वम्रियत' इति अनुमृत्' तेन—अनुमृता —अनुमृतवता—इत्यर्थः ऐसी व्याख्या उचित प्रतीत होती है। अनुम्रियते इस वर्तमान काल से अनुमृत् बनाकर उसे भूतार्थ निष्ठाप्रत्यय से युक्त 'अनुमृतवत्' इस प्रकार गढ़ना ठीक नहीं। हेमाद्रि ने—अनुमृतं यस्याः सेति प्रथमान्तो वा' इस प्रकार अनुमृता शब्द को टावन्त स्त्रीलिंग प्रथमा का एकवचन भी बतलाया है। 'अनुमृतेन' पाठ में और मल्लिनाथ के अर्थ में प्रक्रमभेद नहीं होता। उसमें दोनों प्रत्यय कर्त्ता के विशेषण बनकर क्रिया में अन्वित होते हैं। यद्यपि अनुमृता को स्त्रीलिंग मानने पर भी उसका प्रत्यय क्रिया में साक्षात् अन्वित नहीं होता, तथापि उसमें प्रक्रमभेद दूर नहीं होता कारण कि प्रथम रुदता का शतृ प्रत्यय कर्त्राश्रित है—और द्वितीय अनुमृत का टाप् प्रत्यय कर्माश्रित (जो कर्मवाच्य में कर्त्तारूप से प्रयुक्त है) इसलिये आरम्भ में जैसा प्रत्यय दिया गया अन्त में 'वह—वैसा नहीं रहा, अतः प्रक्रमभेद दोष होने लगता है। 'अनुमृतेः' पाठ में भी वही स्थिति है। अनुमृति—क्रिया में साक्षात् अन्वित होती है, रुदता—में रोदन कर्त्ता के माध्यम से। अतः दोनों प्रत्यय एक प्रकार के नहीं रहे फलतः प्रक्रमभेद हुआ।

यथा च—

"यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्त्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥"

इदं चापरमत्र प्रक्रमभेदानुषङ्गि दोषान्तरमप्याविर्भवति, योऽयं विकल्पार्थवृत्तेर्वाशब्दस्य समुच्चयार्थस्येव चशब्दस्याविषय एव प्रयोग इति वक्ष्यते । तेन 'यशोऽधिगन्तुं सुखमीहितुं वे'ति युक्तः पाठः ।

और जैसे—

यश को पाने के लिये, सुख पाने की इच्छा से या मनुष्य-गणना को पार करने के लिये उत्कंठाशून्य होकर अनवरत कार्य करने वालों की गोद में लक्ष्मी समुत्सुक होकर चली आती है ॥—यहाँ।

यहाँ एक और दोष प्रक्रमभेद के साथ चला आया, जो यह विकल्पार्थक 'वा' शब्द का समुच्चयार्थक च शब्द के समान बेमौके प्रयोग किया गया—इस पर आगे विवेचन करेंगे। इसलिये 'यशोऽधिगन्तुं सुखमीहितुं वा' (अर्थात् यश पाने के लिये या सुख चाहने के लिये) यह पाठ चाहिए (अर्थात् तुमुन् प्रत्यय का ही प्रयोग आगे भी होना चाहिए)।

यशोधिगन्तुमिति अत्र हि तृतीयातुमुनोः प्रतीतिवैषम्यजनकत्वम् ।
वाशब्दस्येति । वक्ष्यति हि 'तुल्यकक्षतया यत्र पदार्थाः' इति ।
यशोऽधिगन्तुम्—यहाँ तृतीया और तुमुन् ज्ञानधारा में भेद डाल देते हैं।
वा शब्दस्य—जैसा कि कहेंगे—'जहाँ पदार्थ बराबरी के साथ माने जायँ इत्यादि।

"पृथ्वि ! स्थिरा भव भुजङ्गम ! धारयैनां
त्वं कूर्मराज ! तदिदं द्वितयं दधीथाः ।
दिक्कुञ्जराः ! कुरुत तत्रितये दिधीर्षां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥"

इत्यत्र पृथ्व्यादिविषयः प्रैषलक्षणोऽर्थः कविना वक्तुं प्रक्रान्तः । तस्य प्रत्ययभेदेऽपि निर्व्यूढत्वात् प्रैषार्थानां पदानामुद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावेनोपादानं न कृतमिति नैतादृशः प्रत्ययप्रक्रमभेददोषस्य विषयोऽवगन्तव्यः।

'हे पृथिवी तुम स्थिर हो जाओ। हे सर्पराज—तुम इसे सँभाले रहो। हे कूर्मराज तुम इन दोनों को सँभालो। हे—दिग्गजों—तुम लोग इन तीनों को सँभालने में लगे रहो, महाराज राम शिवधनुष पर प्रत्यंचा (डोरी) चढ़ा रहे हैं।'

कवि ने यहाँ पृथिवी आदि के विषय में आज्ञा रूप पदार्थ का विधान शुरू किया। वह प्रत्यय बदल जाने पर भी निवह गया, कारण कि आज्ञार्थक पदों का उपादान उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य-भाव से नहीं किया। इसलिये ऐसे स्थल प्रत्यय प्रक्रमभेद दोष के अन्तर्गत नहीं माने जाते।

पर्यायप्रक्रमभेदो यथा—

"महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥"

इत्यत्र हि पुत्रापत्यशब्दावेव पर्यायत्वात् प्रक्रमभेदविषयौ, न पुष्पचूतशब्दौ, तयोः सामान्यविशेषवचनत्वादित्यपत्यवतोऽपीति युक्तः पाठः।

पर्याय प्रक्रमभेद—जैसे—पुत्र होते हुए भी पर्वतराज हिमाचल की दृष्टि उस अपत्य (शिशु) से छकती न थी। भौंरों की पाँत—वसन्त में अनगिनती फूल होते हैं, तो भी आम पर अधिक दौड़ती है।' यहाँ—पुत्र और अपत्य (शिशु) शब्द ही, क्रमभेद के विषय हैं, कारण कि वे एक दूसरे के पर्याय हैं। पुष्प और चूत (आम) शब्दों में यह बात नहीं है, कारण कि वे सामान्यविशेष-वाची है। इसलिये 'अपत्यवतोऽपि' यह पाठ चाहिये।

अपत्यवतोऽपीति युक्तः पाठ इति। अत्र केचित् समर्थयन्ते—'(पितरो हि पुत्रीषु) विशेषतः स्निह्यन्तो दृश्यन्ते, तत् पुत्रशब्दस्यापत्यविशेषवाचित्वे अपत्यशब्दस्य च सामान्यवाचित्वेऽपि सर्वनामवशाद् विशेषपर्यवसाने भवत्येव प्रकृतार्थपरितोष' इति। तदेतदस्य ग्रन्थकारस्य हृदयमनालोक्यैव, यस्माद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेनात्र वाक्यार्थद्वयमुपनिबद्धम्। तत्र च द्वयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्देशो युज्यते। दृष्टान्ते चात्र सामान्योपक्रमः, विशेषोपसंहारः, पुष्पशब्दस्य सामान्यवाचित्वाच्चूतशब्दस्य विशेषाभिधायकत्वात्। विशेषस्य चोत्कृष्टतयैवातृप्तिविषयकत्वम्। दार्ष्टान्तिके तु विशेषोपक्रमः सामान्योपसंहारः। सर्वनामवशाद् वा विशेषान्तरनिर्देशो न्याय्यः। स्थितपाठे पुत्रशब्दस्य विशेषवाचित्वम् अपत्यशब्दस्य सामान्यवाचिनो विशेषपर्यवसानम्। यदा त्वपत्यवतोऽपीति पाठस्तदास्य सामान्योपक्रमो विशेषोपसंहारः। द्वितीयस्यापत्यशब्दस्य सर्वनामसम्बन्धेन विशेषपर्यवसानाद्, यथैकीयमते 'तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबले'त्यत्र। अपिशब्दस्यार्थसङ्गतिश्चैवमेव भ्राजते। यस्य नैवापत्यसम्बन्धस्तस्य मा भूत् कन्यायामेकस्यामतृप्तिः यस्य त्वनेकापत्ययोगस्तस्य कथमेकस्मिन्नपत्ये स्निग्धत्वमिति विस्मयः, एतदर्थं एव अपिशब्दो जीवति।

अतृप्तिकारणत्वं च कन्यायाः परसमर्पणीयत्वेन। गुणगौरवेण च स्नेहपात्रता। एतदर्थमस्याश्चूतेन प्रतिबिम्बनम् तदित्थमपत्यवतोऽपीत्येष एव पाठः श्रेयान्।

अपत्यवतोऽपीति—इस पर कुछ लोग (इस प्रकार) समर्थन करते दिखाई देते हैं 'कि (पिता का पुत्री पर) विशेष स्नेह रहता है इसलिए यद्यपि पुत्र शब्द सन्तति विशेष का वाचक है और अपत्यशब्द सन्तति-सामान्य का, तब भी (तस्मिन् अपत्ये इस प्रकार) सर्वनाम के कारण वह भी विशेष में ही आ जाता है। अतः प्रकृत बात बन जाती है।' सो यह सब ग्रन्थकार का आशय न समझने का फल है। क्योंकि यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक रूप से दो वाक्यार्थों का उपयोग किया गया है। उन दोनों का निर्देश बिम्बप्रतिबिम्बभाव से ही हो सकता है। यहाँ दृष्टान्त में पहले सामान्य कहा गया है अन्त में विशेष। कारण कि पुष्प-शब्द सामान्यवाची है और चूतशब्द विशेषवाची और विशेष में अतृप्ति दिखलाकर उत्कृष्टता दिखलाई है। दार्ष्टान्तिक में आरम्भ विशेष से हुआ और अन्त सामान्य से। अथवा सर्वनाम के कारण दूसरा भी विशेष कहा जा सकता है। (तब भी दोनों विशेष ही रहते हैं) जैसा पाठ है उसके अनुसार पुत्र शब्द विशेषवाची है और अपत्य शब्द सामान्यवाची होते हुए भी अन्त में विशेषवाची हो जाता है। जब 'अपत्यवतः' पाठ कर लिया जाता है तब इसका आरम्भ सामान्य से होता है और उपसंहार विशेष से। द्वितीय अपत्यशब्द सर्वनाम के कारण विशेषवाची हो जाता है। जैसे एक किसी के मत में—'तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबला'—इस (मेघदूत १।२) पद्य में। और अपि शब्द के अर्थ की संगति भी इसी प्रकार सुहाती है। जिसको पुत्र न हो उसे भले ही एक कन्या में अतृप्ति (अधिक स्नेह) हो, किन्तु जिसकी अनेक सन्तान हैं—उसे कैसे एक सन्तान पर अधिक स्नेह होता है—यह एक आश्चर्य की बात है इसी आश्चर्य की अभिव्यक्ति में ही अपि शब्द यहाँ सार्थक है। कन्या में अतृप्ति का कारण है—दूसरे को समर्पित करना, और गुण अधिक होने से स्नेहपात्रता (कन्या में आती है।) इसलिये आम (पुष्प) को इस (कन्या) का प्रतिबिम्ब बनाया। इस प्रकार (जैसा कि ग्रन्थकार ने बतलाया है) 'अपत्यवतोऽपि' यही पाठ ठीक है।

यथा च—

"उदन्वच्छिन्ना भूः स च निधिरपां योजनशतम्" इति।

अत्र हि 'मिता भूः पत्यापां स च पतिरपां योजनशतम्' इति युक्तः पाठः। एवञ्च छिदिक्रियाकर्त्तुरुदन्वत उक्तनयेन विधेयतया प्राधान्यात् समासानुपपत्तिदोषोऽपि परिहृतो भवति।

और जैसे—

'पृथिवी समुद्र से सीमित है, वह समुद्र भी सौ योजन तक ही'—यहाँ। यहाँ 'मिता भूः पत्यायां स च पतिरपां योजनशतम्'—अर्थात् पृथिवी समुद्र से सीमित है और समुद्र भी सौ योजन का है'—यह पाठ ठीक है। ऐसा करने से छिदि (परिच्छेदन) क्रिया का कर्त्ता समुद्र कथित प्रकार से विधेय है,—अतः प्रधान है (इसलिये समास पर जो आपत्ति आती वह दूर हो जाती है।

समासानुपपत्तीति। अधिकं न तु तद्धानिरिति न्यायेन गुणान्तरलाभ इत्यर्थः।

समासानुपपत्ति—'एक चीज और अच्छी बन पड़ती है और मूलहानि होती नहीं, इस प्रकार एक गुण और चला आता है।

यथा वा—

"वरं कृतध्वस्तगुणादत्यन्तमगुणः पुमान्।
प्रकृत्या ह्यमणिः श्रेयान् नालङ्कारश्च्युतोपलः॥"

एवं—

"खमिव जलं जलमिव खं हंस इव शशी शशीव कलहंसः।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि॥"

इत्यादावपि द्रष्टव्यम्।

और जैसे—

गुणों को अपनाकर छोड़नेवाले की अपेक्षा एकदम गुणहीन आदमी अच्छा। आभूषण, विना मणि का अच्छा, किन्तु एकबार मणियुक्त बनकर उसका पत्थररहित होना ठीक नहीं।'

और इसी प्रकार—

'आकाश के समान जल और जल के समान आकाश है। हंस के समान शशी है और शशी के समान कलहंस। कुमुद जैसे तारे हैं और तारे जैसे कुमुद।' इत्यादि में भी देखना चाहिये।

वरं कृतेति। कृताः शिक्षिताः सन्तो ध्वस्ता नष्टा गुणा यस्य। अमणिरविद्यमानमणिरलङ्कारः। उपलशब्देनात्र मणिरेव विवक्षितः। तन्नात्र मणिशब्दः प्रयुक्त इति पर्यायप्रक्रमभेदत्वम्। खमिवेति। हंसश्चन्द्र इव चन्द्र इव हंस इति युक्तः पाठः।

कृत अर्थात् सीखे जाकर ध्वस्त अर्थात् नष्ट हुए हों गुण जिसके।

अमणिः—अर्थात् ऐसा अलंकार जिसमें मणि न हो।

उपल शब्द से यहाँ मणि ही विवक्षित है, पर मणि शब्द का प्रयोग नहीं किया, इसलिये पर्यायप्रक्रमभेद हुआ।

खमिव—हंस चन्द्र के समान और चन्द्र हंस के समान यह पाठ चाहिये।

विभक्तिप्रक्रमभेदो यथा—

"धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः।
वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोनस्स तेषु न स्थानमवाप शोकः॥"

न चायं समुच्चयस्य विषयः। स हि तुल्यकक्ष्यत्वादभिन्नविभक्तिकानेकार्थविषयो वेदितव्यः यदुक्तम्—

"तुल्यकक्ष्यतया यत्र पदार्थाः स्युर्विवक्षिताः।
समुच्चयो विकल्पो वा तत्रेष्टौ दुष्टतान्यथा॥" इति।

न चात्र तथाविधोऽर्थस्समस्तीति समुच्चयार्थयोश्चशब्दयोरपि प्रयोगोऽनुपपन्नः। तेनात्र 'तीव्रेण विद्वेषिभुवागसा च' 'विद्वत्सु वीर्ये तनये मघोन' इति पाठौ विपरिणमयितव्यौ।

विभक्ति प्रक्रमभेद, जैसे—

(अपना) धैर्य, महर्षि की विश्वसनीयता, शत्रु-जनित तीव्र उद्वेग और अर्जुन की शक्ति जानने वाले उन (पाण्डवों) में शोक नहीं समाया।'

और यहाँ समुच्चय नहीं किया जाना चाहिये। वह वहाँ होता है जहाँ पदार्थ बराबरी के होते हैं, उनमें एक ही विभक्ति होती है और परस्पर में भिन्नता, जैसा कि कहा है—'जहाँ पदार्थ बराबरी में विवक्षित हों वहाँ समुच्चय या विकल्प माने जाते हैं। नहीं तो वह दोष होता है। यहाँ वैसी कोई बात नहीं है। इसलिये समुच्चयार्थक दो 'च' शब्दों का प्रयोग भी अयुक्तिक है। इसलिये यहाँ—तीव्रेण विद्वेषिभुवागसा च विद्वत्सु वीर्यं तनये मघोनः' पाठ बना लेना चाहिये।

[यहाँ शोक न समाने में जो हेतु दिये हैं उनमें से धैर्य और विश्वास्यता में तृतीया है और मन्यु में पंचमी। इस प्रकार विभक्ति का निर्वाह ठीक नहीं हो सका]'

मघोन इन्द्रस्य सुतेऽर्जुने। वीर्यञ्च विद्वत्स्विति। वीर्यवेदनञ्चेत्येव हेतुत्वेन विवक्षितम्।

समुच्चयो विकल्पो वेति। विकल्पो यशोऽधिगन्तुमित्यत्रोदाहृतः समुच्चयस्य त्विदं वीर्यञ्चेत्युदाहरणम्। 'विद्वत्सु वीर्यं तनये' इति पाठे न वेदनं हेतुत्वेन विवक्षितम् अपि तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादनपरत्वेनेत्ययं मन्यते। एवञ्च विद्वत्स्विति विशेषणस्य नैरर्थक्यमापद्यत इति नानेन विचारितम्।

मघोनः = इन्द्र के सुत अर्जुन पर।

वीर्यञ्चेति = वीर्य का ज्ञान भी हेतुरूप से अपनाया गया है।

समुच्चयो विकल्पो—विकल्प 'यशोऽधिगन्तुं' में बतलाया गया। समुच्चय का विषय यह ('वीर्यं च' है)। 'विद्वत्सु वीर्यं तनये' इस पाठ में वेदन (जानना) हेतुरूप से प्रयुक्त नहीं है अपितु वस्तु स्वरूप प्रतिपादन मात्र के लिये प्रयुक्त है—ऐसा ग्रन्थकार मानते हैं। पर ऐसा करने पर 'विद्वत्सु' इस विशेषण की निरर्थकता चली आती है। यह इन्होंने नहीं विचार।

विमर्श: १. 'वीर्येण सूनोः सुरनायकस्य'—पाठ होने पर भी बात बन जाती है। इसलिये 'विद्वत्सु वीर्यम्' में 'विद्वत्सु' शब्द व्यर्थ है।

२. समुच्चय और विकल्प वहाँ होते भी हैं जहाँ अनेक पदार्थ समकक्ष हों। जैसे—'राम, कृष्ण, जयदेव और देवराज' अथवा—'राम, कृष्ण, जयदेव या देवराज। यहाँ राम, कृष्ण आदि समकक्ष (एक विभक्ति वाले) और भिन्नार्थक हैं, अतः उनका 'और' शब्द के द्वारा समुच्चय भी सम्भव है तथा 'या' शब्द के द्वारा विकल्प भी। प्रस्तुत पद्य में 'च' द्वारा जिनका समुच्चय किया जा रहा है वे भिन्न विभक्ति वाले हैं धैर्य आदि। अतः समुच्चय नहीं होना चाहिये।

"बभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः।
उपान्तभागेषु च रोचनाङ्कः सिंहाजिनस्यैव दुकूलभावः॥"

अत्रापि 'मृगेन्द्रचर्मैव दुकूलमस्ये'ति युक्तः पाठः। अस्मिंश्च पाठे रोचनाङ्कत्वस्य द्रव्यधर्मत्वाद् दुकूलभावविशेषणत्वानुपपत्तिपरिहाराद् गुणान्तरलाभः।

'भस्म ही सफेद और सुगन्धित अङ्गराग बन गया, कपाल ही उज्ज्वल शिरोभूषण की शोभा और बाघम्बर ही आसपास रोचना से बने हंसादि चिह्नों से युक्त दुकूल बन गया।'

(इसलिये) यहाँ 'मृगेन्द्रचर्मैव दुकूलमस्य' पाठ होना चाहिये। इस पाठ में एक लाभ और है—कि रोचनाङ्कता दुकूलभाव का विशेषण बनने से बच जाती है, कारण कि रोचनाङ्कता गुण है और दुकूलभाव भी गुण है। गुण द्रव्य का ही विशेषण बन सकता है, गुण का नहीं।

दुकूल भाव इति। सामानाधिकरण्येनोपक्रमे वैयधिकरण्येन प्रतिनिर्देशः प्रक्रमभेदावहः अत्र चतुर्थे पादे 'कपालमेवामलशेखरश्रीरि'त्यत्र कपालानां बहुत्वे वाच्ये यदेकत्ववचनम् अमलशेखरश्रीरित्यत्र च शेखरमात्रे धर्मिणि वक्तव्ये यच्छेखरश्रीरिति धर्मवचनं तदनुपपन्नमवगन्तव्यम्। एवञ्चोक्तेषु वक्ष्यमाणेषु चोदाहरणेषु सम्भवन्नपि विचारो ग्रन्थविस्तरभयान्न निरवशेषतया कृत इति तत्रैवाभियोगः कर्त्तव्यः।

यहाँ चौथे चरण में प्रक्रमभेद है। उसका कारण है—आरम्भ में [भस्म सिताङ्गरागः,—'कपालम् अमलशेखरश्रीः' इस प्रकार] सामानाधिकरण और अन्त में [गजाजिनस्य दुकूलभावः इस प्रकार] वैयधिकरण्य। कपोल बहुत हैं अतः कपाल ही अमल शेखर की शोभा' यहाँ कपाल में बहुत्व संख्या होनी थी, उसकी जगह एकवचन और 'अमलशेखरश्रीः' में केवल धर्मी शेखर ही को कहना था सो 'शेखरश्रीः' इस प्रकार जो (श्रीरूपी) धर्म का कथन हुआ वह गड़बड़ है। इसी प्रकार बीते हुये और आने वाले सभी उदाहरणों में विचार हो सकता है, तब भी ग्रन्थ गौरव के भय से पूरी तरह उसका विचार नहीं किया, अतः जितना विचार किया उतने पर ही ध्यान देना ठीक है।

विमर्श : शिरःकपाल एक ही होना चाहिये जो मुकुट बन सके, कपाल माला तो ग्रैवेयक बन सकती है शिरोभूषण नहीं। अतः व्याख्यानकार का कपाल में बहुत्व-प्रतिपादन असंगत है।

उपसर्गप्रक्रमभेदो यथा—

"विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः॥" इति।

तेन 'तदुपेतं विजहाति चायति'रिति युक्तः पाठः।

उपसर्ग का प्रक्रम भेद यथा—

उद्योगहीन को विपत्तियाँ दबोच देती हैं और आपत्ति से युक्त को भविष्य या भाग्य छोड़ देता है। भाग्य या भविष्यहीन का ह्रास होना निश्चित है और जो महान् नहीं होता वह नृपश्री का पात्र नहीं बन सकता।

यहाँ (आरम्भ में कहा गया विपद् और अन्त में आपत) अतः सर्वनाम प्रक्रम भिन्न हो गया। 'तदुपेतं विजहाति चायतिः'—[और उससे युक्त को भविष्य छोड़ देता है] पाठ चाहिये।

तदुपेतमिति। स्वशब्देन सर्वनाम्ना वा निर्देशस्तुल्यफल इति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

स्ववाचक शब्द से कहा जाय या सर्वनाम द्वारा दोनों से प्रतीति में भेद नहीं होता—ऐसा आगे प्रतिपादित करने वाले हैं।

वचनप्रक्रमभेदो यथा—

"काचित् कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी-
रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः।
भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत् कम्पमानाः
प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरो भावि नार्यः शशंसुः॥"

अत्र हि 'काश्चित् कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दुशोभाः' इति युक्तः पाठः।

वचनप्रक्रमभेद यथा—

किसी का मुखचन्द्र फीका पड़ा हुआ था, उसने पराग से द्यौ (आकाश) को हटाकर अपने जैसा बना दिया [अर्थात्—पराग से रजस्वला बना दिया और चन्द्ररूपी मुख को फीका) कुछ दिशाओं के समान श्रीविहीन थीं, उनके सत्व (मन और प्राण) बुरी तरह डोल रहे थे, और उनमें भीतर आग सी जल रही थी, कुछ पद पद पर वात्या के समान घूम रही थीं कुछ जमीन की तरह काँप रही थीं, इस प्रकार राजाओं के प्रस्थान काल में आगे होने वाले अशिव (अमंगल) की सूचना उन नारियों ने (पहले ही) दे दी। यहाँ—'काश्चित् कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्द-वक्त्रेन्दुशोभाः'—ऐसा पाठ ठीक होता।

विमर्श : काश्चित्, अन्याः, अपराः इस प्रकार बाद के तीन शब्द बहुवचनान्त हैं, अतः उनमें मिला हुआ प्रथम शब्द भी बहुवचनान्त ही होना चाहिये। इसलिये यह पाठ बतलाया गया है। वस्तुतः आरम्भिक पद के अनुसार अन्तिम पद बदले जाने चाहिये। प्रक्रमभेद में आरम्भ का अनुवर्त्तन किया जाता है। उसी का अनुवर्त्तन न होने में प्रक्रम भेद दोष होता है। अतः ग्रन्थकार ने जो पाठ बदला है वह सौकर्य की दृष्टि से, न कि दोष की मौलिकता के आधार पर। ठीक भी है। प्रक्रमगत भेद को दूर करना दोनों प्रकार से सम्भव है आरम्भ को अन्त के अनुसार बदलने से या अन्त को आरम्भ के अनुसार। परन्तु दोष तो आरम्भ के अनुसार अन्त न होने से होता है। अतः दोष कारणों का सम्बन्ध बाद के चरणों से ही मानना चाहिये।

यथा च—

'अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति युष्मत्प्रसादेन' इति।

अत्र ह्येकवचनेन भगवतीमेकां सम्बोध्य प्रसादसम्बन्धितया यस्तस्या बहुत्वनिर्देशः स वचनप्रक्रमभेदो दोषः। तेनात्र भवतीप्रसादेनेति युक्तः पाठः।

और जैसे—

हे भगवती, आपके प्रसाद से मेरा मनोवाञ्छित फल पूर्ण हो।

यहाँ भगवती एक है। उसका निर्देश एकवचन के साथ ही हुआ फिर प्रसाद के साथ उसमें (युष्मत्–इस प्रकार) बहुवचन जोड़ दिया गया। उससे वचन प्रक्रम टूट गया। वह दोष हुआ। इसलिये 'भवतीप्रसादेन' पाठ चाहिये।

भगवति युष्मत्प्रसादेनेति। अनेन न्यायेन 'पश्यत मातः' इति वार्त्तिके धर्मकीर्त्तेः प्रयोगः प्रत्युक्तः।

इस प्रकार—वार्त्तिक में धर्म कीर्ति ने जो 'पश्यत मातः' प्रयोग किया है उसका निराकरण भी हो जाता है।

तिङन्तप्रक्रमभेदो यथा अत्रैव 'अपरा भूमिवत् कम्पमाना' इति। अत्र हि कम्पमापुरित्युचितः पाठः। एकस्याः क्रियायाः प्राधान्याभावादित्युक्तम्।

तिङन्तप्रक्रम भेद यथा—यही 'अपरा भूमिवत् कम्पमानाः' में—यहाँ 'कम्पमापुः' पाठ चाहिये। कारण कि यहाँ कोई एक क्रिया तो प्रधान है नहीं, जैसा कि कहा जा चुका है।

प्राधान्याभावादित्युक्तमिति। 'यत्रैककर्तृकानेका प्राधान्येतरभाक् क्रिया' इत्यत्र।

प्राधान्य—यत्रैककर्तृकानेका प्राधान्येतरभाक् क्रिया इत्यादि द्वारा।

कालविशेषप्रक्रमभेदो यथा—

"सस्नुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि
जक्षुर्बिसान्धृतविकासिबिसप्रसूनाः।
सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्व-
दोषप्रवादममृजन्नगनिम्नगानाम्" ॥

अत्र हि स्नानादौ यः कालविशेषः प्रक्रान्तः स नेजनादौ भेदं नीत इति प्रक्रमभेदो दोषः। तेन

"सस्नुः पयांसि पपुरम्बरमानिनेजु-
र्जक्षुर्बिसान् धृतविकासिबिसप्रसूनाः।
सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्व-
दोषं वनेषु सरितां प्रसभं ममार्जुः ॥" इति युक्तः पाठः।

कालविशेष के प्रक्रम का भेद—जैसे—

पर्वतीय नदियों का एक अपयश था—कहा जाता था कि उनमें दोष है कि वे काम में न आने से निरर्थक है। सैनिकों ने उसे मिटा दिया। उन्होंने उनमें स्नान किया। पानी पिया। कपड़े धोए। कमलककड़ी खाई। खिले कमलों के आभूषण पहने।' यहाँ स्नान आदि में जो [सस्नुः इत्यादि द्वारा लिट्लकार = परोक्षभूतकाल शुरू किया उसे नेजन (धोना) आदि (आनिनेजुः—इस प्रकार अनद्यतन भूतलकार] में बदल दिया। अतः प्रक्रमभेद दोष हुआ। इसलिये इस प्रकार का पाठ चाहिये—सस्नुः पयांसि पपुरम्बरमानिनेजुः—इत्यादि [पूर्ण पद्य मूल में]।

विमर्श : अनिनेजुः = अपाणिनीय है। पाणिनि के अनुसार 'अनेनेक्' अनेनिक्ताम्, अनेनिजुः, रूप चलते हैं।

अनेनिजुरक्षालयन्। जक्षुरखादन्। बिसप्रसूनं पद्मम्।

नेजनादाविति लिटा भूतानद्यतनपरोक्षप्रक्रमे अनेनिजुरिति तु भूतानद्यतनेन निर्वाहः। तथा 'धृतविकासी'त्यत्र भूतमात्रे क्तप्रत्यय इत्यत्रापि कालप्रक्रमभेदः। तत्रोपरि तिङन्त-प्रक्रमभेदो द्वितीयोऽत्र स्थितः। एवञ्चेहादिग्रहणेन धृतविकासीति गृह्यते 'विकचमस्य दधुः प्रसूनमि'ति। अनेनिजुरित्यत्र समाधानं न कृतम् प्रकारान्तरेण समर्थयिष्यमाणत्वात्।

अनेनिजुः—धोया। जक्षुः—खाया। बिसप्रसून—कमल।

नेजनादावितिलिटा—[सस्नुः इस प्रकार]। लिट् लकार द्वारा परोक्षभूत में आरम्भ किया—अनेनिजुः इस प्रकार (लुङ्द्वारा) अनद्यतनभूत से समाप्त किया। इसी प्रकार 'धृतविकासि०' इसमें भी भूतार्थ में प्रत्यय का प्रयोग है। अतः यहाँ भी कालप्रक्रम का भेद है। तिस पर भी यहाँ—दूसरा तिङन्त प्रक्रम भेद है। इस प्रकार [स्नानादौ में जो आदि शब्द ग्रन्थकार ने दिया है—उस] आदि शब्द से 'धृतविकासि०' यही ग्रहण किया जाना चाहिये। (इसका समाधान है) 'विकचमस्य दधुः प्रसूनम्'। अनेनिजुः में समाधान नहीं किया, कारण कि उसका समर्थन दूसरे प्रकार से किया जाने वाला है।

यदि वेत्य.दिनामुं प्रक्रमभेदं निराकरोति।

यदि वा—इत्यादि ग्रन्थ से इस प्रक्रमभेद का निराकरण करते हैं।

यदि वा दोषोऽयमनुद्भावनीय एव। कालविशेषस्य विवक्षामात्रभावितयाऽनवस्थितत्वात्। यदाहुः—

'परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये दर्शनयोग्यत्वात् परोक्षस्याऽविवक्षायां लङ् भवत्येव। अजयज्जयन्तो भूतानि' इति। सतोऽपि चासतो वापि चाविवक्षा भवति यथा—'अनुदरा कन्ये'ति।

अथवा यह (कालप्रक्रम दोष) दोष नहीं माना जाना चाहिये। क्योंकि काल में विशेषता विवक्षामात्र से होती है, अतः उसका कोई निश्चय नहीं रहता। जैसा कि (भाष्यकार पतञ्जलि ने) कहा है, 'जिसे लोक में परोक्ष माना जाता है या जिस परोक्ष पदार्थ को लोक जानता है यदि प्रयोगकर्त्ता उसे देख सकता हो तो वह परोक्ष प्रयोगकर्त्ता के दर्शन योग्य होने से—विवक्षित नहीं होता, तब अनद्यतनभूत (लङ्) का ही प्रयोग कर दिया जाता है। जैसे—जयन्त ने भूतों को जीता।' इसके अलावा परोक्षतर या दर्शनाविषयता होने पर और न होने पर भी अविवक्षा होती है जैसे—अनुदरा कन्या—'उस कुआँरी लड़की को कमर नहीं है'

अजयदिति अत्र परोक्षोऽपि जयो दर्शनार्हत्वात् परोक्षत्वेन न विवक्षित इति लिट्-प्रयोगो न कृतः।

विद्यमानस्याविवक्षायां दृष्टान्तमाह अनुदरा कन्येति। नहि कस्याश्चित् कन्याया उदराभावः, कृशत्वात् पुनः सोऽपि विवक्ष्यते। एवञ्च—

"अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते॥" इत्यादेः
"तात! त्वं निजतेजसैव गमितः स्वर्गं यदि स्वस्ति ते
किन्त्वन्येन हृता वधूरिति कथां मा सख्युरग्रे कृथाः।
रामोऽहं यदि राघवस्तदखिलं व्रीडानमत्कन्धरं
सार्धं बन्धुजनेन सेन्द्रविजयी वक्ता स्वयं रावणः॥"

इत्यादेश्च महतः काव्यप्रवाहस्य न किञ्चिद् दुष्टत्वम्।

'अजयद्' यहाँ परोक्ष जय को भी दर्शनयोग्य होने से परोक्षरूप से नहीं माना, इसलिये लिट्लकार का प्रयोग नहीं किया।

विद्यमान वस्तु की भी अविवक्षा होती है—इसका उदाहरण दिया—'अनुदरा कन्या' ऐसी कोई कन्या नहीं होती जिसको कमर न हो, पर कृश होने से ऐसा भी कहा जाता है। इसीलिये

'दिति को सूर्य के समान पुत्र हुआ (अभूत) जिस पर शत्रुओं से उत्पन्न भय का कोई प्रभाव नहीं होता था। इन्द्र के इन्द्रशब्द को मिटाने वाले जिसे कशिपु शब्द से पुकारते थे, जिसके पहले हिरण्य शब्द लगा रहता था—इत्यादि और—

हे तात (जटायो) यदि तुम अपने ही पराक्रम से स्वर्ग सिधार गये तो ठीक है, तुम्हारा कल्याण हो, किन्तु अपने मित्र (दशरथ जी) के आगे तुम यह घटना न कहना कि (पुत्र) वधू को दूसरा कोई उठा ले गया। यदि मैं रघुवंश का बालक राम हूँ तो उस सारी घटना को अपने समस्त बन्धुओं और इन्द्रजीत मेघनाद के साथ लज्जा से गरदन झुकाए हुए स्वयं रावण ही वहाँ कहेगा—इत्यादि विपुल काव्य सन्दर्भ में कोई दोष नहीं।

विमर्श : यही आशय रामचरित मानस से गोसाईंजी द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

सीताहरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जो मैं राम तो कुल सहित कहहि दसानन जाइ॥ [अरण्य का० दो० ३१]

अर्थस्य तदतद्भावो विवक्षामात्रतो भवेत्।
यत्र, प्रक्रमभेदोऽयं न तत्रोद्भाव्यते बुधैः॥ ३०॥
यथा विशेषकालस्य, शीलादिप्रत्ययेषु च।
कर्तुश्च फलवत्तायां, तेन ते नोपदर्शिताः॥ ३१॥

इति सङ्ग्रहश्लोकौ।

अर्थ का सद्भाव या अभाव जहाँ विवक्षामात्र पर निर्भर है—वहाँ विद्वान् लोग कालप्रक्रमभेद नहीं समझते। जैसे—कालगत विशेषताओं का या उन शील अर्थ में हुए प्रत्ययों का जिनका फल कर्तृगामी होता है। इसलिये वे (कालविशेष आदि प्रक्रमभेद के प्रसंग में) नहीं दिखलाए गए।

अर्थस्येति तद्भावोऽर्थत्वं सत्ता अतद्भाव असत्त्वम्। यत्रेति पूर्वार्धशेषः।

यथेति। न प्रक्रमभेद इत्यन्वयः। तत्र कालविशेषो दर्शितः। यथा भूतस्य भाविनश्च कालस्याद्यतनानद्यतनत्वे परोक्षापरोक्षत्वे च वैवक्षिके एवेति। ते शीलादयोऽर्थाः आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु' (३-२-१३४) इत्यत्र निर्दिष्टाः। तेषां च वैवक्षिके सत्त्वासत्त्वे। एवञ्च क्वचित्ताच्छीलिकादिप्रत्ययप्रयोगेऽप्यन्यत्र तदकरणमदुष्टम्। यथा—

"जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत॥"

इत्यत्रागृध्नुरिति ताच्छील्याद्यर्थप्रत्ययप्रयोगेऽप्यत्रस्त इत्यत्रात्रस्नुरित्यकरणेऽपि न दुष्टत्वम् अत्रस्नुरिति वा निर्देशे अगृध्नुरिति निर्दोषमेव।

क[illegible] फलवत्ता कर्त्रभिप्रायत्वम्। तदपि वैवक्षिकमेव। एवञ्च 'दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमा[illegible]षिता' इत्यत्र यदि कर्त्रभिप्रायत्वं क्रियाफलस्य, तदा ददातीति परस्मैपदप्रसङ्ग इति प्रक्रमभेदपर्यनुयोगो निरवकाश एव। एवमन्यत्र [illegible]द्व्यम्। तेन ते इति। ते कालविशेषादयः तेन विवक्षाप्रयुक्तत्वेन कारणेन न दर्शिता इत्यर्थः।

अर्थ का तद्भाव—सत्ता और अतद्भाव असत्त्व।

यत्र—यह पूर्वार्ध का अंश है। यथा—(कालविशेष और कर्तृगामिफल के शीलादि प्रत्ययों का—इस द्वितीय पद्य के वाक्यांश में) प्रक्रमभेद नहीं माना जाता (इतना वाक्यांश मिला लेना चाहिए) इनमें से काल विशेष दिखला दिया गया अर्थात् यह बतला दिया गया कि भूत और और भविष्यत् काल की उपासना, अद्यतनता, अनद्यतनता तथा परोक्षता या अपरोक्षता सब विवक्षा पर निर्भर है। शीलादि 'अर्थ' आक्वेस्तच्छील० (३।२।१३४)—इस सूत्र में बतला दिये गये हैं। उनका न होना भी विवक्षाधीन है। इसलिये यदि कहीं ताच्छील्य में प्रत्यय प्रयुक्त हो तब भी कहीं उसका अभाव दोषावह नहीं। जैसे :—

बिना डरे अपनी रक्षा की। बिना विपत्ति से कातर हुए धर्मपालन किया। बिना लालची हुए अर्थ लिया और बिना आसक्त हुए सुख भोगा। यहाँ अगृध्नु में प्रत्यय ताच्छील्यार्थक है। इतने पर भी त्रस्त की जगह 'अत्रस्नु' न करने में भी कोई दोष नहीं। 'अत्रस्नु' ऐसा प्रयोग करने पर तो अगृध्नु निर्दोष है ही।

कर्तुःफलवत्ता—कर्त्रभिप्रायता। वह भी विवक्षाश्रित है। इस प्रकार—'देखने पर आँख नीचे

कर लेती है, बोलने पर उत्तर नहीं देती।' इत्यादि में क्रिया का फल कर्त्ता (नायिका) पर आश्रित है; इस स्थिति में ददाति इस प्रकार परस्मैपदी का प्रयोग है। पर यहाँ प्रक्रमभेद दोष नहीं होता। इसी प्रकार अन्य पद्यों में देखा समझा जा सकता है।

नेन ते इति—ते (वे) अर्थात् कालविशेष आदि। तेन=विवक्षाधीनता के कारण नहीं दिखलाए।

कारकशक्तिप्रक्रमभेदो यथा—

'गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विस्रब्धं क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥' इति।

अत्र हि 'कुर्वन्त्वस्तभियो वराहततयो मुस्ताक्षतिम्' इत्युपपन्नः पाठः।

कारक शक्ति का प्रक्रमभेद—यथा—

जंगली भैंसे गड्ढों का पानी सींग से पीटें और उसमें लोटें, हिरने झुंड बनाकर छाया में बैठें और जुगाली करें, वाराह पंक्तियों द्वारा बेधड़क तलैयों के नागरमोथा काटे जाएँ, और हमारा यह धनुष भी डोरी का बंध ढीला होने से आराम करे।'

यहाँ—'निर्भीक वाराह पंक्ति मोथा कूँचें, पाठ चाहिए।

गाहन्तामिति। अत्र **कर्तुराख्यातेनाभिधानं कर्मणश्चानभिधानं प्रक्रान्तं विस्रब्धैरित्यन्यथा कृतमिति कारकप्रक्रमभेदः।**

गाहन्ताम्=यहाँ आरंभ में कर्त्ता तो आख्यात द्वारा कहा गया है, किन्तु कर्म नहीं कहा गया। उसे 'विस्रब्धैः' इत्यादि द्वारा बिगाड़ दिया, इसलिये यह कारकगत प्रक्रमभेद हुआ।

यथा च—

"कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं च न ते मया कृतम्।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते॥"

अत्रापि 'न च तेऽहं कृतवत्यसम्मतम्' इति। यथा च—

"सजलजलधरं नभो विरेजे विवृतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम्।
व्यवहितरतिविग्रहैर्वितेने जलगुरुभिः स्तनितैर्दिगन्तरेषु॥"

और जैसे—

तुमने मेरे लिये कोई भी अप्रिय काम नहीं किया। न मेरे द्वारा ही कोई तुम्हारा प्रतिकूल कार्य हुआ। तो बिना कारण ही तुम रो रही रति को दर्शन क्यों नहीं देते।'

यहाँ भी 'मैंने भी तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं किया' पाठ चाहिये।

ओर जैसे—

पानी भरे मेघों से आकाश सुहावना हो गया। बिजली की बेलें और अधिक डोलने लगीं। जल के कारण काफी भारी और मिलन की फिसादों को मिटाने वाले मेघशब्दों द्वारा चारों ओर दिशाओं में फैल जाया गया।'

विहृतिं विहरणं भङ्गिभाजनत्वमित्यर्थः। विवृतिमिति पाठे विस्तरशालित्वमित्यर्थः। रतौ विग्रहो विरोधः स्तनितैर्व्यवहितस्तत्प्रसादाद्विरोधस्य कर्तुमशक्यत्वात्। वितेने इति भावे प्रत्ययः। स्तनितानि विततीभूतानीत्यर्थः।

विहृति = विहार करना अर्थात् अनेक भंगिमाओं से युक्त होना। 'विवृति'—पाठ में विस्तार युक्त होना। रति में विग्रह अर्थात् विरोध मेघशब्दों ने दूर कर दिया, उनकी कृपा से रति करना सम्भव नहीं।

वितेने = यह भाव में प्रत्यय है अर्थात् मेघशब्द फैल गये।

शाब्दः प्रक्रमभेदो यथा—

"चारुता वपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः।
तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो दयितसङ्गमभूषः॥" इति।

अत्र हि 'तमपि वल्लभसङ्ग' इति युक्तः पाठः।

शब्दगत प्रक्रमभेद—जैसे—

'इन (बालाओं) के शरीरों को सुन्दरता ने—अलंकृत किया। उस (सुन्दरता) को पूर्ण यौवनागम ने। उस (यौवनागम) को कामकला ने। उस (कामकला) को मद (शराब आदि के नशे) ने जिसका अलंकार प्रिय का संग था।'—यहाँ—'उस (मद) को भी वल्लभ संग ने' पाठ चाहिए।

शाब्दः प्रक्रमभेद इति शब्दविषयत्वाच्छाब्दः। शाब्दप्रक्रमभेद इति तु प्रकृतिप्रक्रमभेदस्यानुक्रमेण ये पठन्ति तैः शाब्दश्चार्थश्चेत्युत्तरो ग्रन्थो नालोचित इत्युपेक्ष्यमेतत्।

सङ्गमभूषेति। अत्र बहुव्रीहावन्यपदार्थोपसर्जनेनार्थेन क्रमेणोपसंहृतमिति—भिद्यमानशब्दविषयत्वाच्छाब्दः प्रक्रमभेदः। एवमार्थः प्रक्रमभेद इत्यत्र प्रथमप्रक्रान्तभिद्यमानार्थविषयत्वादार्थ इति व्याख्येयम्।

शाब्दः—शब्द विषयक होने से शाब्द। जो लोग 'शाब्दप्रक्रमभेद' इस शब्द को प्रकृति प्रक्रमभेद आदि के समान उसी क्रम में लगाते हैं उन्होंने शाब्द और आर्थ इत्यादि आगे के ग्रन्थ पर ध्यान नहीं दिया। इसलिए यह उपेक्षणीय है।

सङ्गमभूष०—यहाँ बहुव्रीहि समास है। उसमें प्रधान है अन्य पदार्थ। इस वाक्य के उपसंहार में जो शब्द आया है उसका अर्थ (उस अन्य पदार्थ के प्रति) गुणीभूत है। गूणीभूत से उपसंहार किया अतः शब्द की विशेषता का प्रक्रम दूर हो जाने से शब्द प्रक्रमभेद दोष हुआ। इसी प्रकार अर्थ प्रक्रमभेद होता है। उसमें पहले कहे अर्थ से अन्त में कहा अर्थ भिन्न ढंग का होता है' ऐसी व्याख्या करनी चाहिये।

विमर्श: इससे विदित होता है कि व्यक्तिविवेक की और भी कोई टीका थी जिसे व्याख्याकार ने देखा था।

यथा च—

"सस्नुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि
जक्षुर्बिसान् धृतविकासिबिसप्रसूनाः।" इति।

अत्रापि 'जक्षुर्बिसं विकचमस्य दधुः प्रसूनम्' इति युक्तः पाठः। अस्मिंश्च पाठे बिसशब्दस्य पौनरुक्त्यदोषपरिहाराद् गुणान्तरलाभः।

और जैसे—

'सस्तुः पयः—धृतविकासिविसप्रसूनाः'—(अभी ३०१ पृष्ठ पर अनूदित) इसमें भी 'जक्षुर्विसं विकचमस्य दधुः प्रसूनम्' पाठ चाहिये। इस पाठ में एक लाभ यह भी होता है कि विस शब्द की पुनरुक्ति हट जाती है।

धृतविकासीति पूर्वं कालप्रकरणेनोदाहृतम्, सम्प्रति शाब्दविषयत्वेनोदाह्रियते, तिङन्तगतत्वेनाप्यूहनीयम्।

धृतविकासीति—इसे पहले कालप्रक्रमभेद के उदाहरण रूप से दिया था। अब शब्द प्रक्रमभेद के उदाहरण रूप में दे रहे हैं। तिङन्त प्रक्रमभेद भी इसमें समझ लेना चाहिये।

यथा च—

"समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा॥"

अत्र हि अनुयातिक्रियाकर्मभावो वरुणस्यार्थः प्रक्रान्त इति तत्रास्य तादृश एव हेतुरुपादातुं युक्तः। यस्त्वसन्नियमनलक्षणः शाब्दो हेतुरस्यान्येषामिवोपात्तः स प्रक्रमभेदो दोषः तस्याप्युक्तयुक्त्या रसभङ्गपर्यवसायित्वात्। तेनायमत्र पाठः पठितव्यः—'नियमयन्नसतः स नराधिप' इति। एवञ्च विभक्तिप्रक्रमभेदश्चशब्दश्चोक्तनयनिरस्तसमुच्चयविषयभावः क्रमभेददुष्टश्च परिहृतौ भवतः। एवमन्येऽप्यवगन्तव्याः।

और जैसे—

'समान रूप से वसु की वृष्टि और विसर्जन तथा असत्पुरुषों के नियंत्रण से उस राजा (दशरथ) ने वरुण सहित यम तथा कुबेर का अनुकरण किया और कान्ति से सूर्य का।'

यहाँ अनुयाति (अनुकरण) क्रिया में वरुण का कर्मभाव अर्थतः बतलाया गया है। इसलिये उसमें (अनुकरण में) हेतु भी वैसा (आर्थ) ही देना चाहिये था। पर अन्य (यम आदि) के समान इसके अनुकरण (वरुण) का हेतु भी शाब्द दे दिया गया—वह प्रक्रमभेद दोष हुआ। वह भी कहे ढंग (एकरसप्रवृत्तायाः प्रतिपत्तृप्रतीतेरुत्खात इव परिस्खलनदुःखदायी) से रसभङ्गकारक बनता है। इसलिये यहाँ यह पाठ बदलना चाहिये—'नियमयन्नसतः स नराधिपः' असत्पुरुषों को नियंत्रित करते हुए उस राजा ने…।' ऐसा करने से विभक्ति प्रक्रमभेद और च शब्द भी हट जाते हैं। च शब्द यहाँ उक्तरीति (तुल्यकक्षतया० पृ० २९७) से यहाँ समुच्चय नहीं कर सकता और गलत क्रम से रखा गया है। इसी प्रकार और भी भेद स्वयं समझ लेने चाहिये।

[वसुवृष्टि = सुवर्णवृष्टि, वसुविसर्जन = द्रव्यदान। स्वर्णं हेमहिरण्यहाटकवसून्यष्टापदं काञ्चनमिति—४।१०९ हेमचन्द्र। 'प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोषगृहे नियुक्ताः। हिरण्मयीं कोषगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः॥ रघु० ५।२०]।

परिहृतौ भवत इति। विभक्तिप्रक्रमभेदचशब्दयोर्द्वित्वाद् द्विवचनम्। चशब्दस्योभयथा दुष्टता च। चशब्दस्य च समुच्चयो विषयः। तद्भावः उक्तनयेन तुल्यकक्ष्यत्वाभावाख्येन निवारितः। प्रक्रमभेदस्त्वसतामित्यसमुच्चेतव्यनिकटप्रयोगात्। स हि 'नियमनादि'त्यस्यानन्तरं पठनीयः।

परिहृतौ भवतः = एक विभक्ति प्रक्रमभेद है और दूसरा च शब्द, इसलिये द्विवचन (परिहृतौ) दिया गया। चशब्द दो प्रकार से सदोष है। चशब्द का प्रयोग समुच्चय के लिए होना चाहिए। उसका सद्भाव ऊपर कहे नियम के अनुसार तुल्यकक्ष्यता न होने से अलग कर दिया गया। और क्रमभेद दोष है। 'च' के 'असताम्' इसके पास प्रयोग से जिसका समुच्चय नहीं किया जा रहा है, उसे 'नियमाद्' इसके बाद आना चाहिए।

एषां चान्योन्यासाङ्कर्याल्लोष्टसञ्चारक्रमेण बहवः प्रक्रमभेदप्रकाराः समुद्भवन्ति। ते स्वयमेवाभ्यूह्याः। तद्यथा—

"नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः।" इति।

अत्र हि द्वयोः प्रकृतिप्रत्यययोः प्रक्रमभेदः। तेन 'न लघुर्जातु पदं नृपश्रिय' इति युक्तः पाठः।

इनके परस्पर गुणन से लोष्टसंचारक्रम से प्रक्रमभेद के अनेक प्रकार निकल आते हैं। उनकी कल्पना स्वयं ही कर लेना चाहिए। जैसे—'नियता लघुता—०श्रियः', यहाँ। यहाँ प्रकृति और प्रत्यय दोनों का प्रक्रमभेद है अतः 'न लघुर्जातु पदं नृपश्रियः' पाठ ठीक है।

लोष्टसञ्चार एकैकस्य भेदस्य भेदान्तरैः सह संयोजनप्रकाराख्यो गणनाविशेषः।

प्रकृतिप्रत्यययोरिति लघुशब्दः प्रकृतिः। तस्यां गुरुशब्देन भेदः। गुरुशब्दे चेयसुन्नधिकः प्रयुक्तो यो लघुशब्दे न प्रयुक्तः। तत्प्रत्यस्य च प्रतिनिर्देशो न कृत इति प्रत्ययप्रक्रमभेदोऽपि। अभिनवपाठे तु तत्प्रत्ययरहितस्यैव लघुशब्दस्य प्रतिनिर्देशः कृतः।

लोष्टसंचार = एक प्रकार की गणना, जिसमें एक-एक भेद दूसरे-दूसरे भेदों के साथ मिलाए जाते हैं।

प्रकृतिप्रत्यययोः—लघुशब्द प्रकृति है, उसका भेद गुरुशब्द से हुआ, और गुरुशब्द में ईयसुन् प्रत्यय अधिक दिया गया है जो लघुशब्द में नहीं है। उस प्रत्यय (ईयसुन्) का पुनःनिर्देश नहीं किया इसलिए प्रत्ययगत प्रक्रमभेद हुआ। नए पाठ में उस प्रत्यय से रहित ही लघुशब्द प्रदर्शित है।

विमर्श : 'लोष्टसंचारक्रम' शब्द यहाँ लोष्टप्रस्तारन्याय के लिए प्रयुक्त है। लोष्ट ढेले, डिग्गल, मृत्तिकाशकल; उनका प्रस्तार = फैलाव या बिछौना। जैसे मिट्टी के ढेले यहाँ वहाँ से बीन-बीनकर एक ही खेत में फैलाए जाते हैं तो जैसे उनमें परवर्ती ढेले पूर्ववर्ती ढेलों के साथ-साथ फैलते हैं, ऐसा नहीं कि यदि ५०० ढेले फैलाए गए तो आखिरी ढेला पहले के ४९९ ढेलों को हटाकर खेत में आए, वैसे ही जहाँ किसी एक जगह जब गिनाए गए गुण दोष एक, दो, तीन, चार इत्यादि क्रम से एकाधिक संख्या में एकत्रित होते जायँ तो उस इकट्ठे होने को लोष्टप्रस्तारन्याय से इकट्ठा होना कहा जाता है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक ३।१६ के उदाहरण 'तद्गेहं नतभित्ति' के लोचन में 'एतच्च द्विशः सामस्त्यम्, त्रिशः सामस्त्यमिति'''लोष्टप्रस्तारन्यायेनानन्तवैचित्र्यमुक्तम्'—इस प्रकार की गणना के लिए इस न्याय का प्रयोग किया है। छन्दःशास्त्र में गुरु, लघु तथा संगीतशास्त्र में स्वरों के परस्पर संयोजन में यह न्याय अधिक अपनाया जाता है। वहाँ उनका नाम ही छन्दःप्रस्तार और स्वरप्रस्तार है। छन्दःप्रस्तार पर 'प्रस्तार' शब्द का शब्दकल्पद्रुम देखना चाहिए। 'वस्तुतः यहाँ लोष्टसंस्तारक्रमेण' पाठ रहा होगा।' [द्र० संगीतरत्नाकर—१]

आर्थः प्रक्रमभेदो यथा अनन्तरोदाहरणयोराद्यमाहितविपर्ययम् ।

तद्यथा—

"मत्तता दयितसङ्गमभूषा भूषयत्यसमसायकलक्ष्मीम् ।
साप्यनूननवयौवनयोगं तद् वपुस्तदपि चारुतरत्वम् ॥" इति ।

अत्रापि हि 'मत्ततां दयितसङ्गतिरेषा' इत्युचितः पाठः ।

आर्थप्रक्रमभेद, जैसे अभी तुरन्त दिए उदाहरणों में आरम्भ को उलटकर पढ़ने में अर्थात्—

मत्तता दयितसङ्गमभूषा भूषयत्यसमसायकलक्ष्मीम् ।
साप्यनूननवयौवनयोगं तद् वपुस्तदपि चारुतरत्वम् ॥'

अर्थात् प्रियसंगम जिसका भूषण है ऐसी मत्तता कामकला को भूषित करती है, वह (कामकला) भी यौवन के पूर्ण आविर्भाव को और वह (यौवन) शरीर को, वह (शरीर) भी सौन्दर्य को।' यहाँ भी 'मत्ततां दयितसङ्गतिरेषा' ऐसा पाठ उचित होगा।

आर्थः प्रक्रमभेद इति। अत्रोदाहरणद्वितयं दत्तं मत्ततेति समतयेति । तत्र मत्ततेत्यत्र सङ्गमभूषेत्यार्थेन क्रमेण प्रक्रमः, भूषयतीत्यत्र तु शाब्दरूपतया प्रतिनिर्देश इत्यार्थः प्रक्रमभेदः। किन्तु तद्वपुस्तदपि चारुतरत्वमिति पाठः स्थितपरिपाट्यानुगुण्याभावान्न न्याय्यः। 'चारुतां स खलु सापि शरीरमि'ति तु पाठः श्रेयान्। एवञ्च दयितसङ्गतिरेषेत्येतच्छब्दः पठनीयः, न पुनरासामिति पाठः। तत्र हि मत्तता केन शब्देन परामृश्येत ? 'समतये'त्येतत् प्रायेणादर्शेषु शाब्दप्रक्रमभेदे उदाहरणतया दृश्यते। अत्र आर्थप्रक्रमभेदप्रस्तावे 'अनन्तरोदाहरणयोराद्यमाहितविपर्ययम्' इति पाठः। एतच्चायुक्तम्, योजनग्रन्थे वरुणस्यार्थप्रक्रम इति ग्रन्थविरोधात्। किञ्च नियमयन्निति विदग्धम्मन्यतया दत्तोऽपि नो हृदयङ्गमः पाठः, वरुणेनैव तत्सम्बद्धमित्यत्र प्रमाणाभावात् । न हि वरुणस्यान्योपसर्जनत्वेन स्थितस्य स्वातन्त्र्यमस्ति। तस्य नैवंविधसम्बन्धः पुष्टत्वं धत्ते। आर्थप्रक्रमभेदप्रस्तावे इदमेवोदाहरणमाहितविपर्ययमिति पाठः श्रेयान्।

आर्थप्रक्रमभेद = यहाँ दो उदाहरण दिए गए हैं—एक 'मत्तता०' और दूसरा 'समतया०' उनमें से 'मत्तता०' इत्यादि में 'सङ्गमभूषः' इस प्रकार आरम्भ किया आर्थप्रक्रम से और प्रतिनिर्देश किया 'भूषयति' इस प्रकार 'शाब्द' से, इसलिए यहाँ आर्थप्रक्रमभेद हुआ, परन्तु 'तद्वपुस्तदपि चारुतरत्वम्' यह पाठ स्थित पद्धति के अनुकूल न होने से ठीक नहीं है। 'चारुतां स खलु सापि शरीरम्' पाठ अधिक अच्छा है।

इसी प्रकार 'दयितसङ्गतिरेषा' इस प्रकार 'एतद्' शब्द पढ़ा जाना चाहिए नकि 'आसाम्' यह (अदस् शब्द) वैसा पाठ होने पर मत्तता का परामर्श किससे होगा ? प्रायः आदर्श प्रतियों से शाब्दप्रक्रमभेद में 'समतया' यही उदाहरण रूप से प्रयुक्त दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में आर्थप्रक्रमभेद के प्रकरण में 'अनन्तरोदाहरणयोराद्यमाहितविपर्ययम्' यह जो पाठ है वह ठीक नहीं है, कारण कि [अत्र हि अनुयातिक्रियाकर्मभावः०' इत्यादि पूर्व ग्रन्थ में] योजना करते समय वरुण का प्रक्रम आर्थ है'—इस ग्रन्थांश का विरोध होता है क्योंकि विपर्यय होने पर आर्थप्रक्रमभेद शाब्दप्रक्रमभेद के रूप में बदल जाता है।

और 'नियमयन्०' इस प्रकार जो अधिक विदग्धता की डींग हाँकते हुए पाठ बदला है वह भी, मन में नहीं बैठता, कारण कि वह निश्चित रूप से वरुण से ही सम्बन्धित होगा इसमें कोई

प्रमाण नहीं है। वरुण दूसरे के प्रति उपसर्जन अर्थात् गौण है। वह स्वतन्त्र नहीं है। उसके साथ ऐसा सम्बन्ध ठीक-ठीक नहीं बैठता। इसलिये 'आर्थप्रक्रमभेदप्रस्तावे इदमेवोदाहरणमाहितविपर्ययम्' ऐसा पाठ अधिक अच्छा है।

विमर्श : प्रस्तुत व्याख्यान का अभिप्राय इस प्रकार है—मूलग्रन्थ के कई संस्करण हैं। किसी में 'मत्तता०' और 'समतया०' ये दोनों पद्य प्रक्रमभेद के लिये आए हैं और किसी में केवल समतया ही। दोनों में प्रथम के अनुसार 'अनन्तरोदाहरणयोराद्यमाहितविपर्ययम्' पाठ ठीक बैठ जाता है। परन्तु, द्वितीय संस्करण में आपत्ति आती है। उस संस्करण में—समतया को बदलना होता है। उस समय एक तो 'आद्यम्' कहना व्यर्थ हो जाता है, दूसरे 'समतया' पद्य को उदाहरणरूप से उपस्थित कर उसमें दोष बतलाते हुए ग्रन्थकार ने वरुण को आर्थ कहा है और बदलने में आर्थ वरुण शाब्द हो जाता है। अतः उसे आर्थप्रक्रमभेद में मिलाना असंगत होगा। व्याख्याकार ने इसका परिहार करते हुए अनन्तरोदाहरणयो...की जगह यह पाठ माना है—'आर्थप्रक्रमभेदप्रस्तावे इदमेवोदाहरणमाहितविपर्ययम्'। इसके अनुसार 'आद्यम्' पाठ की आपत्ति दूर हो जाती है। परन्तु शाब्द प्रक्रमभेद में वरुण की आर्थता का पाठ परिवर्त्तन करने पर शाब्दता से जो विरोध आता है उसका परिहार विचारणीय है। व्याख्याकार ने सम्भवतः इसीलिये 'नियमयन्' इत्यादि परिवर्तन पर अरुचि व्यक्त की है। 'सवरुणौ यमपुण्यजनेश्वरौ' इस प्रकार के पाठ में वरुण यम आदि के साथ बँधा है अतः उसमें किसी को पदार्थ का अन्वय साक्षात् नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में असत् पुरुषों के नियमन का अन्वय उस वरुण से हो ही जाएगा यह निश्चित नहीं। वस्तुतः प्रथम संस्करण ही ठीक है।

क्रमप्रक्रमभेदो यथा—

"तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥" इति।

क्रम का प्रक्रमभेद—यथा—

तुम्हारी पुष्पशरता और चन्द्रमा की शीतरश्मिता दोनों मुझ जैसे लोगों पर झूठी लगती हैं। इन्दु—(चन्द्रमा) बर्फीली किरणों से आग बरसा रहा है, और तुम भी अपने फूल के बाणों को वज्रतुल्य कठोर बना रहे हो।

क्रमेति य उद्देशक्रमः प्रक्रान्तः सोऽनूद्देशे वैपरीत्याद् न कृत इति प्रतीतेरैक्यस्य विगमाद् दुष्टत्वम्।

तव कुसुमशरत्वमिति। **इदं क्रमप्रक्रमभेदोदाहरणं न युक्तम् चूलिकाक्रमस्यैवात्रोचितत्वात्। तथाह्युद्देशः। स्मरं प्रति साम्मुख्येनाभिधानं विहाय नेन्दुं प्रासङ्गिकं प्रत्ययथार्थज्ञानमुचितमिति स्मरस्य तावत् प्रथमनिर्देशोयं यतः अनुद्देशे हित्व विषयं(?) त्यक्त्वा न प्रासङ्गिकेन वाक्यार्थपरिसमाप्तिः शोभते इति पार्यवसानिकेन स्मरेणैव सम्मुखीक्रियमाणेन वाक्यार्थः परिसमापनीय इति पाठक्रमापेक्षया चूलिकाक्रम एव सहृदयरञ्जक इति कुशाग्रीयधिषणैर्निपुणं निरूपणीयमेतत्। तथा च 'युष्मदस्मदोः पदस्य पदात् षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ' (८-१-२०) इति चूलिकाक्रमेण व्यवहारो दृश्यते। क्रमप्रक्रमभेदस्य पुनरुदाहरणं वस्तुप्रक्रमभेदविचारप्रस्तावे निरूपयिष्यते।**

क्रम = आरम्भ में जो क्रम अपनाया गया हो दूसरी बार कहते समय विपरीतता के कारण उसे नहीं निवाहना। इससे एकरूपता टूट जाती है, अतः यह सदोष है।

तव कुसुमशरत्वम्०—यह क्रमगत प्रक्रमभेद का उदाहरण है। सो ठीक नहीं। यहाँ यही उलटकर कहने का क्रम (चूलिका क्रम ही) उचित है। वैसा ही कहा भी गया है। स्मर सम्मुख उपस्थित है, इन्दु प्रासंगिक है। इसलिये स्मर के प्रति बिना कुछ कहे इन्दु के प्रति अयथार्थता का ज्ञान उचित नहीं है। इसलिये पहले तो स्मर का निर्देश पहले किया गया है फिर पुनः निर्देश करने में सामने उपस्थित विषय को छोड़कर प्रासंगिक द्वारा वाक्यार्थ की समाप्ति शोभा नहीं देती इसलिये उपसंहार में सामने उपस्थित स्मर से ही वाक्यार्थ की समाप्ति की जानी चाहिये। इसलिये जहाँ तक पढ़ने के क्रम की अपेक्षा है उसमें चूलिकाक्रम ही सहृदयों के हृदयों को सुख देने वाला है। इस प्रकार सूक्ष्म बुद्धिवालों को थोड़ा ध्यानपूर्वक इसे विचारना चाहिए। ऐसा क्रम 'युष्मदस्मदोः पदस्य पदात् षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ' (८।१।२०) सूत्र में भी (जहाँ द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी यह क्रम होना चाहिये वहाँ षष्ठी, चतुर्थी, द्वितीया इस क्रम में) उलटे क्रम का व्यवहार देखा जाता है। क्रम प्रक्रमभेद का उदाहरण वस्तु प्रक्रमभेद के विचार के प्रसंग में बतलाया जायगा।

विमर्श: चूलिकाक्रम, हाथ में चूड़ी जिस क्रम से पहनी जाती है उसी क्रम से उतारी नहीं जाती। उतारने का क्रम पहनने के क्रम से ठीक उलटा होता है। पहनते समय जो चूड़ी पहले पहल पहनी जाती है उतारते समय सबके बाद में उतारी जाती है। पदार्थनिर्देश में भी यह क्रम कहीं-कहीं मानना पड़ता है। यहाँ 'प्रथमनिर्देशोऽयमतोऽनूद्देशेऽपि तं विषयन्' ऐसा कुछ पाठ चाहिए।

ननु च प्रकृतिप्रत्ययपर्यायादीनां प्रक्रान्तानां भेदेऽपि प्रधानभूतस्यार्थस्याभेदाच्छब्दमात्रस्य भेदे सति न किञ्चिदेकरसायाः प्रतीतेः परिस्खलनमुपपद्यत इति कथमयं प्रकृत्यादिप्रक्रमभेदो नाम शब्दानौचित्यमित्युक्तम्। उच्यते। सर्व एवायमेवञ्जातीयः प्रक्रमभेदः प्रायेण विध्यनुवादभावप्रकार इत्यवगन्तव्यम्। न च तत्राप्यसत्यप्यर्थभेदे शब्दभेदमाद्रियन्ते वक्तारः। यथा—

"यदधरदलमाश्रितं प्रियाया वदनसरोरुहसाम्यमेति यश्च।
तदमृतममृतं स इन्दुरिन्दुर्विषमितरत् तमसा समस्तथान्यः॥" इति।

अस्त्वेवम्। यस्त्वयमन्यः शाब्द आर्थश्चेति द्विविधः प्रक्रमभेद उक्तः सोऽनुपपन्नः। यतः 'चारुता वपुरभूषयदासा'मित्यादौ भूषणभूष्यभावादिरूपं किमपि वस्तु प्रत्याय्यं वर्त्तते। तच्च शब्दादर्थादुभाभ्यामपि वा प्रतीयताम्। कस्तत्र प्रक्रमभेदनियमं प्रत्यभिनिवेशः यद्भेदाभेदाभ्यामनौचित्यं स्यात्।

न हि।

'शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलङ्क्रिया।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः॥'

इत्यादावसत्यपि प्रतीतिपरिस्खलनेऽनौचित्यसंस्पर्शः कश्चिदुपलभ्यत इति तदेतदविदितशब्दार्थव्यापारविभागस्यैवाभिधानम् ।

शंका—यह कैसे कहा जाता है कि प्रकृत्यादि का प्रक्रमभेद शब्दानौचित्य है, कारण कि भले ही प्रकृति प्रत्यय और पर्याय आदि के प्रक्रम में भेद हो किन्तु प्रधानभूत अर्थ में जो भेद नहीं होता । केवल शब्द में भेद आ जाने से एकरस प्रतीति में स्खलन मानना ठीक नहीं ।

उत्तर = इस प्रकार का सारा प्रक्रमभेद प्रायः विध्यनुवादभावरूप ही माना जाना चाहिये । विध्यनुवादभाव में भी वक्ता लोग शब्दभेद को तबतक अच्छा नहीं मानते जबतक अर्थ में भेद नहीं आता । जैसे—

'जो प्रिया के अधरदल में है और जो मुखकमल की तुलना में आता है वही अमृत अमृत है और वही चन्द्र चन्द्र । उससे भिन्न विष है, और उसके अतिरिक्त अन्धकार के समान ।'

शंका—ऐसा ही सही । तब भी जो शब्द और अर्थ इस तरह से दो प्रकार का प्रक्रमभेद बतलाया है—वह ठीक नहीं । क्योंकि 'चारुतावपुः···' इत्यादि में भूषणभूष्यभाव आदिरूप कोई बात बतलानी है । वह शब्द और अर्थ दोनों ही से प्रतीत क्यों न हो । उसमें प्रक्रमभेद के नियम का आग्रह किस काम का ? जिसके—भेद (बिगड़ने) से और अभेद (बनने) से अनौचित्य हो ।

उत्तर = जी नहीं !

'साफ-साफ किया ज्ञानार्जन शरीर को सुशोभित करता है उस (श्रुत) का अलंकार होता है प्रशम, प्रशम का आभरण होता है पराक्रम और वह नीति से प्राप्त सिद्धि द्वारा विभूषित होता है ।' इत्यादि में यद्यपि प्रतीति में परिस्खलन नहीं होता तब भी कुछ तो अनौचित्य दिखाई देता ही है । इसलिये यह सारी शंका शब्दार्थ व्यापार का विभाग न जाननेवाले व्यक्ति की ही है ।

प्रधानभूतस्येति । **अर्थप्रतिपादनाय शब्दप्रयोगाच्छब्दस्योपायमात्रत्वाद् उपायानां च नियमाभावात् । तदुक्तम्—**

> **"उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते ।**
> **उपायानां च नियमो नावश्यमवकल्पते ॥" इति ।**

प्रक्रमभेद इति । **प्रक्रमाभेदविषयस्य विध्यनुवादभावप्रकारत्वात् प्रक्रमभेदोऽप्युपचाराद् विध्यनुवादप्रकार इत्यर्थः । अनेनैव न्यायेन शब्दश्चार्थश्चेति प्रक्रमाभेदस्य भेदद्वयं शब्दार्थविषयत्वाद् बोद्धव्यम् ।**

शब्दभेदमिति । **एकशब्दाभिधेयत्वेनार्थस्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वोपपत्तये । शब्दभेदे तस्यैवार्थस्यान्यस्येव प्रतीतेः नाञ्जसेन प्रकारेण विध्यनुवादभावविषयत्वम् । काव्यगतत्वेन हि चिन्ता प्रस्तुता । न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात् । साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम् ।**

अस्त्वेवमिति । **सामान्येन प्रक्रमभेदाभ्युपगमो विशेषे तु पर्यनुयोग इति भावः ।** प्रक्रमनियमं प्रतीति **हृदयङ्गमः पाठः ।** यद्भेदाभेदाभ्यामिति **हि यच्छब्देन प्रक्रमः परामृश्यते । प्रक्रमभेदनियमं प्रतीति तु पाठे यद्भेदाभेदाभ्यामिति प्रक्रमस्यैवोद्धृतस्य यथाकथञ्चिद् परामर्शो व्याख्येयः ।**

शुचि भूषयतीति । **अत्र भूषयतीति शब्दं भूषणं प्रक्रान्तम् अलङ्क्रियेत्यादावार्थेन रूपेण ।**

प्रतिनिर्दिष्टम् । अत्र च पर्यायप्रक्रमभेदः स्थितोऽपि न साम्प्रतं चिन्तितः शब्दार्थप्रक्रमभेद-चिन्तनप्रस्तावात् ।

अत्र विभागस्यैवेति ।

प्रधानभूत = शब्द का प्रयोग अर्थज्ञान के लिये होता है अतः शब्द उपायमात्र होते हैं। और उपायों में कोई निश्चित नियम नहीं होता । जैसा कि कहा है—'अपनाकर भी जो त्यागे जा सकते हैं उन्हें उपाय कहते हैं और उपायों में कोई नियम अनिवार्य रूप से नहीं होता ।'

प्रक्रमभेद = प्रक्रम के अभेद का जो विषय है वह विध्यनुवादभाव का अंग है। अतः प्रक्रम का भेद भी—लक्षणया-–विध्यनुवादभाव का ही अंग है। इसी प्रकार प्रक्रमाभेद के भी दो भेद—शाब्द और आर्थ, शब्द विषयक और अर्थविषयक मानने चाहिये ।

शब्दभेद = देखा जाता है कि अर्थ एक ही शब्द से कहे जाने पर पहचान में आता है। शब्द में अन्तर पड़ जाने से वही अर्थ दूसरा सा प्रतीत होता है। और ठीक से विध्यनुवादभाव का विषय नहीं बनता यहाँ जो विचार चल रहा है वह काव्यगत प्रक्रमभेद का है। काव्य में, शास्त्रादि के समान केवल अर्थ प्रतीति के लिये शब्दमात्र का प्रयोग नहीं होता । वहाँ (काव्य में) सहित शब्दार्थ का प्रयोग होता है । साहित्य का अर्थ है बराबरी के साथ कमबढ़ न होना ।

अस्त्वेवम् = भाव यह कि हम प्रक्रमभेद को सामान्यरूप से मान लेते हैं। विशेषरूप से मानने में हमारी आपत्ति है ।

प्रक्रमभेदनियमम् = प्रक्रमनियमं प्रति यह पाठ अधिक अच्छा है ।

यद्भेदाभेदाभ्याम् = यत् अर्थात् प्रक्रम 'प्रक्रमभेदनियमं प्रति' इस पाठ में 'यद्भेदा०' में यद् शब्द के द्वारा 'प्रक्रमभेद नियम' शब्द से प्रक्रम जोड़कर जिस किसी प्रकार उसी का परामर्श मानना चाहिये ।

शुचि भूषयति = यहाँ भूषयति—इस प्रकार भूषित करना आरम्भ किया गया है। उसका प्रतिनिर्देश 'अलंक्रिया' इत्यादि आर्थरूप से किया गया। यहाँ पर्यायगत प्रक्रमभेद है तब भी इस समय उस पर विचार नहीं किया कारण कि यह शब्दगत और अर्थगत प्रक्रमभेद का प्रकरण चल रहा है ।

अन्यो हि शब्दव्यापारविषयोऽर्थोऽन्यश्चार्थव्यापारविषयः। तत्र यः प्राधान्येन प्रतिपादयितुमिष्यते स शब्दव्यापारविषयः, तस्य साक्षात् तदभिसम्बन्धसम्भवात् । अन्यस्त्वर्थव्यापारविषयो विपर्ययात् । एवञ्च सति यदयं भूषणभूष्यभावः प्राधान्येन वक्तुं प्रक्रम्यते तदा शब्दव्यापार-स्यैवासौ विषयो भवितुमर्हति नार्थव्यापारस्येति विषयविभागे व्यवस्थिते सति तयोर्यदन्यथाकरणं तदेकरसायाः प्रतीतेः परिस्खलनहेतुर्भवत्यनौ-चित्यमित्युक्तं यथा पूर्वोक्त उदाहरणद्वये ।

यत् पुनः 'शुचि भूषयती'त्यादौ सत्यपि प्रक्रमभेददोषे नानौचित्य-संस्पर्शः कश्चित् संवेद्यत इत्युक्तं, तत्र 'वपुषः शुचि भूषणं श्रुत'मिति, 'तां मदस्तमपि वल्लभसङ्ग' इति चोभयत्रापि पाठविपर्यासात् प्रक्रमभेद-दोषद्वये परिहृते सत्यनयोः प्रतीत्योर्यादृशमौचित्यमनौचित्यं वाविर्भवति

तत्प्रतीतिपरमार्थविदः सहृदया एव विवेक्तुमलमिति त एव प्रष्टव्याः नान्ये । ते ह्युभयत्रापि सादृश्यमेवावगच्छन्ति ।

यदि वा शुचि भूषयतीत्यादौ भूषणभूष्यभावशृङ्खलायां यथासम्भवं भङ्गीभणितिवैचित्र्यमात्रं कवेर्विवक्षितं, तच्च निर्व्यूढमिति तदपहृतचेतसां प्रतीतिस्खलनखेदानवधारणम् ।

अथ यदि शब्दव्यापारविषयस्यैवार्थस्य प्राधान्यं नान्यस्येत्युच्यते, तर्हि 'चक्राभिघातप्रसभे'त्यादौ 'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्' इत्यादौ 'कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभि'रित्यादौ च वस्तुमात्रस्यालङ्कारस्य रसादेश्च प्रतीयमानस्यार्थस्यावाच्यस्यैवाप्राधान्यं स्यात् । तच्चानिष्टं भवति । तयोरग्निधूमयोरिव गम्यगमकभावेनावस्थानात् प्रधानेतरभावस्यावश्याभ्युपगम्यत्वात् ।

अत्रोच्यते । प्रतीत्यपेक्षमनयोः प्राधान्यमप्राधान्यं चावस्थाप्यते । वाच्यस्य प्रतीतिः शब्दव्यापारविषय इति तस्य प्राधान्यमवस्थाप्यते । प्रतीयमानस्य पुनरन्यथेति तस्याप्राधान्यमेवेत्युक्तम् ।

यत् पुनर्वस्तुमात्रादीनां प्राधान्यमवस्थाप्यते, तद्वाच्यप्रतीयमानयोर्धूमाग्न्योरिव गम्यगमकभावापेक्षयैव न प्रतीत्यपेक्षया । तदपेक्षयैव च क्वचिद्वाच्यस्याप्यप्राधान्यमुच्यते ।

शब्द के व्यापार का विषयीभूत अर्थ दूसरा होता है और अर्थ के व्यापार का विषयीभूत अर्थ दूसरा। उनमें जिसे प्रधानरूप से प्रतिपादित करना होता है वह शब्द व्यापार का विषय होता है, उसका उससे (शब्द से) साक्षात् सम्बन्ध हो सकता है। इसके ठीक उल्टा होने के कारण अर्थ व्यापार का विषयीभूत अर्थ दूसरा है। इस प्रकार जो यह भूष्यभूषणभाव प्रधानरूप से कहा जा रहा है, तो यह शब्द व्यापार का ही विषय विभाग हो सकता है। अर्थ व्यापार का नहीं। इस प्रकार विषयविभाग हो जाने पर भी उनको जो उलट कर रखता है वह एकरस प्रतीति में परिस्खलन का कारण = अनौचित्य बनता है, ऐसा हमने कहा है। जैसा कि पूर्वोक्त दो उदाहरणों में दिखाई भी देता है। और जो 'शुचि' भूषयति इत्यादि में प्रक्रमभेद दोष के रहते हुए भी अनौचित्य समझ में नहीं आता—ऐसा कहा, वहाँ (हमारा कहना है कि) 'वपुषः शुचि भूषणं श्रुतम्' ऐसा और 'तां मदस्तमपि वल्लभसङ्ग' ऐसा दोनों जगह पाठ बदल देने पर दोनों प्रक्रमभेद दोष दूर हो जाते पर इन प्रतीतियों में जो भी औचित्य या अनौचित्य आता है उसे प्रतीति के पारखी सहृदय लोग ही समझा सकते हैं, इसलिये इस विषय में उन्हीं से पूछना चाहिये औरों से नहीं। वे (दूसरे लोग) तो दोनों ही पाठों में समानता देखते हैं।

अथवा—शुचि भूषयति० इत्यादि में भूषणभूष्यभाव की पंक्ति में कवि को यथासम्भव टेढ़े ढंग से कहने की विचित्रतामात्र विवक्षित है। और उसका निर्वाह उसने कर दिया है। इसी से उससे जिनका चित्त ठग लिया जाता है उन्हीं को प्रतीति में होनेवाले स्खलन की पीड़ा नहीं समझ आती।

शंका—यदि ऐसा कहना अभीष्ट हो कि वही अर्थ प्रधान होता है जो शब्द व्यापार का विषय बनता है, और कोई नहीं तो 'चक्राभिघातप्रसभ' इत्यादि 'लावण्यकान्तिपरिपूरित···' इत्यादि तथा 'कृतककुपितैः०' इत्यादि में वस्तुमात्र, अलंकार और रस आदि प्रतीयमान अर्थ, जो वाच्य नहीं है, उसी की अप्रधानता मानी जाय। (किन्तु) ऐसा माना नहीं जाता कारण कि वे दोनों प्रतीयमान और वाच्य अर्थ अग्नि तथा धून के समान गम्यगमकभाव सम्बन्ध से अवस्थित है। इसलिये उनका प्राधान्य अप्राधान्य जरूर ही मानना होगा।

समाधान—इस पर हमारा कहना है कि इसकी प्रधानता और अप्रधानता प्रतीति को लेकर स्थिर की जाती है। वाच्य की प्रतीति शब्द व्यापार का विषय है। इसलिये उसमें प्राधान्य माना जाता है। और प्रतीयमान वैसा नहीं होता, अतः उसका अप्राधान्य ही माना जा सकता है। ऐसा (पहले) कहा भी है। और जो वस्तु आदि की प्रधानता वतला दी जाती है, वह वाच्य और प्रतीयमान अर्थों के—धूम अग्नि के समान गम्यगमक—भाव को लेकर। उसी को लेकर कहीं वाच्य में अप्रधानता भी कही जाती है।

तदभिसम्बन्धः शब्दाभिसम्बन्धः। विपर्ययादिति साक्षाच्छब्दसम्बन्धाभावात्। उदाहरणद्वये 'शुचि भूषयती'ति 'चारुता वपुरि'ति च।

यादृशमिति स्थितपाठाभिप्रायेणानौचित्यं दत्तपाठाशयेन त्वौचित्यमित्यर्थः। तच्छब्देनान्ये परामृश्यन्ते। सादृश्यमेवेति। विवेकाक्षमप्रज्ञत्वात्।

तदपहृतेति तत्पदेन भङ्गीभणितिवैचित्र्यं परामृष्टम्। उत्कटेन भणितिवैचित्र्येण वर्णनीयमाच्छादितमित्यर्थः। तदुक्तं वक्रोक्तिकृता लौकिकालङ्कारानुपमानीकृत्य—

'यद्वत् तद्वदलङ्कारैर्भासमानैर्निजात्मना।
स्वशोभातिशयान्तस्थमलङ्कार्यं प्रकाश्यते॥' इति।

तदभिसम्बन्धः—शब्द का अभिसम्बन्ध।

विपर्ययात्—साक्षात् शब्द सम्बन्ध न होने से।

उदाहरणद्वये—'शुचि भूषयति' एक, दूसरा 'चारुताः वपुः'।

यादृशम्—यथास्थित पाठ के आधार पर अनौचित्य, वदले पाठ के आधार पर औचित्य तद् शब्द से 'अस्य' का परामर्श होता है।

सादृश्यम्—उनकी प्रज्ञा विवेक (अलग-अलग) करने में समर्थ नहीं होती—इससे।

तदपहृत—तत्पद से भङ्गीभणिति द्वारा हुआ वैचित्र्य कहा गया कथन के उत्कट प्रकार से वर्णनीय पदार्थ ढक जाता है। जैसा कि वक्रोक्तिजीवितकार ने लौकिक अलंकारों का उदाहरण देकर कहा है। जैसे—वैसे ही अपने रूप से उद्भासित होते हुए अलंकारों द्वारा अलंकार्य अपनी अतिशय शोभा के बीच ढका हुआ सा दिखलाया जाता है।

विमर्श: वक्रोक्ति जीवित में—इसके पहले की कारिका इस प्रकार है—

रत्नरश्मिच्छटोत्सेकभासुरैर्भूषणैर्यथा। कान्ता शरीरमाच्छाद्य भूषायै परिकल्पते॥ १।३६॥ यत्र तद्वत्···इसकी लम्बी व्याख्या का सार इस प्रकार दिया गया है—अलङ्कारमहिमैव तथाविधोऽत्र भ्राजते, तस्यात्यन्तोद्रिक्तवृत्तेः स्वशोभातिशयान्तर्गतमलङ्कार्यं प्रकाशते। [पृ० १३३ हि० व० जी०]

अप्राधान्यं स्यादिति। अयं भावः—यदि शब्दव्यापारविषयस्य प्राधान्यमर्थव्यापारविषयस्य चाप्राधान्यमिति व्यवस्था, तदा त्रिविधस्य प्रतीयमानस्य परैर्ध्वन्यमानत्वेन व्यपदि-

ष्टस्यास्माभिरनुमेयत्वेनोपपादितस्याप्राधान्यं प्रसज्येत तस्यार्थव्यापारविषयत्वात्, शब्दव्यापारविषयत्वस्य दूषितत्वात्। इष्यते च प्राधान्यम्। तत् कथमियं प्राधान्याप्राधान्यप्रतीतिर्घटत इति। 'चक्राभिघाते'त्यादौ च पर्यायोक्ते समासोक्तिवद् गम्यमानस्यैव प्राधान्यं न वाच्यस्येत्युपपादितं प्राक्। 'एकाभिघात' इति हयग्रीववधे पाठः स्थितः, सुदर्शनस्य पुंल्लिङ्गस्य प्रक्रान्तत्वाद् य इत्यनेन परामर्शात्। तत्त्वनवबुध्य चक्रं यदि परामृश्यते, तदा यच्छब्दस्य नपुंसकता स्यात्। तन्मुरारिरेवात्र परामृश्यत इत्याशयेन 'चक्राभिघाते'ति पठन्ति। न त्वयं तत्र प्रस्तावः।

प्राधान्यमप्राधान्यं चेति इह गमकमप्रधानमुपायत्वात्। गम्यं प्रधानमुपेयत्वात्। तेन प्रतीयमानस्य गम्यत्वात् प्राधान्यव्यवहारः। न प्रतीत्यपेक्षयेति। शब्देनार्थेन च या प्रतीतिस्तदपेक्षया न प्राधान्याप्राधान्यव्यवहार इत्यर्थः। तयोस्त्विह गम्यगमकभावविविक्तविषयत्वेन चिन्ता कृता। तदपेक्षया गम्यगमकत्वापेक्षया। क्वचिद् यत्र प्रतीयमानसद्भावस्तत्राप्राधान्यमित्यर्थः। वाच्यस्यापीति—यः शाब्दत्वेन प्राधान्यव्यवहारयोग्यस्तस्यापि। वाच्यं हि प्रतीयमानं प्रति गमकत्वेन व्यवस्थितं तेन तदपेक्षत्वेनाप्राधान्यमिति तात्पर्यम्।

अप्राधान्यं स्यात्—भाव यह है कि यदि शब्द व्यापार के विषय की प्रधानता हो और अर्थ व्यापार विषय की अप्रधानता—ऐसी व्यवस्था मानी जाय तो तीन प्रकार के प्रतीयमान अर्थ की, जिसे और लोगों ने ध्वन्यमान कहा है और अनुमेय, अप्रधानता अप्राप्त होती है क्योंकि वे अर्थव्यापार के विषय हैं। उनके शब्दव्यापारविषय होने का खण्डन किया जा चुका है। किन्तु मानी तो जाती है उनकी प्रधानता। तो प्रधानता अप्रधानता की व्यवस्था कैसे बने ?

चक्राभिघात०—में पर्यायोक्तालंकार है। उसमें समासोक्ति के समान प्रतीयमान ही प्रधान है। वाच्य नहीं। ऐसा पहले बतलाया जा चुका है। हयग्रीववध में 'एकाभिघात' ऐसा पाठ है। सुदर्शन को पुल्लिंग में पढ़ा गया अतः उसका 'यः' इस (यत् पद से प्रथमा एकवचनान्त रूप) से परामर्श हुआ। उसे बिना समझे यदि चक्र इसी पाठ को माना जाय तो यत् शब्द को नपुंसक लिङ्ग में पढ़ा जाना चाहिये। इसलिये विष्णु ही यहाँ यत् शब्द से परामृष्ट माने जाते हैं—ऐसा कहकर कुछ लोग संगति लगाते हैं। पर वहाँ प्रकरण ऐसा नहीं है।

प्राधान्य-अप्राधान्यम्—यहाँ गमक अप्रधान है, क्योंकि वह उपाय होता है। ऐसा गम्य प्रधान है क्योंकि वह उपेय होता है। इसलिये प्रतीयमान गम्य होने से प्रधान है।

न प्रतीत्यपेक्षया—शब्द अर्थ से जो ज्ञान होता है उसके आधार पर प्राधान्य अप्राधान्य की व्यवस्था नहीं हो सकती। उन शब्द अर्थ से होने वाले प्राधान्य अप्रधान्य का विचार तो यहाँ गम्यगमक भाव (कृत प्राधान्य अप्राधान्य) के क्षेत्र से बाहर किया गया है।

तदपेक्षया—गम्यगमनभाव को लेकर।

क्वचित् = कहीं—जहाँ प्रतीयमान का सद्भाव हो, वहाँ प्राधान्य नहीं होता।

वाच्यस्यापीति—जो शाब्द रूप से प्रधान कहा जाने योग्य है—उसका भी। तात्पर्य यह कि वाच्य प्रतीयमान के प्रति गमक रूप से ही व्यवस्थित है इसलिए इसको देखते हुए इसका अप्राधान्य है।

ननु यदि प्रतीतेरेकरसप्रसृतायाः परिस्खलनहेतुत्वादयं प्रक्रमभेददोषोऽनौचित्यमित्युच्यते तदिदानीमेकस्मिन्नेव वस्तुनि निर्वर्ण्यमाने महा-

कवीनां या विचित्रा भङ्गीभणितयोऽलङ्कारसंज्ञास्तास्वप्ययं प्रक्रमभेददोषो दुर्निषेधः स्याद् विशेषाभावात् ।

मैवं वोचः ।

तत्राप्यस्माभिरयमिष्यत एव ।

कथं तर्हि वैरस्यं न प्रकाशते ।

तस्याङ्गनावदनेन्दुबिम्बगतस्येव कलङ्कलेशस्य स्वादिष्ठाभिरलङ्कारपरम्पराभिरभिभूयमानत्वाद्वाक्यभेदाच्चेति । यदुक्तम्—

"एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।" इति ।

न तु तावतासौ नास्त्येवेति शक्यं कल्पयितुं तत्सद्भावस्य न्यायसिद्धत्वात् । न हि भङ्गीभणितिविषमे वर्त्मनि प्रवर्त्तमाना प्रतीतिरपरिस्खलितक्रमेणैव प्रवर्त्तेत इत्युपपद्यते कारणभेदस्यापि कार्यभेदहेतुत्वोपगमात् । तदेतदुक्तं भवति सर्व एव भणितिप्रकारः प्रक्रमभेदस्य विषय इति ।

स च विविच्यमानो वाच्यप्रतीयमानार्थनिष्ठ एव पर्यवस्यतीति शाब्दश्चार्थश्चेति तथैव द्वैविध्येन प्रतिपादितः ।

शंका—यदि एकरस चल रही प्रतीति में भेद डालने के कारण यह प्रक्रमभेद अनौचित्य—कहा जा रहा है तो इस स्थिति में एक ही बात के कहने में महाकवियों की जो विचित्र उक्तियाँ देखी जाती हैं और जिन्हें अलंकार रूप माना जाता है उनमें भी प्रकमभेद होगा, वह हटाया नहीं जा सकेगा, कारण कि यहाँ और वहाँ कोई अन्तर नहीं है ।

उत्तर—ऐसा न कहिए । वहाँ भी हम इसे (प्रकमभेद को) मानते ही हैं ।

प्रश्न—तो विरसता प्रतीत क्यों नहीं होती ?

उत्तर—इसलिये कि वह सुन्दरी के मुखकमल में पड़े किसी छोटे से काले चिह्न के समान, अत्यन्त स्वादु अलङ्कारों में दब जाता है और वाक्य में भिन्नता चली आती है । जैसा कि कहा है—जहाँ गुणों का जमघड़ होता है वहाँ एक दोष चन्द्र की किरणों में कलंक के समान डूब जाया करता है । इतने से यह (प्रक्रमभेद) नहीं ही है ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती । क्योंकि उसका अस्तित्व न्यायसिद्ध है । जो प्रतीति विचित्र कथन के विषम पथ पर आगे बढ़ती है वह एकरूप से ही आगे बढ़ती रहती है । ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि कारण में आई भिन्नता कार्य में भिन्नता पैदा करती है—ऐसा माना जा चुका है । इसलिये यह बात स्थिर होती है कि सभी प्रकार के भणिति-भेद में प्रकमभेद रहता ही है ।

और वह (प्रक्रम भेद) विवेचन करने पर वाच्य और प्रतीयमान अर्थ में रहता जान पड़ता है इसलिये शाब्द और आर्थ होता है और इसीलिये वह दो प्रकार का बतलाया गया है ।

विचित्रा भङ्गीभणितय इति यथा भट्टबाणस्य तेषु तेषु स्थानेषु । अभिभूयमानत्वादिति । यदुक्तं ध्वनिकृता—'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः' इति ।

वाक्यभेदाच्चेति वाक्यान्तरापेक्षया हि वाक्यान्तरस्य भङ्गीभणितिवैचित्र्यमित्यंशेन प्रतीतिवैदूर्याद्व प्रकमभेददोषं प्रकाशयति ।

न्यायसिद्धत्वादिति। न्यायोऽत्र भणितिवैषम्यम्। कारणभेदस्यापीति न केवलं प्रतीतिभेदो भेदहेतुः, यावत्कारणभेदोऽपि। प्रतीतिभेदो विज्ञप्त्यपेक्षया भेदहेतुः, कारणभेदः पुनरुत्पत्त्यपेक्षयेति विशेषः। तदुक्तम्—

"अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा भावानां योऽयं विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च" इति।

इह भङ्गीभणितिवैचित्र्यावैचित्र्ये प्रतीतिपरिस्खलनयोः कारणे।

स चेति प्रक्रमभेदः।

शाब्दश्चार्थश्चेति पूर्वं प्रकृत्यादिप्रक्रमभेदविलक्षणौ शाब्दार्थप्रक्रमभेदौ लक्षितावुदाहृतौ च। अधुना वाच्यप्रतीयमानार्थापेक्षया पर्यवसानाभिप्रायेण सर्वप्रक्रमभेदव्यापकौ सामान्येन शाब्दार्थप्रक्रमभेदावुक्ताविति, विशेषो बोद्धव्यः।

विचित्रा—जैसे बाणभट्ट की उक्तियां में स्थान स्थान पर। अभिभूयमानत्वात्—जैसा कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा है—अव्युत्पत्ति से पैदा हुआ दोष कवि की शक्ति से दब जाता है।

वाक्यभेदाच्च—दूसरे वाक्यों के आधार पर दूसरे वाक्यों में भङ्गीभणिति का वैचित्र्य होता है, इसलिये आंशिक रूप से प्रतीति में दूरी पड़ जाती है, अतः प्रक्रमभेद दोष दिखाई नहीं देता।

न्यायसिद्धत्वात्—न्याय (हेतु) है यहाँ भणिति की विषमता।

कारणभेदस्यापि—केवल प्रतीतिभेद ही भेद का हेतु नहीं है। कारणभेद भी उसका हेतु है। प्रतीतिभेद समझ में भेद हेतु होता है कारण भेद उत्पत्ति में केवल इतना अन्तर है। कहा भी है—'भेद या भेद का हेतु यही कहा जाता है कि विरुद्ध धर्मों की प्रतीति या कारण का भेद।' भङ्गीभणिति के वैचित्र्य और अवैचित्र्य प्रतीति के परिस्खलन में कारण बनते हैं।

स च—प्रक्रम भेद।

शाब्द आर्थ—पहले प्रकृत्यादि के प्रक्रमभेद से भिन्न शाब्द और आर्थ प्रक्रमभेद सामान्य रूप से बतलाये गये और उनके उदाहरण भी दिये गये। यहाँ उपसंहार करने के लिये वाच्य और प्रतीयमान की दृष्टि से सभी प्रक्रमभेदों में सामान्य रूप से व्याप्त शब्द और अर्थ के प्रक्रमभेद कहे गये। यह इनमें अन्तर है।

वस्तुप्रक्रमभेदो यथा

'इयं गेहे' इति। अत्र प्रथमे पादे साक्षान्नायिकायाः स्वरूपं वर्णयितुमुपक्रम्योत्तरत्र भेदेन तदीयस्पर्शादिवर्णनं निर्वाहितमिति वस्तुप्रक्रमभेदो दोषः।

ननूभयत्राप्यर्थतस्तत्स्वरूपप्रकर्षप्रतीतिः पर्यवस्यतीति कथमयं दोषः। सत्यम्। स्यादेवं यद्यसावुभयत्राप्यसञ्जातपरिस्खलनखेदवैरस्या सत्येकरसैव पर्यवस्येत्। न चोक्तनयेनैतत्सम्भवतीति दोषतयैवायमुक्तः। तेन मुखं पूर्णश्चन्द्रो वपुरमृतवर्त्तिर्नयनयोः' इत्येवमयं पाठः परिणमयितव्यः।

वस्तु प्रक्रमभेद यथा—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयोरसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।

अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥

'यह (सीता) घर में लक्ष्मी है, यह आँखों में अमृत की वर्त्ती है। इसका यह स्पर्श शरीर पर घना चन्दन रस है। यह हाथ गले में ठंडा और चिकना मोती का हार है— (इस प्रकार) इसका क्या मुझे प्रिय नहीं है। केवल असह्य है तो विरह ही। यहाँ प्रथम चरण में स्वयं

नायिका का वर्णन करना आरम्भ किया, आगे चल कर अन्त तक उसके स्पर्श आदि का वर्णन स्थिर रखा। इस प्रकार वस्तु के प्रक्रम का भेद यह हुआ।

शंका—दोनों ही जगह नायिका के स्वरूप की प्रतीति बढ़ी चढ़ी मात्रा में हो ही जाती है, इसलिये यह दोष कैसे (हो सकता है)?

उत्तर—ठीक है। ऐसा सम्भव था यदि यह (प्रतीति) दोनों ही जगह टूटने से विरस हुये बिना एक सी बनी रह जाती? पर उक्त प्रकार से यह सम्भव नहीं, अतः इसे दोष रूप ही माना। 'इसलिये मुख' पूर्णचन्द्र है, शरीर नेत्रों के लिये अमृत वाणी है ऐसा पाठ बदल लेना चाहिये।

वस्तुप्रक्रमभेद इति। वस्तु वर्णनीयं यथा वर्णयितुं प्रक्रान्तं तस्य तथा निर्वाहाभावाद् वस्तुप्रक्रमभेदः। भेदेनेति अवयवसम्बन्धित्वेनेत्यर्थः। प्रथमे हि पादे अवयविन एव स्वरूपेण वर्णनं प्रक्रान्तमित्यवयविसम्बन्धित्वेन निर्वाहणं दोषः।

उभयत्रापीति अवयविवर्णने अवयववर्णने च। तत् स्वरूपं नायिकास्वरूपम्।

वस्तु प्रक्रमभेद, वस्तु = वर्णनीय। जैसे वर्णन आरम्भ किया उसका वैसा ही अन्त तक निर्वाह न होने से वस्तु प्रक्रमभेद।

भेदेन—अवयव के साथ सम्बन्धित होने से। प्रथम चरण में अवयवी का ही स्वरूपतः वर्णन आरम्भ किया गया है, इसलिये निर्वाह अवयव सम्बन्धी (स्पर्श आदि) से करना दोष है।

उभयत्रापि—अवयवी और अवयव दोनों के वर्णन में।

तत्स्वरूपम्—नायिका का स्वरूप।

विमर्श : पाठान्तर यह चाहिये 'मुखं पौर्णश्चन्द्रः' और 'तनुरमृतवर्त्तिर्नयनयोः।'

यथा च—

"तरङ्गय दृशोऽङ्गने! पततु चित्रमिन्दीवरं
स्फुटीकुरु रदच्छदं व्रजतु विद्रुमः श्वेतताम्।
क्षणं वपुरपावृणु स्पृशतु काञ्चनं कालिका-
मुदञ्चय मनाङ् मुखं भवतु च द्विचन्द्रं नभः॥"

अत्र उपमानानामिन्दीवरादीनां निन्दाद्वारेण नयनादीनामुपमेयानां यत् तेभ्योऽतिशयलक्षणं वस्तु वक्तुं प्रक्रान्तं तस्यानिर्वाहात् भेदः मुखचन्द्रयोः सादृश्यप्रतिपादनमात्रपर्यवसानात्। तदेवमत्र पाठः पठितव्यः—'उदञ्चय मनाङ्मुखं भवतु लक्ष्यलक्ष्मा शशी'।

और जैसे—

हे सुन्दरी! जरा आँखें लहरा (ताकि) ये घमण्डी नील कमल झुक जायँ; अपने ओंठ खोल (ताकि) मूँगे सफेद (फक) पड़ जायँ। छिन भर के लिये अपना आँग उघाड़ (ताकि) सोना काला हो जाय, थोड़ा मुखड़ा ऊँचा कर (ताकि) आसमान में दो चाँद हो जायँ।

यहाँ इन्दीवर आदि उपमानों की निन्दा के द्वारा नयन आदि उपमेयों की जो अतिशायितारूपी वस्तु आरम्भ की गई है उसका निर्वाह नहीं किये जाने से (प्रक्रम का) भेद हुआ, कारण कि मुख और चन्द्र का पर्यवसान केवल सादृश्यमात्र के प्रतिपादन में ही हो रहता है। अतः इस प्रकार का पाठ यहाँ न कर लेना चाहिये—

'उदञ्चय मनाङ् मुखं भवतु लक्ष्यलक्ष्मा शशी' = थोड़ा चेहरा ऊँचा कर, जिससे चन्द्र का कलङ्क दिखाई देने लग जाय।

अङ्गने इत्यामन्त्रणम्। पततु अधस्तात् गच्छतु।

साद‍ृश्यप्रतिपादनेति द्विचन्द्रमिति हि पाठे वदनेन सह चन्द्रो नभसो द्विचन्द्रतामापादयति। तच्च वदनचन्द्रयोः साद‍ृश्यमूलमिति व्यतिरेकप्रक्रमे साद‍ृश्यनिर्वाहात् प्रक्रमभेदः।

अङ्गने—यह सम्बोधन पद है।

पततु = नीचे चला जाय।

साद‍ृश्य प्रतिपादन—'द्विचन्द्रं नभः' इस पाठ में (एक वदन और एक चन्द्र इस प्रकार) वदन के साथ चन्द्र आकाश में दो चन्द्र वाला होना सिद्ध करता है। वह मुख और चन्द्र के साद‍ृश्य का कारण है। (या वह मुख और चन्द्र के साद‍ृश्य से सिद्ध होता है) इस प्रकार व्यतिरेक के प्रकम में साद‍ृश्य से निर्वाह करने में प्रक्रमभेद हुआ।

विमर्श: वस्तुतः पाठ चाहिये 'भजतु चन्द्रमाः पाण्डुताम्'।

यथा च—

'तद् वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा तच्चेत् स्मितं का सुधा
सा चेत् कान्तिरतन्त्रमेव कनकं ताश्चेद् गिरो धिङ् मधु।
सा दृष्टिर्यदि हारितं कुवलयैः किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविरसः सर्गक्रमो वेधसः॥' इति।

अत्राप्युपमानादुपमेयस्यातिरेकलक्षणं यद्वस्तु वक्तुमिष्टं तस्यार्थान्तरन्यासमुखेन प्रक्रमभेदः वस्तुसर्गपौनरुक्त्यस्य साद‍ृश्यमात्रपर्यवसानादिति। तेन 'पुनरुक्तवस्तुविमुख' इत्यत्र युक्तः पाठः। दोषोऽयमेवञ्जातीयकानामर्थदोषाणामन्येषामप्युपलक्षणम्।

तेन 'तपेन वर्षा' इत्याद्यपाकृतं भवति।

और जैसे—

'यदि वह मुख था तो चन्द्रमा की कथा ही बन्द थी, यदि वह मुस्कुराहट थी तो अमृत क्या था? यदि वह कान्ति थी तो सुवर्ण व्यर्थ, वे शब्द यदि थे तो मधु को धिक्कार। वह दृष्टि यदि थी तो कुवलय (नील कमल) हारे ही हुये थे, और अधिक क्या कहें—सच है कि विधाता की सृष्टि का क्रम दोहरी चीज बनाने से नीरस है।' यहाँ भी उपमान की अपेक्षा उपमेय का अतिरेक रूपी जो वस्तु अभीष्ट थी, उसका अर्थान्तरन्यास के द्वारा प्रक्रमभेद कर दिया गया। वस्तुओं की सृष्टि में पौनरुक्त्य (दोहरापन) केवल साद‍ृश्य में ही परिणत होता है! इसलिये यहाँ—'पुनरुक्तवस्तुविमुखः' दोहरी चीज की ओर न मुड़ने वाला यह पाठ चाहिये। यह दोष ऐसे ही अन्य अर्थ दोषों का नमूना है। इससे 'तपेन वर्षा' इत्यादि का निराकरण भी हो जाता है।

वस्तुसर्गपौनरुक्त्यस्येति पुनरुक्तवस्तुविरस इत्यत्र हि पुनरुक्तवस्तुभिर्विरस इति व्याख्याने साद‍ृश्येन निर्वाहः कृतः, व्यतिरेकेण च प्रक्रम इति दोष एवायम्। विमुख इति। केचित् पुनरुक्तवस्तुषु विरसः पुनरुक्तानि वस्तूनि न करोतीति व्याख्यानेन व्यतिरेकनिर्वाहाद् यथास्थितं पाठं समर्थयाञ्चक्रिरे।

अर्थदोषाणामिति प्रक्रमातिक्रमरूपाणामित्यर्थः।

तपेन वर्षा इति—

"तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च।
प्रसूनकृत्यं ददतः सदर्त्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां दधुः॥" (माघे १।६६)

अत्र हि स्त्रीपुरुषयुगलत्रयरूपतया ऋतूनां वर्णने प्रस्तुते स्त्रीरूपाणामृतूनां तृतीयासम्बन्धादप्राधान्ये विवक्षिते यत् तपेन वर्षा इत्यत्र विपर्ययः कृतः, कृते वा तथा निर्देशे शरदा हिमागम इत्यादौ यदन्यथाकरणं स प्रक्रमभेद एव। यदि परं स्त्रीपुंसयोरत्र येन क्रमेण प्रक्रमः तस्यान्यथा निर्वाहात् क्रमप्रक्रमभेदमिमं विद्मः। तेन पूर्वं क्रमप्रक्रमभेदस्येदमेवोदाहरणं देयम्। तेन वरं 'घनाश्रियोष्णः शरदा हिमागम' इति पाठः कर्त्तव्यः।

वस्तुसर्गपौनरुक्त्यस्य—'पुनरुक्तवस्तुविरस' इस पाठ में 'पुनरुक्तवस्तुभिर्विरसः' इस प्रकार की व्याख्या करके सादृश्य द्वारा निर्वाह किया गया है, और आरम्भ व्यतिरेक से हुआ है, अतः यह दोष ही है।

विमुख—कुछ लोगों ने—'पुनरुक्तवस्तुषु विरस' इस प्रकार पुनरुक्त वस्तु नहीं बनाता—ऐसी व्याख्या कर व्यतिरेक का निर्वाह किया और यथा स्थित पाठ का समर्थन भी किया है!

अर्थदोषाणाम्—अर्थात् प्रक्रम का अतिक्रमण आदि रूप अर्थ दोषों का।

तपेन वर्षा इति—इस (रावण) के नगर में सभी ऋतु एक साथ रहने वाले कुटुम्बी कुटुम्बिनी से वन गये थे, वे सभी मिलकर पुष्प का कार्य पूर्ण करते थे। ग्रीष्म से वर्षा मिलकर शरद् से हेमन्त और वसन्त लक्ष्मी से शिशिर।'

यहाँ ऋतुओं का वर्णन स्त्री-पुरुष के तीन जोड़ों के रूप में शुरू हुआ। उसमें भी ऋतुओं का तृतीया द्वारा अप्राधान्य बतलाना अभीष्ट था। पर उसे 'तपेन वर्षाः' में उलट दिया गया (यदि ऐसा किया था तो अन्त तक ऐसा ही करना चाहिये था पर उसे पुनः) 'शरदा हिमागमः' में उलट दिया। इसलिये यहाँ यह प्रक्रमभेद हुआ पर हम इसे क्रमगत प्रक्रमभेद समझते हैं। कारण कि स्त्री पुरुषों का जो क्रम शुरू किया था उसका उलटे क्रम से अन्त किया। इसलिये पहले जो (तव कुसुमशरत्व में) क्रम का प्रक्रमभेद बतलाया है उसके लिये इसी पद्य का उदाहरण देना चाहिये। इसलिये—'घनश्रियोष्णः शरदा हिमागमः' पाठ चाहिये।

विमर्श: 'तपोऽभ्रलक्ष्म्या शरदा हिमागमो वसन्तकालः शिशिरश्रिया तथा। प्रसूनकृत्याय सदर्तवोऽन्विताः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां दधुः।' ऐसा पाठ अधिक अच्छा माना जा सकता है।

ननु कर्तृप्रक्रमभेदोऽपीह कस्मान्न प्रदर्शितः।

असम्भवादिति ब्रूमः। यस्तु क्वचित् कविभिः प्रयुज्यमानो दृश्यते स कर्तृव्यत्यासो नाम गुण एव, न दोषः। तत्रैव चायं प्रक्रमभेदभ्रमो भवतां तयोर्भिन्नलक्षणत्वात्।

यदाह—

"प्रकृतमपि यत्र हित्वा कर्तृत्वं युष्मदस्मदर्थस्य।
चारुत्वायान्यत्रारोप्येत गुणः स तु न दोषः॥"
"यश्च यथा प्रक्रान्तोऽभिधातुमर्थस्तथैव तस्य न चेत्।
निर्वाहः स प्रक्रमभेदो न प्रकरणावसितः॥" इति।

भिन्नलक्षणत्वान्न प्रक्रमभेददोषाशङ्कावकाशः।

शंका—इस प्रकरण में कर्तृप्रक्रमभेद क्यों नहीं दिखलाया ?

उत्तर—हमारा कहना है कि वह असम्भव है। जो (यह कर्तृप्रक्रमभेद) कहीं-कहीं कवियों द्वारा प्रयुक्त दिखाई देता है वह तो प्रत्युत कर्तृव्यत्यास नाम का गुण है, दोष नहीं। आप लोगों को उसी पर प्रक्रमभेद का भ्रम हो गया है, वस्तुतः उन दोनों के स्वरूप भिन्न हैं। जैसा कि कहा है—

जहाँ युष्मद् और अस्मद् शब्द के अर्थ प्रकृत (प्रसंगप्राप्त) हों, तब भी यदि उन्हें छोड़कर उनका कर्तृत्व चारुत्व के लिए किसी और पर आरोपित कर दिया जाय तो वह गुण ही होता है दोष नहीं।

जो विषय (पदार्थ) जिस ढंग से कहना शुरू किया गया, यदि उसका निर्वाह उसी ढंग से न हो तो, वह प्रक्रमभेद दोष होता है। प्रकरण से वह नहीं जाना जाता। इस प्रकार लक्षण भिन्न होने से यहाँ (कर्तृप्रक्रमभेद में) प्रक्रमभेद दोष की शंका की कोई गुंजाइश नहीं।

कर्तृप्रक्रमभेदोऽपीति। यत्र युष्मदस्मदर्थगतं कर्तृत्वं शेषेऽत्र चेतनेऽचेतने वा वक्त्रा बुद्धिपूर्वकमेवारोप्यते, तत्र कर्तुरन्यस्यारोपश्चारुत्वाय व्यत्यासो गुण एवेत्यर्थः। तयोरिति। कर्तृव्यत्यासप्रक्रमभेदयोः।

न प्रकरणावसित इति। युष्मदस्मदर्थस्य हि क्वचित् कर्तृत्वं प्रकरणाद्यवसितं न शब्देनाभिधातुं प्रक्रान्तमिति नायं प्रक्रमभेददोषस्य विषयः।

कर्तृप्रक्रमभेद :—जहाँ युष्मद् और अस्मद् शब्द के अर्थ में स्थित कर्तृत्व वक्ता द्वारा जानबूझ कर अन्य किसी चेतन या अचेतन पर आरोपित किया जाता है, वहाँ दूसरे कर्त्ता का आरोप चारुत्वजनक होता है इसे व्यत्यास नाम का गुण मानते हैं।

तयोः—कर्तृव्यत्यास और कर्तृप्रक्रमभेद दोनों का।

न प्रकरणावसित—कहीं-कहीं युष्मद् अस्मद् अर्थ की कर्तृता प्रकरण आदि से समझ ली जाती है, शब्द से कहा नहीं जाता। इसलिये यह प्रक्रमभेद दोष नहीं।

तत्र युष्मदर्थस्य यथा 'यथाह सप्तमो वैकुण्ठावतार' इति। अत्र हि यथात्थ त्वमिति युष्मदर्थस्य कर्तृत्वं प्रकृतमपहाय चारुत्वाय ततोऽन्यत्रारोप्यैवमुक्तम्। दाशरथिं रामं प्रति हि कस्यचित् समक्षमियमुक्तिः।

अस्मदर्थस्य यथा—'नाभिवादनप्रसाद्यो रेणुकापुत्रः, गरीयान् हि गुरुधनुर्भङ्गापराध' इति। अत्रापि हि नाभिवादनप्रसाद्योऽस्मीति वक्तव्ये पूर्ववच्चारुत्वायैवमुक्तम्। एषा हि भार्गवस्यात्मानमुद्दिश्योक्तिः।

यथा च—

"अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने ! न चेद् रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि" इति।

अत्राप्यहं प्रष्टुमना इति वक्तव्येऽस्मदर्थस्य कर्तृत्वमन्यत्रारोप्यैवमुक्तम्।

दोनों में युष्मद् अर्थ का (प्रकृत कर्तृत्व हटाकर उसका अन्यत्र आरोप) यथा—

'वैकुंठ के सातवें अवतार (आप) की जो आज्ञा।' यहाँ 'तुमने जो कहा', इस प्रकार युष्मद् अर्थ की उपस्थित कर्तृता हटाकर, चमत्कार के लिये उसका दूसरे (अन्य पुरुष वैकुण्ठ के अवतार) पर आरोप करके ऐसा कहा गया। दशरथ के पुत्र राम के सामने वह किसी की उक्ति है।

और अस्मद् अर्थ का जैसे—

'रेणुका का बेटा प्रणाम से प्रसन्न होने वाला नहीं, गुरु के धनुष को तोड़ने का अपराध बहुत बड़ा है।' यहाँ भी 'मुझे प्रणाम से खुश नहीं किया जा सकता' ऐसा कहना था। पर चारुता के लिये पूर्ववत् ऐसा कहा। यह परशुराम का अपने प्रति कथन है।

और जैसे—

'यह जन पूछना चाहता है, हे तपोधने! यदि कोई छिपाने योग्य बात न हो तो बतलाएँ।' यहाँ भी 'मैं पूछना चाहता हूँ'—ऐसा कहना था। सो अस्मद् अर्थ की कर्तृता को दूसरे पर रोप कर यह कहा गया।

अन्यत्रारोप्यैवमुक्तमिति शेषत्वेन विवक्षिते रामभद्रे। एवमुत्तरत्र भार्गवे वटौ चान्यत्वं योजनीयम्।

अन्यत्रारोप्यैवमुक्तमिति—शेष (अन्यपुरुष) रूप से विवक्षित राम पर। और अगले पद्यों में इसी ढंग से परशुराम और वटु पर अन्यता का आरोप किया गया है।

ननु युष्मदस्मदर्थस्य चेतनत्वात् तदपेक्षयाचेतनस्यैवान्यत्वमुचितमिति कथं चेतनस्यैवान्यत्वमित्याह द्विविधो हीति।

शंका—'युष्मद् का अर्थ चेतन होता है, उससे भिन्न अचेतन को ही मानना चाहिए, फिर चेतन को ही भिन्न कैसे माना।' इस पर उत्तर देते हैं—

द्विविधो ह्यन्यशब्दार्थश्चेतनाचेतनभेदात्। तत्र चेतनेऽन्यत्रारोपो हि दर्शित एव। अचेतने तु यथा—

> **"चापाचार्यः पशुपतिरसौ कार्त्तिकेयो विजेयो**
> **बाणव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।**
> **अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां**
> **बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः॥" इति।**

अत्र हि त्वं रेणुकाकण्ठबाधां कृतवानिति त्वया बद्धस्पर्धोऽहं लज्ज इति वक्तव्ये चारुत्वाय युष्मदर्थयोः कर्तृत्वमुभयोः परशुचन्द्रहासयोर्जडयोरारोप्यैवमुक्तम्।

यथा च—

> **"भो लङ्केश्वर! दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते**
> **कोऽयं ते मतिविभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किञ्चिद् गतम्।**
> **नैवं चेत् खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किलः**
> **पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः॥" इति।**

अत्रापि हि 'अहं न सहिष्य' इति वक्तव्ये पूर्ववदस्मदर्थस्य कर्त्तृत्वमचेतने पत्रिणि समारोप्यैवमुक्तम्।

अन्य शब्द का अर्थ दो प्रकार का होता है चेतन और अचेतन—इनमें से चेतनरूप अन्य पर आरोप दिखला दिया गया। (रहा) अचेतन पर, (तो) वह इस प्रकार है :—

ये भगवान् पशुपति चापविद्या के आचार्य हैं, जिसे जीता वह कार्तिकेय, शस्त्र से अलग किया समुद्र घर है, यह पूर्ण पृथिवी हन्तकार है, यह सब कुछ है, पर रेणुका का गला काटने वाले तुम्हारे परशु के साथ स्पर्धा लिए हुए—मेरे चन्द्रहास (खड्ग) को लाज आती है।

यहाँ तुमने रेणुका का गला काटा, इसलिए तुम्हारे साथ स्पर्धा करते हुए मुझे लाज आती है ऐसा कहना था, किन्तु सौन्दर्य के लिये युष्मद् और अस्मद् दोनों का अर्थ परशु तथा चन्द्रहास पर आरोपित करके ऐसा कहा। और जैसे—

हे लंकेश्वर रावण! जनक की बेटी (सीता) को लौटा दो, खुद राम ही माँग रहे हैं। तुम्हारी बुद्धि में यह हेर-फेर कैसा? न्याय को याद करो, अभी भी कुछ नहीं गया है। नहीं तो धनुष पर चढ़ा हुआ मेरा यह खरदूषण और त्रिशिरा के गले के खून से सना बाण सहेगा नहीं।

यहाँ भी—मैं नहीं सहूँगा—ऐसा कहना था पर पहले के समान अस्मद् शब्द के अर्थ का कर्तृत्व अचेतन बाण पर आरोपित करके ऐसा कहा।

अयं भावः। न युष्मदस्मदर्थगतचेतनत्वापेक्षया वस्त्वन्तरस्यान्यत्वम्, अपि तु युष्मदस्मदर्थत्वापेक्षयैव। युष्मदस्मदर्थौ च क्रमात् सम्बोध्यमानवस्तुनिष्ठः परभावोऽस्मिताख्या प्रत्यक्ता च। ततश्च तदपेक्षया शेषस्यान्यत्वम्। तस्य च चेतनत्वाचेतनत्वाद् द्वैविध्यमिति न विरोधः कश्चित्।

परशुना चन्द्रहास इति क्रमेण द्वयोरपि युष्मदस्मदर्थयोरचेतनविषयकर्तृताव्यत्यास उदाहरणम्।

भो लङ्केश्वर इति। अत्र रामः स्वयं याचत इति अस्मदर्थकर्तृत्वस्य चेतनविषयव्यत्यासस्यान्यत् स्थितमप्युदाहरणीयं न चिन्तितं, पूर्वमुदाहरणान्तरे चिन्तितत्वात्, चिन्तान्तरप्रस्तावाच्च।

भाव यह है कि—युष्मद् और अस्मद् अर्थ की चेतनता को लेकर किसी दूसरे को अन्य नहीं माना जा रहा है अपितु युष्मद् और अस्मद् के अर्थत्व को लेकर। युष्मद् और अस्मद् के अर्थ क्रम से—सम्बोध्यमान (जिसको सम्बोधित करके कुछ कहा जा रहा हो) वस्तु में रहने वाली भिन्नता (परत्व) अस्मिता (अपनेपन का मान) रूप—प्रत्यक्त्व (आत्माभिमुखता) है। उनको लेकर उनसे भिन्न वस्तु में अन्यता रही और वह उनसे भिन्न चेतन और अचेतन करके दो प्रकार के ही होते हैं। इसलिए कोई विरोध नहीं।

परशुना चन्द्रहास :—इस प्रकार क्रम से दोनों युष्मद् अस्मद् अर्थों के कर्तृत्व का अचेतन विषय में व्यत्यास (परिवर्तन) उदाहरण रूप से उपस्थित किया गया।

भो लंकेश्वर :—यहाँ 'राम खुद' माँगते हैं—इस अंश के अस्मद् के अर्थ का कर्तृत्व चेतन विषय (इस श्लोक के वक्ता) पर ही आरोपित हुआ है। अर्थात् याचना करता है दूत और कहता है कि राम याचना कर रहे हैं—इसमें अपने ऊपर राम (चेतन) का आरोप दूत ने किया। इस प्रकार यह चेतन का चेतन पर आरोप होने का उदाहरण भी बन गया। इसका भी एक उदाहरण दिया जा सकता है, पर (ग्रन्थकार ने) उस पर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि पहले (अयं जनः इत्यादि में) उसको बतलाया जा चुका है और यहाँ का प्रकरण दूसरे विषय का है।

तदेवमियता प्रबन्धेन प्रक्रमभेदं विचार्य क्रमप्राप्तं क्रमभेदं विचारयितुमाह क्रमभेदो यथेति।

इस प्रकार इतने ग्रन्थ से प्रक्रमभेद का विचार कर वे अब क्रमप्राप्त क्रमभेद का विचार करना शुरू करते हैं।

(३) क्रमभेद

क्रमभेदो यथा—

"तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्।" इति।

अत्र हि परामर्शनीयमर्थमनुक्त्वैव यस्तस्य सर्वनामपरामर्शः स क्रम-

भेदो दोषः। तस्य हि प्रक्रान्तोऽर्थो विषय इष्टो न प्रक्रंस्यमानः तस्य स्मृति-परामर्शरूपत्वात्। स्मृतेश्चानुभूत एवार्थो विषयो नानुभविष्यमाणः। अत्र च प्रतीतिमात्रमनुभवोऽभिमतो नेन्द्रियविषयभावः। न स गङ्गार्थः प्रतीतपूर्वो, यः परामृश्येतेति परामर्शप्रक्रमभेदो दोषः।

क्रमभेद। यथा—

उसके तीर्थ में हाथी के पुल से प्रतीपगा (पश्चिमवाहिनी) गङ्गा को पार कर रहे—इसके (लिये) आकाश में उड़ रहे अतः पंख डुलाते हंस प्राकृतिक चामर बन बैठे।

यहाँ परामर्शनीय विषय को कहे विना ही उसका जो (तदीय के तद्) सर्वनाम से परामर्श किया वह क्रमभेद दोष हुआ। उस (सर्वनाम) का विषय माना जाता है प्रकरण से प्राप्त अर्थ, न कि आगे आने वाला। क्योंकि वह सर्वनाम परामर्श स्मरण रूप परामर्श ही होता है। और स्मृति का विषय अनुभूत ही होता है, आगे चलकर अनुभव में आने वाला नहीं। यहाँ (सर्वनाम से होनेवाले स्मरणरूप परामर्श में) केवल प्रतीतिसामान्य को अनुभव माना गया है। इन्द्रियों से होने वाला प्रत्यक्ष नहीं। (यहाँ) यह गङ्गारूपी अर्थ पहले हुआ ज्ञान नहीं है जिसका परामर्श किया जा सके। इसलिये यहाँ परामर्श का क्रमभेद हुआ।

ननु यदि स्मृतिपरामर्शकस्य तच्छब्दस्यानुभूत एवार्थो विषय इत्युच्यते, येऽत्यन्तपरोक्षा रामादयस्तेषां कविना काव्ये तच्छब्देन कथं परामर्शः क्रियते तेषामतीन्द्रियत्वादित्याह—अत्र च प्रतीतिमात्रमिति। अयमत्राभिप्रायः। येन विना यन्नोपपद्यते तस्य तदपेक्षा न्याय्या। स्मृतिश्च प्रतीतिमात्रमन्तरेणानुपपद्यमाना तदपेक्षिणी स्यात्, नैन्द्रियिकप्रतीत्यपेक्षिणी, ऐन्द्रियिकप्रतीतिं विनापि शब्दादिभ्यः प्रतीतौ तस्याः सम्भवदर्शनात्। रामादीनां च यदि नैन्द्रियिकी प्रतीतिस्तदा शब्दात् प्रसिद्धेर्वा प्रतीतिरस्तु। तन्निबन्धनश्च स्मृतिपरामर्शकेन तच्छब्देन परामर्श इति न कश्चिद्विरोधः।

शंका—तच्छब्द स्मृति द्वारा पदार्थज्ञान कराता है। उसका विषय यदि अनुभूत विषय ही माना जाय तो राम आदि जो अत्यन्त परोक्ष पदार्थ है काव्य में उनका परामर्श तच्छब्द द्वारा कवि कैसे करते हैं। क्योंकि वे तो इन्द्रियातीत हो चुके रहते है? इस पर उत्तर देते हैं—अत्र च प्रतीतिमात्रमिति—अभिप्राय यह है—जिसके विना जो सिद्ध नहीं होता उसे उसकी अपेक्षा होती है। स्मृति केवल सामान्य प्रतीति के विना नहीं होती, इसलिए वह केवल उसी (प्रतीति-सामान्य) की अपेक्षा रख सकती है। उस प्रतीति विशेष की नहीं जो इन्द्रियों से उत्पन्न होती है और देखा तो यह जाता है कि इन्द्रिय से होने वाली प्रतीति के विना भी शब्दादि प्रमाणों से होने वाली प्रतीति के रहने पर स्मृति होती है। इसलिये यदि राम आदि इन्द्रियों द्वारा नहीं देखे गये हैं तब भी शब्द द्वारा उनकी प्रसिद्धि होने से उनकी प्रतीति हो सकती है। उसके आधार पर स्मृति परामर्शक तच्छब्द द्वारा उनका परामर्श हो सकता है। इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं।

विमर्श : तीर्थे तदीये० = रघुवंश का १६।३३ वाँ पद्य है। ३२वें पद्य में कुश द्वारा विन्ध्यगिरि के लाँघने का उल्लेख है। तीर्थ का अर्थ अवतार (हिन्दी में उतार) होता है। यह स्थिर नहीं कि अवतार केवल जल का ही हो। पहाड़ की तलहटी के उतार को भी अवतार कहा जा सकता है। यहाँ विन्ध्य की ऊँचाई पार कर कुश ने उसकी तलहटी के पास गंगा के पश्चिमगामी प्रवाह को पार किया—यह अभिप्राय निहित है। मिरजापुर के पास यह स्थिति आती है। इस प्रकार तदीय का अर्थ 'विन्ध्य गिरि का' करके 'तीर्थ' का अर्थ उतार करने में प्रतीति-परामर्श की कोई आपत्ति नहीं

आती। मल्लिनाथ ने भी इस पद्य का ऐसा ही अर्थ किया है—तदीये वैन्ध्ये, तीर्येऽवतारे······प्रतीपगाम् = पश्चिमवाहिनीम्।

ननु पदार्थबुद्धावुपक्रम एवायमवभासते दोषः यत्र पदार्थपौर्वापर्यप्रकाशः यत्समाश्रयोऽयं दोष उद्घुष्यते, न वाक्यार्थविमर्शदशायाम्। तत्र हि न पौर्वापर्यप्रतिनियमावभासः तस्य निरंशत्वाद्। बहिरङ्गा च पदार्थबुद्धिरन्तरङ्गश्च वाक्यार्थविमर्श इति कथमयं दोषः?

सत्यम्, अस्त्येतत्। किन्तु स वाक्यार्थविमर्शः प्रवर्त्तमानो वक्त्रभिप्रायप्रतिरूप एव प्रवर्त्तते, नान्यादृशः, तत्संचारमयत्वाच्छब्दव्यवहारस्य। यदाहुः—'वक्तुरभिप्रायं सूचयेयुः' इति। तत्र चासौ सूक्ष्मतयानभिव्यक्तपदार्थस्वरूपः स्थित एव पदार्थबुद्धौ स्थूलतया केवलं व्यक्तोऽवभासत इति पदार्थसमाश्रयोऽयं दोषस्तत्रापि दुर्निषेध एव।

शंका—जब पदार्थों का ज्ञान एक-एक करके शुरू होता है तभी यह दोष समझ पड़ता है वहीं (पदार्थ ज्ञान काल में) पदार्थ आगे पीछे जान पड़ते हैं जिस पर [पूर्व = आगे, अपर = पीछे, पौर्वापर्य = आगे पीछे सूझना = इस क्रम पर] यह (क्रमभेद) दोष निर्भर बतलाया गया है, वाक्यार्थ का ज्ञान होते समय नहीं [यह दोष नहीं सूझता] उस समय पौर्वापर्य (आगे पीछे) का कोई नियमित क्रम नहीं रहता, कारण कि उस (वाक्यार्थ) में खण्ड नहीं होते वह अखण्ड होता है। पदार्थ की प्रतीति बहिरङ्ग है—बाहरी चीज है। वाक्यार्थ अन्तरंग होता है। इसलिये—(उसमें) यह दोष कैसे (सम्भव है)?

उत्तर—सचमुच, यह कहना ठीक है, पर वाक्यार्थ का यह विमर्श (ज्ञान) जब भी होता है तब वक्ता के अभिप्राय का प्रतिबिंब ही होता है, और किसी तरह का नहीं, कारण कि शब्द का व्यवहार वक्ता के अभिप्राय पर ही निर्भर है, जैसा कि कहा गया है—'(ये) वक्ता के अभिप्राय की सूचना देते हैं।' उस (वाक्यार्थ) में यह (दोष) वैसे ही सूक्ष्मरूप से छिपा रहता है, जैसे पदार्थ। पदार्थज्ञानकाल में यह साफ दिखाई देता है। इसलिये यह ठीक है कि यह दोष पदार्थाश्रित है, किन्तु इतने पर भी वाक्यार्थ में इसका निषेध नहीं किया जा सकता।

नन्विति। अयमत्रार्थः। वाक्यार्थविमर्श इति। पदार्थविमर्शवेलायां भवत्वियमाशङ्का। वाक्यार्थविमर्शसमये त्वखण्डप्रतीतौ पूर्वापरभावनियमावभासनाभावान्नास्य दोषस्यावकाशः। उद्देश्यत्वाच्च वाक्यार्थप्रतीतेरन्तरङ्गत्वमिति तदाश्रयेणैव व्यवस्थोपपत्तौ न क्रमदोषचिन्ता काचिदिति। प्रतिरूपः प्रतिबिम्बरूपः तत्सञ्चारो वक्त्रभिप्रायसङ्क्रमणम्। शब्दव्यवहारस्येति। शब्दव्यवहारमुखेन श्रोतृगृहीतो वाक्यार्थविमर्शः स्वीकृतः। वक्तुरिति। यदि श्रोतृविमर्शपर्यवसायी शब्दव्यवहारो वक्तृविमर्शप्रतिच्छन्दरूपो न स्यात्, तदा शब्दैर्वक्तृविमर्शस्यासम्बन्धित्वादनुमानं न स्यादित्यर्थः।

तत्र चासाविति। वक्तृश्रोतृगते वाक्यार्थविमर्शे सूक्ष्मत्वेनास्फुटरूपोऽस्त्येव पौर्वापर्यप्रतिभास इति यावत्। पदार्थबुद्धाविति वाक्यार्थपूर्वभासिन्याम्। तत्रापीति। वक्तृश्रोतृगतवाक्यार्थविमर्शेऽपि सूक्ष्मः पदार्थाश्रयो दोषो दुर्निवारः पदार्थानतिक्रमेणैव वाक्यार्थविमर्शस्य व्यवस्थितत्वादित्यर्थः।

नन्विति। यहाँ अभिप्राय यह है कि—पदार्थज्ञानकाल में यह आशंका (दोष सम्भावना) हो

सकती है। पर वाक्यार्थज्ञानकाल में तो प्रतीति अखण्ड रहती है उसमें पूर्वापरभाव (आगे पीछे होना) का नियमतः ज्ञान नहीं होता, इसलिये वहाँ इस दोष की गुंजाइश नहीं। वाक्यार्थ प्रतीति उद्देश्य होती है। अतः वह अन्तरंग भी होती है। इस प्रकार उसी (वाक्यार्थ) के आसरे व्यवस्था (पदार्थों के क्रम का ठीक विन्यास) बन जाता है। क्रमभेद दोष की कोई बात नहीं रहती।

प्रतिरूपः—प्रतिबिम्बरूप।

तत्सञ्चारः—वक्ता के अभिप्राय का संक्रमण।

शब्दव्यवहारस्य :—यहाँ शब्दव्यवहार से श्रोता द्वारा जाना गया वाक्यार्थविमर्श लिया गया।

वक्तुः—शब्दव्यवहार यदि श्रोता के ज्ञान तक ही सीमित मान लिया जाय और उसे वक्ता के ज्ञान का प्रतिरूप न माना जाय तो शब्दों द्वारा उनसे असम्बन्धित वक्ता के ज्ञान का अनुमान न हो।

तत्रचासौः—वक्ता और श्रोता को वाक्यार्थ का जो ज्ञान होता है उसमें पौर्वापर्यक्रम है ही। वह सूक्ष्म होने से स्फुट नहीं रहता।

पदार्थबुद्धौ :—वाक्यार्थ ज्ञान के पहले होने वाली पदार्थ बुद्धि (पदार्थ ज्ञान) में।

तत्रापीति :—वक्ता और श्रोता को होने वाले वाक्यार्थ ज्ञान में भी पदार्थाश्रित यह अति सूक्ष्म दोष मिटाया नहीं जा सकता, कारण कि वाक्यार्थ का ज्ञान पदार्थों के अनुसार ही होता है।

न चात्र प्रमादजः पादयोः पौर्वापर्यविपर्यय इति शक्यते वक्तुम् तत्रापि गङ्गाप्रतीपगमनहेतोः शाब्दस्य तदीयतीर्थाभिधानव्यवधाने सत्यन्यस्य प्रक्रमभेददोषस्याविर्भावापत्तेः। तेन पादयोर्विपर्ययः शाब्दस्य च हेतोर्गङ्गाविशेषणमुखेनार्थत्वमित्युभयविपर्ययोऽत्र श्रेयानिति।

परामृश्यमनुक्त्वैव परामर्शोऽस्य यस्तदा।
स दोषो वक्ष्यमाणार्थसंवित्तावक्षमो हि सः ॥ ३२ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि (तीर्थे तदीये इस पद्य के) चरण असावधानी से उलट गये हैं कारण कि चरणों में परिवर्तन करने पर भी प्रक्रमभेद दोष होने लगता है क्योंकि चरण परिवर्तन करने पर गंगा के उलटे बहने और उसके शब्दतः कथित हेतु (गज सेतुबन्ध) के बीच 'तदीयतीर्थ' शब्द चला आता है। इसलिये यहाँ दोनों ही का उलटना अधिक अच्छा होगा [चरणों का भी और शब्द हेतु का भी] शब्द हेतु को गङ्गा का विशेषण बना देने से वह आर्थ हो जाता है। इस प्रकार :—

परामृश्य को बिना ही कहे तद् पद के द्वारा जो इस (परामृश्य) का परामर्श किया जाता है वह दोष है, वह (परामर्श) अर्थ की प्रतीति करने में सक्षम नहीं होता, कारण कि वह आगे कहा जाने वाला होता है (उक्त नहीं)।

प्रमादज इति। एवं सति प्रक्रंस्यमानवस्तुपरार्द्धदोषस्तावत् परिहृतो भवति। प्रतीपगमनहेतोरिति गजसेतुबन्धादित्यस्य। शाब्दस्येति पञ्चम्यन्तत्वात्। तदीयतीर्थाभिधानेति हेतुहेतुमतोस्तदीयतीर्थशब्देन व्यवधाने सतीत्यर्थः। गङ्गाविशेषणमुखेनेति गजसेतुबन्धामिति पाठे।

अयमत्राशयः—शाब्दो यत्र हेतुहेतुमद्भावस्तत्र हेतुत्वेनोपन्यासान्न तयोर्व्यवधानं किञ्चित् कार्यम्, प्रतीतिविप्रकर्षप्रसङ्गात्। आर्थे हेतुहेतुमद्भावे उपन्यस्तस्य हेतुत्वाद् विशेषणभूतस्य हेतोर्विशेष्यस्वरूपवर्णनेन चरितार्थत्वात् सत्यपि व्यवधाने न प्रतीतिविप्रकर्षः कश्चित्, पर्यालोचनसामर्थ्याद्धेतुत्वप्रतीतेः। अत्र च श्लोके तीर्थे तदीये इति पदद्वयाकरणेऽपि वाक्यार्थस्य निराकाङ्क्षत्वात् तत्करणमपुष्टार्थमेव।

तदेति तच्छब्देन। स इति तच्छब्दः।

प्रमादज :—ऐसा करने से कम से कम आगे कही जाने वाली वस्तु के परामर्श का दोष मिट जाता है।

प्रतीपगमनहेतोः—'गजसेतुबन्धात्' इसका।

शाब्दस्य :—पञ्चम्यन्त होने से।

तदीय तीर्थाभिधानः—हेतु और हेतुमान (कार्य) के बीच में तदीयतीर्थ शब्द के आ जाने से।

गङ्गाविशेषणः—'गजसेतुबन्धाम्' ऐसा पाठ करने पर।

अयमत्राशयः—जहाँ हेतुहेतुमद्भाव शाब्द हो वहां हेतु का स्वरूपतः कथन होने से बीच में कोई व्यवधान न करना चाहिये। वैसा करने से ज्ञान में दूरी पड़ जाती है। जहां हेतुहेतुमद्भाव आर्थ होता है वहाँ हेतु हेतुरूप से दे तो दिया जाता है पर वह विशेषणरूप रहता है, वह विशेष्य के रूप के वर्णन से चरितार्थ हो जाता है। इसलिये व्यवधान होने पर भी प्रतीति में कोई विप्रकर्ष नहीं होता। उस समय हेतु का हेतुत्व सोचने में समझ में आ जाता है। इस श्लोक में 'तीर्थे और तदीये' दोनों पद हटा भी दिये जायँ तो वाक्यार्थ (की कोई हानि नहीं होती इसलिये वह) निराकाङ्क्ष रहा आता है। अतः इनका देना अपुष्ट है, अधिक महत्व नहीं रखता।

तदा—तच्छब्द द्वारा। सः = वह अर्थात् तद् शब्द।

विमर्श : मूल और टीका दोनों से तीर्थे तदीये··· पद्य पर दो बातें नई ज्ञात होती है। मूल से ज्ञात होता है कि—'प्रतीपगाम्' का अर्थ है 'उलटी बह रही' और गंगा के उलटे बहने का हेतु है उसमें हाथी का पुल बाँधना। अर्थात् हाथी का पुल बाँधने से गंगा उलटी बहने लगी थी अर्थात् उसकी धारा मुहानी की ओर बढ़ने लगी थी। एक बात यह भी मूलकार ने बतलाई है कि उक्त श्लोक के प्रथम दो चरणों को उलटकर—'प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गां, तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्'—पाठ मान लिया जाय तो तद्-पद से जिसका परामर्श करना है—वह गंगा पदार्थ पहले आ जाता है, अतः क्रमभेद दोष नहीं रहता। किन्तु ऐसा करने पर दूसरा प्रक्रमभेद दोष आ पड़ता है—कारण कि गंगा का प्रवाह—उलटकर ऊपर की ओर बहने लगा इसमें हेतु है—गजसेतुबन्ध। वह 'तीर्थ' और 'तदीय' पदों के बाद आता है। इसलिये गजसेतुबन्ध और प्रतीयगाम् का सम्बन्ध देर से समझ में आता है। इसलिये 'गजसेतुबन्धाम्' पाठ कर देना चाहिये। इससे हेतु में हेतुत्ववाचक पञ्चमी हट जाती है अतः उसका शब्दतः कथन रुक जाता है और उसमें—आर्थभाव (अर्थतः कथन) आ जाता है। इसलिये वह गंगा पदार्थ से सम्बन्धित होता है। गंगा का ही विशेषण प्रतीपगात्व है। दोनों विशेषण विशेष्य में इकट्ठे हो जाते हैं। बाद में उनका हेतुहेतुमद्भाव भी समझ में आने लगता है। व्याख्यानकार ने एक बात और जोड़ दी। उन्होंने कहा कि यदि—प्रतीप···'गजसेतुबन्धाम्' पाठ भी मान लें तब भी इसमें तदीय और तीर्थ शब्द अधिक महत्त्व नहीं रखते। अतः वे अपुष्ट = व्यर्थ हैं। उन्हें हटा देने पर भी वाक्यार्थ प्रतीति में कोई कमी नहीं आती।

हमारी समझ में यह सब इन महामहिम विद्वानों का मतिविभ्रम है। इसका एकमात्र कारण—'तीर्थ' और 'तदीय' शब्द का अर्थ न समझ पाना है। मल्लिनाथ का जो अर्थ हमने ऊपर दिया है वह मान लेने पर कोई कठिनाई नहीं रहती। 'प्रतीपगा' का अर्थ मल्लिनाथ ने भी वही माना है जो महिमभट्ट ने। 'प्रतीपगाम् पश्चिमवाहिनीम्'। किन्तु उसमें उन्होंने गजसेतुबन्ध को हेतु माना है। यह हेतु है अवश्य, परन्तु राजा की उत्तरण (पार करना) क्रिया का हेतु है, गंगा की प्रतीपगमन क्रिया का नहीं। विन्ध्यगिरि के पास प्रयाग और काशी के बीच में गंगा अपने आप 'प्रतीपगा' हैं। 'प्रतीपगा' पद से कवि ने इस भौगोलिक तथ्य का निर्देश भर किया है।

यथा च—

'नवजलधरः सन्नद्धोयं न दृप्तनिशाचर' इति।

अत्र हि आरोपनिवृत्तौ तद्विषयवाचिनोः सुरधनुर्धारासारशब्दयोरिव नवजलधरपदस्यापि पूर्वं पश्चाद् वा 'इदंशब्दः' प्रयोक्तव्यः शुक्तिकेयं न रजतमितिवद् इत्येष क्रमो न्याय्यः, यस्तु दृप्तनिशाचरविशेषणवाचिनः सन्नद्धपदानन्तरं तस्य प्रयोगः स क्रमभेदो दोषः। एवमेव—

'कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी' इति। अत्र हि द्वितीयश्चशब्दो भिन्नक्रमः स हि त्वमित्यस्यानन्तरं प्रयोक्तव्यः।

और जैसे—'नवीन जलधर यह उमड़ा आ रहा है न कि दृप्त राक्षस।' यहाँ आरोप की निवृत्ति हो जाने पर उसके (आरोप के) विषय का अभिधायक सुरधनुष और धारासार शब्दों के समान ही नवजलधर के भी पहले या पीछे 'इदं' शब्द देना चाहिए; जैसे—'यह सीप है (या सीप है यह) रजत नहीं'। अतः यही क्रम उचित है। परन्तु उस (इदं) का प्रयोग दृप्तनिशाचर—विशेषणवाची सन्नद्ध पद के बाद है, अतः वह क्रमभेद दोष है।

इसी प्रकार—'कला च सा०' में द्वितीय 'चकार' क्रम से नहीं रखा गया। उसे 'त्वम्' के बाद रखना था।

आरोपनिवृत्ताविति आरोपो भ्रमोऽन्यस्यान्यत्वेन प्रतीतिः, यथा नवजलधरस्य सन्नद्धदृप्तनिशाचरत्वेन। तन्निवृत्तावत्र वक्ष्यमाणायामारोपविषयस्य जलधरादेर्वस्तुसतः प्रकाशमानस्येदमादिना न्याय्ये निर्देशे तस्य परामृश्यसमीप एव प्रयोगेण भाव्यम्। यस्त्ववस्तुसदारोप्यमाणनिकटे प्रयोगः स क्रमभेदमावहति। यस्त्वत्रैवारोपविषयस्वरूपया विद्युतो निकट इदमाद्यप्रयोगः, तत्र दूषणान्तरावकाशः।

आरोप = भ्रम अर्थात् दूसरे की दूसरे रूप से प्रतीति। जैसे नए मेघ की सन्नद्ध दृप्तनिशाचर रूप से। उसकी निवृत्ति यहाँ कही जा रही है। उसमें आरोप के विषय जलधर आदि जो वस्तुतः है और दिखाई दे रहे हैं उनका निर्देश 'इदम्' आदि शब्द से चाहिए। इसलिए भी कि इस (इदं) का प्रयोग सदा परामृश्य के पास चाहिए। पर उसका आरोप्यमाण जो अवस्तुसत् = वस्तुतः मिथ्या है, उसके साथ प्रयोग किया गया। उससे क्रमभेद दोष हुआ। यहीं एक दूसरा दोष—आरोप विषय रूप से उपस्थित की गई विद्युत् के साथ इदम् आदि का प्रयोग न होना भी है।

यथा च—'मीलितं यदभिरामताधिके साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम्।
उद्यता जयिनि कामिनीमुखे तेन साहसमनुष्ठितं पुनः॥'

इत्यत्र पुनश्शब्दः। स हि तेनेत्यतोऽनन्तरं वक्तव्यः।

'उक्खअदुमं व सेलं हिमहअकमलाअरं व लच्छिविमुक्कम् ।
पीअमइरं व चसअं वहुलपओसं व मुद्धअंदविरहिअम् ॥'

इत्यत्र ह्युपमानवाचिभ्यां शब्दाभ्यामेवानन्तरमिवशब्दः प्रयोक्तव्यः न साधारणधर्मवाचिभ्याम्, यथात्रैव कमलाकरबहुलप्रदोषशब्दाभ्यामिति । स हि यदनन्तरं श्रूयते तत्रैवोपमानतामाधातुमलमिति, अन्यथार्थस्यासङ्गति-प्रसङ्गात् । न हि भवति 'गौरमिवेन्दुबिम्बं तव मुखमि'ति । न चासौ तथा-प्रयुक्त इति क्रमभेदो दोषः । तेन 'सेलं व उक्खअदुममि'ति च पाठः पठितव्यः ।

यथा वा—

'उपालब्धेवोच्चैर्गिरिपतिरिति श्रीपतिमसा'विति ।

अत्र हि 'इतीवोपालब्ध क्षितिधरपतिः श्रीपतिमसावि'ति पाठः श्रेयान् । यतो नात्रोपालब्धेवोच्चैर्गिरिपतिरित्येतत्पर्यंतोक्तिरवच्छेत्तुमभिमता । न च पदसम्बन्धस्य पुरुषाधीनत्वात् प्रापिपयिषुपदेनैवास्याभिसम्बन्धो न गिरि-पतिपदेनेति शक्यते वक्तुम्, तस्य तदधीनत्वासिद्धेरुपपादयिष्यमाणत्वात् ।

(व्याख्याने छाया)—

उत्खातद्रुममिव शैलं हिमहतकमलाकरमिव लक्ष्मीविमुक्तम् ।
पीतमदिरमिव चषकं बहुलप्रदोषमिव मुग्धचन्द्रविरहितम् ॥

और जैसे —

'मीलितं यदभिरामता…'में पुनः शब्द । उसे 'तेन' के बाद देना था ।

उखाड़ दिए गए वृक्षों (वाला) सा पर्वत, पाले से नष्ट कमलकुंज या तालाव सा श्रीहीन, पी ली गई मदिरा (वाला) सा चषक, कृष्णपक्ष के प्रदोष सा तारे चन्द्र से रहित ।'

यहाँ उपमानवाची पदों के बाद 'इव' शब्द देना चाहिए था जैसे कि यहीं 'कमलाकर' और 'बहुलप्रदोष' शब्दों के बाद दिया है । वह जिसके बाद आता है उसी में उपमानभाव की प्रतीति कराता है और कहीं आने से अर्थ बदलने की सम्भावना रहती है । ऐसा प्रयोग नहीं होता—कि 'गोरा सा चन्द्रविम्ब तुम्हारा मुख' । इस (इव शब्द) का प्रयोग ऐसा नहीं हुआ अतः क्रमभेद हुआ । इसलिये 'सेलं व उक्खअदुमम्' ऐसा पाठ पढ़ना चाहिए । या जैसे—'उपालब्धेवोच्चैः… ।' यहाँ 'इतीवोपालब्ध…' इत्यादि पाठ चाहिए । क्योंकि यहाँ 'उपालब्धेवोच्चैर्गिरिपतिं' इतने को (इति द्वारा) अवच्छिन्न (अलग) नहीं करना है । यह नहीं कहा जा सकता कि शब्द सम्बन्ध पुरुषाधीन है अतः इसका (इति) सम्बन्ध 'प्रापिपयिषु' से ही है, गिरिपति से नहीं, कारण कि— हम आगे बतलाने वाले हैं कि उस (पदप्रयोग) की पुरुषाधीनता नहीं बनती ।

इतीवेति । अत्रोपालम्भरूपः पूर्ववाक्यार्थं इतिशब्दावच्छिन्न उत्प्रेक्ष्यत इत्युपाल-ब्धेत्यतः पूर्वमितीवशब्दौ प्रयोज्यौ विषयान्तरे तु प्रयोगात् क्रमभेदः । प्रापिपयिषुपदेनेति पूर्ववाक्यार्थस्थितेन । तदधीनत्वं पुरुषायत्तत्वम् ।

इतीव०—यहाँ उपालम्भ रूप जो पूर्व वाक्यार्थ है, उसी को इति शब्द से अलग कर उत्प्रेक्षा

द्वारा उपस्थित किया जा रहा है। अतः उपालब्ध इसके पहले 'इतीव' शब्दों का प्रयोग चाहिए। अन्यत्र प्रयोग करने से क्रमभेद हुआ।

प्रापिपयिषु = जो कि पूर्ववाक्य में है।
तदधीन = पुरुषाधीन।

विमर्श : पूरा श्लोक इस प्रकार है—

'धरस्योद्धर्ताऽसि' त्वमिति ननु सर्वत्र जगति प्रतीतस्तत्किं मामतिभरमधः प्रापिपयिषुः।
उपालब्धेवोच्चैर्गिरिपतिरिति श्रीपतिमसौ बलाक्रान्तः क्रीडद्द्विरदमथितोर्वीरुहरवैः॥
[माघ ५।६९]

अर्थात्—'संसार भर में तुम पहाड़ का उद्धार (उखाड़ कर उँगली पर रखना और विपत्ति निवारण) करने वाले—रूप से प्रसिद्ध हो, तो मुझ स्वयं ही अत्यधिक बोझिल को नीचे क्यों पहुँचाना चाहते हो—इस प्रकार मानों—सेना से दबे पर्वतराज (गिरिनार) ने श्रीकृष्ण को क्रीडानिरत हाथियों द्वारा मरोड़े जा रहे वृक्षों की आवाज से—उलहना दिया।' यहाँ प्रापिपयिषु (पहुँचाना चाहते हो) के बाद इतीव चाहिए।

यथा च—

'प्रतीक्ष्यं च प्रतीक्ष्यायै पितृस्वस्रे सुतस्य ते।
सहिष्ये शतमागांसि प्रत्यश्रौषीः किलेति यत्॥' इति।

अत्रापि हि 'सहिष्ये शतमागांसीत्यभ्युपैर्यत् किल स्वय'मिति युक्तः पाठ इति।

और जैसे :—

और—प्रतीक्षा करनी चाहिए, पूज्य बुआ को 'तुम्हारे पुत्र के सौ अपराध सहूँगा। पहले वचन दिया है, इस प्रकार जो।' यहाँ भी 'सहूँगा सौ अपराध' ऐसा स्वीकार किया है 'जो पहले खुद ने' ऐसा पाठ चाहिए।

विमर्श : यह पद्य शिशुपालवध में इस प्रकार है।

सहिष्ये शतमागांसि सूनोस्त इति यत्त्वया।
प्रतीक्ष्यं तत् प्रतीक्षायै पितृस्वस्रे प्रतिश्रुतम्॥ [२।१०८]

महिमभट्ट स्वयं सम्भवतः पाठ बदल लेते हैं। या दोष दर्शन के समय उनके सामने सही श्लोक भी उलट जाते हैं। यहाँ कालिदास के भी बहुत से पद्य इसी प्रकार बदले हुए हैं।

अनेनैव तज्जातीयार्थानामन्येषामव्ययानां प्रयोगनियमो व्यख्यात इति तेषामपि क्रमभेदो दोष एव। तद्यथा—

'किं क्रमिष्यति किलैष वामनो यावदित्थमहसन्न दानवाः।
तावदस्य न ममौ नभस्तले लङ्घितार्कशशिमण्डलः क्रमः॥'

इत्यत्रेत्थंशब्दस्य। स हि वामनशब्दादनन्तरं द्रष्टव्यः। यथा च—

'स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसावुपैति षिड्गैरगद्यत ससम्भ्रममेवमेका',

इत्यत्रैवंशब्दस्य। स ह्युपेतीत्यतोऽनन्तरं द्रष्टव्यः। तेन 'स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसौ समभ्येत्येवं ससम्भ्रममभण्यत कापि षिड्गै'रिति युक्तः पाठः। अ[illegible] च यत् प्रतीतिवैचित्र्यं स मतिमतामेव विषयः।

इसीसे उस प्रकार के दूसरे अव्ययों के प्रयोग का नियम भी बतला दिया गया, इसलिए उनके क्रम का भेद भी दोष ही है। जैसे—'यह बौना ठहरा, कहाँ लाँघेगा—जब तक इस प्रकार दानवों ने हँसी की नहीं कि तबतक इसकी सूर्य चन्द्रमण्डल को पार करनेवाली डग आकाशतल में उठी नहीं।

यहाँ इत्थं शब्द का। उसे वामन शब्द के बाद आना चाहिये।

और जैसे :—

हाथी हूसा देने आ रहा है—धूर्तों ने एकाएक किसी एक स्त्री से कहा—इस प्रकार।—यहाँ 'एवं' (इस प्रकार) शब्द का (क्रमभेद)। उसे 'उपैति' (आ रहा है) के बाद आना चाहिए। इसलिए 'स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसौ समभ्येत्येवं ससंभ्रममभण्यत काचिदेका'—ऐसा पाठ चाहिए। इसमें जो प्रतीतिभेद होता है उसे बुद्धिमान् लोग ही समझ सकते हैं।'

स्तम्बेरम इति पीनोन्नतस्तनद्वयदर्शनादियं प्रशंसोक्तिः। षिङ्गाः विटाः। प्रतीतिवैचित्र्यमिति वाक्यार्थस्य तिलतण्डुलीकृतस्यावगमानवगमौ।

स्तम्बेरमः—मोटे और ऊँचे उभरे हुए दोनों स्तनों को देखकर किसी ने प्रशंसा में यह कहा। षिद्ग—विट।

प्रतीतिवैचित्र्यम् :—तिलतण्डुल के समान मिले वाक्यार्थ का ज्ञान और उसका आभास होना तथा न होना।

उक्तिस्वरूपावच्छेदफलो यत्रेतिरिष्यते।
न तत्र तस्मात् प्राक् किञ्चिदुक्तेरन्यत् पदं वदेत् ॥ ३३ ॥
उपाधिभावात् स्वां शक्तिं स पूर्वत्रादधाति हि।
न च स्वरूपावच्छेदः पदस्यान्यस्य सम्मतः ॥ ३४ ॥
इतिनैवेतरेषामप्यव्ययानां गतिः समा।
ज्ञेयेत्थमेवमादीनां तज्जातीयार्थयोगिनाम् ॥ ३५ ॥
यतस्ते चादय इव श्रूयन्ते यदनन्तरम्।
तदर्थमेवावच्छिन्द्युरासमञ्जस्यमन्यथा ॥ ३६ ॥
यथानन्तर्यनियमस्तेषामर्थौचितीवशात्।
अन्यतस्तर्हि तत्कार्यसिद्धेस्ते स्युरपार्थकाः ॥ ३७ ॥
कैश्चिदेव हि केषाञ्चिद् दूरस्थैरपि सङ्गतिः।
न जातु सर्वैः सर्वेषामित्येतदभिधास्यते ॥ ३८ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

जहाँ 'इति' शब्द का प्रयोजन (किसी के) कथन (दूसरे के कहे हुए वाक्य के अनुवाद) के स्वरूप को अलग करके बतलाना हो वहाँ उसके पहले कथन (अनुवादात्मक उक्ति) के अतिरिक्त और कोई शब्द न हो। 'इति' उपाधि है अतः वह अपनी शक्ति अपने से निकट पूर्ववर्ती पर आहित करता है। (उसके द्वारा कथनांश के अतिरिक्त) किसी अन्य पद का अवच्छेद मान्य नहीं होता। इति के ही समान उसी जैसे अर्थ के वाचक अन्य 'एवम्'—आदि अव्ययों की स्थिति भी जाननी चाहिए। कारण कि 'च' आदि के समान वे जिसके बाद आते हैं उसी के अर्थ को अविच्छन्न करते हैं। वैसा नहीं होने से सामंजस्य नहीं बनता। यदि उनके आनन्तर्य (किसके बाद आना किसके

बाद नहीं—) यह नियम अर्थगत औचित्य पर निर्भर मान लिया जाय तो वे (इति आदि) निरर्थक हो जाते हैं, कारण कि तब उनसे बनने वाला कार्य अन्य उपाय से (अर्थ के औचित्य से ही) बन जाता है। यह हम बतलावेंगे कि पदार्थों में से निश्चित पदार्थों की निश्चित पदार्थों से भले ही वे दूर हों, संगति होती है। सभी की सभी के साथ-कदापि नहीं।

उक्तिस्वरूपेति। उक्तिः 'स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसावुपैती' त्येषा। तस्या विटसम्बन्धिन्याः स्वरूपम् इतिशब्देनोपलक्षणत्वाद् एवंशब्दादिना व्यवच्छेत्तुमिष्टम्। अतश्च तत्र तस्माद् इतिशब्दादितिशब्दोपलक्षितादेवमादेश्च प्राक् पूर्वम् उक्तेः पूर्वप्रदर्शितायाः। अन्यत् किञ्चित् पदम् पिङ्ग इत्यादि न कथनीयमित्यर्थः। एवमुदाहरणान्तरेऽपि योजनीयम्।

उपाधिभावादिति इतिशब्दस्य स्वा शक्तिः पूर्ववाक्यावच्छेदरूपा। तां पूर्वत्र वाक्ये समर्थयंस्तस्योपाधिरितिशब्दः सम्पद्यते। अतश्च न तस्यान्यत्र प्रयोगः कर्त्तव्य इत्यर्थः। पदस्यान्यस्येति पिङ्गैरित्यादेः।

अन्यथेति विषयान्तरप्रयोगे आसमञ्जस्यम् विशरारुप्रतीतित्वम्।

आनन्तर्यनियम इति।

'यस्य येनाभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तेन सः।
अर्थतो ह्यसमानानामानन्तर्यमकारणम्॥'

इति न्यायेनार्थौचित्यवशाद् व्यवहितानामप्यानन्तर्यनियमो भविष्यतीत्यर्थः। अन्यतस्तर्हीति। अन्यतोऽर्थौचित्यवशात्। तत्कार्यसिद्धेः इत्यादिकर्त्तव्यसिद्धेः। इति तेषां प्रयोगो नियतः स्याद् इत्युक्तम्।

ननु 'यस्य येनाभिसम्बन्ध' इति न्यायः कुत्रावतिष्ठतामित्याह—कैश्चिदेवेति। अयंभावः—इत्यादिशब्दवर्जनेनोक्तक्रमेण शब्दहेत्वादिवर्जनेन चान्येषां शब्दानामयं न्यायः। इत्यादीनामयं पुनर्नियतप्रयोगविषय इति नान्यथा तेषां प्रयोगः कर्त्तव्य इति।

उक्तिस्वरूप = उक्ति—'स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसावुपैति' यह। उसका वक्ता है विट। उसका स्वरूप 'इति'—शब्द से लिये गये, (उसके सभी समानार्थक शब्दों में आए) एवं शब्द द्वारा व्यवच्छिन्न करना चाहा है। इसलिये उस 'इति' शब्द और उससे उपलक्षित किए गये तदर्थक एवम् आदि शब्दों के पहले पूर्वप्रदर्शित उक्ति के अलावा दूसरा कोई भी पिङ्ग आदि पद नहीं कहा जाना चाहिए। इसी प्रकार दूसरे उदाहरणों में भी लगाना चाहिये।

उपाधिभावात् :—'इति' शब्द की अपनी शक्ति है पूर्ववाक्य का अवच्छेद। उसे पूर्ववर्ती वाक्य में लगाते हुए इति शब्द उसका उपाधि बन जाता है। इसलिये उसका प्रयोग और कहीं नहीं किया जाना चाहिए।

पदस्यान्यस्य :—पिङ्ग इत्यादि पदों का।

अन्यथा—दूसरे विषय में प्रयोग होने से आसमञ्जस्य = अर्थात् प्रतीति की विशरारुता = टूटा फूटा होना।

आनन्तर्यनियमः—जिसका जिससे सम्बन्ध होता है, दूर होने पर भी उसका उससे सम्बन्ध होता ही है। जो अर्थ की दृष्टि से असमान होते हैं उनका आनन्तर्य कोई मूल्य नहीं रखता। इस न्याय से अर्थ के औचित्य के आधार पर दूरस्थ पदों का भी आनन्तर्य नियम बन सकता है।

अन्यतस्तर्हि :—अन्यतः = अर्थौचित्य से।

तत्कार्यसिद्धेः—'इति'—आदि से होने वाला काम बन जाने पर। इस प्रकार उनका प्रयोग निश्चित होना चाहिए।

शंका :—'यस्य येनाभिसंबन्धः' यह न्याय कहाँ लागू हो—? इस पर उत्तर देते हैं—कैश्चिदे०—। भाव यह है कि—यह जो न्याय है वह 'इति'—आदि शब्दों को और हेत्वर्थक शब्दों को छोड़कर अन्य शब्दों में लागू होता है। इति आदि का प्रयोग तो बिल्कुल निश्चित होता है। इसलिए—उनका प्रयोग और तरह से किया जा सकता है।

(४) पौनरुक्त्य

एवमुद्देशक्रमेण क्रमभेदं विमृश्य पौनरुक्त्यं विचारयितुमाह पौनरुक्त्यमिति।

इस प्रकार उद्देशक्रम (दोषों को जिस क्रम से पहले गिनाया है—उसी क्रम से) क्रमभेद का विचार कर पौनरुक्त्य पर विचार प्रस्तुत करते हैं।

पौनरुक्त्यमार्थमेकमेवाभ्युपगन्तुं युक्तं न शाब्दं तस्यार्थभेदे सत्यदुष्टत्वात्। यदुक्तं 'तच्च न शब्दपुनरुक्तं पृथग्वाच्यम् अर्थपुनरुक्तेनैव गतार्थत्वाद्। न ह्यर्थभेदे शब्दसाम्येऽपि कश्चिद्दोषः। यथा—

हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यपि रोदिति
द्रविणकणिकाक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति।' इति।

तदभेदे तु दुष्टतैव। अन्यत्र तात्पर्यभेदात् तच्च भूषणमेव न दूषणम्। तस्यानुप्रासविशेषविषयत्वेनेष्टत्वाद्। यथा—

'वस्त्रायन्ते नदीनां सितकुसुमधराः शक्रसङ्काश! काशाः
काशाभा भान्ति तासां नवपुलिनगताः श्रीनदीहंस! हंसाः।
हंसाभोऽम्भोदमुक्तस्फुरदमलवपुर्मेदिनीचन्द्र! चन्द्रश्चन्द्राभः शारदस्ते जयकृदुपगतो विद्विषां काल! कालः॥' इति।

पौनरुक्त्य एक मात्र आर्थ (अर्थगत) ही माना जाय यही ठीक है, शाब्द (शब्दगत) नहीं। क्योंकि वह (शाब्द) अर्थभेद होने के कारण दुष्ट नहीं होता। जैसा कि कहा है—'शब्द पुनरुक्त दोष अलग नहीं बतलाया जाना चाहिये। वह अर्थ पुनरुक्त में ही गतार्थ हो जाता है। अर्थ भिन्न हो तो शब्द-साम्य होने पर भी दोष नहीं होता'—(उदाहरण) जैसे—

'मालिक के हँसने पर हँसता है, रोने पर जोर से रोता है, नाचने पर नाचता है (क्योंकि) वह द्रविण (धन) के किनके से खरीदा यन्त्र जो होता है।'

उस (अर्थ) के अभिन्न होने पर तो दोष होता ही है। तात्पर्य भिन्न होने पर अर्थ का स्वरूप यदि एक ही हो तो उसे दोष नहीं माना जाता उलटे अलंकार माना जाता है। उसे एक विशेष प्रकार का अनुप्रास (लाटानुप्रास) माना गया है। जैसे :—

'हे इन्द्रसंकाश (इन्द्रतुल्य)! सफेद फूल धारण किये हुए काश नदियों के वस्त्र बन रहे हैं। हे लक्ष्मीरूपी नदी के हंस! (उनकी) बालू में बैठे हंस काश के समान मालूम पड़ रहे हैं। हे पृथ्वीचन्द्र! चन्द्रमा—मेघावरण से धुल कर निर्मल हो गया है और हंस जैसा ज्ञात होता है।

हे शत्रुओं के लिये काल! तुम्हें विजय देने वाला शरदृतु का यह चन्द्राभ (चन्द्रतुल्य उज्ज्वल और चन्द्र की आभा जिसमें है) समय आ गया है।

इह खलु द्विविधं पौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यमर्थपौनरुक्त्यं चेति। तदुक्तमक्षपादमुनिना—'शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तम्, अन्यत्रानुवादाद्' इति। तत्र शब्दपौनरुक्त्यमर्थापौनरुक्त्ये न दोषः, अर्थपौनरुक्त्येन दुष्टत्वे अर्थस्यैव प्रयोजकत्वात् अर्थपौनरुक्त्यमेवैकं

पौनरुक्त्यं न शब्दपौनरुक्त्यमिति समुदायार्थः। आर्थमिति अर्थाश्रितम्। एवं शाब्दमित्यत्रापि वाच्यम्। यदुक्तमिति वादन्याये।

हसतीति एको हसतिशब्दः शत्रन्तः स्वामिविशेषणम्, अपरः क्रियापदम्। एवमुत्तरत्र वाच्यम्। यन्त्रमिति। अभेदोपचारेण भृत्यस्य निर्देशः, कृतानुकारित्वात्।

अन्यत्र तात्पर्यभेदादिति तात्पर्यभेदे हि स्वरूपार्थाविशेषे लाटानुप्रास इष्टः। तदुक्तम्—

'स्वरूपार्थाविशेषे हि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते॥' इति।

शक्रसङ्काशेति श्रीनदीहंसेति मेदिनीचन्द्रेति विद्विषां कालेति च चत्वार्यामन्त्रणानि। अत्र तात्पर्यभेदः स्फुट एव। तथा चैकः काशशब्दो वस्त्राणामुपमेयत्वेन स्थितः, अन्यस्तु हंसानामुपमानत्वेनेति भिन्नम् तात्पर्यम्। एवमन्यदपि योजनीयम्।

पौनरुक्त्य दो प्रकार का होता है—शब्दपौनरुक्त्य और अर्थपौनरुक्त्य। जैसा कि मुनि अक्षपाद ने कहा है—'शब्द और अर्थ का पुनः कथन, पुनरुक्त होता है, अनुवाद को छोड़ कर।' दोनों में अर्थ की पुनरुक्ति न हो तो शब्द की पुनरुक्ति दोष नहीं होती। (शब्द में) दोष आता है, अर्थ की पुनरुक्ति से, अतः अर्थ ही (दोष का) कारण है, (अतः) 'एकमात्र अर्थगत पुनरुक्ति ही पुनरुक्ति दोष है। शब्द की पुनरुक्ति नहीं'—यह इस प्रघट्टक का अभिप्राय हुआ।

आर्थम् :—अर्थ पर आधृत। इसी प्रकार शाब्द का भी अर्थ करना चाहिये (अर्थात् शब्द पर आधृत)।

यदुक्तम् :—वादन्याय में।

हसति—एक (द्वितीय) 'हसति' शब्द शतृ प्रत्ययान्त है, वह स्वामी का विशेषण है। दूसरा (प्रथम) क्रियापद है। ऐसा ही आगे भी समझना चाहिये।

यन्त्रम् :—अभेदोपचार से भृत्य को (यन्त्र शब्द से) कहा, कारण कि वह किये की नकल करता है।

अन्यत्र :—तात्पर्य भिन्न होने पर तो शब्द के स्वरूप का अर्थ एकसा भी हो तो लाटानुप्रास अलंकार माना गया है। जैसा कि कहा गया है—'स्वरूपतः यदि शब्द या पद (विभक्तियुक्त शब्द) में भिन्नता न हो तो भी पुनरुक्ति—लाटानुप्रास मानी जाती है क्योंकि उसमें एक और लाभ-चमत्कार निष्पन्न होने लगता है।

शक्रसंकाश, श्रीनदीहंस, मेदिनी चन्द्र और 'विद्विषां काल' ये चार आमन्त्रण=सम्बोधन हैं। यहाँ तात्पर्य भेद स्पष्ट ही है। एक काश शब्द वस्त्रों के उपमेय के लिये है, दूसरा हंसों के उपमान के लिये। इसी प्रकार और भी लगा लेना चाहिये।

विमर्श : अर्थभिन्न न होने पर उसी शब्द का पुनः प्रयोग दोष माना जा सकता है। मम्मट आदि ने—'अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला'—इत्यादि पद्य में लीला पद के दो बार एक ही अर्थ में प्रयोग को दोष माना है। उससे कवि का शब्ददारिद्र्य साबित होता है। स्वयं महिमभट्ट भी यही कहने जा रहे हैं—

उभयाभावे तु पौनरुक्त्यं दूषणमेव यथा—

'जक्षुर्बिसान्धृतविकासिबिसप्रसूना' इति।

सर्वनामपरामर्शस्य ह्ययं विषयो बिसार्थो न स्वशब्दस्य। न च ग्रासक्रियाकर्मभावाभिधानपरः प्रथमो बिसशब्दः परश्च प्रसूनसम्बन्धाभिधानपरः

इत्यत्रापि तात्पर्यभेद इत्याशङ्कनीयम्। स्वार्थमभिदधत एव हि शब्दस्यार्थान्तरप्रतीतिप्रावण्यं तात्पर्यमुच्यते। न चात्रैतत् सम्भवति उक्तयोरर्थयोरभिधेयतयार्थान्तरत्वाभावात्। तदुक्तम्—

'सर्वनामपरामर्शयोग्यस्यार्थस्य यत्पुनः।
स्वशब्देनाभिधानं सा शब्दस्य पुनरुक्तता॥
प्राधान्यमथ सम्बन्धिनिबन्धो योग्यता द्वयी।
नातः समासगस्यापि परामर्शोऽस्य दुष्यति॥' इति।

(अर्थ और तात्पर्य) दोनों (में भेद) न हो तो पुनरुक्ति दोष ही है। जैसे—

'जक्षुर्विसं धृतविकासिविसप्रसूना' में। यहाँ विसशब्द का अर्थ सर्वनाम द्वारा कहा जाना चाहिये, विस शब्द से नहीं। यह शंका नहीं करनी चाहिये कि—'पहला (विस शब्द) घास (भक्षण) क्रिया को कर्मता का कथन करने के लिये है और दूसरा प्रसून के साथ उसके सम्बन्ध का कथन करता है—इसलिये यहाँ भी तात्पर्य में भेद है, (क्योंकि) तात्पर्य कहलाता है अपने अर्थ को कह रहे शब्द का दूसरे किसी अर्थ की ओर उन्मुख रहना। यहाँ ऐसी कोई बात सम्भव नहीं है। कहे हुये दोनों अर्थ अभिधेय होने से—अर्थान्तर नहीं हो सकते (वाच्य से भिन्न अर्थ नहीं माने जा सकते।) वही कहा (भी गया है)—

'जिस अर्थ का परामर्श सर्वनाम द्वारा कराया जा सकता हो—उसका अपने वाचक शब्द द्वारा कथन पुनरुक्ति (दोष) होता है। (सर्वनाम द्वारा परामर्श की) योग्यता दो प्रकार से होती है—प्राधान्य से और सम्बन्धी के कथन से। इसलिये समास में आये हुये अर्थ का भी (सर्वनाम द्वारा) परामर्श दोष नहीं होता।

उभयाभावे इति अर्थभेदस्य तात्पर्यभेदस्य चाभाव इत्यर्थः। न च घासेति कर्मत्वेन सम्बन्धित्वेन चास्तु तात्पर्यभेद इत्यर्थः। एतन्न चेति निषिध्यते। स्वार्थमिति। एतदुक्तं भवति—न स्वार्थाभिधानमेव तात्पर्यम् अपि तु सत्येव स्वार्थाभिधानेऽधिकमर्थान्तरोन्मुखत्वं तात्पर्यं, यथा काशशब्दयोः। तत्र काशत्वजात्यवच्छिन्नद्रव्यप्रतिपादनादतिरिक्त उपमानोपमेयभावः प्रतिपाद्यते। न चैवं बिसशब्दयोः। नह्यत्र बिसत्वावच्छिन्नद्रव्यातिरिक्तं किञ्चिद्वस्तु प्रतीयते। यत्तु कर्मत्वं सम्बन्धित्वं च तदभिधेयस्यैव तथावस्थानं नोद्रेकेणान्यतामावहतीति स्वशब्दपरिहारेण सर्वनामपरामर्शस्यैव विषयो न्याय्य इति।

ननु पुनरुक्तं किमुच्यते? यत्र तत्प्रयोगं विनार्थप्रतीतिः। यत्र च तत्समानपदान्तरप्रयोगोऽवश्यमुपयुज्यते, तत्र कथं पुनरुक्तत्वम्। यत्रैकार्थ्येन प्रतीतिर्न तात्पर्यभेदः, तत्र पुनरुक्तत्वं प्रतीतिवैरस्यापादनात्। यत्र तु तत्समानं पदान्तरमुपयुज्यतां मा वा, सर्वथा तत्प्रयोगकृतं वैरस्यं पौनरुक्त्यप्रयोजकमिति तदाश्रयेणायं दोष उक्तः।

सर्वनामेति 'जक्षुर्बिसमि'त्यत्र निर्दिष्टं बिसमुत्तरत्र प्रसूनसम्बन्धित्वेन सर्वनामपरामर्शार्हं सद् यत् स्वशब्देनोक्तं तत् शब्दपुनरुक्तम्। यद्यप्यर्थपुनरुक्तमेवैकं पुनरुक्तं प्रागुक्तं, तथापि शब्दस्य पुनरुक्ततेत्युक्तम् अर्थमुखेनैव शब्दस्यापि पुनरुक्ततेत्यभिप्रायेण।

'सर्वनामपरामर्शयोग्यस्ये'ति निर्दिष्टां योग्यतां विभक्तुमाह प्राधान्यमिति। द्विविधं परामर्शयोग्यत्वं शाब्दमार्थं चेति। तत्र यस्मिन् परामृश्यस्य स्वातन्त्र्येण कर्तृत्वादिना निर्देशेन प्राधान्यं तत्र शाब्दम्। यत्र पुनः परामृश्यस्यान्यः कश्चित् सम्बन्धित्वेन निर्दिश्यते, तत्रार्थम्। तत्र हि सम्बन्धिनं प्रति अस्योपयोग एव योग्यत्वम्। तथा चैकमुदाहृतम्।

उभयाभावे :—अर्थभेद और तात्पर्य भेद का अभाव।

न च घास :—कर्मरूप से और सम्बन्धीरूप से तात्पर्यभेद हो सकता है—इसका निषेध करते हैं—'ऐसा ही'—इस प्रकार।

स्वार्थम् :—अभिप्राय यह कि—'अपने अर्थ का कथन ही तात्पर्य नहीं होता, अपितु अपने अर्थ के अभिधान के साथ साथ अतिरिक्त अर्थ की ओर उन्मुख रहना भी तात्पर्य है, जैसे—काश शब्दों का। वहाँ काशत्व—जाति से युक्त द्रव्य के प्रतिपादन के अतिरिक्त उपमानोपमेयभाव का प्रतिपादन किया जा रहा है। 'विस' शब्दों में ऐसी बात नहीं है। यहाँ विसत्व जाति से युक्त वस्तु के अतिरिक्त और कोई वस्तु प्रतीत नहीं होती। जो कर्मता और सम्बन्धिता है—वह अपने अभिधेय अर्थ का ही उस रूप से अस्तित्व बतलाती है। स्पष्टरूप से अतिरिक्त को नहीं। इसलिये अपने शब्द को छोड़कर सर्वनाम द्वारा परामर्श करना ही उपयुक्त है।

शंका :—पुनरुक्त कहते किसे हैं ? (उत्तर) जहाँ उसके (शब्द के) प्रयोग के विना अर्थ की प्रतीति हो। परन्तु जहाँ उस (अर्थ) के वाचक किसी दूसरे शब्द का उपयोग होना आवश्यक होता है— वहाँ पुनरुक्तता कैसी ? (उत्तर) जहाँ एक रूप के अनेक अर्थों की प्रतीति होती हो, तात्पर्य भेद न हो, वहाँ पुनरुक्ति दोष होता है, उससे प्रयोग में विरसता आती है। जहाँ उसके समानार्थक शब्द का उपयोग हो या नहीं, पर उसके (किसी भी प्रकार के) प्रयोग से विरसता आती हो तो उसे—पुनरुक्ति का कारण माना जाता है। इसलिये—यह दोष उस पर आश्रित है।

सर्वनाम—जक्षुर्बिसान् यहाँ बिस शब्द पुनरुक्त है। आगे आया बिस प्रसून से सम्बन्धित दिखलाया गया है। अतः उसका परामर्श सर्वनाम द्वारा होना चाहिये। अपने वाचक शब्द से नहीं। यद्यपि अर्थ पुनरुक्त भी एक प्रकार का पुनरुक्त दोष पहले बतलाया गया है इतने पर भी (केवल) शब्द में (जो) पुनरुक्तता बतलाई गई वह इसलिये कि शब्द भी पुनरुक्त होता है, अर्थ के द्वारा।

सर्वनामपरामर्शयोग्यस्य—इस प्रकार दिखला दी गई योग्यता को (दो भागों में) बाँटने के के लिये कहना शुरू किया—प्राधान्य। परामर्शयोग्यता दो प्रकार की होती है—शाब्द और आर्थ। उनमें से जहाँ परामृश्य का स्वतन्त्र रूप कर्त्ता आदि के रूप में निर्देश होने के कारण प्राधान्य होता है वहाँ शाब्द परामर्शयोग्यता होती है। जहाँ परामृश्य का कोई दूसरा सम्बन्धी पदार्थ सम्बन्धी रूप से दिखलाया जाता है वहाँ (परामर्श योग्यता) आर्थ होती है। वहाँ इसकी योग्यता का अर्थ केवल सम्बन्धी के साथ इसका उपयोग है। इस प्रकार एक का उदाहरण दे दिया गया।

द्विविधा हि योग्यता शाब्दी चार्थी च। तत्र शब्दस्य प्राधान्ये सति शाब्दी साक्षात्परामृश्यार्थप्रतीतेः। यथा—

'चारुता वपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः।
तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदस्तमपि वल्लभसङ्गः॥' इति।

विपर्यये त्वार्थी। सम्बन्धिप्रतीतिमुखेन तत्प्रतीतेः। यथा—

'भाति सितभूतिलिप्तः शशाङ्कमौलिस्तदंशुनिचित इव'। इति।

अत्र हि शशाङ्कसम्बन्धिनामंशूनां निबन्धस्तत्परामर्शयोग्यता। स हि समासे गुणीभूतः।

यथा वा—

'जयति निशापतिमौलिर्दधन्महाकालविभ्रममजस्रम् ।
तत्तमसामिव लक्ष्म्या कण्ठविषच्छाययाच्छुरितः ॥' इति ।

अत्र हि निशासम्बन्धिनां तमसां निबन्धो योग्यता । सा हि गुणीभूतस्यापि गुणीभूता ।

योग्यता दो प्रकार की होती है शाब्दी और आर्थी । उनमें से शब्द की प्राधानता होने पर शाब्दी योग्यता (होती है) उसमें परामृश्य अर्थ सीधे सीधे ज्ञात होता है, जैसे—'चारुता वपुरभूषयदासान्......' । उलटे होने पर आर्थी । क्योंकि तत्र उसकी प्रतीति सम्बन्धी के ज्ञान के द्वारा होती है । जैसे—'सफेद भस्म से लिपटे चन्द्रचूड (भगवान् शंकर) उसकी किरणों से खचित से लगते हैं ।' यहाँ शशांक सम्बन्धी किरणों का कथन है—यहाँ उसके (शशांक) परामर्श की योग्यता है । वह (शशांक) तो समास में अप्रधान होकर आया है । और जैसे—

निशा के पति (चन्द्रमा) का मुकुट पहने भगवान् शिव की जय हो । वे सदा महाकाल की चपलता को जलाते रहते हैं—इसलिये कण्ठस्थित विष के बहाने उसी (निशा) के अँधेरे से युक्त रहते हैं ।

यहाँ—निशा सम्बन्धी अन्य कारकों का उल्लेख—योग्यता है । वह गुणीभूत में गुणीभूत है ।

सम्बन्धिप्रतीतिमुखेनेति । अत्र सम्बन्धी हरः तस्य मौलिद्वारेण शशाङ्कसम्बन्धित्वात् । तत्प्रतीतिमुखेन चात्र शशाङ्कः प्रतीयते, न तु 'चारुता वपुरि'त्यादौ चारुतादेरिव साक्षादेव शशाङ्कस्य प्रतीतिः ।

शशाङ्कसम्बन्धिनामिति । अत्र 'सम्बन्धिनिबन्धन' इति कारिकायां यः सम्बन्धी उक्तः, स निर्दिष्टः । तथा चात्रांशवः सम्बन्धित्वेन निर्दिष्टाः । तत्परामर्शयोग्यतेति तच्छब्देन परामृश्यः शशाङ्को निर्दिष्टः ।

सा हि गुणीभूतस्येति । हरमन्यपदार्थं प्रति निशापतिर्गुणीभूतः । तस्यापि निशा गुणीभूता ।

सम्बन्धिप्रतीतिमुखेनेति—यहाँ सम्बन्धी है हर, वह मौलि द्वारा शशांक का सम्बन्धी है, अतः पहले उसकी प्रतीति होती है तब उसके द्वारा शशांक की । शशांक की प्रतीति साक्षात् नहीं होती जैसे 'चारुता वपुरभूषयद्' इत्यादि में चारुता आदि की होती है ।

शशांक सम्बन्धिनाम्...। यहाँ 'सम्बन्धनिबन्धन' इस प्रकार कारिका में जो सम्बन्धी कहा गया है, उसी का निर्देश दिया गया । यहाँ 'अंशु' (किरणें) सम्बन्धी रूप से बतलाये गये हैं ।

तत्परामर्श... यहाँ तत् शब्द से परामृश्य शशांक का संकेत किया गया है ।

सा हि—हर रूप अन्य पदार्थ के प्रति निशापति गुणीभूत है । और उस (निशापति) के प्रति निशा गुणीभूत है ।

सम्बन्धिनिबन्धाभावे त्वसमासगतस्यैव तस्य योग्यता यथा—

'जयति जगत्त्रयजनको नगेन्द्रसुतया निरुद्धदेहार्धः ।
सा च भुवनैकजननी यया विना सोऽपि हि विहस्तः ॥' इति ।

समासगतस्य यथात्रैव नगेन्द्रतनयेति पाठे ।

सम्बन्धि का उल्लेख न होने पर तो समास में न आने पर ही उसमें योग्यता रहती है जैसे—

'तीनों लोकों को पैदा करने वाले की जय हो।' उसका आधा शरीर पर्वतराज की पुत्री द्वारा घिरा हुआ है। यह भी तीनों लोकों की एक ही माता है, जिसके विना वह (जगत्पिता) भी निहत्था है।' समास में आए (पदार्थ के परामर्श) का उदाहरण यहाँ बन जाता है—'नगेन्द्र-सुतया' के स्थान पर 'नगेन्द्रतनयानिरुद्ध०' पाठ कर लेने पर।

सा च भुवनेति। अत्र न नरेन्द्रतनयायाः सम्बन्धी निर्दिष्टः। अपि तु सा चेत्यनेन स्वरूपम् निर्दिष्टम्। विहस्तो न क्वचिच्छक्तः।

समासगतस्येति परामृश्यस्येति सम्बन्धः। तत्र हि परामृश्यस्य समासे गुणीभावात् सम्बन्धिनश्चानिर्देशात् परामर्शो न न्याय्यः।

सा च भुव—यहाँ नगेन्द्रतनया का सम्बन्धी नहीं बतलाया गया है, अपितु वही 'सा च' इस प्रकार स्वरूपतः बतलाई गई।

विहस्तः—किसी काम में समर्थ नहीं।

समासगतस्य—इसका सम्बन्ध परामृश्य के साथ है। परामृश्य समास में गुणीभूत हो जाता है। और सम्बन्धी का निर्देश न होने से सर्वनाम द्वारा परामर्श ठीक नहीं होता।

अयं च योग्यायोग्यत्वविवेको न सर्वजनसंवेदनीय इति प्राधान्यमेव तावत् प्रथमं योग्यतालक्षणम्, तदभावे तत्सम्बन्धिनिबन्ध इत्युभयं योग्यता-लक्षणमुक्तम् इतरथा तत्प्रतीतेरसम्भवात्।

अत्र तु सत्यपि सम्बन्धिनिबन्धने यत् पुनः स्वशब्देनाभिधानं तच्छब्द-पुनरुक्तमिति। तेन 'जक्षुर्बिसं विकचमस्य दधुः प्रसूनमि'त्यत्र युक्तः पाठः। एवञ्चार्थप्रक्रमभेददोषोऽपि परिहृतो भवति।

यह जो योग्यता और अयोग्यता का विवेक (विवेचन) है उसे सभी लोग नहीं कर पाते। इसलिए योग्यता का प्रथम लक्षण है प्रधानता, (अथवा), यदि वह न हो तो उस (परामृश्य) के सम्बन्धी का उल्लेख। इस प्रकार ये दो (परामर्श) योग्यता के लक्षण कहे गये। इनके विना उस (परामृश्य, की प्रतीति सम्भव नहीं) यहाँ (जक्षुर्बिसम् में) सम्बन्धी का उपादान रहते हुए भी जो—अपने वाचक शब्द (बिस) से पुनः कथन हुआ—वह पुनरुक्ति दोष है। इसलिए—'चक्षुर्बिसं विकचमस्य दधुः प्रसूनम्' पाठ चाहिए। ऐसा करने से आर्थप्रक्रमभेद भी मिट जाता है।

न सर्वजनसंवेदनीय इति।

अस्यार्थः—'यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते' इति न्यायेनात्रातिप्रौढतया ग्रन्थ-कारो निजायत्तां पदार्थव्यवस्थां कर्तुमारब्धः, येन 'तदंशुनिचित' इति 'तत्तमसाम्' इति च शशाङ्कस्य निशायाश्च तच्छब्देन परामर्शमघटमानमपि समर्थयते, 'जक्षुर्बिसं धृतविकासि-बिसप्रसूना' इत्यत्र च बिसप्रसूनशब्दस्य संज्ञापदस्यापि बिसशब्दाश्रयेण सूक्ष्मेक्षिकया पौनरुक्त्यं दोषमुद्भावयति। न चैतत् समर्थनं हृदयहारि, यस्माच्छशाङ्कमौलिरिति च निशापतिमौलिरिति च संज्ञाशब्दावेतौ। संज्ञाशब्दानां च विद्यमानस्याप्यर्थानुगमस्य न प्रयोजकत्वं रूढेः प्राधान्यात्। ततश्चात्र न शशाङ्कार्थो न निशार्थः कश्चित्। किन्तूपायमात्रे-णैतावर्थावाश्रित्य संज्ञिविशेष एवात्र विवक्षितः। एवञ्च संज्ञ्यन्तर्गतयोः शशाङ्कनिशयोस्त-च्छब्दपरामर्शो न सहृदयहृदयान्यावर्जयतीति हठसमर्थनमेतत्। किं च शशाङ्कमौलिरि-त्यत्र वरं शशाङ्कस्य भवतु सर्वनाम्ना परामर्शः तस्य वक्राकृतेस्तत्र सन्निहितत्वात्, निशाप-तिमौलिरित्यत्र तु निशायाः परामर्शः पापात् पापीयान्, निशापतेरेवोक्तक्रमेण तत्र सन्नि-

हितत्वात्। निशाया उपलक्षणमात्रत्वेनोपयोगिन्यास्तत्र सम्भवाभावात्। यत्र च तस्या एव न सम्भवस्तत्र का वार्ता तमसाम्। तदयम् 'अन्धो मणिमविन्दत्, तमनङ्गुलिरानयद्' इति न्याय आयातः। अपि च यत्र प्रसारितानुगमेन शब्देन संज्ञिनः प्रत्यायनं क्रियते, परं तत्रानुगमोत्कर्षाद् भवति सर्वनामपरामर्शः। यथा—

'उत्सवाय जगतः स जायतां रोहिणीरमणखण्डमण्डनः।
तत्प्रभाभिरिव पूरितं वपुर्भाति यस्य सितभस्मगुण्ठितम्॥' इति।

अत्र हि पदव्यापिनी संज्ञान्वर्थत्वमेवोत्कर्षयति। तेनात्र परामर्शो नाप्रतीतिकरः। प्रकृते तु तादृश्यपि गतिर्नास्ति। आस्तां वा प्रकृतम्। अत्रापि हि रोहिणीरमणेत्यादौ यदि सूक्ष्मेक्षिका क्रियते तदा संज्ञाप्राधान्यात् तदंशस्य सर्वनामपरामर्शो नादुष्टतां भजते। प्रकृते तु पापात् पापीयान् परामर्शः। कृतं चात्र समर्थनं ग्रन्थकृता। तदेतदस्य विश्वसगणनीयं मन्यमानस्य स्वात्मनः सर्वोत्कर्षशालिताख्यापनमिति।

ग्रन्थकर्तुः पुनरयमाशयः—इह तु द्विविधाः संज्ञाशब्दाः, रूढा योगरूढयश्च। तत्र रूढानामर्थानुगमाभावात् तदनुसरणं न कर्त्तव्यम्। ये तु योगरूढयस्तेषां यदि योग उत्कटतां भजते तदा तदाश्रयो व्यवहारो न दुष्यति। अत एव निमित्तवलेन प्रवृत्तस्य शब्दस्य निमित्तान्तर्भावे प्रयोगः सौगतैर्निषिद्ध एव। यदाहुः—

'नैमित्तिक्याः श्रुतेरर्थमर्थं वा पारमार्थिकम्।
शब्दानां प्रतिरुन्धानो न बाध्यस्तेन वर्णितः॥'

[प्रमाणवार्तिके ४।१२९ का०] इति।

एवं स्थिते योगाश्रिते व्यवहारे यदि संज्ञावयवभूतार्थस्याव्यभिचारी कश्चित् प्रतिपिपादयिषितः स्यात् तदा तदभिसम्बन्धाय तस्यावयवस्य सर्वनामपरामर्शो न दुष्टः। यदुक्तम्—'सर्वनाम्नानुसन्धिर्वृत्तिच्छन्नस्य' (का० सू० ५-१-११) इति। मौलिरित्यत्र शशाङ्काव्यभिचारिणो रश्मयः सम्बन्धित्वेन प्रतिपादिताः। निशापतिमौलिरित्यत्र निशाऽव्यभिचारीणि तमांसि। तेषां चावास्तवत्वमपि न तथा दुष्टम् उत्प्रेक्षागोचरत्वेन प्रतिपादितत्वात्। केवलं पूर्वत्र संज्ञिसम्बन्धी परत्र तु सम्बन्धिसम्बन्धी परामृष्ट इति विशेषः। तदेवं यौगिकानां संज्ञाशब्दानां योगनिमित्तो व्यवहारः क्वचित् क्वचित् सुव्यवस्थित एव। यत्तु 'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणे'रित्यत्र पिनाकपाणिपदस्य संज्ञाशब्दस्य सतोऽर्थानुगमो निवारयिष्यते येन संज्ञावगमार्थं हरशब्दः प्रयुक्तः, तन्नार्थानुगमाभावप्रतिपादनपरेण, किन्त्वनुगम्यमानस्यार्थस्य संरम्भास्पदत्वेन विवक्षितत्वं पृथक् संज्ञापदप्रयोगमन्तरेण न निर्वहति संज्ञार्थस्यार्थानुगमस्य च युगपत् प्राधान्याभावादिति द्वयप्रयोग एवंविधेषु स्थानेषु शस्यत इत्यभिप्रायेण। प्रकृते वस्तुस्वरूपमात्रप्रतिपादने संज्ञाशब्दत्वेऽप्यर्थानुगमानुसरणमव्याहतमिति।

न सर्वजनसंवेदनीय—इसका अभिप्राय है—यहाँ ग्रन्थकार—'जैसा इसे रुचता है वह विश्वभर को उसी प्रकार उलटता पलटता जाता है' (आनन्दवर्धन-ध्वन्या० ४) इस उक्ति के अनुसार अत्यन्त हठ के साथ सारी पदार्थव्यवस्था अपनी इच्छा के अनुसार करने चला है। जिससे (आविष्ट होकर वह) 'तदंशुनिचित इव' और 'तत्तमसाम्' में तत् शब्द से शशांक और निशा का परामर्श भी बतलाता है, जो वस्तुतः बनता नहीं है। इसी प्रकार 'जघ्नुर्बिसं धृतविकासिबिसप्रसूनाः' में 'बिसप्रसून' संज्ञाशब्द है, तब भी उसके एकांश बिस शब्द को लेकर बड़ी बारीकी के साथ पुनरुक्ति दोष थोपता है। ऐसी करतूत मन को नहीं भाती। कारण कि 'शशांकमौलि' और

'निशापतिमौलि' ये संज्ञाशब्द हैं। जो संज्ञाशब्द होते हैं भले ही उनसे (यौगिक) अर्थ निकले किन्तु वे उसके अभिधायक नहीं होते, कारण कि (योग से) रूढ़ि प्रधान होती है। इसलिये इन शब्दों में शशांक और निशा अर्थ मान्य नहीं हैं, केवल इन अर्थों को उपाय रूप से अपनाकर एक विशिष्ट संज्ञावान् (अर्थ) यहाँ—कहना अभीष्ट है। इसलिये संज्ञावान् के भीतर आये शशांक और निशा का तत् शब्द से परामर्श सहृदयजनों के चित्त को आवर्जित नहीं करता, इसलिये यह स्थापना—हठमूलक है। एक बात यह भी ध्यान देने की है कि सर्वनाम द्वारा—शशांक का भले ही परामर्श हो जाय, क्योंकि वह वक्राकार से वहाँ (शिव के पास) सन्निहित रहता है। पर निशापतिमौलि—यहाँ तो निशा का परामर्श पापात् पापीयान् (बुरे से बुरा) है, कारण कि उक्त क्रम (विशेषण रूप) से निशापति ही वहाँ सन्निहित हैं। निशा केवल—'उपलक्षण रूप से उपयोगी है' अतः उसका (शिव में) होना सम्भव नहीं। फिर जहाँ वही (निशा) नहीं है वहाँ उसके सम्बन्धी 'तमस्' की तो बात ही दूर है। इस प्रकार यहाँ 'अन्धे ने हीरा देखा, लूले ने उसे उठाया'-कहावत चरितार्थ होती है।

फिर यहाँ संज्ञाशब्द अपने अर्थ का ज्ञान अपनी अभिधा का विस्तार (योगार्थ तक फैला) कर करा रहा हो वहाँ अभिधा (अनुगम) के विस्तार से (योगलभ्य अर्थों का भी) सर्वनाम द्वारा परामर्श होता है। जैसे—

'रोहिणी (के) पति (का) टुकड़ा भूषण बनाकर पहनने वाला वह (शिव) संसार भर की प्रसन्नता का कारण बने, सफेद भस्म से भरा जिसका शरीर उस (रोहिणीरमण = चन्द्र) की प्रभा से लिपा हुआ सा दिखाई देता है।'

यहाँ (रोहिणीरमणखण्डमण्डनः = इस) पद में जो संज्ञा (संकेत अभिधा) है वह आदि से अन्त तक व्याप्त है, अतः वह अभिधा अपने प्रधान अर्थ 'शंकर' का ज्ञान कराने के साथ साथ ('रोहिणीरमण-' आदि) अन्य (यौगिक) अर्थों का भी ज्ञान करा देती है। इसलिए यहाँ सर्वनाम (द्वारा यौगिक अर्थों का) परामर्श हो सकता है, किन्तु प्रकृत ('निशापतिमौलि—तत्तमसाम्') में तो वह भी बात नहीं। प्रकृत दूर रहे, यहाँ भी इस 'रोहिणीरमण'—इत्यादि में यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो संज्ञा की प्रधानता होने से सर्वनाम द्वारा परामर्श निर्दोष नहीं रहता। प्रकृत में तो वह और भी अनुचित (पापात् पापीयान्) है। परन्तु ग्रन्थकार ने यहाँ समर्थन किया है। तो वह तो विश्व को कुछ न गिनने वाले इस ग्रन्थकार का अपनी सर्वोत्कृष्टता की डुग्गी पीटना है।

ग्रन्थकार का आशय यह है—संज्ञा शब्द दो प्रकार के होते हैं—रूढ़ और योगरूढ़। उनमें से रूढ़ में (अवयव का) अर्थ नहीं माना जाता। अतः वहाँ अर्थ का अनुगमन नहीं करना चाहिये। पर जो शब्द योगरूढ़ है, उनका योग यदि उत्कट हो जाता है तो उसको लेकर किया गया व्यवहार दोषावह नहीं होता। इस निमित्त के आधार पर चला शब्द निमित्त का अन्तर्भाव हो जाने पर सौगतों (बौद्धों) द्वारा निषिद्ध बतलाया गया है। जैसा कि कहा है—(अर्थ भूमिका में देखें) ऐसी स्थिति में यदि व्यवहार में यौगिक शब्द आयें और तब उसे संज्ञाशब्द के अवयवभूत—(शब्दार्थ) का नित्य सम्बन्धी (अव्यभिचारी अलग न होने वाला पदार्थ) बतलाना अभीष्ट हो तो उसके अभिसम्बन्ध (परामर्श) के लिये अवयव का सर्वनाम से परामर्श दोषावह नहीं। जैसा कि कहा है कि—समास में छिपे अर्थ का सर्वनाम से परामर्श होता है। 'मौलि' = इसमें शशांक से अलग न होने वाली किरणें सम्बन्धीरूप से उपस्थित की गई हैं (और) 'निशापतिमौलि' में निशा से अलग न होने वाला अन्धकार। वह (अन्धकार) अवास्तविक है (किसी शब्द से नहीं कहा गया है) तथापि कोई दोष नहीं, कारण कि वह उत्प्रेक्षा द्वारा उपस्थित किया जा

रहा है। अन्तर इतना ही है कि पहले (शशांक मौलि) में संज्ञावान् (शशांक) से सम्बन्धित (किरण) का परामर्श किया गया है और दूसरे में (निशापति मौलि) में सम्बन्धी (पति) से सम्बन्धित (निशा) का। इस प्रकार संज्ञा शब्दों में भी उनके अवयवार्थ के आधार पर किया व्यवहार कभी कभी सटीक बैठ जाता है।

आगे चलकर 'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः' में जो 'पिनाकपाणि' इस संज्ञाशब्द से हर शब्द का प्रयोग होने के कारण जो यौगिक अर्थों की प्रतीति का अभाव बतलाया जाएगा उसका अभिप्राय यह नहीं है कि संज्ञाशब्दों से यौगिक अर्थों का प्रतिपादन सर्वथा नहीं होता अपितु यह है कि वहाँ प्रधान अर्थ पर बल दिया जा रहा है जो पृथक् संज्ञाशब्द के बिना निवहता नहीं है क्योंकि संज्ञार्थ और अनुगत (योग्यतम, पिछलग्गू) अर्थ—दोनों ही एक साथ प्रधान नहीं हो सकते, अतः ऐसे स्थलों में दो पृथक्-पृथक् संज्ञाशब्दों का प्रयोग अच्छा माना जाता है। परन्तु प्रकृत ('शशांकमौलि' और 'निशापतिमौलि') में वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए संज्ञाशब्द आए हैं तथापि अवयवार्थ का प्रतिपादन भी रुकता नहीं।

विमर्श : ग्रन्थकार से टीकाकार का यहाँ मतभेद है। 'शशांकमौलि' और 'निशापतिमौलि' शब्दों को ग्रन्थकार यौगिक मानते हैं और उनके भीतर आए शब्दों द्वारा अपने स्वतन्त्र अर्थ का सर्वनाम द्वारा प्रतिपादन भी। टीकाकार ऐसा नहीं मानते। वे शशांकमौलि आदि शब्दों में योगार्थ को प्रधान न मानकर रूढार्थ को प्रधान मानते हैं। साथ ही योगार्थ को निकलता नहीं मानते। उन्होंने ग्रन्थकार को यहाँ तानाशाह और हठधर्मी कहा है।

उद्धृत सौगतकारिका का पाठ पुराने संस्करणों में–'नैमित्तिकाः'''शब्दानामनुरुन्धानो न बाधः' ऐसा था। अर्थ भूमिका में देखिए।

इतरथेति उभयविषयोग्यताभावे परामृश्यप्रतीतेरभावादित्यर्थः। अत्र त्विति। 'जक्षुर्विसमि'त्यत्र। सम्बन्धिनः प्रसूनस्य निबन्धने उपादाने।

आर्थं इति। क्रियाकारकभावस्याख्यातपदवाच्यत्वेन शाब्देन क्रमेण प्रस्तावेऽत्र विशेषणद्वारेण समासेन प्रतीतेरार्थत्वम्।

इतरथा—दोनों योग्यताओं के अभाव में परामृश्य की प्रतीति नहीं होती।

अत्रतु—जक्षुर्विसम् यहाँ।
संबन्धिनः—प्रसून के।
निबन्धे—उपादान में।

आर्थ—क्रियाकारकभाव का आख्यात शब्द से उल्लेख करते हुए शाब्दक्रम से आरम्भ और यहाँ—'धृतविकासिविसप्रसून' में—विशेषण द्वारा समास से प्रतीति होने से आर्थ।

संक्षेपेण पञ्चप्रकारं पौनरुक्त्यं निर्दिश्यते। तच्चानेकप्रकारमिति।

अब संक्षिप्तरूप से पाँच प्रकार के पौनरुक्त्य दोष का निरूपण करते हैं—

तच्चानेकप्रकारं सम्भवति। प्रकृतिप्रत्ययोभयपदवाक्यविषयत्वात्। तत्र प्रकृतिविषयं यथा—

'अभ्वीयसंहतिभिरुद्धतमुद्धुराभिर्भूरेणुजालमखिलं वियदाततान।' इति।

अत्र हि समूहार्थायाः प्रकृतेः संहतेश्च पौनरुक्त्यम्।

वह (पौनरुक्त्य) अनेक प्रकार का हो सकता है। पर संक्षेप करके पाँच प्रकार का पौनरुक्त्य बतलाते हैं। प्रकृति, प्रत्यय, प्रकृतिप्रत्यय, पद, वाक्य विषयक होने से। उनमें से प्रकृतिविषयक—जैसे—प्रयाणोद्यत 'अश्वीय संहति' द्वारा उड़ाई गई धूल ने आकाश को छा दिया।—यहाँ

समूहार्थक प्रकृति (अश्वीय, अश्व शब्द से समूहार्थक छ+ईय् प्रत्यय) और संहति दोनों पुनरुक्त है।

तच्चेति तच्छब्देन पौनरुक्त्यं परामृष्टम्।

अश्वीयेति। अत्र 'केशाश्वाभ्यां यञ्छौ' (४. २. ४८) इति समूहेऽर्थे छप्रत्ययः संहतिशब्दश्च भिसः प्रकृतित्वेन निर्दिष्टौ पुनरुक्तौ। अश्वैरित्येव हि वाच्यम्।

तच्चेति—तत् शब्द से पौनरुक्त्य का परामर्श किया।

अश्वीय—'केशाश्वाभ्यां यञ्छौ'—सूत्र से समूह अर्थ में छ प्रत्यय हुआ है। (छ को ईय हो जाता है) और संहति शब्द से बहुवचनान्त 'भिस्' प्रत्यय आया है। दोनों पुनरुक्त हैं। संहति कहने पर बहुवचन की जरूरत नहीं और अश्वीय—अश्वसमुदाय कहने पर संहति की, इसलिये अश्वैः केवल कहा जाना चाहिये।

प्रत्ययविषयं यथा—'बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्त' इति, 'त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीमि'ति च। अत्र हि मत्वर्थीयस्य पौनरुक्त्यम् बहुव्रीहिसमाश्रयेणैव तदर्थावगतिसिद्धेः। यदाहुः—'कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यां बहुव्रीहिर्लघुत्वात् प्रक्रमस्य' इति।

'मतोर्भूमादयो येऽर्थास्तेऽप्यस्त्यर्थानुयायिनः।
गम्याः प्रकरणादिभ्य इति नोदाहृताः पृथक्॥' इति।

प्रत्यय सम्बन्धी यथा—'बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः। (कमल-ककड़ी के टुकड़े का कलेवा लिये) और—'त्वगुत्तरासङ्गवतीम्'।

यहाँ मत्वर्थीय प्रत्यय पुनरुक्त है। केवल बहुव्रीहि से ही उसका अर्थ निकल आता है। जैसा कि कहा है—कर्मधारय और मत्वर्थीय—को बहुव्रीहि बाधता है—थोड़े से समास से काम चल जाने के कारण। मतुप् प्रत्यय के जो भूमा आदि अर्थ हैं वे अस्ति के अर्थ (सत्ता) का अनुगमन करते हुए प्रकरण आदि से स्वयमेव समझ में आ जाते हैं, अतः अलग से उनके उदाहरण नहीं दिये।

बिसेति 'बिसकिसलयच्छेदपाथेया' इति 'त्वगुत्तरासङ्गाम्' इति च वाच्यम्। बहुव्रीहाविति मत्वर्थे बहुव्रीहिविधानम् कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्याम् इति। कर्मधारयमत्वर्थीयौ समुच्चयेनावस्थितौ वृत्तिलाघवाद् बहुव्रीहिणा बाध्येते इत्यर्थः।

ननु—

'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥'

इति बहवो भूमादयोऽर्था अस्त्यर्थमनुगच्छन्तो मत्वर्थीयताविषयत्वेनोक्ताः। ते किमिति न बहुव्रीहिवाच्यत्वेनोक्ताः इत्याह मतोरिति। मतुब्ग्रहणं मत्वर्थीयानामुपलक्षणम्। भूमादयो ह्यर्था न केवलेभ्यो मतुबादिभ्यः प्रतीयन्ते, किन्तु प्रकरणादिसहायेभ्यस्तेभ्य इति न मतुबादिविचारेणोदाह्रियन्ते, नान्तरीयकतया तेषां गतत्वात्।

बहुव्रीहि—यहाँ मतुप् अर्थ में बहुव्रीहि का विधान है।

कर्मधारय—कर्मधारय और मत्वर्थीय प्रत्यय इकट्ठे होकर यदि आयें हों तो समासलाघव के कारण बहुव्रीहि से बाधित हो जाते हैं।

शंका—भूमा, निन्दा, प्रशंसा, नित्ययोग, अतिशय, संसर्ग में मतुप् आदि प्रत्यय होते हैं यदि सत्ता की विवक्षा हो (अर्थात् उनका अस्तित्व बतलाना हो) इस प्रकार बहुत से भूमादि

अर्थ अस्ति के अर्थ (सत्ता) का अनुगमन करते हुए मत्वर्थीय माने जाते हैं। (तो) 'उन्हें बहुव्रीहि द्वारा वाच्य क्यों नहीं बतलाया।' इस पर उत्तर देते हैं—मतोर्भूमा०। मतुब् मात्र का कथन मत्वर्थीय सभी—प्रत्ययों के लिये। भूम आदि अर्थ केवल मतुप् आदि प्रत्ययों से नहीं जान पड़ते, अपितु तब प्रतीत होते हैं जब वे प्रकरण आदि से युक्त होते हैं, इसलिये मतुवादि के निर्देश द्वारा उनके उदाहरण नहीं दिये। उनकी प्रतीति नियमतः हो ही जाती है।

विमर्श : जिस प्रकार 'पीतगुणवान्' न कहकर पीतगुण कहने से भी व्यक्ति विशेष में पीत गुण के अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार—बिसकिसलयच्छेदपाथेयाः (मेघदूत) और 'त्वगुत्तरासङ्गाम्' (कुमारसम्भव) कहने से भी हंसों तथा पार्वती में क्रम से बिसकिसलयच्छेद के पाथेय तथा—त्वगुत्तरासङ्ग का अस्तित्व मालूम हो जाता है, इतने पर भी उनमें अस्तित्व के बोधक 'मतुप्' प्रत्यय (पाथेयवन्तः)—(उत्तरासङ्गवतीम्) लगाना वस्तुतः पुनरुक्त है।

मतुप् आदि प्रत्यय उक्त ६ अर्थों में होते हैं। ग्रन्थकार ने केवल एक मतुप् का उदाहरण दिया शेष पाँच छोड़ दिये। इसका कारण स्पष्ट करते हुये उन्होंने कहा कि वे प्रकरण आदि की सहायता से अपना अर्थ बतलाते हैं। उनकी ऊहा स्वयं भी की जा सकती है।

यथा वा—

'वासो जाम्बवपल्लवानि जघने गुञ्जास्रजो भूषणम्' इति, 'तदीयमातङ्गघटाविघट्टितै' रिति, 'येनाकुम्भनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते' इति। इत्यादौ तद्धितप्रत्ययस्य पौनरुक्त्यं षष्ठीसमासाश्रयेणैव तदर्थावगतिसिद्धेः।

और जैसे—

'कपड़े हैं जामुन सम्बन्धी पत्ते, भूषण है गूँजा की मालायें' यह—'उससे सम्बन्धित हाथियों की घटाकी टक्करों से' यह, जिससे माथे तक डूबे जंगली हाथियों के यूथों द्वारा जल पिया जाता है यह। ऐसे उदाहरणों में तद्धित प्रत्यय की पुनरुक्ति है। षष्ठी समास से ही उस अर्थ की प्रतीति हो सकती है।

जाम्बवेति तदीयेति वन्येति च तद्धितप्रत्ययस्य पौनरुक्त्यम्। जम्बूपल्लवानीति, तन्मातङ्गेति, वनकरिणामिति च षष्ठीसमासेनैव तद्धितकर्मधारयलक्षणवृत्तिद्वयार्थप्रतीतेः।

जाम्बव, तदीय, वन्य—इनमें तद्धित प्रत्यय पुनरुक्त है। जम्बू पल्लव, तन्मातङ्ग, 'वनकरिणाम्'—इस प्रकार षष्ठी समास द्वारा भी तद्धित और कर्मधारय स्वरूप दोनों वृत्तियों का काम चल सकता है।

यत्र त्वर्थान्तरे तद्धितस्योत्पत्तिर्न तत्र समासात् तत्प्रतीतिरिति न तस्य पौनरुक्त्यम्। यथा—

'अथ भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसुः'। इति।

अत्र ह्यपत्यार्थे तद्धितोत्पत्तिर्नेदमर्थ इति।

जहाँ (कहीं) दूसरे अर्थों में तद्धित का प्रयोग होता है वहाँ समास से उसकी प्रतीति नहीं होती, इसलिये वह पुनरुक्त नहीं होता। जैसे—

जीव-जन्तु—सब वार्त्रघ्न (वृत्र एक असुर, उसका = घ्न = मारने वाला = वृत्रघ्न, वार्त्रघ्न = वृत्रघ्न का पुत्र, उस) के बाणों से भयभीत हो गये। यहाँ तद्धित अपत्यार्थक है, इदमर्थ (किसी के सम्बन्धी के अर्थ) में नहीं। (अतः यहाँ पुनरुक्ति नहीं है)

वार्त्रघ्नेति वृत्रघ्न इन्द्रस्यापत्यमत्र विवक्षितं, नेदमर्थं इति नात्र तद्धितस्य पौनरुक्त्यम्।

वार्त्रघ्न—यहाँ वृत्रघ्न = इन्द्र का अपत्य विवक्षित है। न कि इदमर्थ (तस्येदम् आदि द्वारा प्रतिपादित)। अतः यहाँ तद्धित की पुनरुक्ति नहीं हुई।

उभयविषयं यथा—

'छायामपास्य महतीमपि वर्तमानामागामिनीं जगृहिरे जनतास्तरूणाम्' अत्र हि समूहार्थायाः प्रकृतेर्बहुवचनस्य चोभयोः पौनरुक्त्यम्।

उभयविषयक यथा—

'उपस्थित (सामने की) विशाल छाया को भी छोड़कर जनताओं ने आगामी छाया को अपनाया'। यहाँ (जनशब्द से) समूहार्थक प्रकृति (जनता शब्द) और उससे आया बहुवचन दोनों ही पुनरुक्त है।

समूहार्थाया इति। 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्य' इति (४-२-७) समूहे तल्प्रत्ययः। अत्र जनशब्देनैव समूहार्थप्रतीतेस्तल्प्रत्ययरूपायाः प्रकृतेर्बहुवचनस्य प्रत्ययस्य च पौनरुक्त्यम्।

समूहार्थ—ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यः इस सूत्र से तल् प्रत्यय हुआ। यहाँ केवल जन शब्द से ही समूहार्थ की प्रतीति हो सकती है, इसलिए तल प्रत्ययरूप प्रकृति और उससे भी आए बहुवचन-वाचक प्रत्यय पुनरुक्त हैं।

विमर्श: तल् प्रत्यय का विधायक सूत्र—इस प्रकार है—'ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्'। उसमें सहायशब्द नहीं है, जैसा कि व्याख्या में मुद्रित है। सहाय शब्द इसी सूत्र के वार्तिक में है—'गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम्' में।

पदविषयं यथा—

'दलत्कन्दलभाग् भूमिस्सलम्बाम्बुदम्बरम्।
वाप्यः फुल्लाम्बुजयुजो जाता दृष्टेर्विषं मम॥' इति।

अत्र हि भजिः सहशब्दो युजिश्च पुनरुक्तार्थः, पूर्ववद् बहुव्रीहिसमासाश्रयणेनैव तदर्थावगतेः।

पदविषयक पौनरुक्त्य जैसे—

'खिलते कन्दलों वाली भूमि' नीचे उतरे मेघों सहित आकाश, खिले कमलों से युक्त तलैयाँ—मेरी दृष्टि के लिये जहर बन गईं। यहाँ—(वाली सहित, युक्त ये) भज् सहशब्द और युज् धातु के अर्थ पुनरुक्त हैं। पहले के समान बहुव्रीहि द्वारा ही उनके अर्थ का ज्ञान हो सकता है।

पूर्ववदिति दलत्कन्दलेति लम्बाम्बुदमिति फुल्लाम्बुजा इति च बहुव्रीहिणैव भजत्यर्थादीनां प्रतीतेः पुनरुक्तत्वम्।

पूर्ववत्—दलत्कन्दला, लम्बाम्बुदम्, फुल्लाम्बुजा—इस प्रकार बहुव्रीहि द्वारा ही भज् आदि के अर्थ की प्रतीति हो सकती है। अतः वे पुनरुक्त हुए।

विमर्श—यहाँ पूर्ववत् द्वारा 'विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः' और 'त्वगुत्तरासङ्गवतीम्'—की ओर निर्देश है, जिन्हें ग्रन्थकार ने अभी-अभी उपस्थित किया है।

यत्र च विशेषणाद् विशेष्यमात्रप्रतिपत्तिरिष्यते तत्र तदुक्तेः पौनरुक्त्यं यथा—'पायात् स शीतकिरणाभरणो भवो वः' इत्यत्र भवशब्दस्य। यथा वा—

'चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम्।'

इत्यत्र नागेन्द्रेन्द्रवाहनशब्दयोरेकतरस्य।

और जहाँ विशेषण से विशेष्यमात्र की प्रतीति अभीष्ट हो वहाँ उस (विशेष्य) का कथन पुनरुक्त होता है। जैसे—

शीतल किरणों वाले का मुकुट पहने वे शंकर आप की रक्षा करें। यहाँ भव (शंकर) शब्द का (कथन)। और जैसे—'सुन्दर चमरु चर्म से चमचमाते कुथ (झूल) से इन्द्र के वाहन गजराज के समान।' यहाँ नागेन्द्र और इन्द्रवाहन शब्दों में से किसी एक का कथन।

विशेष्यमात्रेति विशेष्यस्याविशिष्टविशेष्यरूपतया विशिष्टविशेष्यरूपतया वा प्रतीतिः। तत्र विशिष्टविशेष्यरूपतया प्रतीतौ तत्र विशेषणमात्रादेव विशेष्यस्यैव प्रतीतिः तत्र विशेष्यप्रयोगो न दुष्यति यथा 'तव प्रसादादि'त्यत्र वक्ष्यते।

भावशब्दस्येति शीतकिरणाभरण इत्यनेनैव प्रतीतत्वाद् भावार्थस्य, यथा 'निधानगर्भामिव सागराम्बराम्' इत्यत्र सागराम्बराशब्देन मेदिन्याः।

चमूरुर्मृगविशेषः। कुथः वर्णकम्बलः। एकतरस्येति इन्द्रवाहनशब्दप्रयोगे कुथसामर्थ्यान्नागेन्द्रप्रतीतिर्नागेन्द्रशब्दप्रयोगे च शुक्लवर्णस्य वर्णितत्वाद् इन्द्रवाहनप्रतीतिरित्येकतरस्यैव प्रयोगो न्याय्यः।

विशेष्यमात्र—विशेष्य की प्रतीति या तो अविशिष्ट रूप से होती है, या विशिष्ट रूप से। उनमें से विशिष्ट विशेष की प्रतीति में विशेषण का प्रयोग सदोष नहीं होता, यदि विशेषण से विशेष्य की प्रतीति सामान्यतः हो रही हो। जैसे—'तव प्रसादात्००' पद्य में बतलाएँगे।

भवशब्दस्य—शीतकिरणाभरण कहने भर से भवरूपी अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इसलिये भव शब्द का देना पुनरुक्त है, जैसे—'निधानगर्भामिव सागराम्बराम्'—में सागराम्बरा शब्द से मेदिनी की।

चमूरु—एक तरह का मृग।

कुथ—कई रंग का कम्बल, हिन्दी में जिसे झूल कहते हैं।

एकतरस्य—इन्द्रवाहन शब्द के प्रयोग में कुथ शब्द के आधार पर नागेन्द्र की प्रतीति हो जाती है और नागेन्द्र शब्द के प्रयोग में शुक्लवर्ण के वर्णन से इन्द्रवाहन की प्रतीति, अतः किसी एक का प्रयोग ठीक था।

यत्र तदित्यादिना विशिष्टविशेष्यरूपतया विशेष्यप्रतिपत्तिमुदाहरति।

(अब आगे) 'यत्र तद्'—इत्यादि ग्रन्थ द्वारा विशिष्टविशेष्य रूप से विशेष्य की प्रतीति का उदाहरण देते हैं।

यत्र तद्विशेषप्रतिपत्तिर्न तत्र पौनरुक्त्यम्—

'तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।

कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये॥' इति।

अत्र हरशब्दस्येति वक्ष्यते।

जहाँ—उसकी प्रतीति विशेष रूप से हो रही हो वहाँ पुनरुक्ति नहीं होती।

जैसे—तवप्रसादात्००० इत्यादि।

यहाँ हर शब्द का (कथन दोषावह नहीं) ऐसा आगे कहेंगे।

तद्विशेषः विशेष्यगतो विशेषः।

हरशब्दस्येति पिनाकपाणिशब्देन हरगतो विशेषः प्रतिपाद्यते यः सर्वोत्कर्षहेतुत्वेन विवक्षितो न संज्ञिमात्रमित्यर्थः।

तद्विशेषः—विशेष्यगत विशेष।

हरशब्दस्येति—पिनाकपाणिपद से हर की विशेषता का प्रतिपादन किया जा रहा है जिसे (विशेषता को) सबसे उत्कृष्ट होने के कारण रूप से कहना अभीष्ट है। केवल संज्ञी (शिव) का प्रतिपादन यहाँ अभीष्ट नहीं है।

अथ यथात्रैव 'तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपी'त्यत्र विशेष्योपादानमन्तरेणाप्युभयार्थप्रतिपत्तिस्तद्वदत्रापि भविष्यतीति तदयुक्तम्। उत्तमपुरुषेणैवास्मदर्थस्य विशेष्यस्य प्रतिपादितत्वात् तदनुपादानासिद्धेः।

(शंका)—जैसे—यहाँ 'तवप्रसादात् कुसुमायुधोऽपि' में विशेष्य का कथन किए विना भी दोनों अर्थों का ज्ञान हो जाता है—उसी प्रकार यहाँ (पिनाकपाणि में) भी होगा।'—(उत्तर)—ऐसा कहना ठीक नहीं है। उत्तम पुरुष द्वारा ही उसका (अस्मद् शब्दार्थ रूपी) विशेष्य बतला दिया गया है, अतः 'उसका उपादान नहीं किया है'—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

विशेष्योपादानमन्तरेणापीति। कुसुमायुधशब्दोऽपि हि विशेषणमपि विशेष्यमप्यवगमयत्यव्यभिचारात्। न तु तस्य पृथक्प्रयोगः। अत्रापीति पिनाकपाणेरित्यत्र। लिङुत्तमपुरुषेणैवेति 'अस्मद्युत्तमः' (१-४-१०७) इत्यत्र हि स्थानिन्यपीत्यनुवर्तनादप्रयुक्तेऽप्यस्मच्छब्दे तदर्थसम्भवे उत्तमपुरुषो भवत्येव। तदनुपादानं विशेष्यानुपादानम्।

विशेष्योपादान—कुसुमायुध शब्द भी विशेषण होते हुए—विशेष्य को भी अवगत करा देता है। (विशेष्य से) अलग न रहने के कारण उसका अलग से प्रयोग नहीं भी हुआ है।

अत्रापि—पिनाकपाणि में भी (हर की जरूरत न होगी) लिङ्लकार के उत्तम पुरुष 'कुर्याम्' द्वारा ही। 'अस्मद्युत्तमः' में स्थानिन्यपि का अनुवर्तन होता है, अतः अस्मद् शब्द का प्रयोग न होने पर भी उसका अर्थ निकल आता है, इसलिये उत्तम पुरुष आ ही जाता है।

तदनुपादान—विशेष्य का अनुपादन (कुसुमायुध में विशेष्य (काम) का अनुपादान)।

यथा च—

'निर्याय विद्याथ दिनादिरम्याद् विम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे॥' इति।

अत्र हि महर्षिमुखार्कविम्बयोर्विद्यादीप्त्योः पार्थाननपद्मयोश्चोपमानोपमेयभावावगतिरेकस्यैवेवशब्दस्य व्यापारः। तथा हि महर्षिमुखाद् विद्या निर्याय पार्थाननमभिपेदे अर्कविम्बादिव दीप्तिः पद्ममिति। एवं पदार्थसमन्वये सति सर्वेषामुपमानोपमेयभावोऽभिमतः सिद्ध्यत्येवेति यत् तत्रान्येषां साम्याभिधायिनामुपादानं तत् पुनरुक्तमेव अन्यथा विद्या दीप्तिरिवेति तृतीय-

स्यापीवशब्दस्य प्रयोगः प्रसज्येतेति 'स्फुरत्पद्ममभिप्रपेदे' इत्यत्र युक्तः पाठः। यथा वा—

'दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव रेखा।
पुपोष लावण्यमयान् विशेषान् ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि॥' इति।

और जैसे—

विद्या, महर्षि के सूर्य विम्ब के समान प्रभातरम्य मुख से निकल कर खिल रहे कमल तक चिनगारी जैसी दीप्ति के समान अर्जुन के मुख तक पहुँची।'

यहाँ केवल एक ही इव शब्द महर्षि मुख और अर्कबिम्ब, विद्या और दीप्ति, पार्थानव और पद्म के उपमानोपमेयभाव का ज्ञान करा सकता है [यदि ऐसी वाक्य योजना हो] 'महर्षि के मुख से निकल कर विद्या पार्थ के मुख तक पहुँची, जैसे सूर्य विम्ब से निकल कर प्रकाश-पद्म तक' [पहुँचता है]। इस प्रकार पदार्थों का समन्वय हो जाने पर सबका उपनानोपमेयभाव जो कि अभीष्ट है, सिद्ध हो ही जाता है, इसलिये वहाँ जो अन्य (द्वितीय) उपमावाचकों (वाचक पद) का उपादान है, वह पुनरुक्ति ही है (ऐसे तो) विद्या दीप्ति के समान—इस प्रकार तीसरे इव शब्द का भी प्रयोग अपेक्षित हो जाएगा' इसलिये—स्फुरत्पद्ममभिप्रपेदे' पाठ चाहिये। और जैसे—

'नवोदित चन्द्रलेखा के समान प्रतिदिन बड़ी होती जा रही उस (पार्वती) ने चाँदनी में छिपे अन्य कला भागों के समान लावण्य में डूबे अंगों को परिपुष्ट किया'—यहाँ।

अन्येषामिति। बहुवचनादीदृक्षु स्थानेष्वेकेनैवेवशब्देन गतार्थत्वाद् अन्येषां प्रयोगो विफल इत्यभिप्रायः। तृतीयस्यापीति वाक्यार्थौपम्यविवक्षायामेक एवेवशब्दः प्रयोक्तव्यः। पदार्थौपम्यविवक्षणे तु यावन्तो विशेष्यभूताः पदार्थास्तावन्त इवशब्दाः प्रयोक्तव्याः। न त्वर्धजरतीयं कार्यमित्यर्थः। एतच्चाभ्युपगमवादेनोक्तम्। न तु सम्भवन्त्यां वाक्यार्थोपमायां पदार्थोपमाः कार्या इत्यस्य पक्षः। तथा च दिनेदिने इत्यादिना दूषयिष्यति।

दिने दिने इति। अत्र चान्द्रमस्या लेखायाः पार्वत्युपमानं, विशेषाणां तु कलान्तराणि। विशेषाणां च लावण्यमयानिति विशेषणम्। तत्स्थानीयं कलान्तराणां ज्योत्स्नान्तराणीति। ज्योत्स्नान्तरे येषामिति हि व्याख्या। 'दिनेदिने' इत्यादि पार्वतीन्दुलेखयोः साधारणो धर्मः। न तु कलान्तराणि कर्तृणि ज्योत्स्नान्तराणि पुष्णातीति साध्वी व्याख्या वचनभेदादिदोषप्रसङ्गात्। अत्र चान्द्रमसीव लेखा कलान्तराणि पुष्णातीत्येकेनैवेवशब्देन गतार्थत्वे द्वितीयस्येवशब्दस्य पौनरुक्त्यम्।

अन्येषाम्००—इसमें बहुवचन होने से बात यह आई कि ऐसे स्थलों में एक ही इव शब्द द्वारा काम चल जाता है, इसलिये दूसरों का प्रयोग व्यर्थ होता है।

तृतीयस्यापि—वाक्यार्थ की उपमा की विवक्षा होने पर एक ही इव शब्द प्रयुक्त किया जाना चाहिये। जहाँ पदार्थगत उपमा की विवक्षा हो वहाँ जितने विशेष्यभूत पदार्थ हों उतने ही इव शब्द प्रयुक्त किये जाने चाहिये। अर्धजरतीय (पहले व्याख्यात) काम ठीक नहीं। यह अभ्युपगमवाद द्वारा (मानने भर के आधार पर) कहा। इनका पक्ष तो यह है कि जहाँ वाक्यार्थोपमा हो सकती है वहाँ पदार्थोपमा नहीं की जानी चाहिये। उसी से 'दिने-दिने' पर दोष दिखलावेंगे।

दिने-दिने—यहाँ चन्द्रलेखा का उपमान है पार्वती, अंगों के हैं कला भाग। विशेष (अंग के पर्याय) का विशेषण है—'लावण्यमयानि' उसके स्थान पर कलान्तर का विशेषण है—ज्योत्स्नान्तर जिसकी व्याख्या है—'ज्योत्स्ना है अन्दर जिसके'। 'दिने-दिने' (दिन-दिन बढ़ना) आदि पार्वती

और चन्द्र लेखा का साधारण धर्म है। इसे कला भागों को कर्ता मान कर वे ज्योत्स्ना को पुष्ट करते हैं—ऐसी व्याख्या ठीक नहीं। इसमें वचन भेद (पुष्णन्ति की जगह पुष्णाति का प्रयोग) आदि दोष आते हैं। यहाँ—'जैसे चन्द्र लेखा दूसरी कलाओं को पुष्ट करती है'—इस प्रकार एक ही (इव) शब्द से बात निकल आने पर भी जो द्वितीय इव-शब्द दिया गया है वह पुनरुक्त है।

विमर्श—व्याख्यान में 'अत्र चान्द्रमस्या लेखायाः पार्वत्युपमानम्'—ऐसा छपा है। हमने उसी के अनुसार उसका अनुवाद कर दिया है। वस्तुतः पार्वती उपमेय है उपमान नहीं। मालूम पड़ता है यह भूल लेखक की है। क्योंकि 'विशेषणानां कलान्तराणि उपमानम्'—इस प्रकार जो वाक्य बनता है उसकी समकक्षता में पार्वत्याः चान्द्रमसी लेखा उपमानम्, यह पूर्व वाक्य चाहिये तभी चन्द्रलेखा उपमान, पार्वती उपमेय, कलान्तर उपमान और विशेष (अंग) उपमेय वन सकते हैं। कुछ लोग कलान्तर को कर्ता मानते और ज्योत्स्नान्तर को उसका कर्म मानते हैं। उनके अनुसार व्याख्या करने में पुपोष इस एकवचनान्त क्रियापद को बदल कर 'पुष्णन्ति' इस प्रकार बहुवचनान्त क्रिया पद बनाना पड़ेगा। ऐसा करने पर छन्द दोष भी होगा और पूर्व वाक्य से उत्तर वाक्य की संगति न रहेगी। इत्यादि कई दोष होंगे। मल्लिनाथ ज्योत्स्नान्तर की व्याख्या 'ज्योत्स्नायामन्तर्धानं येषाम् = जो ज्योत्स्ना में डूबे हैं'—ऐसी करते हैं जो अधिक वैदग्ध्यपूर्ण है।

व्याख्यान में 'ज्योत्स्नान्तराणि पुष्णाति'—यह जो वाक्य है इसमें पुष्णाति के स्थान पर 'पुष्णन्ति' पद चाहिए। क्योंकि मूलश्लोक में तो 'पुपोष' पद है। उसका उपमानगतरूप पुष्णन्ति ही हो सकता है। ऐसा मानने पर वचनभेद उपमान और उपमेय में मानना चाहिए। पार्वती में एकवचन है कलान्तराणि में बहुवचन।

यथा च—

'यं समेत्य च ललाटलेखया युक्ततः सपदि शम्भुविभ्रमम्।
चण्डमारुतमिव प्रदीपवच्चेदिपस्य निरवाद् विलोचनम् ॥'

अत्रापि 'दैपमर्चिरिव चण्डमारुतमि'ति युक्तः पाठः।

और जैसे—

आँधी के समान जिससे मिलने पर दीप के समान शिशुपाल का वह नेत्र नष्ट हो गया, जिसे ललाट में रेखा रूप से धारण कर वह शंकर भगवान् का रूप धारण कर सकता था।'

यहाँ—'आँधी से मिलकर दीप की लौ के समान' यह कहना चाहिये।

यं समेत्येति। अत्र यमित्यस्य चण्डमारुत उपमानं, चेदिपस्य च प्रदीपः। तुल्यार्थे वतिः। विलोचनप्रशमनादेव शम्भुविभ्रमत्यागः। अत्र च दत्तेऽपि पाठे कर्मभूतयोरुपमेयोपमानयोर्ललाटलेखयेत्यादिविजातीयपदगर्भितत्वं विकृतपदप्रयोगो वैरस्यं च दुष्परिहरमेव। तेन 'चण्डमारुतनवप्रदीपवद्' इति पाठः श्रेयान्। एवं हि मिशब्दस्थाने नशब्दमात्रकरणेन स्तोकमात्रव्यत्यासेन सौकर्येण दोषपरिहारप्रतीतिः सौन्दर्यं च।

यंसमेत्य—यहाँ 'यम्' इसका उपमान चण्डमारुत है और चेदिपति (शिशुपाल) का दीपक। वति प्रत्यय—तुल्य अर्थ में है। आँख के नष्ट होने से ही शंभुविभ्रम (शिव का आकार धारण करना) समाप्त हुआ। यहाँ सुधार कर दिये गये पाठ में भी कर्म रूप से आए उपमान और उपमेय दोनों के बीच एक बेतुका—'ललाटलेखया'—शब्द आ गया है। इस लिये इस विकृत शब्द का प्रयोग विरसता को पैदा करता है। इसलिये 'चण्डमारुतनवप्रदीपवत्' पाठ अधिक अच्छा हो। इसमें 'मि' शब्द की जगह केवल 'न' शब्द करना पड़ता है, जरा से बदलने से सुख के साथ दोष मिट जाता है और सौन्दर्य भी चला आता है।

विमर्श—टीकाकार ने एक बात 'ललाटलेखया' की कही और दूसरी अपने पाठ की। दोनों में से प्रथम बात तो पते की है। द्वितीय के लिये यदि पाठ बदलना ही हो तो—'चण्डवेगमनिलं प्रदीपवत्' पाठ करना चाहिये। इससे 'यं समेत्य' द्वारा जैसे उपमेय स्वतंत्र रूप से कथित है वैसे ही उसका उपमान चण्डवेगपवन भी कथित हो जाता है। फलतः उपमा के दोनों अंग प्रमुख रूप से सामने आ जाते हैं। समास करने पर उपमान प्रदीप में समा जाता है।

यथा च—

'नवचन्द्रिकाकुसुमकीर्णतमः-कबरीभृतो मलयजार्द्रमिव।
ददृशे ललाटतटहारि हरेर्हरितो मुखस्य हिमरश्मिदलम् ॥'

इत्यत्रापीवशब्दप्रयोगः पुनरुक्तो हारीत्यनेनैव तदभिन्नार्थेन तदर्थस्य प्रतिपादितत्वात्। नचोभयोरभिन्नार्थत्वेऽपि हारीत्यस्य पौनरुक्त्यं युक्तं वक्तुं तस्य यथास्थानमवस्थानादिवशब्दस्य च विपर्ययेण क्रमभेददुष्टत्वादिति 'ददृशे ललाटतटमिन्द्रदिशो वदनस्य हारि हिमरश्मिदलमि'ति वरमत्र पाठो युक्तः। यथा च—

'वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता ॥'

इत्यत्र द्वितीय इवशब्दः पुनरुक्तः। एवं ह्यत्र पाठो युक्तः 'गेयस्य वाङ्मयस्याहो अपर्यन्ता विचित्रता' इति।

जैसे और—

इन्द्र की दिशा (पूर्व) के मुख (आरंभ और चेहरे) का हिमरश्मिदल (चन्द्रबिम्ब और ठण्डी किरणों का समुदाय), जो कि नई चाँदनी के तारों से कहीं-कहीं अंधकार की कबरी (केशपाश) से युक्त था उसके मलयागिर चन्दन से भीगा हुआ सा ललाटतट के समान आकर्षक दिखाई दिया।

यहाँ इव शब्द का प्रयोग पुनरुक्त है। 'हारि'—शब्द से ही उसका अर्थ निकल सकता है। उसका अर्थ उससे अभिन्न है। दोनों अभिन्न हैं तो भी 'हारि' को पुनरुक्त नहीं कहा जा सकता, वह अपने ठीक स्थान पर प्रयुक्त है। इव शब्द ही अपने स्थान पर नहीं है। इसलिए इसमें क्रमभेद दोष है। अतः 'ददृशे—हिमरश्मिदलम्' = 'पूर्वदिशा के मुख का हिमरश्मिदल (चन्द्रबिम्बरूप) आकर्षक ललाटतट दिखाई पड़ा' पाठ अधिक अच्छा होगा।

और जैसे—

स्वरों के समान कुछ ही वर्णों से बने वाङ्मय की संगीत के ही समान बड़ी विचित्रता है। यहाँ दूसरा इव (समान) शब्द पुनरुक्त है—ऐसा पाठ यहाँ ठीक होगा—'गेय और वाङ्मय की विचित्रता का अन्त नहीं।

मलयजार्द्रमिवेति हिमांशुखण्डस्योत्प्रेक्षयत्वेनोपनिबद्धमाकाङ्क्षासन्निधिसामर्थ्याल्ललाटतटस्य विशेषणं पर्यवस्यतीति कवेरभिप्रायः। वस्तुतस्त्विवशब्दप्रयोगमन्तरेणापीष्टसिद्धेरिवशब्दः पुनरुक्तः। न चन्द्रखण्डस्य मलयजार्द्रत्वोत्प्रेक्षणे प्रयोजनं किञ्चित्। यत्र चैतद्धि विशेषणमुपयुज्यते, तत्रेवशब्दप्रयोगो व्यर्थः।

तदभिन्नार्थेनेति समासे इवार्थगर्भीकरणात्। विपर्ययेणेति ललाटतटनिकटे प्रयोगार्हत्वात्। वरमिति इवशब्दस्य भिन्नक्रमत्वापरिहारादनवक्लृप्तिः। केवलं हारीत्यस्य समासकरणादिवार्थ-

प्रतीतेरिवशब्दो न पुनरुक्त इति पौनरुक्त्यपरिहारः कृतः। अहो अपर्यन्तेति 'ओद्' (१-१-१५) इति प्रगृह्यसंज्ञा।

मलयजार्द्रे—यह उत्प्रेक्षा द्वारा हिमांशुखण्ड के लिए आया है, तो भी आकांक्षा और सन्निधि के बल पर ललाटतट का विशेषण बन जाता है। यह है कवि का अभिप्राय। वस्तुतः इव शब्द का बिलकुल प्रयोग न होने पर भी बात बन सकती है इसलिए इव शब्द पुनरुक्त है। चन्द्रखण्ड की मलयजार्द्र रूप से उत्प्रेक्षा करने का कोई मतलब नहीं। जहाँ इस विशेषण की उपयोगिता है वहाँ इव शब्द का प्रयोग अपेक्षित नहीं।

तदभिन्नार्थत्वेन—समास में इवशब्दार्थ आ जाने से।

विपर्ययेण—अर्थात् उस (इव) का प्रयोग ललाटतट के पास चाहिए था।

वरम्—अर्थात् इव शब्द की भिन्नक्रमता (क्रमभेद दोष) का परिहार न होने से उसे सर्वथा बदलना पड़ा। केवल 'हारि'—यहीं समास करने से इवशब्द का अर्थ बतला देता है, इसलिए इवशब्द पुनरुक्त है, अतः पौनरुक्त्य का परिहार किया।

अहो अपर्यन्ता = यहाँ 'ओद्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा होने के कारण पूर्वसवर्ण नहीं हुआ।

उपमारूपकेत्यादिना—

'अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणान्तरम्।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवद्॥' [वक्रोक्तिजीविते १।३५]

इति वक्रोक्तिजीवितकृतोक्तमलङ्कारपृष्ठपातिनमलङ्कारं दूषयति।

उपमारूपकेत्यादि—ग्रन्थ द्वारा अब ग्रन्थकार—वक्रोक्तिजीवितकार के—'जहाँ कविलोग असंतोष के कारण एक अलंकार में दूसरा अलंकार जोड़ते हैं, जैसे हार आदि में मणि आदि।'—इस प्रकार प्रतिपादित 'अलंकारों के पीछे अलंकारों के प्रयोग' को दूषित ठहराते है—

एवमुपमारूपकेऽपि इवशब्दप्रयोगः पुनरुक्तोऽवगन्तव्यः। यथा—'निर्मोकमुक्तिमिव गगनोरगस्य लीलाललाटिकामिव त्रिविष्टपविटस्य' इति। यथा च 'शातः श्यामालतायाः परशुरिव तमोऽरण्यवह्नेरिवार्चि'रिति। अत्र हि रूपकस्योपनिबन्धः श्रेयान्, नोपमायाः, तस्यास्तन्मुखेनैव प्रतीतिसिद्धेः। न ह्यसति सादृश्ये कश्चित् स्वस्थधीरतस्मिंस्तत्त्वमारोपयति। यथा—

'आलानं जयलक्षणस्य करिणः सेतुर्विपद्वारिधेः
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः।
सङ्ग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन्! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः॥' इति।

इसी प्रकार उपमारूपक में इव शब्द का प्रयोग पुनरुक्त जानना चाहिए।

उदाहरणार्थः—आकाश रूपी साँप की छूटी हुई सी केंचुल, स्वर्गरूपी विट की लीलाललाटिका (ललाट-भूषण) सी। और जैसे—

'श्यामालता का छेदक फरसा सा, अंधकाररूपी जंगल के लिये अग्नि की ज्वाला सी।' यहाँ रूपक का प्रयोग ठीक है, उपमा का नहीं, उस (उपमा) की प्रतीति उसी (रूपक) के द्वारा हो जाती है। ऐसा नहीं है कि सादृश्य न होने पर भी सही दिमाग का कोई भलामानस किसी का किसी पर आरोप कर दे।

जैसे—राजन् शत्रु वीरों की स्त्रियों को विधवा करने वाली आपकी भुजा विजयरूपी हाथी के लिये आलान (हाथी का खूँटा) मालूम पड़ती है, विपत्तिरूपी समुद्र के लिये सेतु, तलवाररूपी प्रखर सूर्य के लिये उदयाचल, लक्ष्मी के लिये लीलोपधान (सुन्दर तकिया) और संग्रामरूपी अमृतसागर को मथने के खेल के लिये—'मन्दराचल।'

निर्मोकमुक्तिमिवेति अत्रोपमारूपकत्वं परप्रसिद्धयोक्तम्। न त्विदमुपमारूपकम्। उत्प्रेक्षारूपकं तु स्यात्, निर्मोकमुक्तेस्सम्भाव्यमानत्वेन प्रतीतेः तथा हि निर्मोकानुगुण्यात् तावद् गगनस्योरगेण रूपणम्। निर्व्यूढे च रूपके निर्मोकमुक्तिर्न ताटस्थ्येन प्रतीयते किन्तु गगनोरगसम्बन्धित्वेन। गगनोरगसम्बन्धित्वेन च प्रतीतौ न सादृश्यम् अपि त्वध्यवसायः। तस्य च प्रवर्त्तमानत्वमित्युत्प्रेक्षैव ज्यायसी प्रतीतौ। अतश्चैवेदं मुक्तिपदं कृतम्। अन्यथा शुद्धसादृश्यप्रतिपादने धर्म्यंव विशिष्टो निर्मोक उपमानत्वेन निर्देश्यः स्यात्। भिन्नलिङ्गयोरुपमाया दुष्टत्वान्न निर्दिष्ट इति चेन्न, साधारणधर्मस्यानिर्देशे निर्दिष्टस्यापि वा द्वैरूप्याभावे भिन्नलिङ्गसङ्ख्ययोरपि 'स्त्रीव गच्छति षण्ढोऽय'मित्यादौ 'हन्त! वहन्ति दोष इव नृपतीनां गुणान् इह(स्हैव ?) दुर्विनयम्' इत्यादौ चोपमानोपमेयभावस्येष्टत्वात्। तस्मादुपमायां निर्मोक इवेति स्यात्। उत्प्रेक्षायां क्रियामात्रोत्प्रेक्षणमुपपद्यत इत्युत्प्रेक्षारूपकमेतत्परमार्थतः। एतदस्माभिर्हर्षचरितवार्तिके विस्तृत्य प्रतिपादितं तत एवावसेयम्।

एवं परशुरिवेत्यादौ वाच्यम्। 'तमोरण्यवह्वरिवार्चि'रिति। अत्र तमसोऽरण्येन रूपणे वह्निरर्चिस्सम्बन्धितया विवक्षितः समासे निवेशनीयः यतो न कश्चिदत्र निर्दिष्टो यो वह्निना रूप्येत। तस्मात् तमोरण्यस्य वह्न्यर्चिरिति वक्तव्यम् इत्यत्र वाच्यावचनं दोषः।

आलानमिति सत्येव सादृश्ये आरोप्यारोपकभावस्य निदर्शनम्।

निर्मोकमुक्तिरिव—यहाँ उपमारूपक—केवल प्रसिद्धि के कारण बतलाया गया है, वस्तुतः बतलाना चाहिये उत्प्रेक्षारूपक, कारण कि निर्मोकमुक्ति की प्रतीति सम्भाव्यमान रूप से मान्य है। उसी प्रकार निर्मोक के अनुरोध से गगन पर साँप का आरोप किया गया है। रूपक बन जाने पर निर्मोकमुक्ति तटस्थरूप से (स्वतंत्र रूप से) प्रतीत नहीं होती, अपितु गगनोरगसंबन्धपूर्वक ही प्रतीत होती है। और—गगनोरगसंबन्धपूर्वक प्रतीत होने में सादृश्य नहीं अपितु अध्यवसाय होता है। वही प्रवर्तमान है। इसलिये प्रतीति में तो उत्प्रेक्षा ही प्रबल है। इसलिये मुक्तिपद भी दिया गया। शुद्ध सादृश्य का प्रतिपादन करना होता तो विशिष्ट धर्मी = निर्मोक ही उपमान रूप से कहा गया होता—यदि यह कहा जाय कि जिनमें लिङ्ग भिन्न होते हैं उनमें उपमा दोषावह होती है तो भी ठीक नहीं, 'साधारण धर्मी का निर्देश न होने पर, अथवा निर्देश होने पर भी भिन्नरूपता न हो तो लिङ्ग संख्या में भेद रहने पर भी 'यह—नपुंसक स्त्री के समान चलता है—इत्यादि में' कैसी मजे की बात है कि राजाओं के दोष उनके गुणों के समान ही—दुर्विनय को समाप्त कर देते हैं (?) इत्यादि के समान—उपमानोपमेयभाव माना ही जाता। इसलिए उपमा होने पर तो केवल 'निर्मोक इव' यही पाठ होता। उत्प्रेक्षा में केवल क्रिया की सम्भावना की जा रही है अतः वस्तुतः यह उत्प्रेक्षारूपक है। इसे हमने हर्षचरितवार्तिक में विस्तारपूर्वक समझाया है, उसे वहीं से देख लेना चाहिये। इसी प्रकार परशुरिव इत्यादि में समझना चाहिये।

तमोऽरण्यवह्नेः—में तम को अरण्य रूप से उपस्थित कर वह्नि को अर्चि से संबन्धित दिखलाना चाहा है, अतः उसे समास में ('वह्न्यर्चिः'—इस प्रकार) दिखलाया जाना चाहिये, कारण कि ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं दिया गया है जो वह्निरूप से उपस्थित किया जाय।

इसलिये 'तमोऽरण्यस्य वह्नयर्चिः'—इस प्रकार कहना चाहिये। (ऐसा नहीं कहा) इसलिये वाच्यावचनदोष हुआ।

आलानम्—यह सादृश्य होने पर ही आरोप्य—आरोपकभाव होने का उदाहरण है।

यथा च—

'अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥' इति।

अत्र हि चुम्बतीवेत्यत्रेवशब्दः पुनरुक्तः चुम्बतेर्मुख्यार्थबाधे सति तत्सदृशार्थप्रतीतेस्सामर्थ्यसिद्धत्वोपपादनादिति।

एवम्

'स्मरहुताशनमुर्मुरचूर्णतां दधुरिवाम्रवणस्य रजःकणाः।
निपतिताः परितः पथिकव्रजानुपरि ते परितेपुरतो भृशम्॥'
इत्यत्रापि वेदितव्यम्।

और जैसे—

'उंगलियों से केशपाशके के समान किरणों से अंधेरे को बटोर कर, चन्द्रमा मुँदेकमल रूपी आँखों से युक्त निशामुख (निशा—नायिका का मुँह और रात्रि का आरंभ) को चूम सा रहा है।' यहाँ—'चुम्बतीव' में इव शब्द पुनरुक्त है। चुम्बन क्रिया के मुख्यार्थ का बाध हो जाने पर उसके समान अर्थ का ज्ञान उसी की शक्ति से हो जाता है—ऐसा पहले बतलाया जा चुका है। इसी प्रकार—'अमराई की (पुष्प) धूलि मानों कामाग्नि के अंगारों का चूरा बन गई थी इसीलिए (उसके) चारों ओर पथिकों पर झड़ने से वे दुःखी हुए।' यहाँ भी जानना चाहिये।

चुम्बती-ति। अत्रोत्प्रेक्षार्थे प्रयुक्तस्येवशब्दस्य लक्षणासमर्थितेनार्थेन कृतार्थत्वात् पुनरुक्तत्वम्। अत्र चोपमारूपकाभिमते।

एवंविधे च प्रदेशे ग्रन्थकारो हेवाकितयैव दूषणमदात्। तथा च शब्दार्थयोर्विच्छित्तिरलङ्कारः। विच्छित्तिश्च कविप्रतिभोल्लासरूपत्वात् कविप्रतिभोल्लासस्य चानन्त्यादनन्तत्वं भजमाना न परिच्छेत्तुं शक्यते। अत एवोक्तं ध्वनिकृता—

'वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव॥' [ध्वन्यालोके-४] इति।

अन्यत्राप्युक्तम्—'अज्जवि अभिण्णमुद्दो पजअइ वाआ परिप्फन्दो'। इति।
(अद्याप्यभिन्नमुद्रः प्रजयति वाण्याः परिस्पन्दः।)

एवञ्च यदि विच्छित्त्यन्तरापेक्षया तस्य विच्छित्त्यन्तरस्य पौनरुक्त्यं तदोपमाया रूपकाद्यपेक्षया पौनरुक्त्यं स्यात्। उपमापेक्षया हि रूपकमतिशयोक्तिर्वा बलीयसी। न चैवं प्रयुज्यते, विवक्षाया नानात्वात्। तथा हि क्वचित् सादृश्यमात्रं विवक्षितम्। तत्रापि क्वचिदभेदः। तस्मिन्नपि क्वचिदारोपः। क्वचिदध्यवसायः। अध्यवसायेऽपि क्वचित् साध्यत्वं क्वचित् सिद्धत्वमित्यादिक्रमेणानन्तप्रकारं विच्छित्तिवैचित्र्यम्। तत्रापि संयोजनक्रमेण नवं विच्छित्तिवैचित्र्यमनुभूयमानमाश्रितं च महाकविभिः कथं संक्षेपरुचित्वेनोपद्रूयते। न हीदं वाक्यं लक्षणशास्त्रं, येन मात्रालाघवं चिन्त्यते। तत्रापि वा न नियमेन लाघवमाश्रितं महद्भिः। तथा हि वाग्रहणस्य स्थानेऽन्यतरस्यां ग्रहणमपि कृतम्। विच्छित्तिवैचित्र्यं तैरप्याश्रितमेव। तदुक्तं 'विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः' इति। एवञ्चात्र कृतेऽपि रूपके

उत्प्रेक्षादिनिबन्धः कमपि गुणमुत्कर्षयति न दोषमिति सहृदयैर्निपुणं निरूपणीयम्। ननु हेवाकस्य पश्चाल्लगनीयमित्यास्तां तावत्। प्रकृतमनुसरामः।

मुर्मुरः अङ्गारः। आम्रवणमिति 'प्रनिरन्त' (८. ४. ५) रिति णत्वम्। पथिकव्रजान् परित इति। परितः शब्दयोगे 'अभितः परितः समया निकषा' इति द्वितीया। अत्र दधुरिवेति 'इव'-शब्दः पुनरुक्त एव, वस्त्वन्तरभूतानां रजःकणानां वस्त्वन्तरभूतमुर्मुरचूर्णत्वधारणेन सुष्ठुसादृश्यप्रतीतेः। एवं—

'तत् पातु वः श्रीपतिनाभिपद्मं स्वाध्यायशाला कमलासनस्य।
दीर्घैर्निनादैर्दधतेऽनुकारं सामध्वनीनामिव यत्र भृङ्गाः॥'

इत्यादावनुकारशब्दप्रयोगे इवादिशब्दप्रयोगस्य पौनरुक्त्यमवसेयम्।

चुम्बतीव—यहाँ उत्प्रेक्षा अर्थ में प्रयुक्त इव शब्द का अर्थ—लक्षणा द्वारा उपस्थित किये अर्थ से निकल आता है। अतः पुनरुक्त है। यहाँ उपमारूपकरूप से अभिमत उदाहरणों में और ऐसे ही अन्य क्षेत्र में—ग्रन्थकार ने ऐसे ही दोष हठराए हैं, कारण कि—अलंकार है—'शब्द और अर्थ की विच्छित्ति'। और विच्छित्ति अनन्त प्रकार की होती है, कारण कि वह कविप्रतिभोल्लास-स्वरूप होती है और कविप्रतिभा का उल्लास अनन्त प्रकार का होता है। इसलिये उस (अनन्तता को प्राप्त विच्छित्ति) को सीमित नहीं किया जा सकता। इसीलिये ध्वनिकार ने कहा है—'वह हजारों हजार वाचस्पति द्वारा यत्नपूर्वक ग्रन्थ रूप में उपस्थित किये जाने पर भी क्षीण नहीं होती, जैसे हजारों हजार विश्वों में परिणत होने पर भी प्रकृति।' एक दूसरे स्थान पर कहा है—'आज भी जिसकी मोहर नहीं टूटी वह वाणी का परिस्पन्द सबसे उत्कृष्ट है—।' इसलिये यदि एक विच्छित्ति को लेकर दूसरी विच्छित्ति को पुनरुक्त माना जाय तो रूपकादि की अपेक्षा उपमा पुनरुक्त हो जाय। रूपक या अतिशयोक्ति उपमा को लेकर ही होते हैं। कहीं केवल सादृश्य की विवक्षा होती है, उसमें भी कहीं अभेद, उसमें भी कहीं आरोप और कहीं अध्यवसाय। अध्यवसाय में कहीं साध्यता होती है कहीं सिद्धता—इस प्रकार विच्छित्ति के प्रकार अनन्त होते हैं। इतने पर भी महाकवियों ने मिला-मिलाकर अनेक प्रकार के नए नए विच्छित्ति-प्रकार अपनाए हैं, जो अनुभव में आते जा रहे हैं। उन्हें केवल इसलिए कि (आपको) संक्षेप प्यारा है (भला) क्यों विगाड़ा जा रहा है। यह वाक्य (काव्यवाक्य) लक्षण (व्याकरणादि) शास्त्रस्वरूप नहीं हैं, जिसमें—मात्रा तक की बचत पर ध्यान दिया जाय। वहाँ भी (पाणिनि आदि) महर्षियों ने नियमपूर्वक मात्रालाघव का पालन नहीं किया। देखा जाता है—कि ('वा पदान्तस्य' आदि के समान) जहाँ 'वा' शब्द देना पर्याप्त था वहाँ ('जराया जरसन्यतरस्याम्'—आदि में) 'अन्यत-रस्याम्' का ग्रहण किया गया है। विच्छित्ति को उनने अपनाया ही। जैसा कि कहा भी जाता है—कि—'पाणिनि की सूत्ररचना वैचित्र्यपूर्ण है। इस प्रकार इन पद्यों में रूपक करने पर भी उत्प्रेक्षा आदि का पुट एक प्रकार की शोभा को ही बढ़ाता है, दोष को नहीं। इस पर सुहृदयों को जरा गहरे जाकर विचारना चाहिये। न कि हेवाक के पीछे लगना चाहिये। अस्तु, इस चर्चा को यहीं छोड़ें और प्रकृत का अनुसरण करें :

मुर्मुर = अंगारा।

आम्रवण—'प्रनिरन्त' सूत्र० ८।४।५ से (वन के) 'न' को 'ण' हुआ।

पथिकव्रजान्—परितः शब्द के योग में ('अभितःपरितः'…) इत्यादि से द्वितीया। यहाँ 'दधुरिव' इसमें इव शब्द सचमुच पुनरुक्त है। रजःकण दूसरी चीज है और मुर्मुर दूसरी चीज।

इतने पर भी रजःकणों ने मुर्मुरचूर्णत्व धारण किया ऐसा कहने से (रजःकण और मुर्मुरचूर्ण में) सादृश्य की प्रतीति अच्छी तरह हो जाती है। इसी प्रकार—विष्णु का वह नाभिपद्म आपकी रक्षा करे जो ब्रह्मा की स्वाध्यायशाला है, जहाँ भौंरे अपनी ऊँची गुंजार से सामध्वनि का अनुकरण सा करते हैं।'—इत्यादि में अनुकरण शब्द का प्रयोग होने पर भी इव शब्द का प्रयोग (ग्रन्थकार के अनुसार) पुनरुक्त ही समझना चाहिये।

यथा च—

'तृप्तियोगः परेणापि न महिम्ना महीयसाम् ।
पूर्णश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः ॥'

अत्र हि प्रतिवस्त्वलङ्कारान्महार्णवमहीयसामुपमानोपमेयभावमवगम्यमानमवधीर्य यद् दृष्टान्तशब्देन पुनर्महार्णवस्योपमानत्ववचनं तत् पुनरुक्तम् । वाच्यो ह्यर्थो न तथा स्वदते, यथा स एव प्रतीयमानः । अत एवम्—

'सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥'

इत्यत्र प्रभाधेन्वोः 'प्रभेव भानोः सुरभिर्महर्षे'रिति शब्दवाच्यामुपमामनादृत्य कविना पूर्ववद् दीपकमुखेनोपमेयभावो भणितः । एवमलङ्कारान्तरेष्वपि यथायोगमवगन्तव्यम् ।

वाच्यात् प्रतीयमानोऽर्थस्तद्विदां स्वदतेऽधिकम् ।
रूपकादिरतः श्रेयानलङ्कारेषु नोपमा ॥ ३९ ॥
इति सङ्ग्रहश्लोकः ।

और जैसे :—

प्रभूत प्रभुत्व मिलजाने पर भी बड़ों को तृप्ति नहीं मिलती, चन्द्रोदय की आकाङ्क्षा रखने वाला पूर्ण महार्णव इसका उदाहरण है।' यहाँ—प्रतिवस्तु अलंकार द्वारा महार्णव और 'महीयस्' (बड़ों) का उपमानोपमेयभाव समझ में आता है, इतने पर भी उसे छोड़कर जो दृष्टान्त शब्द द्वारा फिर से 'महार्णव' का उपमानभाव बतलाया गया वह पुनरुक्त हुआ। वाच्य अर्थ उतना स्वाद नहीं देता जितना प्रतीयमान देता है।

इसीलिये = 'अपने' भ्रमण से दिगन्तराल को पवित्र कर दिन डूबा—कि घर पहुँचने के लिये पत्तों की ललोई सी लाल-सूर्य की प्रभा ने—लौटना शुरू किया और मुनि की धेनु ने भी। यहाँ कवि ने—प्रभा और धेनु का 'सूर्यप्रभा के समान मुनि की धेनु' इस प्रकार उपमान को शब्दवाच्य नहीं बनाया, प्रत्युत उसकी उपमेयता पहले के समान दीपक द्वारा बतलाई। इस प्रकार अन्य अलंकारों में भी यथायोग समझना चाहिये। वाच्य की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ उसके जानकारों को अधिक अच्छा लगता है। इसलिये अलंकारों में रूपक आदि अधिक अच्छे होते हैं—उपमा नहीं।

प्रतिवस्त्वलङ्कारादिति 'पूर्णः शशाङ्काभ्युदयमाकाङ्क्षति महार्णवः' इति प्रतिवस्तूपमया सादृश्यप्रतीतौ दृष्टान्तशब्दोक्तिर्दुष्टा। नच दृष्टान्तालङ्कारत्वं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तशब्दः। दृष्टान्तशब्दात् दृष्टान्तालङ्कारत्वाप्रतीतेः। न हि षष्ठ्यादिपरिहारेण सम्बन्धिशब्दात् सम्बन्धप्रतीतिः। अदूरविप्रकर्षेण स्वविधानं वस्तुसंस्पर्शि भवतीति।

ननु स्वकण्ठेनाभिधानमपहाय किमिति सादृश्यप्रतीतिराश्रीयत इत्याह वाच्यो ह्यर्थ इति। पूर्ववदिति। पूर्वं यथा 'आलान'मित्यादौ रूपकमुखेनोपमानोपमेयभावः कथितस्तद्वदिह दीपकमुखेनेत्यर्थः। अत्र च द्वयोः प्रभाधेन्वोः प्राकरणिकत्वात् तुल्ययोगितामद्यतना मन्यन्ते। द्वयोरपि प्राकरणिकत्वे महाप्रकरणापेक्षया धेनोः प्रकृष्टं प्राकरणिकत्वं प्रभायास्त्वप्रकृष्टमित्येतदपेक्षया चिरन्तनैर्दीपकमेतत् स्थापितम् तदपेक्षयात्रानेन तद्वाचोयुक्तिः कृता। एवमलङ्कारान्तरेष्वपि समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसादिषु। तत्राप्युपमानोपमेयभावः स्वकण्ठेन नोपनिबन्धनीयः। तथा—

'द्रविणमापदि भूषणमुत्सवे शरणमात्मभये निशि दीपिकाः।
बहुविधार्थ्युपकारभरक्षमो भवति कोऽपि भवानिव सन्मणिः॥'

इत्यत्राप्रस्तुतप्रशंसया भवदर्थस्य सदृशत्वेन प्रतीतेः पुनर्वचनं न कर्त्तव्यमिति वक्ष्यते। अस्माभिश्चैतत्प्रपञ्चो बृहत्यां करिष्यते।

प्रतिवस्त्व—'पूर्णमहार्णव भी चन्द्रोदय को चाहता है' इस प्रतिवस्तूपमा द्वारा सादृश्य की प्रतीति होने पर भी दृष्टान्त शब्द का कथन दोषावह है।—दृष्टान्त शब्द दृष्टान्तालंकार के प्रतिपादनार्थ भी नहीं है। दृष्टान्त शब्द से दृष्टान्तालंकार की प्रतीति नहीं होती। ऐसा नहीं होता कि षष्ठी आदि को छोड़कर 'संबंधी' शब्द से संबन्ध की प्रतीति हो जाय। जो बात पास और जल्दी से कही जाती है वही वस्तु को छूती है।—अपने आप-बात को अभिधा द्वारा न कहकर उपमा द्वारा कहने का क्या अभिप्राय ?—इस पर कहते हैं—वाच्यो हि अर्थः—इत्यादि।

पूर्ववदिति—पहले जैसे रूपक द्वारा उपमानोपमेयभाव बतलाया, उसी प्रकार यहाँ दीपक द्वारा। आज के लोग यहाँ तुल्ययोगिता मानते हैं, कारण कि प्रभा और धेनु दोनों ही प्राकरणिक है। पुराने लोगों ने यहाँ दीपक इसलिये माना है कि सर्ग में आरम्भ से चले प्रकरण (महाप्रकरण) में धेनु ही प्रधान रूप से (प्राकरणिक है) वर्णित है, उसकी अपेक्षा प्रभा की प्राकरणिकता कम है। उन्हीं पुरानों की बात लेकर इस ग्रन्थकार ने भी लिख दिया।

एवमलंकारान्तरेषु—समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा आदि में। वहाँ भी उपमानोपमेयभाव शब्दतः नहीं कहा जाना चाहिये। जैसे:—

'धन आफत में उपकार करता है, उत्सवकाल में आभूषण, अपने ऊपर भय आने पर (किसी की) शरण और रात में दीया, बहुत प्रकार से याचकों का अनेक उपकार करने वाला आप जैसा सज्जनरत्न कोई एक होता है।'

यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा द्वारा भवत्-शब्द के अर्थ (आप) की जो प्रतीति सदृशरूप से होती है—उसे पुनः (इव शब्द द्वारा) नहीं कहना चाहिए था। इसीको आगे कहा जायगा। और हम इसे बृहती में भली भाँति दिखलाएँगे।

विमर्श: वस्तुतः 'द्रविणमापदि०' पद्य में [उपमेयोत्कर्षवाचकपदयुक्त] व्यतिरेकालंकार है, अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं। यहाँ भवत्पदवाच्य (राजा आदि किसी) में अन्य उपकारक पदार्थों की अपेक्षा उच्चता और उससे अन्य उपकारक पदार्थों में निम्नता—बतलाने से चमत्कार होता है। इव पद कहा गया है, पर उपमालंकार के लिए नहीं। कारण कि उपमा का कथन उसके निषेध (न खलु०) करने के लिये है। जिस उपमा का निषेध किया जा रहा है—उसमें द्रविण आदि उपमेय नहीं बनते—अपितु कोऽपि में किंपद से कथित (कोई) पदार्थ उपमेय बनता है, और भवत्पदवाच्य (आप) उपमान। द्रविण आदि को उपमेय न बनने देने के लिये उनकी और

भवत्पदवाच्य (आप) की विशेषताएं उपस्थित की गई हैं। वे आपद् आदि में काम देते हैं। आप अनेक अवसरों पर। इसलिये यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं व्यतिरेक अलंकार है। प्रतीपालंकार में उपमान उपमेय बना दिया जता है। यहाँ भी उपमान (भवान्) उपमेय बना दिया गया है, किन्तु चमत्कार का कारण है उत्कर्ष-अपकर्ष की प्रतीति तथा उपमा का निषेध। इसलिये व्यतिरेक ही प्रधान माना जाना चाहिये। सन्मणि में एकदेशविवर्तिरूपक है। इसलिये अंगाङ्गिभाव संकर माना जाना चाहिये। अलंकारसर्वस्वकार ने अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण में ऐसा ही यह एक पद्य दिया है—

'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामपि प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमरुचिः श्यामेव हेमप्रभा।
कार्कश्यं कलयामि कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव ॥'

इनमें उन्होंने कार्य से कारण की प्रतीतिरूप अप्रस्तुतप्रशंसा मानी है। उनका कथन है कि यहाँ—चन्द्रमा आदि के कज्जललेपरूपी कार्य से सीतासौन्दर्यरूपी कारण, जो कि प्रस्तुत है; उसका अनुमान होता है। अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है। ऐसी ही स्थिति 'द्रविणमापदि' इस पद्य में भी है। किन्तु इस पद्य का कोई प्रसंग ज्ञात नहीं। इसलिये कारण पूछे जाने पर कार्य का कथन मानना निर्मूल है। अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा बनती नहीं।

यथा च—

'शिशिरकालमपास्य गुणोऽस्य नः क इव शीतहरस्य कुचोष्मणः।
इति धियास्तरुषः परिरेभिरे घनमतो नमतोऽनुमतान् प्रियाः ॥'

इत्यत्र धीशब्दोऽत इति च हेत्वर्थः शब्दः पुनरुक्तौ, हेत्वर्थेन इतिनैव तदर्थस्योक्तत्वात्।

यथा 'अश्वेतिविद्रुतमनुद्रवतान्यमश्वमि'ति। तेन वरम् 'इति यतोऽस्तरुष' इति युक्तः पाठः। यथा वा—

'आः किमर्थमिदं चेतः सतामम्भोधिदुर्भरम्।
इति मत्वेव दुर्वेधाः परदुःखैरपूरयत् ॥' इति।

अत्र हि मननार्थः पुनरुक्तः, इतिनैव क्रोधपरामर्शिना तस्यावगमितत्वात्। तेन 'इति क्रुधेव तद्वेधा' इति युक्तः पाठः। एवञ्च वेधसो दुष्टत्वस्यानिबन्धस्यावाच्यस्य यद्वचनं तदपि परिहृतं भवति।

'शिशिरकाल को छोड़कर इस शीतहारी कुचोष्मा का फल ही क्या'—यह सोचकर प्रियाओं का रोष हट गया, इसलिये उन्होंने नमन कर रहे प्रियजनों की अनुमति देकर दृढ़ आलिंगन करना शुरू कर दिया।' यहाँ 'धी' और 'अतः' ये हेतुवाचक शब्द पुनरुक्त हैं। दोनों के अर्थ हेत्वर्थक 'इति' शब्द से ही निकल आते हैं। जैसे—'अश्व था इसलिये—दूसरे अश्व के पीछे दौड़ने वाले'—यहाँ। इसलिये अच्छा तो हो कि 'इति यतोऽस्तरुषः' पाठ कर दिया जाय। और जैसे—'आः सज्जनों का हृदय समुद्र के समाज दुष्पूरणीय क्यों है? यहीं मानकर दुष्ट विधाता ने उसे दूसरे के दुःखों से भर दिया।' यह। यहाँ ('मत्वा' इसका अर्थ) 'मानकर' पुनरुक्त है। क्रोध को बतलाने वाले इति शब्द से ही प्रतीति हो जाती है। इसलिये 'इति क्रुधेव तद्वेधा'—ऐसा पाठ ठीक है। ऐसा करने से विधाता की दुष्टता जिसका कोई कारण नहीं दिया गया अतः जो कहा नहीं जाना चाहिये, उसका कथन (अवाच्यवचन) भी दूर हो जाता है।'

इतिनैवेति इतिशब्दो हेत्वर्थः प्रयुज्यमानः स्वभावतः पूर्ववाक्यार्थस्योच्यमानत्वं बोध्यमानत्वं वा गर्भीकृत्य प्रवर्तते।

वरमिति उक्तदोषद्वयनिवारणमात्रमेतत्। न तु सर्वथा निरवद्यमिदं, यतश्शब्दातश्शब्दयोर्वैयर्थ्यात्।

अनिबन्धनस्येति नहि दुष्पूरणीयपूरकत्वेन दुष्टत्वम्।

इतिनैव इतिशब्द हेत्वर्थक है। उसका प्रयोग होता हैं तो वह स्वभावतः पूर्ववाक्यार्थ की उच्यमानता या बोध्यमानता को अपने भीतर लेकर चलता है।

वरम्—उक्त दोनों दोषों को हटाने के लिए ही कहा गया। वस्तुतः यह सर्वथा निर्दोष नहीं है। इसमें भी 'यतः' और 'अतः' शब्द व्यर्थ हैं।

अनिबन्धन—दुष्पूरणीय को पूर्ण करने में कोई दोष नहीं आता।

अव्यभिचारिणः कारकस्याविशेषणः प्रयोगः पुनरुक्तः। तत्र कर्त्तुर्यथा—

'पतितोत्पतितैः शत्रुशिरोभिः समराङ्गणे।
यः कन्दुकैरिवोच्चण्डः क्रीडन् लोकैर्व्यलोक्यत॥'

इत्यत्र लोकशब्दस्य, विलोकनक्रियायास्तत्कर्तृकत्वाव्यभिचारात्। सविशेषणस्य न तस्य पौनरुक्त्यम्। यथा—

'जनैरजातस्खलनैर्न जातु द्वयेऽप्यमुच्यन्त विनीतमार्गाः॥' इति।

कर्मणो यथा—

'उवाच दूतस्तमचोदितोऽपि गां न ह्रीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति।' इति।

सविशेषणस्य यथा—'शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युत' इति।

करणस्य यथा—

'यदा दृशा कृशाङ्ग्यास्मि दृष्टो, जातं तदैव मे।
प्रजागरगरग्रस्तसमस्तप्रसरं मनः॥' इति।

अस्यैव सविशेषणस्य यथा—

'तं विलोक्य सुरसुन्दरीजनो विस्मयस्तिमिततारया दृशा।' इति।

एवं कारकान्तरेष्वप्यवगन्तव्यम्।

यदि कारण अव्यभिचारी हो तो बिना विशेषण के उसका प्रयोग भी पुनरुक्त होता है। इनमें से कर्त्ता का जैसे—

'जो युद्धाङ्गन में गिरे पड़े शत्रुशिरों से गेंदों से खेलता हुआ सा लोगों द्वारा देखा गया।'

यहाँ 'लोक' शब्द की पुनरुक्ति है। विलोकन क्रिया के प्रति उसका कर्तृत्व निश्चितरूप से रहता ही है। (किन्तु) जब वह (कर्त्ता) विशेषण से युक्त होता है तो पुनरुक्त नहीं होता। जैसे-

'अजातस्खलन (फिसलने से रहित) लोगों द्वारा दोनों ही स्थिति में विनीत मार्ग नहीं छोड़े गए' यहाँ।

कर्म का जैसे —

दूत ने बिना पूछे ही बात कही। जो इशारा समझता है वह मौके पर नहीं चूकता। (किन्तु) सविशेषण होने पर (पुनरुक्त नहीं होता) जैसे—

'श्रीकृष्ण उज्ज्वल मुसकुराहट से युक्त वाणी बोले।' यहाँ—

करण का जैसे—

'उस तन्वी (दुबली) ने जब से मुझे आँख से देखा तभी से मन प्रजागर (निद्रानाश) रूपी विष से सन गया।' (किन्तु)—सविशेषण होने पर (पुनरुक्त नहीं) जैसे—

'अप्सराओं ने आश्चर्य से स्थिर पुतली वाली आँखों से उस (पुरुष) को देखकर...यह।'

इसी प्रकार दूसरे कारकों में समझ लेना चाहिए।

अविशेषण इति विशेषणदानार्थमव्यभिचारिणोऽपि प्रयोगः शस्यत इत्यर्थः तथा चाह वामनः—'विशेषणस्य च' (२।२।१८ का० सू०) इति।

व्यलोक्यतेति विलोकनक्रियैव लोकितारं लोकमाक्षिपतीति लोकशब्दस्य पौनरुक्त्यम्। द्वयेपीऽति प्रस्थानवशान्नीतिवशाच्चाश्रीयन्ते।

गामिति गोशब्दस्य वाक्पर्यायस्य वचनक्रियायामव्यभिचारात् प्रयोगो न कार्यः।

दृष्ट इति दर्शनक्रियाया दृगेव करणत्वेनाक्षिप्तेति दृक्शब्दः पुनरुक्तः कारकान्तरेष्वपीति यथा 'स्थाने तिष्ठती' त्यत्राधिकरणस्य पौनरुक्त्यम्। विविक्ते स्थाने तिष्ठतीति तु विशेषणार्थं प्रयोगो न दुष्टः।

अविशेषण—विशेषण देने के लिए जो अव्यभिचारी होता है उसका प्रयोग भी अच्छा माना जाता है। जैसा कि वामन ने कहा है—विशेषणस्य च (का० सू० २।२।१८)

व्यलोक्यत—विलोकन (देखना) एक क्रिया है वह लोकन (दर्शन) करने वाले कर्त्ता का आक्षेप कर लेती है, इसलिए लोक शब्द पुनरुक्त है।

द्वयेऽपि—प्रस्थान के कारण और नीति के कारण।

गाम—गो शब्द वाणी का पर्यायवाची है। उसका प्रयोग नहीं होना चाहिये वह 'वचन' रूपी क्रिया के साथ नियमतः रहती है।

दृष्ट—देखना क्रिया में आँख ही कारणरूप से आती है—इसलिये दृक्शब्द पुनरुक्त हुआ।

कारकान्तरेष्वपि—जैसे 'स्थाने तिष्ठति' में अधिकरण—(स्थान) पुनरुक्त है। पर 'विविक्ते स्थाने तिष्ठति' कहने पर विशेषण के लिये अधिकरण का प्रयोग दुष्ट नहीं होता।

एकैवालङ्कृतिर्यत्र शाब्दत्वार्थत्वभेदतः।
द्विरुच्यते तां मन्यन्ते पुनरुक्तिमतिस्फुटाम्॥ ४०॥

तद् यथा—

'उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ॥'

इत्यत्र।

यस्य यद्रूपताव्यक्तिः सामर्थ्यादेव जायते।
तस्योपमा रूपकं वा तदर्थं पौनरुक्त्यकृत्॥ ४१॥

तत्रोपमा यथा—

'स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयाज्जगतीधरम्॥'

अत्र जगतीधरजलधरावल्योः प्रियप्रणयिनीतुल्यत्वे समासोक्त्यैवावसिते सति यदेतज्जगतीधरस्य प्रियतुल्यत्ववचनं तत् पुनरुक्तम्।

जहाँ एक ही अलंकार शाब्दरूप से और आर्थरूप से दो बार कहा जाता है वहाँ स्पष्टतया पुनरुक्ति दोष मानते हैं।

जैसे—

'जिस प्रकार पार्वती और शिव कार्तिकेय से, जिस प्रकार इन्द्राणी और इन्द्र जयन्त से, उसी प्रकार उनके समान राजा और वह रानी (दिलीप-सुदक्षिणा) उनके समान उस पुत्र से—प्रसन्न हुए।' यहाँ—

यदि किसी पदार्थ का कोई रूप अपने आप प्रतीत हो जाता हो तो उस रूप के लिये उसकी उपमा या रूपक का प्रयोग पुनरुक्ति (दोष) जनक होते हैं। दोनों में से जैसे उपमा—

'चमचमाती और चंचल बिजली की आँखें और उठे हुए उन्नत पयोधर (मेघ-स्तन) से युक्त—मेघमालाएँ अपना समय (ऋतुकाल—संकेत) का ध्यान न रखकर पहले ही प्रिय के समान उस पर्वत पर आ पहुँचीं।'

यहाँ पहाड़ और मेघमालाओं की प्रिय और प्रिया से तुलना—समासोक्ति से ही आ जाती है, उतने पर भी पहाड को प्रिय के समान कहना पुनरुक्त है।

एकैवेति एकैवोपमादिः। शाब्दत्वं श्रौतत्वं यथेवादिशब्दप्रयोगात्। आर्थत्वं सदृशादिशब्दप्रयोगात्। अतिस्फुटमिति स्थूलदृष्टयैव दृश्यमित्यर्थः।

उमावृषाङ्काविति अत्र शरजन्मना यथेत्यादिना प्रतीतोऽप्युपमानोपमेयभावस्तत्सदृशेनेत्यादिना पुनरुक्तः। कवेस्तु नन्दननिमित्तः पूर्वं उपमानोपमेयभावः। प्रतीयमानप्रभावादिनिमित्तस्त्वपरः तथा चायं 'दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव' इत्येवंविधमुपमानोपमेयभावमातनोति। ग्रन्थकारस्तु विशिष्टोपमाननिर्देशान्नान्तरीयकतया प्रभावादिप्रतीतिर्भवतीति न द्विरुपादानं कार्यमिति मन्यते।

यस्येति यस्य पर्वतादेर्यद्रूपतायाः प्रियतमादिरूपत्वस्याभिव्यक्तिः सामर्थ्याल्लिङ्गविशेषश्लिष्टपदोपनिबन्धनरूपाद् भवति, तस्य पर्वतादेस्तदर्थं प्रियतमादिरूपत्वप्रतीत्यर्थमुपमा रूपकं वा यन्निबध्यते तत् पुनरुक्तमित्यर्थः।

उरवो महान्तः पयोधरा मेघाः ऊरू च पयोधरौ स्तनौ च। समयात सङ्केतेत्यर्थः।

एकैव—एक ही उपमादि (अलंकृति)।

शाब्दत्वम्—श्रौतत्व, यथा इव आदि शब्द द्वारा।

आर्थत्वम्—सदृश आदि शब्दों के प्रयोग से।

अतिस्फुटम्—स्थूलदृष्टि से भी दिखाई पड़ने वाला।

उमावृषाङ्कौ—यहाँ 'शरजन्मना, यथा', इत्यादि के द्वारा प्रतीत हुआ उपमानोपमेयभाव—'तत्सदृशेन' इत्यादि के द्वारा पुनरुक्त हुआ। कवि को एक उपमानोपमेयभाव तो 'नन्दन' (आनंदित होने) को लेकर कहना अभीष्ट है और दूसरा प्रभाव आदि को लेकर। इसी प्रकार यह 'दिलीप इव राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव' (रघुवंश–१) इस प्रकार उपमानोपमेयभाव देता आता है। परन्तु ग्रन्थकार यह मानता है कि विशिष्ट उपमान के निर्देश से प्रभाव आदि की प्रतीति अपने आप उसी से लगे-लगे हो जाती है—इसलिए दूसरी बार उसका उपादान नहीं करना चाहिए।

यस्य—यस्य = पर्वतादि की; यद्रूपता = प्रियतम आदिरूपता, उसकी अभिव्यक्ति सामर्थ्य से अर्थात् लिङ्ग (स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग) से और श्लेषयुक्त शब्दों के प्रयोग से होती है। उस पर्वत आदि की उसके लिए प्रियतमादिरूप प्रतीति के लिए उपमा या रूपक जो भी रचा जाता है वह पुनरुक्त होता है।

उरवो—बड़े-बड़े, पयोधराः—मेघ, तथा ऊरू = जांघें और पयोधर—स्तन।

समयात्—समय से जा पहुँची।

यथात्र तथैवोत्तरेषु चोदाहरणेषु। यथा—

'निद्रावशेन भवता ह्यनवेक्ष्यमाणा
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः॥' इति।

अत्र हि लक्ष्म्या अबला खण्डितेवेति यदुपमानमुक्तं तत् पुनरुक्तं तस्यास्तत्तुल्यवृत्तान्ताभिधानसामर्थ्यादेवानन्तरोक्तनयेन तदर्थावगतेः। यथा च—

'सुरभिसङ्गमजं वनमालया नवपलाशमधार्यत भङ्गुरम्।
रमणदत्तमिवार्द्रनखक्षतं प्रमदया मदयापितलज्जया॥'

इत्यत्रार्द्रनखक्षतविशेषणं, प्रमदार्थः, तद्विशेषणं चेति त्रितयमपि पुनरुक्तम् तदर्थस्योपमानादेव प्रतीतेर्गतार्थत्वात्। तथा हि—सुरभिशब्दात् पुंस्त्वविशिष्टाद् रमणार्थोऽवगम्यते वनमालाशब्दाच्च स्त्रीत्वविशिष्टात् कामिन्यर्थः। तद्विशेषणोपादानं तु व्यर्थमेव, व्यावर्त्याभावात्। तेन यथा कामुकसङ्गमसमुत्थमङ्गनया लोहितं वक्रं च नखक्षतं धार्यते, तद्वद्वनमालया वसन्तसमागमजनितं नवं भङ्गुरं च पलाशमधार्यतेति समुदायादयमर्थः सचेतसामुन्मिषत्येव यतोऽलङ्कारान्तरोपकृताल्लिङ्गविशेषनिर्देशादेवार्थानां स्त्रीपुंसत्वानुमितिरनुमतैव महाकवीनाम्।

जिस प्रकार यहाँ उसी प्रकार और भी अगले उदाहरणों में। जैसे—'नींद के वश में होने से आपके द्वारा भी नहीं देखी जाती लक्ष्मी रात को खण्डिता नायिका के समान जिससे अपनी उत्सुकता बहलाती थी वह चन्द्रमा भी अब अस्ताचल को पहुँच कर आपके मुख की कान्ति को छोड़ रहा है।'

यहाँ लक्ष्मी के लिए जो 'खंडिता अबला के समान' इस प्रकार उपमान का प्रयोग किया वह पुनरुक्त है। उसके अर्थ की प्रतीति घटना-साम्य के आधार पर अभी बतलाए नियम से अपने आप हो जाती है।' और जैसे—

'वनमाला ने वसन्त के समागम में पैदा हुआ टेढ़ा नया पलाश धारण किया, जैसे नशे से लाज खो चुकी प्रमदा प्रिय के बनाए ताजे नखक्षत को धारण करती है।' यहाँ आर्द्र नखक्षत यह विशेषण तथा प्रमदा पदार्थ और उसका विशेषण ये तीनों ही पुनरुक्त हैं। उसका अभिप्राय उपमान से ही निकल आता है। इस प्रकार—पुंस्त्व से युक्त सुरभिशब्द से रमण की प्रतीति हो जाती है और स्त्रीत्व से युक्त वनमाला पदार्थ से कामिनी की। उनके विशेषणों का उपादान व्यर्थ ही है। उनसे किसी का व्यावर्त्तन (हटाना, निराकरण) नहीं करना है। इसलिये—जिस प्रकार कामुक के समागम से बनाए गये लाल और टेढ़े नखक्षत को कामिनी धारण करती है—उसी प्रकार वनमाला ने भी वसन्त के समागम से पैदा हुआ लाल और टेढ़ा पलाश पुष्प धारण

किया। इस प्रकार समुदाय से यह अर्थ सहृदयों को समझ में आ ही जाता है। कारण कि दूसरे अलंकारों से सहकृत लिङ्ग विशेष के निर्देश से ही अर्थों में स्त्रीत्व और पुंस्त्व का अनुमान महाकवियों को मान्य ही है।

आर्द्रनखक्षतमिवेति भिन्नक्रम इव शब्दः यापितो गमितः निर्वाहित इत्यर्थः। उपमानादेवेति आकारसादृश्येन पलाशं प्रति दीयमानाद् आर्द्रनखक्षतमित्यस्मात्।

तद्विशेषणोपादानमिति रमणदत्तमित्यार्द्रनखक्षतविशेषणोपादानं मदयापितलज्जयेति प्रमदाविशेषणोपादानं चेत्यर्थः। यत इति नखक्षतमिवेत्युपमोपकृतात् सुरभिवनमालादीनां पुंस्त्वस्त्रीत्वनिर्देशादित्यर्थः। स्त्रीपुंसत्वानुमितिरिति प्रथमविमर्शोक्तप्रकारेण व्यक्तेरनुमितिरूपत्वेनोपपादितत्वात्।

आर्द्रनखक्षतमिव = इस प्रकार इव का क्रम भिन्न है।

यापितः—बिताया, समाप्त किया।

उपमानादेव—आकार की समानता पर पलाश के प्रति—दिये जा रहे—(उपमान द्वारा)

तद्विशेषणानाम् = रमणदत्त—यह आर्द्रनखक्षत का विशेषण है। मदयापित...यह प्रमदा का विशेषण है। इन दोनों का उपादान।

यत—'नखक्षत के समान' इस उपमा से उपकृत सुरभि और वनमाला आदि में पुंलिंग स्त्रीलिंग का निर्देश है।

स्त्रीपुंस्त्वा—इसलिये कि प्रथम विमर्श में बतलाये ढंग से व्यक्ति (अभ्यञ्जना) को अनुमिति रूप बतलाया गया है।

विमर्श: 'सुरभिसङ्गमजम्'०—इत्यादि पद्य का पूर्वार्ध मल्लिनाथ के अनुसार ऐसा है—'उपहितं शिशिरापगमश्रिया नवपलाशमथार्यत भङ्गुरम्।' दोनों पाठों में उपादेय पाठ के लिए द्रष्टव्य—हमारा संस्कृत निबन्ध—'भट्टहेमाद्रे रघुवंशदर्पणः।' (मेधा–१९६१–६२ रायपुर संस्कृत महाविद्यालय)।

यथा च—

'ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार॥' इति।

अत्र हि शरदो नायिकात्वस्येन्दो रवेश्च नायकत्वप्रतिनायकत्वयोरभिव्यक्तिः।

यथा वा—

'अत्यन्तपरिणाहित्वादत्यन्तश्लक्ष्णतावशात्।
न काचिदुपमारोढुमूरू शक्नोति सुभ्रुवः॥' इति।

अत्र 'अङ्गनोरू मणिस्तम्भावि'ति।

'ताजे नखक्षत के समान–इन्द्रधनुष को अपने पाण्डु पयोधरों (मेघ–स्तन) पर धारण किये शरद् कलंकी चन्द्र को प्रसन्न (दीप्तिमान–खुस) करने में निरत होने के कारण सूर्य को अत्यधिक तपाने लगी।' यहाँ 'शरद्' की नायिका रूप से और चन्द्र की नायक तथा सूर्य की प्रतिनायक रूप से प्रतीति होती है। और जैसे—

'अच्छी भौहों वाली के ऊरु पर, अत्यन्त मोटे और अत्यधिक चिकने होने के कारण कोई भी उपमा चढ़ नहीं पाती।' यहाँ जैसे—

'अंगना के ऊरू मणिस्तम्भ हैं' ऐसी—अनुमिति हो जाती है।

ऐन्द्रं धनुरिति अत्यन्तेति आभोगीर्ति चोदाहरणत्रयं वैधर्म्यक्रमेणोक्तम्। उपपन्नक्रमस्यासद्भावात् नायकत्वप्रतिनायकत्वे इति अनुमीयेते इति शेषः।

ऐन्द्र—'धनुः, प्रत्यन्त, आभोगी' ये तीनों उदाहरण वैधर्म्य के क्रम से दिये गये हैं, क्योंकि जो क्रम बतलाया गया है—उसका अभाव है।

विमर्श: मूल और व्याख्यान में 'अङ्गनोरू' की जगह 'अङ्गनेव'—पाठ छपा मिलता है। यहाँ अर्थ संगति के आधार पर उसे बदल दिया गया है।

यथा च—

'आभोगिनेत्रपरिवर्त्तनविभ्रमेण मूर्त्या नितम्बवलनाकुलतां वहन्त्या।
यस्याशनैरविरलोत्कलिकाकलापपर्याकुलं हृदयमम्बुनिधेर्ममन्थे॥' इति।

अत्र हि आरोहार्थो हृदयार्थश्च लक्षणयोपात्तौ, न मुख्यतया, तयोर्जीवव्यापारतत्कायैकदेशविशेषरूपत्वात्। लक्षणायाश्चालङ्कारान्तरत्वमुपपादितमेव।

'उस मूर्ति के द्वारा समुद्र का घनी उत्कलिकाओं से घिरा हृदय जोरों से (शनैः; धीरे-धीरे अशनैः जोर से) मथा गया, जो (मूर्ति) आभोगिनेत्र परिवर्तन के विभ्रम के कारण नितम्ब परिवर्तन से आकुलता धारण किए हुए थी।' इन दोनों पद्यों में आरोहणपदार्थ और हृदयपदार्थ लक्षणा द्वारा अपनाए गये हैं, मुख्यरूप से नहीं। क्योंकि वे सजीव व्यक्ति के व्यापार आदि उसके एक अंगस्वरूप हैं। लक्षण भी एक अलंकार है यह बतला दिया गया है।

एवम् अङ्गनोरू मणिस्तम्भाविति अनुमीयत इति शेषः।

भोगी वासुकिः स एव नेत्रमाकर्षणरज्जुस्तस्य आसमन्ताद् यत्परिवर्तनरूपो विशेषेण भ्रमो भ्रमणं तेन, मन्दरस्य मूर्त्तिः नितम्बे मध्यभागे वलनं परिवर्त्तनं तेनाकुला जाता। तथा आभोगि विस्तारवद् यन्नेत्रं नयनं तस्य परिवर्तनं कटाक्षीकरणं स एव विभ्रमो विलासः। मूर्त्या समारोपितनायिकाव्यवहारया। उत्कलिकास्तरङ्गा रुहिरुहिकाश्च हृदयं मध्यदेशश्चित्तञ्च।

आरोहार्थ इति आरोढुमिति पूर्वश्लोकगतः। हृदयार्थश्चेति। हृदयमम्बुनिधेरित्यत्र स्थितः तयोरिति आरोहो जीवव्यापारविशेषः। हृदयं जीविकायैकदेशविशेषः। अलङ्कारान्तरत्वमिति सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरित्यादिप्रकारेण।

भोगी = वासुकी ही नेत्र = नेती, उसका भलीभाँति घुमाना, तद्रूप जो विशिष्ट भ्रम, भ्रमण उससे मन्दर = पहाड़ की मूर्ति नितम्ब = मध्य भाग में घूमने से आकुल हो गई है। और—आभोगि = विस्तृत जो नेत्र = आँख, उसका परिवर्तन अर्थात् कटाक्षीकरण, वही विभ्रम अर्थात् विलास। मूर्ति—जिस पर नायिका का व्यवहार आरोपित है। उत्कलिका:—तरंगे और मन की उत्सुकता। हृदय = बीच का भाग और चित्त।

आरोहार्थ—'आरोढुम्'—यह जो प्रथम श्लोक में आया है।

हृदयार्थश्च—'हृदयमम्बुनिधेः' इसमें आया हृदय।

तयोः—आरोह सजीव वस्तु का एक विशेष व्यापार है।

हृदय—जीव के काय = शरीर का एक विशेष अंग।

लाक्षणिकहृदयादिशब्दप्रयोगे स्वशब्दं विनाप्यर्थान्तरं प्रतीयत इत्याह यदर्थेति।

अलंकारान्तरत्वम्—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' [वामन का० सू०] इत्यादि द्वारा। लाक्षणिक हृदय आदि शब्द के प्रयोग में अपने वाचक शब्द के विना भी दूसरा अर्थ प्रतीत हो जाता है—इस बात को कहा—यदर्थेति—

विमर्श : मूल और व्याख्यान में आए 'अलंकारान्तरत्व' की जगह केवल 'अलंकारत्व' चाहिए।

[किञ्च]—

> यदर्थैकाश्रयो धर्मो यत्र स्यादधिरोपितः।
> उपमानोपमेयत्वं न तयोः शाब्दमिष्यते ॥ ४२ ॥

यथा—

> 'अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः।
> तरुवत् सुकरः सहिष्णुना रिपुरुन्मूलयितुं महानपि ॥'

इत्यत्र तरुरिप्वोः। तद्धि सामर्थ्यादेव तयोः सिद्ध्यति, उन्मूलनस्य तरुधर्मस्य रिपावारोपितत्वात्।

और जिसके अर्थ का एकाश्रित (उसी पर निर्भर) धर्म किसी पर आरोपित किया जाय—उन दोनों का उपमानोपमेयभाव शब्दतः नहीं कहा जाना चाहिये। जैसे—'जो अपराग (राग-प्रजा का स्नेह और धूल उससे रहित) रूपी वायु द्वारा हिलाया गया हो और धीरे-धीरे जिसकी कुलक्रमागत मूलसंतति (जड़ का घिराव या घेर) शीर्ण हो गई हो (वृक्षपक्ष में आकुल हो गई हो—जड़ जिसकी) वह शत्रु वृक्ष के समान बड़ा भारी होने पर भी जरा में उखाड़ा जा सकता है।' यहाँ वृक्ष और शत्रु का (उपमानोपमेयत्व)। वह तो अपने आप उनमें सिद्ध हो जाता है। क्योंकि उन्मूलन रूपी धर्म तरु पर आरोपित किया गया है।

यत्रोपमेयेऽम्बुनिधिप्रभृतौ। यदर्थैकाश्रयो नायकादिरूपोपमानविषयो धर्मो हृदयादिरारोपितो लक्षणया भवेत्, तयोर्नायकादेरुपमानस्याम्बुनिध्यादेश्चोपमेयस्योपमानोपमेयभावः शाब्दो नेष्यते गम्यमानस्त्विष्ट एवेत्यर्थः।

अत्रैव अपरागेत्यादिना शाब्दत्वे दोषोदाहरणमाह। मूलान्यमात्यादिप्रकृतिवर्गः वृक्षबन्धनानि च उन्मूलयितुं सुकर इति योजना।

तद्धीति उपमानोपमेयत्वम्।

यत्र—उपमेय—अम्बुनिधि आदि में।

यदर्थैकाश्रय—नायक आदि रूप उपमान-हृदयादि के लक्षणा द्वारा आरोपित हो उन नायक आदि उपमान और अम्बुनिधि आदि उपमेय का उपमानोपमेयभाव शब्द से कहा जाय यह मान्य नहीं, हाँ गम्यमान = अनुमान द्वारा प्रतीत हो तो मान्य है।

अत्रैव—अपराग (आदिपद्य) द्वारा—शब्दतः कथन होनें से दोष का उदाहरण देते हैं।

मूल—अमात्य आदि प्रकृतवर्ग और वृक्ष का बंधन जड़, वे—उन्मूलित करने में सरल होते हैं।

तद्धि—उपमानोपमेयत्व।

रूपकं यथा—

'अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम् ।
निरकासयद् रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका ॥' इति ।

अत्र हि लिङ्गविशेषनिर्देशात् स्त्रीत्वस्य, कार्यतश्च तद्विशेषस्याभिव्यक्तौ सामर्थ्यादेवापरदिशो गणिकारूपत्वे वियतश्चालयत्वेऽवगते यत् तयोस्ताद्रूप्यवचनं तत् पुनरुक्तम् । पुनस्तद्वचने वा रवेरपि कामुकरूपतावचनप्रसङ्गः, विशेषाभावात् । यदुक्तम्—

'उभयार्थपदनिबन्धो लिङ्गविशेषः पदश्च गुणवृत्ति ।
उपमानविशेषाश्रयमर्थं गमयति स न हि पुनर्वाच्यः ॥ ४३ ॥' इति ।

रूपक जैसे—

'पश्चिम दिशारूपी गणिका ने आँखों में अनुरागयुक्त होते हुए भी; ताप नहीं पहुँचाने वाला आकार लिये रहने पर भी वसु (तेज, धन) रहित रवि को आकाश रूपी भवन से निकाल दिया ।' यहाँ लिङ्गविशेष के निर्देश से स्त्रीत्व की, और कार्य से उसकी विशेषता की-अभिव्यक्ति होती है, ऐसा हो जाने पर अपने आप ही अपर दिशा की गणिकारूपता और आकाश की आलयरूपता समझ में आ जाती हैं । उनके रूपक का जो कथन किया वह पुनरुक्त है । ऐसा कहने पर रवि को भी कामुक कहा जाना चाहिये । कारण कि कोई अन्तर तो है नहीं । ऐसा ही कहा भी गया है—'श्लिष्ट पद, लिङ्ग, लाक्षणिक शब्द यदि उपमान विशेष पर निर्भर अर्थ को बतलाते हों तो—उसे कहना नहीं चाहिये ।'

रूपकं यथेति । 'तस्योपमा रूपकं वे'त्यनुसन्धत्ते । अनुरागो लौहित्यमपि । अपिशब्दः सुखादिपदनिकरे योजनीयः । वसुशब्दस्तेजोधनयोः । अत्र निष्कासनमुत्कटत्वेन गणिकाधर्मो रूपकस्य साधकः प्रमाणम् ।

कार्यतश्चेति कार्यमत्र निष्कासनम् । तद्विशेषस्य स्त्रीत्वविशेषस्य गणिकारूपस्येति ।

उभयार्थेति । द्व्यर्थपदप्रयोगः 'पाण्डु पयोधरेणे'त्यादौ । लिङ्गविशेषः 'शरद्' 'रवेः' इत्यादौ । गुणवृत्ति पदम् 'आरोढुं' 'हृदयमि'त्यादौ उपमानविशेषो यथा आर्द्रनखक्षताभमित्यादौ ।

रूपकं यथा—'तस्योपमा रूपकं वा' इस पूर्व ग्रन्थ के अनुसार अब रूपक का उदाहरण देते हैं ।

अनुराग = लालरंग की । अपि शब्द सुख आदि में भी जोड़ना चाहिये ।

वसुशब्द—तेज और धन का वाचक है । यहाँ निष्कासन धर्म गणिका का है अतः रूपक का साधक प्रमाण है ।

कार्यतश्च—कार्य है यहाँ निष्कासन ।

तद्विशेषस्य—गणिकारूप स्त्रीत्व विशेष का ।

उभयार्थपदनिबंध—द्व्यर्थक पद का प्रयोग—पाण्डु पयोधर आदि में ।

लिंगविशेष—शरद्—रवि आदि में ।

गुणवृत्तिपदम्—आरोढुम् हृदय आदि में ।

उपमानविशेष—आर्द्रनखक्षताभ आदि ।

यथा—

'राहुस्त्रीस्तनयोरकारि सहसा येनाश्लथालिङ्गन-
व्यापारैकविनोददुर्ललितयोः कार्कश्यलक्ष्मीर्वृथा ।
तेनाक्रोशत एव तस्य मुरजित् तत्काललोलानल-
ज्वालापल्लवितेन मूर्धविकलं चक्रेण चक्रे वपुः ॥' इति ।

अत्र हि अनुप्रासैकरसिकेन कविना पौनरुक्त्यदोषमपश्यता पर्यायोक्त्यनुमितोऽपि चक्रशब्दार्थः प्रयुक्तः । तेन 'मूर्धविकलामस्त्रेण तेने तनुम्' इति युक्तः पाठः । अनेनानुप्रासव्यसनिता काव्यस्य परिपुष्यत्येव । यतः—

'समासे चासमासे चानुप्रासेष्वखिलेष्वपि ।
पदादिवर्णानुप्रासः कवीनामधिकं प्रियः ॥ ४४ ॥' इति ।

तत्र समासे यथा—

'त्वत्कीर्त्तिकेतकीक्लृप्तकान्तकर्णावतंसकः ।
दिगङ्गनागणो राजन् ! राजत्यामोदनिर्भरः ॥' इति ।

असमासे यथा—

'कुतः कुवलयं कर्णे करोषि कलभाषिणि ! ।
किमपाङ्गमपर्याप्तमस्मिन् कर्मणि मन्यसे ॥' इति । अलमनेन ।

यथा च—

'तं जिगीषुरिव शात्रवं ततो लोकलोचनपथोपरोधकम् ।
रश्मिभिः कनकसायकोपमैरन्धकारमरुणोऽस्तमानयत् ॥' इति ।

अत्र लोचनपथोपरोधापराधिनोऽन्धकारस्य कनकसायकोपमैः रश्मिभिर्यदेतदस्तनयनं तज्जिगीषोरेव व्यापार इत्यरुणस्यान्धकारस्य च यत् कर्तृकर्मभावेनोपादानं तत् सामर्थ्याज्जिगीषुशात्रवतुल्यवृत्तान्ततामवगमयतीति यदेतत् तयोर्जिगीषुरिव शात्रवमित्युपमानोपमेयभावेनाभिधानं तत् पुनरुक्ततां नातिवर्तते ।

जैसे:—'जिसने राहु की स्त्रियों के गाढ़ाश्लेष के विनोद में दुलर रहे स्तनों की कर्कशता की शोभा को वृथा कर दिया उस अतिज्वाला से जल रहे चक्र के द्वारा श्रीकृष्ण ने गाली दे रहे उस (शिशुपाल) का शरीर—शिर से रहित कर दिया ।'

यहाँ अनुप्रास पर ही रुचि रखते हुए कवि ने—पौनरुक्त्य दोष न देखते हुए पर्यायोक्त से अनुमित हुए चक्र पदार्थ को प्रयुक्त किया । इसलिये 'मूर्धविकलामस्त्रेण तेने तनुम्'—यह पाठ ठीक है । इससे काव्य की अनुप्रासप्रचुरता भी परिपुष्ट रही ही आती है । क्योंकि—'समास में या समास न होने वाले सभी अनुप्रासों में कवियों को पदादि वर्णानुप्रास अधिक पसंद होता है ।'

जैसे समास में:—त्वत्कीर्ति…'दिशारूपी स्त्रियाँ—तुम्हारी कीर्तिरूपी केतकी को कान का आभूषण बना—आमोद (सुगन्ध और खुशी) से फूली नहीं समातीं ।'

समासाभाव में—हे कलभाषिणि ? कान में कुवलय (नीलकमल) क्यों पहन रही हो, क्या अपाङ्ग को इस कार्य में अक्षम मानती हो।—इतना ही काफी है। और जैसे—'संसार के दृष्टि पथ को रोकने वाले उस अंधकार को सुवर्ण के बाणों के समान अपनी किरणों से अरुण ने दूर कर दिया, जैसे कोई विजयेच्छु अपने शत्रु समुदाय को।' यहाँ जो लोचनपथ को रोकने का अपराध करने वाले अंधकार का सुवर्ण के बाणों के समान किरणों से जो अस्तमित करना है—वह विजयेच्छु का ही कार्य है, इसलिये कर्त्ता और कर्मरूप से जो अरुण और अंधकार का उपयोग है, वही अपनी शक्ति से शत्रुसमुदाय और विजयेच्छु के व्यवहार को बतला देता है इसलिये यह—जो—उनका (विजयेच्छु शत्रुसमुदाय का) इस प्रकार उपमानोपमेयभावपूर्वक कथन किया गया वह पुनरुक्ति से बच नहीं सकता।

'आक्रोशो' गालिदानम्।

पर्यायोक्तीति येन राहुस्त्रीस्तनयोः कार्कश्यलक्ष्मीर्वृथा कृतेत्यनेन भङ्ग्यन्तरेण राहोः शिरश्छेदः प्रकाशित इति तत्साधनमसाधारणं चक्रं प्रतीयत एवेत्यर्थः।

पदादीति पदादिगतानामक्षराणामनुप्रासो गुम्फभङ्गीं दर्शयन् कवीनामत्यन्तवल्लभ इत्यर्थः। कलभाषिणीति। अत्र कमलेक्षणे इत्यर्थानुगुणः पाठः। अन्यथानुप्रासहेवाकितैव स्यात्। शत्रुरेव शात्रव इति प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्।

अक्रोशः—गाली देना।

पर्यायोक्ति—जिसने राहु की स्त्रियों की स्तन श्री को व्यर्थ किया—इस प्रकार एक खास ढंग से राहु का शिर काटना—सुझाया, इसलिये उसका असाधारण कारण चक्र प्रतीत हो जाता है।

पदादि—पदादि में आए अक्षरों का अनुप्रास = गुम्फ (जोड़, योग) की विचित्रता का प्रदर्शन करता है और कवियों को अधिक आकृष्ट करता है।—

कलभाषिणि—यहाँ 'कमलेक्षणे' यह वाक्यार्थ के अनुरूप पाठ है। नहीं तो केवल अनुप्रास की ओर लपकाना भर रह जाता है। शत्रु ही शात्रव, प्रज्ञादिगण से स्वार्थ में अण्।

यथा वा—

'परिहासरतिर्यश्च यशः-कर्पूरपांसुभिः।
दिक्कामिनीमुखान्यारात् पटवासैरिवाकिरत् ॥' इति।

अत्र परिहासरतेः कामुकस्य कर्पूरपांसुभिर्मुखावकिरणव्यापारः प्रायेण कामिनीविषय एव प्रसिद्ध इति दिशां मुखसम्बन्धाल्लिङ्गविशेषनिर्देशाच्च व्यञ्जकात् कामिनीरूपतावगतावपि यत्तासां कामिनीत्वेन रूपणं तत् पुनरुक्तम् अत एव कर्पूरपांसूनामपि पटवासरूपत्वेऽवगते तेषां तद्रूपणमेव तावत् पुनरुक्तं किं पुनरुपमानोपमेयभावोपनिबन्धः, सामर्थ्यादेव तत्सिद्धेः। न च सामर्थ्यसिद्धेऽर्थे शब्दप्रयोगमाद्रियन्ते सत्कवयः। यथा—

'महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः
प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद्गतस्य।
अधरमिव सदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता
फलमभिनवपाकं राजजम्बूद्रुमस्य ॥' इति।

अत्रेतिशब्दस्य।

यथा च—

'चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः ।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः ॥' इति ।

अत्रोत्प्रेक्षायामिवशब्दस्य ।

यथा च—

'अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति ।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन् नरान् ॥' इति ।

अत्र निदर्शने ममेवेति ।

और जैसेः—'जो परिहास में रुचि रखता है, जिसने अपनी कीर्तिरूप कपूर की धूली से दिशारूपी सुन्दरियों का मुख पास पहुँचकर पटवास से मानो रच दिया ।'

यहाँ—विनोदी कामुक का कामिनी के ही मुख पर कपूर का चूरा बिखेरना प्रसिद्ध है, इसलिये दिशाओं में—मुख के संबंध से और लिंग विशेष (स्त्रीलिंग) के निर्देश से कामिनी भाव प्रतीत हो जाता है, वे उसके व्यञ्जक बन जाते हैं,—इतने पर भी उनका कामिनीरूप से निरूपण करना पुनरुक्त है, इसलिये—कर्पूर चूर्ण की पटवासता प्रतीत हो जाती है ; इसलिये उनका उस रूप से निरूपण भी पुनरुक्त है । उपमानोपमेयभाव की तो बात ही अलग है । वह तो अपने आप निकल आता है । अच्छे कवि अपने आप आ जाने- वाले पदार्थ के लिये शब्द का प्रयोग नहीं करते । जैसे—ठीक ही कहा है—'दूसरे का बड़ा दुःख भी ताप नहीं देता—क्योंकि विपदा में पड़े मेरी प्रार्थना को न गिनकर यह (कोयल) रायजामुन वृक्ष के पके फलों को अधर के समान चूसने में लग गई ।' (विक्रमोर्वशीय-४) यहाँ—इति शब्द का (कथन कवि ने नहीं किया) । और जैसे—'चन्दन में लिपटे सापों की लम्बी साँसों से मूर्च्छित (सना हुआ) यह मलय-पवन वसन्त में पथिकों को मूर्च्छित कर रहा है ।' यहाँ—उत्प्रेक्षा के लिये इव शब्द का (कथन कवि ने नहीं किया) ।

और जैसे :—

'मन्दप्रभ यह सूर्य अस्ताचल को जाना चाह रहा है श्रीमान् लोगों को यह बतलाता हुआ कि उदय पतन के लिये होता है ।'—यहाँ निदर्शनालंकार में 'ममेव' (मेरे समान) यह नहीं कहा ।

तद्रूपणमेवेति उपमापेक्षया रूपकस्य गम्यमानौपम्यपौनरुक्त्यात् प्रयोगार्हत्वेऽपि सामर्थ्यावगतरूपत्वाद् यत्राभिधानं पुनरुक्तं तत्रोपमायां का शङ्का इति ।

इवशब्दस्येति मूर्च्छित इव मूर्च्छयतीत्यर्थप्रतीतेः सिद्धत्वात् । विषादिसम्पर्काद्धि मोहं प्राप्तः परानपि मोहयतीति प्रसिद्धम् ।

अयं मन्दद्युतिरिति निदर्शनायां ममेवेत्यर्थात् प्रतीतं न पुनरुपात्तम् ॥

तद्रूपक—उपमा की अपेक्षा रूपक में सादृश्य गम्य होता है—इसलिये उसका कथन हो सकता था, तो भी अपने आप प्रतीत हो सकने से उसका भी कथन पुनरुक्त है, वहाँ उपमा की तो बात ही अलग है ।'

इवशब्द :—मूर्च्छित इव—यह अर्थ 'मूर्च्छयति' इसी से सिद्ध हो जाता है । विष आदि के सम्पर्क से मूर्च्छित हुआ दूसरों को भी मूर्च्छित करता है यह बात प्रसिद्ध है ।

अयं मन्दद्युतिः—निदर्शना में 'ममेव' (मेरे समान) यह अपने आप प्रतीत हो जाता है इसलिए उसे शब्दतः नहीं कहा।

(पुनः पुनरुक्ति का उदाहरण देते हैं—)

'स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणाम्।
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम्॥' इति।

अत्र विनीतत्वस्य यद्विशेषणं तद् बाधकसद्भावाभावे सति समानविभक्तिकत्वाविशेषात् तेजसाप्यनुषज्यत एवेति यत् पुनस्तेजसस्तद्वचनं तत्पौनरुक्त्यमावहति।

धर्मस्तुल्यविभक्तीनामेकस्याप्युदितोऽखिलान्।
तानन्वेतीति पर्यायैस्तदुक्तिः पौनरुक्त्यकृत्॥ ४५॥ इति।

सङ्ग्रहश्लोकः।

'वे विनय का आचरण करते थे—उनमें विनय स्वभाविक था। अतः उसने उनकी तेजस्विता को और बढ़ाया, जैसे हविष्य अग्नि की तेजस्विता को बढ़ाता है।

यहाँ विनीतत्व का जो विशेषण है—(स्वाभाविक) वह बाधक के अभाव में और समान विभक्ति के कारण तेज का विशेषण भी बन सकता है। इसलिये तेज के लिये जो पुनः विशेषण (सहज) दिया गया वह पुनरुक्त है।

फलतः—'समान विभक्ति वाले पदार्थ का धर्म एक पदार्थ के लिये प्रयुक्त करने पर उन सभी में अन्वित हो जाता है, इसलिये पर्यायवाची शब्दों द्वारा उस (धर्म) का बार-बार कथन पुनरुक्तिकारी होता है।'—संग्रहकारिका।

मुमूर्च्छेति प्रससारेत्यर्थः।

बाधकसद्भावाभाव इति अनेन यत्रैकस्यैव विशेषणस्योपमानोपमेयसम्बन्धबाधकमस्ति तत्र पृथक्प्रयोगेऽपि न दोषः यथा—

'चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि।
आवन्त्य एव निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि॥'

इत्यादौ प्रतिवस्तूपमायामित्याह। अत्र हि इवादिशब्दाभावे सति वाक्यभेदः। प्राकरणित्वाप्राकरणिकत्वाभ्यामुपमानोपमेयभावप्रतीतौ साधारणधर्मस्य पृथक्प्रयोगमन्तरेण वाक्यार्थसङ्गतिर्न भवतीति पृथक्प्रयोगो न दुष्टः। तद्वचनमिति सहजपदेन स्वाभाविकत्ववचनम्।

तुल्यविभक्तीनामर्थात् उपमानोपमेयानाम्। एषा निर्धारणे षष्ठी। एतन्मध्ये एकस्येत्यर्थः। पर्यायैरिति। स्वाभाविकपदादिषु सहजपदादिभिः।

मुमूर्च्छ—फैला।

बाधकसद्भावाभावे—इसका निष्कर्ष यह हुआ कि जहाँ एक ही विशेषण के उपमान और उपमेय दोनों में अन्वित होने का कोई बाधक हो तो उसका अलग से प्रयोग करना भी दुष्ट नहीं होता। जैसे—'चाँदनी को पीने में चकोरी ही चतुर है, सुन्दरी के सुरतकार्य में अवन्ती जनपद के निवासी ही चतुर हैं।' इत्यादि प्रतिवस्तूपमा के स्थलों में। यहाँ इव शब्द के अभाव में ही दो वाक्य बनते हैं। प्राकरणिकता और अप्राकरणिकता से उपमानोपमेय भाव की प्रतीति हो जाती है

और साधारण धर्म के स्वतंत्र प्रयोग के बिना वाक्यार्थ नहीं बैठता—इसलिये उसका अलग से प्रयोग करना दोषावह नहीं है।

तद्वचनम्—सहजपद से स्वाभाविकता का कथन।

तुल्यविभक्ति = तुल्यविभक्ति वाले उपमानोपमेय। यह षष्ठी निर्धारणार्थक है 'अर्थात् इनके बीच में एकका।'

पर्यायैः—स्वाभाविक आदि पद दे देने पर सहज आदि द्वारा।

'कैरवेन्दीवरच्छायौ नौम्युमाधवमाधवौ।
ब्रह्मार्चितब्रह्मनुतौ निहतान्धककालियौ॥' इति।

अत्र प्रथमो धवशब्दो द्वितीयश्च ब्रह्मशब्दः पुनरुक्तौ, तावन्तरेणापि समासान्तराश्रयणेन विवक्षितार्थप्रतीतिसिद्धेः प्रत्युदाहरणयोः प्रथमचतुर्थयोरिव पादयोः। अन्यथा तत्रापि छायानिहतपदयोर्द्विरुपादानप्रसङ्गः स्याद् विशेषाभावात्।

अस्तु को दोषः? उभयोरपि लक्षणानुगमसम्भवादिति चेत्। सत्यं, किन्तु प्रतीतिरिह प्रधानमिति सैवानुसर्त्तव्या न लक्षणमात्रं, तस्य तदर्थत्वादित्युक्तम्। सा च यावद्भिरुपजायते तावतामेव प्रयोगो युक्तो नातिरिक्तानाम्।

उमा के धव (पति शिव और मा लक्ष्मी के धव पति-विष्णु) को प्रणाम करता हूँ। (दोनों में से) एक कुमुदवर्ण के हैं और दूसरे इन्दीवरवर्ण के, एक ब्रह्मा द्वारा पूजित हैं और दूसरे ब्रह्मा द्वारा वन्दित हैं, एक ने अन्धकासुर को मारा है, और दूसरे ने कालिय नाग को। यहाँ प्रथम धव और द्वितीय ब्रह्म शब्द पुनरुक्त है। उनके बिना भी अन्य समास का प्रयोग करने से विवक्षित पदार्थ की प्रतीति बन सकती है। जैसे कि प्रत्युदाहरणस्वरूप (इसी श्लोक के) प्रथम और चतुर्थ चरणों में (छाया और निहतत्व की प्रतीति एक बार प्रयोग करने से भी हो जाती है।) नहीं तो उनमें भी छाया और निहत शब्दों का प्रयोग दो बार करना चाहिये। क्योंकि स्थिति उनमें भी वही है (जो द्वितीय और तृतीय चरण में है।)

(शंका)—ऐसा ही हो, बुरा क्या है? उन दोनों में लक्षण का समन्वय हो सकता है।

(उत्तर)—ठीक है, पर यहाँ प्रधान है प्रतीति, इसलिये उसी का अनुसरण यहाँ करना चाहिये, केवल लक्षण का नहीं। वह (लक्षण) उसी (प्रतीति) के लिये होता है। वह (प्रतीति) जितनों से हो सकती है, उतनों का ही प्रयोग आवश्यक है उनसे अधिक का नहीं।

समासान्तराश्रयणेन उमा च मा च उमामे तयोः धवावित्यादि द्वन्द्वपूर्वकतत्पुरुषाश्रयणेनेत्यर्थः। छायानिहतपदयोरिति प्रथमं छायाशब्दः द्वितीयश्च निहतशब्दः कर्तव्यः स्यादिति दार्ष्टान्तिकक्रमेणैव दृष्टान्तावुक्तौ।

अस्त्विति छायानिहतशब्दयोः प्रयोगः उभयोरपीति। द्वन्द्वपूर्वकस्य बहुव्रीहेर्बहुव्रीहिपूर्वकस्य वा द्वन्द्वस्येत्यर्थः। एतच्च दृष्टान्तगतत्वेनोक्तमपि दार्ष्टान्तिकगतत्वेनापि पर्यवसानं नेयम्। दार्ष्टान्तिके ह्येत्थं योजना। तत्पुरुषपूर्वस्य वा तत्पुरुषस्य लक्षणानुगमः सम्भवतीति।

तदर्थत्वादित्युक्तं विधेयाविमर्शविचारे यावद्भिरिति पदैरित्यर्थात्।

समासान्तराश्र०—उमा और मा=मिल कर 'उमामे' उनके धव—इस प्रकार द्वन्द्वपूर्वक तत्पुरुष का आश्रय लेने से।

छायानिहतपद०—छायाशब्द को पहले रखना चाहिये और निहतशब्द को उसके बाद, इस प्रकार दार्ष्टान्तिक के क्रम से दृष्टान्तों को उपस्थित किया।

अस्त्विति—छाया और निहत शब्द का प्रयोग।

उभयोरपि—द्वन्द्वपूर्वक बहुव्रीहि का और बहुव्रीहिपूर्वक द्वन्द्व का। यह केवल दृष्टान्त में दिखलाया गया है, तो भी दार्ष्टान्तिक के साथ लगा लिया जाना चाहिये। ऐसी योजना दार्ष्टान्तिक में है। तत्पुरुषपूर्वक द्वन्द्व का या द्वन्द्वपूर्वक तत्पुरुष का लक्षणानुगम हो जाता है।

तदर्थत्वात्—विधेयाविमर्श का विचार करते समय।

यावद्भिः—जितने पदों द्वारा।

न च प्रतीतिमनादृत्यैव लक्षणमस्तीत्येवातिरिक्तपदप्रयोगो युक्तः, तस्यार्थप्रयुक्तत्वाद्, अर्थस्य चाधिक्यात्। तदुक्तं 'तदर्थावगत्यर्थो हि शब्दप्रयोगः। अर्थश्चेदवगतः किं शब्दप्रयोगेणे'–ति। तस्मादुभयोरपि लक्षणानुगमसम्भवे येनैव लघुनोपायेन प्रधानसिद्धिस्तदेव लक्षणमाश्रयणीयं भवति नेतरत्, तत्पुरुषलक्षणाश्रयणेन चोपायलाघवमिति तदेवाश्रयितुं युक्तं, न द्वन्द्वलक्षणम्।

न चैवं तस्य विषयापहारः स्यादित्याशङ्कनीयं 'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ' इत्यादावतज्जातीये विषये तस्य चरितार्थत्वादित्यलमवान्तरचिन्तया।

प्रतीति की ओर ध्यान न देकर केवल इसलिये कि (वैसा) लक्षण (बना हुआ) है, (किसी भी) अतिरिक्त (अनावश्यक) पद का प्रयोग ठीक नहीं होता। वह अर्थ पर निर्भर रहता है। और अर्थ (आवश्यकता से) अधिक हो जाता है (अर्थात् उस अतिरिक्त पद का प्रयोग करने से)। यही कहा भी है—उस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये ही शब्द का प्रयोग होता है। यदि अर्थ का ज्ञान हो गया तो फिर शब्द के प्रयोग से क्या? इसलिये लक्षण का अनुगम दोनों में होना सम्भव हो तब भी जिस लघु उपाय से लक्ष्य की सिद्धि होती है वही लक्षण• अपनाना उचित होता है, और कोई नहीं। तत्पुरुष का आश्रय करने में उपाय का लाघव है, उसी का प्रयोग करना चाहिये, द्वन्द्व का नहीं।

ऐसा नहीं कि उसका (द्वन्द्व) कोई स्थान ही नहीं रहेगा? इससे भिन्न—'जगत् के पिता—पार्वतीपरमेश्वर' को प्रणाम करता हूँ।—ऐसे स्थलों में उसको जगह है। अस्तु अधिक ऊपरी बातों से लाभ नहीं।

तत्पुरुषलक्षणाश्रयणेनेति प्रकृते द्वन्द्वलक्षणपूर्वकत्वं ज्ञेयम्। एवं न द्वन्द्वलक्षणमित्यत्र तत्पुरुषलक्षणपूर्वकत्वं बोद्धव्यम्।

तस्येति द्वन्द्वस्य। तज्जातीय इमि यत्र तत्पुरुषशङ्का नास्तीति पार्वतीपरमेश्वरावित्यत्रापि परमेश्वरपदे कर्मधारयाश्रयणदर्शनेन तत्पुरुषपूर्वकत्वं योजनीयम्। अवान्तरचिन्तयेति पौनरुक्त्यप्रस्तावे समासचिन्तयेत्यर्थः। अत्र माधवस्य यौगिकत्वेऽपि संज्ञात्वेन निरूढेः

उमा-माधवाविति प्रयोगे उमाया माधवस्य च स्पष्टत्वेन प्रतीतिः, न तु द्वन्द्वपूर्वक-तत्पुरुषार्थस्येति द्वन्द्वलक्षणं नातीव हृदयङ्गमित्याहुः।

तत्पुरुषलक्षणाश्रय—प्रकृत में द्वन्द्वलक्षणपूर्वकता जाननी चाहिये। इसी प्रकार—'न द्वन्द्वलक्षणम्' में तत्पुरुष लक्षणपूर्वकता जाननी चाहिये।

तस्य—द्वन्द्व का।

तज्जातीय—जहाँ तत्पुरुष की शंका नहीं है—वहाँ 'पार्वतीपरमेश्वरौ' आदि में भी परमेश्वर पद में कर्मधारय है। इसलिये 'तत्पुरुषपूर्वकता लगानी चाहिये'—द्वन्द्व का विषयापहार हो जायगा, ऐसा न कह कर 'तत्पुरुषपूर्वक द्वन्द्व का विषयापहार'—कहना चाहिये, क्योंकि—पार्वती-परमेश्वर में भी शुद्ध द्वन्द्व नहीं है। उसमें भी परमेश्वर शब्द में कर्मधारय है ही। इसी प्रकार और कहीं तत्पुरुषपूर्वक द्वन्द्व हो जायगा।

अवान्तरचिन्तया—पुनरुक्ति के प्रसंग में समास की चिंता, यहाँ माधव यौगिक है,—तथापि संज्ञा रूप से निरूढ होने के कारण 'उमा-माधव' ऐसा प्रयोग करने पर स्पष्टतः प्रतीति तो उमा और माधव की होती है, द्वन्द्वपूर्वकतत्पुरुषार्थ (उमा और 'मा' में द्वन्द्व, 'उनके धव' में तत्पुरुष) की नहीं होनी इसलिये द्वन्द्व का विचार भलीभांति गले उतरता नहीं है।

'द्विषद्वधूलोचनचन्द्रकान्तनिष्यन्दनेन्दूदयसन्निभोऽयम्।'

इत्यत्रेन्दूदयस्य यश्चन्द्रकान्तविषयो निष्यन्दनव्यापारः स प्रसिद्ध इति नोपादेयतामर्हति यथा 'रजनीपुरन्ध्रीलोध्रतिलकः, तिमिरद्विपयूथकेसरी'-त्यत्र प्रसाधननिर्मथनव्यापार उपादीयमानः पौनरुक्त्यमेव पुष्णाति।

यस्त्वप्रसिद्धः, असावुपादीयत एव, यथा 'संसारसम्भवनिराकरणैकरेखे'-त्यत्र निराकरणम्। रेखा हि हेयोपादेययोरुभयोर्विभागहेतुः पदार्थः प्रसिद्ध इत्यनभिमतपक्षप्रतिक्षेपाय तदनुगुणस्य व्यापारस्योपादानमुपपन्नमेव। अभिमतपक्षपरिग्रहायापि यथा—

'त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसरस्य सीमा।'

इत्यत्र प्रसरस्य।

'शत्रुनारियों की आँखरूपी चन्द्रकान्तमणि को पिघलाने के लिये यह चन्द्रोदय के समान है'—यहाँ चन्द्रोदय से चन्द्रकान्त में निस्यन्दन व्यापार दिखलाया गया, वह प्रसिद्ध ही है अतः नहीं दिखलाया जाना चाहिये। और जैसे—'रात्रिरूपी सुहागिन का लोध्रतिलक', अन्धकाररूपी गजयूथ के लिये केसरी—'यहाँ प्रसाधन और निर्मथनव्यापार' शब्द से कहे जायें तो उनमें पुनरुक्ति होगी। जो प्रसिद्ध नहीं होता, वह शब्दतः कहा जाता ही है—'संसार की उत्पत्ति के निराकरण की प्रधान सीमा रेखा'—इस वाक्य में—'निराकरण'। रेखा हेय और उपादेय दोनों के विभाग के कारणरूप से प्रसिद्ध पदार्थ है, इसलिये अनभिमत वस्तु के त्याग के लिये—उसके अनुरूप व्यापार का उपादान ठीक ही है।

अभिमत पक्ष के परिग्रह के लिये भी—'त्वष्टाके सतत अभ्यास से अर्जित शिल्प विज्ञान की सम्पत्ति के फैलाव की सीमा'—यहाँ (उपादेय) प्रसर का (परिग्रह)।

रेखे-ति रेखा मर्यादा अवधिः सीमेति पर्यायाः। तत्र हेयपक्षप्रतिक्षेपेण प्रयोगो यथा म्मारेति अत्र संसारसम्भवस्य निराकरणमिति हेयस्य प्रतिक्षेपः।

रेखा—रेखा, मर्यादा, अवधि, सीमा ये सब पर्यायवाची हैं। दोनों में से हेय पक्ष के निषेध के लिये प्रयोग का उदाहरण दिया—'संसार' इत्यादि। यहां—'संसार के सम्भव का निराकरण' इस प्रकार हेय का प्रतिक्षेप होता है।

किञ्चात्र यद् 'इन्दूदयस्येव सन्निभा यस्ये'तीन्दूदयतुल्यत्वं राज्ञः शाब्दमुक्तं तत् तस्य तत्त्वारोपादार्थमेव युक्तमित्युपात्तपदातिरिक्तस्य सन्निभापदस्य पौनरुक्त्यमावहतीत्युक्तम्।

'अयथार्थक्रियारम्भैः पतिभिः किं तवेक्षितैः।
अरुध्येतामितीवास्य नयने बाष्पवारिणा ॥' इति।

अत्र हि बाष्पस्य वारिरूपत्वाव्यभिचारेऽपि यद् वारित्वमुक्तं तदसति प्रयोजने पौनरुक्त्यं करोति। न चात्र किञ्चित्प्रयोजनमुत्पश्यामः। तस्माद् बाष्पसम्पदेत्ययमत्रोचितः पाठः। अस्मिन् हि सति पौनरुक्त्यपरिहारः सम्पदः स्त्रीत्वात् सखीत्वव्यक्तौ लेशतोऽर्थान्तरावगतिश्चेत्युभयं सिद्धं भवति।

सति तु प्रयोजने न दोषः। यथा—

'पृथ्वीपाल! प्रतापस्ते वैद्युतेनाग्निना समः।
यो वैरिवनिताबाष्पवारिणा वर्धतेऽधिकम् ॥' इति।

वैद्युताग्निवृद्धेराधिक्यस्य वारिकार्यत्वेन प्रसिद्धेः।

और यदि यहाँ 'चन्द्रोदय जैसी अच्छी कान्ति जिसकी' ऐसा विग्रह हो तब भी—राजा में चन्द्र का सादृश्य शब्दतः प्रतीत होता है। उसे उसके धर्म का आरोप होने से आर्थ ही लेना चाहिये। इसलिये उपात्त शब्दों से अतिरिक्त 'सन्निभा'—शब्द पुनरुक्ति उत्पन्न करता है।

'गलत काम में लगे इन पतियों को देखने से क्या?'—मानों इसीलिये उसकी दोनों आँखें आसुओं के पानी से रोक ली गईं। यहाँ बाष्प तो जल रूप ही होता है। इसलिये उसे जो 'वारि' कहा गया वह कोई प्रयोजन न होने से पुनरुक्त ही है। यहाँ हम कोई प्रयोजन भी नहीं देख पाते। इसलिये 'बाष्प-सम्पद्' यही पाठ यहाँ ठीक है। इस पाठ में दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो—पौनरुक्त्य हट जाता है दूसरे सम्पद् स्त्रीलिङ्ग है, इसलिये उसमें सखीत्व का भान होने लगता है—जिससे एक और अर्थ (सखी द्वारा—अपनी सखी को समझाना) निकल आता है।

प्रयोजन होने पर कोई दोष नहीं। जैसे 'हे पृथिवी के रक्षक! तुम्हारा प्रताप बिजली की आग के समान है जो बैरियों की नारियों के बाष्पवारि से और ज्यादा बढ़ता है।' यहाँ बिजली की आग पानी से अधिक बढ़ती है—यह प्रसिद्ध है।

उपादेयपरिग्रहो यथा त्वष्टुरिति। अत्र सम्पदः प्रसरो विस्तारः इत्युपादेयस्य परिग्रहः। इन्दूदयस्येव सन्निभा यस्येति अत्र सन्निभाशब्दः प्रभापर्यायो व्याख्यातः। यथा तु दण्डिनो ग्रन्थस्तथा सन्निभशब्दः सदृशपर्यायोऽस्ति तदुक्तम्—

'इववद्वायथाशब्दाः समाननिभसन्निभाः' [काव्यादर्शः] इति।

तदनुसारेणेन्दूदयेन सदृश इन्दूदयसन्निभ इति व्याख्येयम्।

उपादेय का परिग्रह—जैसे—'त्वष्टुः' इत्यादि······। यहाँ 'सम्पत्ति का प्रसर = विस्तार' इस प्रकार उपादेय का परिग्रह हुआ। 'चन्द्रोदय के समान सन्निभा जिसकी है'—इस प्रकार यहाँ सन्निभाशब्द प्रभा का पर्याय बतलाया गया है, दण्डी के ग्रन्थ के अनुसार तो सन्निभ शब्द है जो सदृश का पर्याय है, जैसा कि कहा है—'इव-वत्-वा-यथाशब्दाः समान-निभ-सन्निभाः' उसके अनुसार इन्दूदय के सन्निभ = इन्दूदय के समान, ऐसी व्याख्या करनी चाहिये।

यथा च—

'साहाय्यकार्थमिव फूत्कृतमारुतेन संधुक्षितः सपदि यस्य पृषत्कवह्निः।'

इत्यत्राग्निसन्धुक्षणस्य मारुतकार्यत्वेन प्रसिद्धेः।

यथा च—

'अवहितचेतसः पथि जनस्य कुतः स्खलित'मिति। अवहितत्वं नाम चेतस एव धर्मो नान्यस्येति मुख्यवृत्त्या तत्रैवास्य वृत्तिरुपपन्ना। या त्वन्यत्र पुरुषादावस्य दृश्यते सा तत्सम्बन्धादिति तद्विशिष्टेन चेतसा जनस्य यद्विशेषणं तत्र चेतस उपादानं पुनरुक्तं तदुक्त्यैव तदवगतेः।

यथा च—

'अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।' इति।

'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।' इति।

केवलादेव तत्सम्बन्धात् तदवगतिर्भवत्येव, यथा—

'तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि।' इति।

यथा च—

'शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते।' इति।

'मूढोऽनात्ममयः क्वचि'दिति च।

और जैसे—फूत्कार की हवा द्वारा जिसकी बाणाग्नि और बढ़ा दी गई मानों उसने उसकी सहायता की।'—यह। यहाँ अग्नि का सन्धुक्षण कार्य का हवा के द्वारा होना प्रसिद्ध है।

और जैसे—जो जन सावधान चित्त वाला होता है वह रास्ते में कैसे फिसल सकता है?—यहाँ अवहितता (सावधानी)—चित्त का ही धर्म है और किसी का नहीं। इसलिये मुख्य रूप से उसी में इसका अस्तित्व हो सकता है। पुरुष आदि अन्य पदार्थों में जो उसका यह अस्तित्व देखा जाता है वह उसके सम्बन्ध से। इसलिये उससे (सावधानी) विशिष्ट चित्त द्वारा जन को जो विशेषण दिया गया उसमें चित पुनरुक्त है। उतना भर कहने से उसकी प्रतीति हो जाती है। और जैसे—

'जिसकी मति मूढ़ होती है उसे अपने प्रिय का शरीरनाश हृदय में गड़ा हुआ शूल सा जान पड़ता है।' (और) 'वे मन्दमति धोखा खाते हैं। जो छली के साथ छली नहीं बनते।'—

केवल उसके (मूढत्व) सम्बन्ध से उस (बुद्धि) की प्रतीति हो जाती है, जैसे—'कृपा से शान्त राम ने परशुराम को अपने आप में शक्तिहीन देखकर' और, जैसे—इस तुच्छ शरीर के लिये भी मूढ़ लोग पाप करते हैं।' और—'कहीं मूढ अनात्ममय (को कहा जाता है)'—यह।

तदुक्त्यैवेति अवहितत्वोक्त्येत्यर्थः।

मूढचेतन इति मूढधिय इति च मोहनाम्नो मूढत्वस्य बुद्धिधर्मत्वात् चेतनधीशब्दयोः पौनरुक्त्यम्।

तत्सम्बन्धात् तदवगतिरिति चेतनसम्बन्धाच्चैतन्यावगतिरित्यर्थः।

कृपामृदुरिति। कृपा चेतनधर्म इतिचैतन्यवाचिपदं न कृतम्। एवं 'मूढा' 'मूढ' इत्यत्रापि वाच्यम्।

तदुक्त्यैव—अवहितत्वमात्र के कथन से।

मूढचेतन—और मूढधी यहाँ मोहनामक मूढत्व बुद्धि का ही धर्म है। इसलिये चेतन और धीशब्द पुनरुक्त हैं।

तत्सम्बन्धात्—चेतन के सम्बन्ध से चैतन्य का ज्ञान।

कृपामृदु—कृपा चेतन का धर्म है इसलिये यहाँ चैतन्य का वाचक पद नहीं दिया। उसी प्रकार 'मूढाः' और 'मूढः' में भी समझना चाहिये 'वहाँ भी मूढ़ता के आश्रय बुद्धि चेतना आदि को नहीं कहा।'

उदितवपुषीति पौनरुक्त्यमेवानुसन्धत्ते। मनःकर्तृकत्वं प्रमोदस्य।

उदितवपुषि = यहाँ से पौनरुक्त्य के उदाहरण पुनः शुरू करते हैं प्रमोद मन का धर्म (कार्य) है।

यथा च—

'उदितवपुषि दिननाथे प्रविकसितात्मसु कुलेषु कमलानाम्।
जगति प्रमुदितमनसि च कोऽन्यो विमनायते घूकात्॥' इति।

अत्र हि वपुरात्ममनश्शब्दानां त्रयाणामपि पौनरुक्त्यम्। तत्र द्वयोः स्वरूपमात्रवचनात् तस्य च पदार्थेष्वव्यभिचारात्, तृतीयस्यापि प्रमोदस्य मनःकर्तृकत्वाव्यभिचाराद् इत्यनन्तरमेवोक्तम्।

यथा वा—

'किं पुनरीदृशे दुर्जाते जातामर्षनिर्भरे च मनसि नास्त्येवावकाशः शोकक्रियाकरणस्ये'ति अत्र क्रियाकरणशब्दयोः।

यथा च—

'पातु वस्तारकाकान्तकलाकलितशेखरः।
जगत्त्रयपरित्राणक्रियाविधिविचक्षणः॥' इति।

अत्र क्रियाविधिशब्दयोः पौनरुक्त्यम्। तत्राद्यस्य तावत् परित्राणक्रियाविशेषप्रतीतेरेव क्रियासामान्यप्रतीतिसिद्धेः विशेषस्य च सामान्याव्यभिचारात्, द्वितीयस्यापि क्रियापर्यायत्वेन तत्तुल्यवृत्तान्तत्वात्।

और जैसे—'दिननाथ (सूर्य) के उग आने पर, कमल के फूल जाने पर, संसार का मन प्रसन्न हो जाने पर, उल्लू के अलावा और कौन उदास हो सकता है।' यहाँ वपुः, आत्मा और मन तीनों शब्द पुनरुक्त हैं। तीनों में दो आकार मात्र के वाचक हैं। वह पदार्थ में सदा रहता ही है। तीसरा प्रमोद मन का कार्य है। वह भी उससे कभी नहीं हटता।

और जैसे—'ऐसे कठोर काल में जब मन क्रोध से भर गया है—शोक-कार्य करने का मौका नहीं'—यहाँ क्रिया (कार्य) और करण (करना) दोनों शब्द पुनरुक्त हैं। और जैसे—आपकी 'रक्षा करें (कौन ? वह) जिसके सिर पर तारकाओं के पति की कला है, जो तीनों लोकों के रक्षण-कार्य के विधान में चतुर हैं।' यहाँ 'क्रिया (कार्य) विधि (विधान)' दोनों शब्द पुनरुक्त हैं। प्रथम (क्रिया) तो सामान्य क्रिया है। विशेष सामान्य से दूर नहीं रहता इसलिये उसकी प्रतीति परित्राण-रूप विशेष क्रिया से हो जाती है, दूसरा (विधि) भी क्रिया का ही एक पर्यायवाची शब्द है, इसलिये उसकी हालत भी उसी के समान है।

क्रियाकरणशब्दयोरिति। अत्र गौः शावलेय इतिवच्छोकक्रियाशब्दयोस्सामान्यविशेषभावेन प्रयोगः। करणशब्देन च स्वीकाररूपमनुष्ठानमभिधीयत इत्यभिप्रायेण कविना क्रियाकरणशब्दौ प्रयुक्तौ। ग्रन्थकृतस्तु विशेषस्यैवोपयोगात् सामान्यव्यभिचाराच्च क्रियाशब्दस्य वैयर्थ्यम् करणशब्दस्य क्रियावाचित्वान्निष्फलत्वमिति शोकशब्द एव कर्तव्यः इत्यभिप्रायः।

क्रियाकरणशब्दयोः—यहाँ गो-शावलेय (चितकबरी गाय) के समान 'शोक' और 'क्रिया'—शब्दों का प्रयोग सामान्यविशेषभाव से हुआ। कारण शब्द द्वारा स्वीकार करना कहा जा रहा है। इस प्रकार कवि के क्रिया और करण शब्द साभिप्राय है। ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि प्रकृत में उपयोग केवल विशेष का है, और विशेषसामान्य से युक्त ही रहता है, अतः क्रिया शब्द व्यर्थ है। इसी प्रकार 'करण' शब्द क्रिया का ही वाचक है इसलिये निष्फल है। इसलिये केवल शोक शब्द ही चाहिए।

यथा च—

'सङ्कल्पकल्पितां कान्तां सर्वत्रोत्पश्यतोऽनिशम्।
वियोगदुःखानुभवक्लेशो बत तथापि मे॥' इति।

अत्र हि सङ्कल्पानुभवक्लेशास्त्रयोऽपि पुनरुक्ताः। तत्राद्यस्य तावत् यत् पौनरुक्त्यं, तदर्थस्य कल्पनायां करणभावाव्यभिचारात्। द्वितीयस्य दुःखस्यानुभवविशेषात्मत्वोपगमे सति व्यतिरेकाभावात् तन्निबन्धनः षष्ठीसमासस्तेन सह न सम्भवतीति। न च विशेषस्य सामान्येन सह समास इष्यते न हि भवति शावलेयस्य गौरिति। नापि विशेषणसमासः। विशेषप्रतीतेरेव सामान्यप्रतीतिसिद्धेस्तयोर्विशेषणविशेष्यभावात्, न हि भवति शावलेयगवीति। तृतीयस्यापि दुःखपर्यायत्वात् तदुक्त्यैव गतार्थत्वात् पौनरुक्त्यमविवादसिद्धमेव।

एवमेव—

'अगाधापारसंसारसागरोत्तारसेतवे।
देहार्धधृतकान्ताय कन्दर्पद्वेषिणे नमः॥' इति।

अत्र सागरोत्तारशब्दावुभावपि पुनरुक्तौ, एकस्यागाधत्वापारत्वलक्षणासाधारणसागरधर्माध्यारोपसामर्थ्यात् सेतुसम्बन्धाच्च संसारस्य तद्रूपतावगतेः। आर्थी एव हि अत्र रूपणा युक्ता अनुमेयत्वात्, न शाब्दी। यथा—

'चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद् वधूरतम् ॥'

इत्यत्र मन्मथस्यानलत्वेन।

इतरस्य च सेतोर्नियमेनोत्तरणार्थत्वेन प्रसिद्धेः। अनेन च 'सकलकला-कनकनिकषपाषाण' इत्यादौ कनकादिशब्दानामपि पौनरुक्त्यं व्याख्यातम्।

और जैसेः—'मैं भावना द्वारा निर्मित प्रिया को हर एक जगह देखता रहता हूँ इतने पर भी वियोग दुःख के अनुभव का क्लेश मुझे है ही।'

यहाँ—संकल्प अनुभव और क्लेश तीनों पुनरुक्त हैं। इनमें पहले (संकल्प) की पुनरुक्तता इसलिये है कि कल्पना क्रिया में करण रूप से संकल्प अवश्य ही रहता है। दूसरा (दुःख) भी एक प्रकार का अनुभव ही है, इसलिये (अनुभव से दुःख की) भिन्नता न होने के कारण उनपर आश्रित षष्ठी समास भी नहीं हो सकता क्योंकि वह उन्हीं पदों में होता है जिनके अर्थों में एक दूसरे से भिन्नता हो। विशेष का सामान्य के साथ समास नहीं होता। ऐसा कभी नहीं कहा जाता कि—'शावलेयकी गाय'। विशेषण समास भी नहीं हो सकता। क्योंकि विशेष्य की प्रतीति से ही सामान्य की प्रतीति हो जाने से उन दोनों में विशेषणविशेष्यभाव ही' नहीं बनता। 'शावलेय गौ' यह प्रयोग नहीं होता। तीसरा भी—(क्लेश) दुःख का पर्याय ही है, इसलिये उस (दुःख) के ही कथन से गतार्थ हो जाता है। इस प्रकार तीनों की पुनरुक्ति पर कोई विवाद नहीं?

'काम के शत्रु (शिव) को नमस्कार है, वे अगाध और अपार संसारसागर को पार करने के एकमात्र सेतु हैं, कान्ता को उन्होंने अपने आधे शरीर में धारण कर रखा है।' यहाँ सागर और उत्तार दोनों शब्द पुनरुक्त है। एक (सागर) इसलिये कि संसार में उसकी प्रतीति हो जाती है, कारण कि अगाधता और अपारता सागर के असाधारण धर्म है जिनका आरोप किया जा रहा है, और सेतु का सम्बन्ध बतलाया जा रहा है। यहाँ आरोप आर्थ ही ठीक है, शाब्द नहीं। जैसेः—चुम्बन में अधरोष्ठ अलग कर लिया। करधनी छूने में हाथ रोक लिया? इस प्रकार इच्छाओं में विघ्न होने पर भी वधू के साथ सुरत सब प्रकार से—काम का इन्धन ही बना।' यहाँ—मन्मथ पर अनल का आरोप। दूसरे (उत्तार) की (पुनरुक्तता) इसलिये है कि सेतु नियमतः पार उतारने के लिये ही प्रसिद्ध है। इसीसे—'सभी कलारूपी सोने के लिये कसौटी का पत्थर' इत्यादि में कनक (पाषाण) आदि शब्दों की पुनरुक्तता भी स्पष्ट हो जाता है!

अनुभवविशेषात्मत्वोपगम इति सौगतप्रक्रिययैतदुक्तम्। वैशेषिकास्तु जडमेवात्मगुणम् एकार्थसमवायिना ज्ञानेन ग्राह्यं सुखमाहुः। तत्प्रक्रियायां कर्तव्यमेवानुभवग्रहणम्।

एकस्येति सागरस्य इतरस्य चेति उत्तारार्थस्य। तद्रूपतावगतेरित्युभयत्र तद्रूपता सागर-रूपता उत्ताररूपता च।

अनुभवविशेषात्मत्व०—सौगत = बौद्धों के अनुसार यह कहा। वैशेषिक तो सुख को आत्मा का गुण मानते हैं। वे उसे जड़ (निष्क्रिय) मानते और उसी आत्मा में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान ज्ञान द्वारा ग्राह्य मानते हैं। उन (वैशेषिकों) की प्रक्रिया में अनुभव शब्द का ग्रहण करना ही चाहिये।

एकस्य = सागर का, इतरस्य च = उत्ताररूपी अर्थ का: तद्रूपतावगते—दोनों जगह तद्रूपता, सागररूपता और उत्ताररूपता।

यथा च—

'करकलितनिशातोत्खातखड्गाग्रधारा-
दृढतरविनिपातच्छिन्नदुष्टारिकण्ठः।' इति।

अत्र नवानां पदानामवकरत्वम्। तत्र यत् खड्गस्य करकलितत्वादि-विशेषणचतुष्टयं तत् पुनरुक्तं तत्र तस्य व्यापार्यमाणस्य तत्त्वाव्यभिचारात्। यच्चाग्रत्वविशिष्टाया धाराया वचनं तत् पुनरुक्तं खड्गस्यैव करणत्वविवक्षा-यामौचित्यादेव तत्प्रतीतिसिद्धेः। यच्चात्र दृढतरत्वविशिष्टो विनिपातः करणभावेनोपात्तो, यदपि दुष्टत्वमरीणां विशेषणं तदुभयमपि पुनरुक्तमेवार्थ-सामर्थ्यसिद्धत्वात्। अतश्च खड्गच्छिन्नारिकण्ठ इति पदचतुष्टयमेवात्र सारम्। अन्यत्त्ववकरप्रायं वृत्तस्य पूरणायैव पर्यवस्यति नार्थविशेषस्य कस्यचिदिति। यथा—

'शीधुरसविषयपानक्रियावशावाप्तजन्ममदविवशा।
गलदंशुकदृश्यमुखी सुखायते किमपि कमितुरचिरोढा॥'

इत्यत्र रसादीनां सप्तानामवकरत्वम्। यथा वा—

'मदिराद्रवपानवशावाप्तोदयमदविघूर्णितात्मैव।
तव तरुणि! मदनदीपनमिदमक्षियुगं समाभाति॥' इति।

अत्र द्रवादीनां षोडशानामवकरपदानां पौनरुक्त्यं प्रयुक्तान्तर्गताभ्यां द्वाभ्यामेव मदिराक्षिपदाभ्यां सम्बोधनीकृताभ्यां तदर्थप्रतीतिसिद्धेः। यथाह भरतः—

'आघूर्णमानमध्या या क्षामा चाञ्चिततारका।
दृष्टिर्विकसितापाङ्गा मदिरा तरुणे मदे॥' इति।

एषां चावकरपदानां पर्यायेण यथायोगमेकादिप्रयोगे सति लोष्टसञ्चार-क्रमेणातिबहवोऽवकरप्रकाराः समुद्भवन्ति, येषु प्रयुक्तेष्वप्रयुक्तेष्वपि तुल्यै-वार्थावगतिरिति ते तत्र शल्यायमानाः शाब्दिकैः केवलमाद्रियन्ते। कविभिस्तु प्रस्तुतरसाभिव्यक्तिव्यवधाननिबन्धनधियावधीरणीया एव।

यद्वा किं बहुनोक्तेन क्रियाकारकयोरपि।
यदौचित्यादवगतिस्तत्रान्येषां कथैव का॥ ४५॥

तत्र क्रियाया यथा—

'मा भवन्तमनलः पवनो वा वारणो मदकलः परशुर्वा।
वज्रमिन्द्रकरविप्रसृतं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह वृक्ष॥' इति।

कारकस्य यथा—

'मा धाक्षीन्मा भाङ्क्षीन्मा भैत्सीज्जातुचिद् बत भवन्तम्।
सुकृतैरध्वन्यानां मार्गतरो! स्वस्ति तेऽस्तु सह लतया॥' इति।

और जैसे—हाथ में रखी तीखी खुली तलवार के अग्रभाग की धारा के कठोरतर प्रहार से कटी दुष्ट शत्रु की गरदन'—यहाँ ९ शब्द कचरे जैसे हैं। खड्ग के जो चार विशेषण हैं वे पुनरुक्त हैं, चलाये जाते उस (खड्ग) में वे रहते ही हैं। अग्रत्व से युक्त धाराका कथन भी पुनरुक्त है। कारणरूप से विवक्षित खड्ग में वे अपने आप प्रसिद्ध हैं। कारणरूप से कथित दृढ़तर विशेषण से अन्वित विनिपात भी पुनरुक्त है, और शत्रुओं का विशेषण दुष्ट भी दोनों अपने-आप प्रतीत हो जाते हैं। इसलिये 'खड्गच्छिन्नारिकण्ठः' ये चार ही शब्द काम के हैं। और सबतो कचरे के बराबर हैं। वे केवल छन्द को पूरा करने के लिये लाए गये सिद्ध होते हैं किसी विशेष अर्थ के लिये नहीं ?

और जैसे—'कामुक के लिये नवोढा एक अजीव सुख देती है, जब वह शराब के रस के विषय की पान क्रिया से जन्म को प्राप्त मद से विवश हो जाती है और उसका अंचल सरक जाने से मुख दिखाई देने लगता है।'—

यहाँ—रस—आदि सात कचरे जैसे हैं। और जैसे—'शराब के द्रव के पान के वश से उदय को प्राप्त मद से घूमते आकार वाली तुम्हारी—दोनों, आँखे—हे तरुणि ? मदन को दीप्त करने वाली जान पड़ती है।' यहाँ द्रव आदि सोलह पद पुनरुक्त हैं। प्रयुक्त पदों में से ही मदिरा और अक्षि—शब्दों के सम्बोधन द्वारा कथन से (मदिराक्षि) उनके अर्थ समझ में आ जाते हैं। जैसा कि भरत ने कहा है।—'जब नशा चढ़ा हुआ हो, उस समय विकसित पलकों वाली उस दृष्टि को—मदिरा कहते है जिसमें पुतली घूम रही हो, ठीक से दिखाई न पड़ रहा हो, और कनीनिका—अञ्चितनामक एक प्रकार की मुद्रा में हो।' इन व्यर्थ पदों का क्रम से यथासम्भव एक दो आदि करके प्रयोग होने पर लोष्टसंचारक्रम से बहुत से पुनरुक्त भेद चले आते हैं जिनके प्रयोग होने पर या प्रयोग न होने पर अर्थ का ज्ञान समान ही हो वे शब्द शल्यभूत होते हैं। उन्हें केवल शाब्दिक लोग अपनाते हैं। कवियों को चाहिये कि वे प्रस्तुत रस की अभिव्यक्ति में विघ्न-बाधा करने वाले इन शब्दों को न अपनाएँ। अथवा—और कितना कहा जाय, जहाँ क्रिया और कारक की प्रतीति भी औचित्य द्वारा हो जाती है—वहाँ और की कथा ही क्या ?

क्रिया की प्रतीति जैसेः—'आपको न अग्नि, न वायु, न मदमत्त हाथी, न फरसा, न—इन्द्र के हाथ से छूटा वज्र (खण्डित करे)। हे वृक्ष लता के साथ तुम्हारा कल्याण हो।'

कारक की प्रतीति जैसेः—हें रास्ते के वृक्ष ? (आपको कोई) न जलाए, न उखाड़े, न तोड़े, रास्तागीरों के पुण्य से आप—लता के साथ सकुशल रहें।

सप्तानामिति शीधुमदविवशेत्येव वाच्यम्।

मदिराद्रवेति। अत्र समाभातीत्येकं पदं गणितम् उपसर्गाणां द्योत्यपारतन्त्र्येण पृथक्पदार्हत्वाभावात्।

एकादिप्रयोगे सतीति एकस्य प्रयोगाभ्युपगमेऽन्येषामेव तत्त्वम्। तत्राप्येकत्वमनियतम्। एवं द्वयोस्त्रयाणामित्यादियोजना कार्या, तत्राप्यनियतत्वेन प्रकारबहुलत्वात्।

सप्तानाम्—शीधुमदविवशा—इतना ही कहा जाना चाहिये।

मदिराद्रव—यहाँ समाभाति यह एक ही पद गिनना चाहिये। क्योंकि उपसर्ग पृथक् पद नहीं होते। वे द्योत्य अर्थ के पीछे चलते हैं।

एकादिपद—एक के प्रयोग में अन्य सबका (पुनरुक्तत्व)। उतने पर भी एकत्व नियत नहीं है। दो तीन आदि को भी लिया जा सकता है। उनमें भी अनियतता होने से बहुत से भेद हो सकते हैं।

वाक्यार्थविषयं पौनरुक्त्यं यथा—

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥' इति।

अत्र हि अविवेकप्रयुक्तमविमृश्यकारित्वलक्षणं सहसाकार्यकारित्वं नामापदामविकलं कारणमिति तेषां कार्यकारणभावमन्वयवाक्येन प्रतिपाद्य पुनः कारणाभावरूपं विमृश्यकारित्वमनूद्य तत्कार्यभूतविपदभावरूपाणां सम्पदां सद्भावो भणित इति व्यतिरेकवाक्येनापि तेषां कार्यकारणभाव एवाभिहित इति तस्य पुनरुक्तता, अन्वयवाक्यादेव तदवगतेः। यदुक्तम्—'साधर्म्येणापि प्रयोगे अर्थाद् वैधर्म्येणान्वयगतिः असति तस्मिन् साम्याभावे हेत्वाभावस्यासिद्धेरिति नावश्यं वाच्यद्वयप्रयोग' इति।

किञ्चान्वयव्यतिरेकवाक्ययोरन्योन्यस्य न हेतुहेतुमद्भावः सम्भवति। न हि यस्मिन् सति यस्यावगतिस्तस्य प्रत्युत स एव हेतुरिति युज्यते वक्तुं हेतुहेतुमद्भावविपर्यासप्रसङ्गाद् इति व्यतिरेकवाक्ये तदभिव्यक्त्यर्थो हि-शब्दोऽप्यपार्थक एवेति। कुतस्तर्हि द्वितीयेऽर्धेऽर्थस्य चारुतावगतिः? उच्यते। लिङ्गविशेषाद् धर्मविशेषाच्च सम्पदां नायिकात्वेऽवसिते सति समासोक्तेरित्येतद् वक्ष्यते।

यथा च—

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥' इति।

अत्र हि धर्माधर्मयोश्छायातपयोरिव अन्योन्यपरिहारेणावस्थितयोर्यदैवैकस्य ग्लानिस्तदैवेतरस्याभ्युत्थानमिति तयोरेकस्मिन् वाच्ये यदुभयोर्वचनं तत् पुनरुक्तमिति।

वाक्यार्थविषयक पुनरुक्तिः—जैसे—

'काम एकाएक न करे। नासमझी बड़ी-बड़ी मुसीबतों की जड़ है। समझ कर काम करने वाले को गुण पर लुभाई दौलत खुद सकारती है।'—यहाँ—आपत्ति का ठोस कारण है सहसाकारित्व, वह है—अविमृश्यकारिता—(विना समझे करना) स्वरूप, वह उत्पन्न होती है अविवेक से।—इसप्रकार इनका कार्यकारणभाव अन्वय वाक्य द्वारा बतला दिया। इतने पर भी कारण (अविमृश्यकारिता) के अभावरूप विमृश्यकारिता को कहकर उससे उत्पन्न होने वाली विपत्ति के अभावरूप संपति का सद्भाव बतला दिया गया। इस प्रकार उनका कार्यकारणभाव—व्यतिरेकवाक्य से ही बतलाया गया। अतः वह पुनरुक्त हुआ। उसकी प्रतीति अन्वय वाक्य से ही हो जाती है। जैसा कि कहा भी ही है—शब्द से साधर्म्य द्वारा भी कथन हो तो अर्थ द्वारा

वैधर्म्य से भी अन्वय बोध (कथन) हो सकता है; कारण कि उसके न रहने पर साम्य का अभाव हो जाता है और उससे हेतु का अभाव असिद्ध। इसलिये दो अर्थों का प्रयोग नियमतः नहीं किया जाना चाहिये।'

और जो दो अर्थ अन्वय और व्यतिरेक द्वारा कहे जाते हैं।' उनमें परस्पर हेतुहेतुमद्भाव नहीं बनता। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि, जिसके रहने पर जिसका ज्ञान होता हैं—उलटे वही उसका हेतु है। ऐसा करने पर हेतुहेतुमद्भाव ही उलट जायगा। इसलिये व्यतिरेक वाक्य में उस (हेतुत्व) का अभिव्यञ्जक—'हि' शब्द भी निरर्थक ही है। (प्रश्न)—तो फिर उत्तरार्ध में अर्थगत चारुता कैसे प्रतीति होती है। (उत्तर) इसपर हमारा उत्तर है कि—'समासोक्ति से। लिङ्गविशेष और धर्मविशेष के कारण संपत्तियों में नायिकात्व की प्रतीति हो जाती है।

और जैसे :—'धर्म का ह्रास जब-जब होता है और अधर्म का अभ्युत्थान, तब मैं अपने आप को उत्पन्न करता हूँ।' यहाँ धर्म और अधर्म छाया है और आतप के समान एक दूसरे के साथ सहानवस्थान विरोध द्वारा मिले दिखाई देते हैं। इसलिए दो में से किसी एक की हानि होने पर दूसरे का उत्थान निश्चित ही है। अतः एक ही को कहना था। दोनों का कथन पुनरुक्त है।

अविवेकप्रयुक्तमिति। यद्यप्यविमृश्यकारित्वस्यैवापत्कारणत्वं, तथाप्यविवेकस्याविमृश्यकारित्वप्रयोजकत्वात् तस्य कारणत्वेऽप्यविमृश्यकारित्वमेव कारणमुक्तं भवति।

न हीति यस्मिन् सति 'वह्नौ धूम' इत्यादिके प्रतिबन्धकाभाविन्यन्वये सति विशेषस्य यस्य 'असति वह्नौ न धूम' इत्यादिव्यतिरेकस्य गतिः प्रतीतिः, तस्यान्वयस्य स एव व्यतिरेको हेतुर्न युक्तः व्यवस्थितस्य हेतुहेतुमद्भावस्य वैपरीत्यप्रसङ्गात्। अन्वयप्रतीतिहेतुको हि व्यतिरेकप्रतीत्युपक्रमो न तु विपर्ययः। विशेषाच्चेति ,गुणलुब्धा इति साधारणत्वादित्यर्थः।

अविवेकप्र०—यद्यपि अविमृश्यकारिता ही आपत्ति का कारण है, तो भी अविमृश्यकारिता उत्पन्न होती हैं अविवेक से, इसलिए कारण होना चाहिए अविवेक ही, परन्तु कही जाएगी कारणता अविमृश्यकारिता की।

नहि = 'वह्नौ धूमः' इत्यादि प्रतिबन्धकभाव से युक्त अन्वय बोध हो जाने पर विशेषरूप वह्नि के अभाव में धूम का अभाव। ऐसी व्यतिरेक प्रतीति होती है—तो उस अन्वय के प्रति उसी व्यतिरेक को हेतु—मानना ठीक नहीं। क्योंकि इससे व्यस्थित हेतुहेतुमद्भाव उच्छिन्न होता है। व्यवस्था यही मान्य है कि व्यतिरेक की प्रतीति के प्रति अन्वय प्रतीति कारण है। उल्टी—नहीं।

धर्मविशेषाच्च—गुणतुल्यत्वरूपी साधारणधर्म।

विमर्श : मूल में 'साधर्म्येणापि प्रयोगे अर्थात् वैधर्म्येणान्वयगतिः' असति तस्मिन् साम्याभावे हेत्वभावस्यासिद्धेः'—पंक्ति का 'असति' से असिद्धेः तक का अंश स्पष्ट नहीं होता। इसका उदाहरण कौन सा माना जाय? तस्मिन् के तत् पद का अर्थ—वैधर्म्य किया जाय या साधर्म्य? साधर्म्य और साम्य में अन्तर माना जाय या ऐक्य? इतने पर भी—'हेत्वभाव नहीं बनता' की अर्थ—संगति कैसे लगाई जाय? टीकाकारों ने इस पंक्ति का स्पर्श भी नहीं किया। इतना तो स्पष्ट है कि इस पंक्ति के दो अंश हैं 'एक—अन्वयांश और दूसरा व्यतिरेकांश—'साधर्म्येणापि प्रयोगे अर्थात् वैधर्म्येणान्वयगतिः' यह साधर्म्य और वैधर्म्य—की प्रतीतियों का अन्वय हुआ। 'असति तस्मिन् साम्याभावे'—से उनका व्यतिरेक बतलाया गया। वैधर्म्य न होने पर साधर्म्य नहीं

बनता। अभेद ही बन बैठता है। हम तद् पद से वैधर्म्य का परामर्श मान लेते हैं और साम्य को साधर्म्य से अभिन्न। परन्तु—'हेत्वभावस्यासिद्धेः का सम्बन्ध मिलाना रह जाता है।

सामर्थ्यसिद्धस्यार्थस्य यथाऽऽर्थी पुनरुक्तता।
तात्पर्यभेदाच्छब्दस्य द्विरुक्तिः शाब्यपीष्यते ॥ ४६ ॥
पौनरुक्त्यमिति द्वेधा गौणमुख्यतया स्थितम्।
तत्र दूषणमेवाद्यमपरं भूषणं स्मृतम् ॥ ४७ ॥
शब्दालङ्कारनिपुणैर्लाटानुप्राससंज्ञया।
तच्चोदाहृतमेव प्राग् दूषणं तु वितन्यते ॥ ४८ ॥

संग्रहकारिकाएँ—अपने आप समझ में आ सकने वाले अर्थ को (शब्द से) कहने में जैसे आर्थी पुनरुक्ति मानी जाती है वैसे ही केवल तात्पर्य के भेद से (पुनः कथित) शब्द में भी शाब्दी पुनरुक्ति मानी जाती है। इस प्रकार गौण और मुख्य रूप से पुनरुक्ति दो प्रकार की होती है। दोनों में से प्रथम (आर्थी) पुनरुक्ति दोष है और दूसरी (शाब्दी) पुनरुक्ति अलङ्कार। उसे (द्वितीय शाब्दी पुनरुक्ति को) शब्दालङ्कार के पंडितों ने लाटानुप्रास नाम दिया है जिसका उदाहरण (हसति हसति स्वामिन्युच्चैः०) पहले (पौनरुक्त्य प्रकरण के एकदम आरम्भ में ही) दिया जा चुका है। यहाँ केवल दोष का निरूपण किया जा रहा है ॥ ४६-४८ ॥

सामर्थ्येति। द्विविधं पौनरुक्त्यमर्थगतं शब्दगतं चेति। तत्रार्थसामर्थ्यसिद्धत्वेऽर्थगतं गौणम् आमुखे पौनरुक्त्यानवभासात्। शब्दगतमामुखावभासमानत्वाद् मुख्यम् ॥४६-४८॥

सामर्थ्य—पौनरुक्त्य दो प्रकार का होता है अर्थगत और शब्दगत। दोनों में जो अर्थ की शक्ति से होता है वह अर्थगत होता है। वह गौण होता है कारण कि उससे आरम्भ में पुनरुक्ति भासित नहीं होती। शब्दगत पौनरुक्त्य आरम्भ में ही प्रतीत हो जाता है अतः प्रधान होता है ॥४६-४८॥

प्रकृतिप्रत्ययार्थोऽस्य पदवाक्यार्थ एव च।
विषयो बहुधा ज्ञेयः स क्रमेणोपदर्श्यते ॥ ४९ ॥

प्रकृत्यर्थ, प्रत्ययार्थ, पदार्थ, वाक्यार्थ आदि भेद से इस (दोष रूप पुनरुक्त) का विषय अनेक प्रकार का होता है। उसे क्रम से बतलाते हैं।

प्रकृतिप्रत्ययार्थस्येति प्रकृत्यर्थः प्रत्ययार्थः प्रकृतिप्रत्ययसमुदायार्थ इति व्यस्तसमस्तत्वेन योज्यम्। एवं प्रकृतेः प्रत्ययस्य चेत्यत्रापि वाच्यम्। अन्यथा प्राङ्निर्दिष्टस्य पञ्चविधस्य पौनरुक्त्यस्यासङ्ग्रहः स्यात् ॥ ४९-५० ॥

प्रकृति का अर्थ प्रत्यय का अर्थ, दोनों के समुदाय का अर्थ, इस प्रकार अलग अलग और मिलाकर योजना करनी चाहिए। इसी प्रकार (अगली कारिका-५० में भी) 'प्रकृतेः प्रत्ययस्य च' इस अंश का अर्थ समझना चाहिए, नहीं तो पहले बतलाये पाँच प्रकार के पौनरुक्त्य का संग्रह नहीं हो पाएगा ॥ ४९ ॥

अभिन्न एव यत्रार्थः प्रकृतेः प्रत्ययस्य च।
तत् पौनरुक्त्योपहतं पदमादौ विवर्जयेत् ॥ ५० ॥

जहाँ प्रकृति और प्रत्यय दोनों का अर्थ एक हो उस पद में पुनरुक्ति होती है। उसे सबसे पहले हटा देना चाहिए ॥ ५० ॥

विहितस्य बहुव्रीहेः कर्मधारयशङ्कया।
शब्दस्य मत्वर्थीयादेर्व्यक्तैव पुनरुक्तता ॥ ५१ ॥

बहुव्रीहि करके कर्मधारय के भ्रम में ऊपर से मत्वर्थीय आदि प्रत्यय जोड़ने से हुई पुनरुक्ति तो स्पष्ट ही है ॥ ५१ ॥

विहितस्येति। वस्तुवृत्त्या स्थितस्य बहुव्रीहेर्या कर्मधारयशङ्का तया मत्वर्थीयादिः शाब्दः कृतो बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्त इत्यादौ। तस्य स्फुटं पौनरुक्त्यं वृत्तिद्वयस्य गौरवात् ॥ ५१ ॥

वास्तविक रूप से स्थित बहुव्रीहि के विषय में जो कर्मधारय की आशङ्का उससे शब्द द्वारा मत्वर्थीय आदि प्रत्ययों का विधान। जैसे 'बिसकिसलयच्छेद पाथेयवन्तः'—आदि में। वहाँ पौनरुक्त्य स्पष्ट है क्योंकि दो वृत्तियों (समासवृत्ति और कृद्वृत्ति) के होने से गौरव होता है।

यस्मिन् यत्तद्धितोत्पत्तिरर्थस्तेनैव जातुचित्।
न तदन्तः समस्येत तद्धितव्यर्थताभयात् ॥ ५२ ॥

किसी (पद) में अर्थ जिस किसी तद्धित से निकल रहा है तो उस (तद्धित) से युक्त उस (पद) का (उस अर्थ के वाचक पद के साथ) समास कदापि नहीं होना चाहिए। ऐसा करने से तद्धित के व्यर्थ होने का भय रहता है ॥ ५२ ॥

यस्मिन्निति 'जाम्बवपल्लवानी'त्यादौ यस्मिन् पल्लवशब्द इत्यर्थः। अर्थः इदन्त्वलक्षणः। यत्तद्धितोत्पत्तिः यस्मादण्प्रत्ययाख्यात् तद्धितादुत्पत्तिः प्रतीतिविषयत्वापत्तिर्यस्यार्थस्य, तदन्तस्तद्धितप्रत्ययाख्यान्तो जाम्बवशब्दादिः, तेनैव पल्लवशब्देन न समसनीयः, जम्बूपल्लवानीति समासेन गतार्थत्वात् तद्धितवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ॥ ५२ ॥

यस्मिन् = 'जाम्बवपल्लव' इत्यादि स्थलों में पल्लव शब्द।

अर्थ = इदन्त्वस्वरूप ('जम्ब्वोरिदं जाम्बवम्'—इस प्रकार)

यत्तद्धितोत्पत्तिः जिससे अर्थात् अण् (जाम्बव शब्द में) प्रत्यय रूपी तद्धित से उत्पत्ति अर्थात् प्रतीतिविषय (ज्ञात) होना संभव हो जिस अर्थ का, तदन्त = वह तद्धितप्रत्यय हो अन्त में जिसके जैसे जाम्बव आदि शब्द उसका तेनैव (जिसके अर्थ में तद्धित प्रत्यय का विधान जम्बू शब्द से किया गया) उसी पल्लवशब्द के साथ समास नहीं करना चाहिए, क्योंकि (तद्धित का अर्थ) 'जम्बूपल्लव' इस प्रकार समास करने से ही व्यक्त हो जाता है, फलतः तद्धितप्रत्यय निरर्थक सिद्ध होता है।

विशेषणवशादिच्छेद् विशिष्टं यत्र संज्ञिनम्।
युक्ता तत्र विशेष्योक्तिरन्यथा पौनरुक्त्यकृत् ॥ ५३ ॥

जहाँ विशेष्य को विशेषण द्वारा विशिष्ट रूप से उपस्थित करना हो वहाँ विशेष्य का कथन ठीक होता है, नहीं तो उससे पुनरुक्ति होती है ॥ ५३ ॥

विशेषणवशादिति। पिनाकपाण्यादिविशेषणमाहात्म्यात्। विशिष्टमुत्कर्षापकर्षवन्तं संज्ञिनं हरादिकं यत्रेच्छेत् न तत्र पौनरुक्त्यम्। अन्यथा तु पौनरुक्त्यम्। यथा 'पायात् स शीतकिरणाभरणो भवो वः' इत्यादौ ॥ ५३ ॥

विशेषवशात् 'पिनाकपाणि' आदि विशेषण के माहात्म्य से, विशिष्ट उत्कर्ष अपकर्ष से युक्त हर आदि संज्ञा जहाँ कहना अभीष्ट हो वहाँ पुनरुक्ति नहीं होती, वैसा न होने पर पुनरुक्ति होती है, जैसे 'पायात् स शीतकिरणाभरणो भवो वः'—में (भव पुनरुक्त है)।

सकृदेव प्रयुक्तेन यत्र साम्याभिधायिना ।
अन्येषामुपमानत्वं सामर्थ्यादवगम्यते ॥ ५४ ॥
तत्रासकृत् प्रयोगोऽस्य पौनरुक्त्याय कल्पते ।

सकृदेव—साम्य का अभिधान करने वाला इव आदि शब्द 'निर्याय विद्याथ'—आदि स्थलों में (असकृत् प्रयुक्त होने पर पुनरुक्त होता है ।

यद्वदव्यभिचारस्य कारकस्याविशेषणा ॥ ५५ ॥
अर्थस्यानुमितस्योक्तिर्नोत्येति पुनरुक्तताम् ।
यद्वशाद् यदभिव्यक्तिस्तदुक्तौ नाददीत तत् ॥ ५६ ॥

जिस प्रकार नित्यसंवद्धकारक का विशेषण के विना शब्दतः कथन पुनरुक्ति-जनक होता है (वैसे ही) उस अर्थ का कथन भी जिसकी प्रतीति अनुमिति द्वारा हो चुकी हो ।

यदि किसी एक पदार्थ से (उसकी अपनी प्रतीति के साथ साथ उससे संबन्धित) किसी अन्य पदार्थ की प्रतीति सी होती हो तो उस (अन्य पदार्थ की प्रतीति कराने में समर्थ अर्थ) का शब्दतः कथन हो जाने पर (अपने आप प्रतीत हो सकने वाले) अन्य (पदार्थ) का कथन (शब्दतः) नहीं करना चाहिए ।

सकृदेवेति साम्याभिधायी इवशब्दादिः, 'निर्याय विद्ये'त्यादौ ॥ ५४ ॥
यद्वदिति दृष्टान्तमुखेन 'जनैरजातस्खलनैरि'त्यादि सङ्गृहीतम् ॥ ५५ ॥
अर्थस्येति 'राहुस्त्रीस्तनयोरि'त्यादौ । यद्वशादिति यत्र कारकविशेषवशात् क्रियायाः प्रतीतिः क्रियाविशेषवशाद् वा कारकस्य तत्र क्रियाकारकयोः प्रयोगो न कार्यं इत्ययमर्थः । यथा 'मा भवन्तमि'त्यादौ ॥ ५६ ॥

यद्वद्—इस प्रकार दृष्टान्त द्वारा 'जनैरजातस्खलनैः० आदि को लिया ।
अर्थस्य—'राहुस्त्रीस्तनयोः'—आदि में :
यद्वशात् जहाँ किसी कारक द्वारा क्रिया की या क्रियाद्वारा कारक की प्रतीति हो जाती हो वहाँ या तो कारक का ही या क्रिया का ही प्रयोग करना चाहिए, दोनों का नहीं । यथा—'मा भवन्तमनलः—में ।

विमर्श : चौखंबा के पिछले (व्य० वि०) संस्करण में 'यद्वशादिति'—की जगह 'अथवा' छपा है । अर्थौचित्य के वल पर हमने उसे वदल दिया है ।

यो यद्धर्मोपचारेण यत्सम्बन्धान्वितोऽपि वा ।
तस्य तद्रूपणार्थोऽस्य न शाब्दी पौनरुक्त्यतः ॥ ५७ ॥

जो (अर्थ) किसी असाधारण धर्म के औपचारिक (लाक्षणिक) आरोप से (उसी धर्म से युक्त) जिस किसी 'अर्थ से संवन्धित हो रहा हो (उस अर्थ का आरोप) अर्थ द्वारा ही होना चाहिए, शब्द द्वारा नहीं क्योंकि उससे पुनरुक्ति होती है ॥ ५७ ॥

यो यद्धर्मेति 'अपरदिग्गणिके'त्यादौ यो दिग्लक्षणोऽर्थो यद्धर्मस्य गणिकाधर्मस्य निष्कासनादेरुपचारेणोपलक्षितः, तथा 'अम्बुनिधेर्ममन्थे' इत्यादौ यस्य कामुकस्य सम्बद्धं यद् हृदयादि तेनान्वितोऽम्बुनिधिलक्षणो यश्चार्थः, तस्य तद्रूपणा गणिकाकामुकरूपणा शाब्दी नेष्यते आर्थी पुनरिष्यत एव ॥ ५७ ॥

यो यद्धर्मेति (अनुरागवन्तमपि लोचनयोः = पद्य के) 'अपरदिग्गणिका' इत्यादि में जो दिशारूपी पदार्थ उसमें गणिका के असाधारण धर्म निष्कासन (घर से निकाल देना) आदि का औपचारिक प्रयोग हैं इसी प्रकार 'अम्बुनिधेर्ममन्थे' में कामुक से संबन्धित हृदय आदि का, अतः उन (दिशा और अम्बुनिधि) पर गणिका और कामुक का शब्दतः आरोप उचित नहीं, जहाँ तक आर्थ आरोप का संबन्ध है वह तो मान्य ही है।

विमर्श : 'आमोगिनेत्र'० इत्यादि पद्य में अम्बुनिधिपर कामुक का आरोप शब्दतः नहीं है। 'अपरदिग्गणिका' में अवश्य है।

प्रयुक्तान्तर्गतैरेव यत्र सोऽर्थः प्रतीयते।
प्रयोगस्तत्र शेषाणां पदानां पौनरुक्त्यकृत् ॥ ५८ ॥

जहाँ प्रयुक्त पदों में से ही किसी पद से किसी अर्थ की प्रतीति हो रही हो वहाँ उससे भिन्न अन्य पदों का प्रयोग पुनरुक्तिजनक होता है।

प्रयुक्तान्तर्गतैरेवेति 'मदिराद्रवे'त्यादौ ॥ ५८ ॥

प्रयुक्तान्तर्गत = 'मदिराद्रव'० इत्यादि पद्यों में।

कर्त्तर्यङ्गिनि रूढायां तत्क्रियायां च नेष्यते।
वाक् साधकतमाङ्गानामौचित्यादेव तद्गतेः ॥ ५९ ॥

प्रधानकर्ता और उसकी निरूढक्रिया में साधकतम अङ्गों का कथन (वाक्) मान्य नहीं। उसकी प्रतीति स्वतः औचित्य द्वारा हो जाती है ॥ ५९ ॥

कर्तरि इति प्रधानभूते राजादौ कर्तरि तत्क्रियायां च खड्गेन छेदक्रियायां रूढायां साधकतमस्य खड्गस्य बहूनि तदपेक्षयाङ्गानि धाराविनिपातादीनि तेषां वाग् वचनं नेष्यते यथा 'करकलिते'त्यादौ। एतदुक्तं भवति। राजादौ कर्त्तरि च्छेदादिक्रियायां यत् साधकतमं खड्गाद्यङ्गं तस्याप्यङ्गानां धाराविनिपातादीनां वचनं नेष्यते तेनैवाङ्गेन प्रधानभूतेनावान्तराङ्गानामाक्षेपात् ॥ ५९ ॥

कर्तरि—प्रधानभूत राजा आदि कर्ता में और उसकी क्रिया में अर्थात् 'खड्ग' से की जाने वाली छेदन-क्रिया में, साधकतम = खड्ग के बहुत से अंग = धारानिपात आदि का कथन मान्य नहीं। जैसे—'करकलित' इत्यादि पद्य में। अभिप्राय यह कि राजा आदि कर्त्ता हो और छेदन आदि क्रिया तो उसका साधकतम प्रधान अङ्ग खड्ग ही होता है उस (खड्ग) के धारानिपात आदि अङ्गों का कथन नहीं होना चाहिए। उसी प्रधानभूत अङ्ग से उसके अपने अङ्गों की प्रतीति हो जाती है ॥५९॥

दोषद्वयमिदं प्रायः समासविषयं मतम्।
यतोऽवकरभूयिष्ठा लक्षणैकपरायणैः ॥ ६० ॥
कृताः प्रतीतिविमुखैर्दृश्यन्तेऽनेकधा हि ते।
समासमत एवाहुः कवीनां निकषं परम् ॥ ६१ ॥

ये दो दोष प्रायः समासविषयक माने जाते हैं। क्योंकि केवल लक्षणमात्र में जुटे रहने वाले और प्रतीति से विमुख रहने वाले कवि समासों में कचरे-कूड़े जैसे इस प्रकार के अनेक शब्द भर दिया करते हैं। इसीलिए तो समास को कवियों की कसौटी कहा जाता है ॥ ६०–६१ ॥

दोषद्वयं 'प्रयुक्ते'ति 'कर्त्तरी'ति च प्रतिपादितम्। ते इति समासाः ॥ ६०–६१ ॥

दोषद्वय = अर्थात् 'प्रयुक्तान्तर्गतैः' इत्यादि द्वारा प्रतिपादित तथा 'कर्त्तर्यङ्गिनि' द्वारा प्रतिपादित। ते = वे अर्थात् = समास।

वृत्तावितरथा चोक्ते नान्यभाजि विशेषणे।
विशेष्योक्तिरयुक्तैव स्यात् तदव्यभिचारतः ॥ ६२ ॥

समास या वाक्य किसी में भी ऐसे विशेषण का, जो विशेष्य को छोड़कर और कहीं न लगता हो, कथन होने पर विशेष्य का कथन ठीक नहीं होता।

क्योंकि उस विशेषण से ही विशेष्य प्रतीत हो जाता है।

दोनों में व्यभिचार (एक दूसरे से अलग रहना) जो नहीं रहता।

वृत्ताविति। समासे वाक्ये वा असाधारणं यत्र विशेषणं तत्र विशेष्यं न वाच्यं यथा 'दुःखानुभवे'त्यादौ ॥ ६२ ॥

वृत्ताविति—समास या वाक्य में जहाँ विशेषण में असाधारणता हो विशेष्य का कथन नहीं होना चाहिए—जैसे 'दुःखानुभव' इत्यादिमें हुआ है।

यो यदात्मा तदुक्त्यैव तस्यार्थस्य गतिर्यतः।
तेन प्रयोजनाभावे द्वयोक्तिः पुनरुक्तिकृत् ॥ ६३ ॥

जो (बाष्पादि) जिस (जल आदि) स्वरूप का होता है उस (जल आदि) के कह देने से वह (बाष्पादि) प्रतीत हो जाता है. इसलिए यदि कोई प्रयोजन न हो तो दोनों कथन पुनरुक्ति-जनक होता है।

यो यदात्मेति। बाष्पादेर्जलादिरूपत्वाव्यभिचारात् प्रयोजनाभावे जलादिपदप्रयोगो न कार्य इत्यर्थः। यथा 'नयने बाष्पवारिणे'त्यादौ ॥ ६३ ॥

यो यदात्मेति—बाष्पादि नियमतः जलादिरूप ही होते हैं इसलिए निष्प्रयोजन जलादि पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जैसे कि 'नयने बाष्पवारिणा'—इत्यादि में हुआ है।

यो यस्य नियतो धर्मस्तस्य तेन न धर्मिणा।
समासः शस्यतेऽन्यार्थस्तत एव हि तद्गतेः ॥ ६४ ॥

जो धर्म जिस अर्थ में नियमतः रहता हो तो उस (अर्थ) के साथ उस (धर्म) का समास अच्छा नहीं माना जाता, क्योंकि समास अन्य (सादृश्य आदि) अर्थ के लिए होता है, और इसीलिए वह पदों में हो पाता है ॥ ६४ ॥

यो यस्येति यो निष्यन्दनादिः यस्य चन्द्रकान्तादेर्धर्मिणोऽव्यभिचारो धर्मः, तयोः समासो न प्रशस्यते, यथा 'द्विषद्वधूलोचने'त्यादौ। अन्यार्थं इति। साधर्म्यार्थं इत्यर्थः ॥६४॥

योयस्येति—जो निष्यन्दन आदि जिस चन्द्रिका आदि धर्मी का नित्यसम्बद्ध (अलग न होने वाला) धर्म है, उनका समास अच्छा नहीं, जैसे 'वधूलोचन' आदि में।

क्रियाप्रतीतिः करणप्रत्ययाव्यभिचारिणी ।
तदप्रतीतौ तादात्म्यात् सैवानवसिता भवेत् ॥ ६५ ॥
यदेतत् त्यागपाकादौ क्रियेत्युक्तेर्निबन्धनम् ।
तद्व्यक्तिर्यद्वशाद्यस्य तदुक्तौ नाददीत तत् ॥ ६६ ॥

क्रिया का ज्ञान करण के ज्ञान से अलग नहीं रहता, क्योंकि उस (करण) का ज्ञान न होने से उस (क्रिया) का ही ज्ञान नहीं होता, दोनों में तादात्म्य जो रहता है ॥ ६५ ॥

और क्योंकि 'त्याग-पाक' आदि को क्रिया शब्द इसी (करण व्यापार) के आधार पर कहा जाता है अतः किसी शब्द से किसी का करण आदि कथित हो रहा हो तो उस (शोक आदि) के कह देने पर पुनः उस (करण आदि) को (शब्दतः) नहीं कहना चाहिए ॥ ६६ ॥

क्रियेति क्रियायाः शोकादिलक्षणायाः प्रतीतिः करणक्रियाप्रतीतिं न व्यभिचरति करणमेव यतः क्रिया, तदप्रतीतौ करणाप्रतीतौ सैव शोकादिलक्षणा क्रिया न निश्चिता स्याद् एकत्वात् ।

त्यागक्रियेत्यत्रैतदेव क्रियाशब्दप्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तम् ॥ ६५ ॥

तत् तस्मात् यद्वशात् शोकादिशब्दप्रयोगवशाद् यस्य करणस्य व्यक्तिः प्रकाशस्तदुक्तौ शोकादिशब्दप्रयोगे तत् करणादिपदं न प्रयुञ्जीतेत्यर्थः, यथा 'शोकक्रियाकरणस्ये'त्यादौ ॥

क्रियेति—शोकादि क्रिया की प्रतीति करण (करना) क्रिया की प्रतीति से पृथक् नहीं रहती क्योंकि जो करण है वही क्रिया है।

तदप्रतीतौ—करण की प्रतीति न होने पर वही 'शोक' आदिरूप क्रिया अभिन्न होने के कारण निश्चितरूप से प्रतीत नहीं होती।

त्यागक्रियेति—त्यागादि क्रियाओं में यह (करण) ही प्रवृत्तिनिमित्त है जिससे त्यागादि शब्दों को क्रियाशब्द कहा जाता है।

तत् तस्मात् यत् = इसलिए, यद्वशात् = शोकादि शब्दों के आधार पर, यस्य = जिस करण की व्यक्तिः = प्रकाश, तदुक्तौ = उस शोकादि शब्द का कथन हो जानेपर, तत् = वह करण आदि शब्द प्रयोग में न लाए जाएँ। जैसे—कि 'शोकक्रिया करणस्य' इत्यादि में लाए गए हैं।

प्रयुक्ते चाप्रयुक्ते च यस्मिन्नर्थगतिः समा ।
न तत् पदमुपादेयं कविनाऽवकरो हि सः ॥ ६७ ॥

जिसका प्रयोग भी न हो परन्तु अर्थ का ज्ञान एकसा रहे उस पद का प्रयोग कवि न करे, वह फिजूल होता है ॥ ६७ ॥

प्रयुक्ते चेति प्रकृत्यादिपुनरुक्तानां चतुर्णामुपसंहारः ॥ ६७ ॥

प्रयुक्ते चेति = इस कारिका द्वारा प्रकृत्यादि चार पुनरुक्तों का उपसंहार किया।

अन्योन्याक्षेपकत्वे सत्यन्वयव्यतिरेकयोः ।
उभयोरुक्तिरेकस्य नात्येति पुनरुक्तताम् ॥ ६८ ॥

अन्वय और व्यतिरेक दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, अतः दोनों का साथ-साथ कथन होने पर कोई एक अवश्य ही पुनरुक्त होता है।

अन्योन्येति वाक्यपौनरुक्त्यसङ्ग्रहः।

उभयोरुक्तिरेकस्य। **उभयमध्यात् कस्यचित्। पौनरुक्त्यं नातिक्रामति। यथा 'सहसा विदधीते'त्यादौ ॥ ६८ ॥**

अन्योन्येति इसके द्वारा वाक्यपौनरुक्त्य भी संगृहीत कर लिया गया।

उभयोरुक्ति–दोनों में से किसी एक की पुनरुक्ति टाल नहीं पाता। जैसे—'सहसा विदधीत' इत्यादि पद्य में।

पुनरुक्तिप्रकाराणामिति दिङ्मात्रमीरितम्।
विवेक्तुं को हि कार्त्स्न्येन शक्नोत्यवकरोत्करम् ॥ ६९ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

इस प्रकार हमने पुनरुक्तिदोष के कुछ भेदों का संक्षिप्त निर्देश किया, भला बेकाम की चीजों को पूरी तौर से कौन गिन सकता है ॥ ६९ ॥

(५) वाच्यावचन

एवं पौनरुक्त्यं सप्रपञ्चं विचार्य वाच्यावचनं प्रपञ्चयितुमाह वाच्यस्यावचनं यथेति।

एवं पौनरुक्त्यम् = इसप्रकार विस्तारपूर्वक पुनरुक्तिदोष का विचार किया अब वाच्यावचन दोष का प्रपञ्च उपस्थित करने के लिए कहते हैं—'वाच्यस्यावचनम्' आदि।

वाच्यस्यावचनं यथा—

'कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी।' इति।

अत्र हि भ्रान्तौ निवृत्तायां तद्विषयभूतयोः सुरधनुर्धारासारयोरिव विद्युतोऽपि इदमा परामर्शो वाच्ये यत् तस्यावचनं स वाच्यावचनंदोषः। यथा च—

'कमलमनम्भसि कमले कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥'

अत्र हि द्वितीयः कमलार्थः सर्वनामवाच्यः। तस्य यत् स्वशब्देन वचनं स वाच्यावचनं दोषः। तेनात्र 'तस्मिंश्च कुवलये' इति युक्तः पाठः।

सर्वनामपरामर्शविषये योऽर्थवस्तुनि।
स्वशब्दवाच्यतादोषः स वाच्यावचनाभिधः ॥ ७० ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

वाच्य का अवचन (जिसे अवश्य कहना चाहिए उसका न कहा जाना) जैसे—'कनकनिकष- (कसौटी पर पड़ी सुवर्ण लेखा) के समान सुहावनी बिजली है, मेरी प्रिया उर्वशी नहीं।' यह।

यहाँ भ्रान्ति दूर होने पर उसका विषय बने धनुष और धारासार के समान बिजली का निर्देश भी 'इदं=यह' 'बिजली है यह,' इस प्रकार शब्द से होना चाहिए था, उसको उस रूपसे नहीं कहना वाच्यावचन दोष हुआ।

और जैसे—

स्थल पर कमल, कमल पर कुवलयों की जोड़ी, वे सब कनकलता में, वह भी सुकुमार सलोनी, यह उपद्रवों का ताँता कैसा ? यहाँ दूसरा कमलशब्द सर्वनाम द्वारा कहा जाना चाहिए। उसका अपने वाचक शब्द द्वारा कहा जाना—वाच्यावचन दोष हुआ इसलिए यहाँ 'तस्मिंश्च कुवलये' पाठ चाहिए।

'किसी भी सर्वनाम परामर्श योग्य अर्थ का अपने वाचक शब्द से कहने में जो दोष होता है वही वाच्यावचन है।'

असमासेन निर्देशो वक्ष्यमाणमेतत्समानन्यायमवाच्यस्य वचनमपि कटाक्षयितुम्।

इदमा परामर्श इति अबाधितप्रत्यक्षनिमित्तत्वाद् भ्रान्तिनिवृत्तेः प्रत्यक्षस्य च विषयमुखेन परामर्शार्हत्वात्। तस्य यत् स्वशब्देन वचनमिति पूर्वं सत्येव सर्वनाम्नि पुनः स्वशब्देन प्रतिपादनम्—

'सर्वनामपरामर्शयोग्यस्यार्थस्य यत् पुनः।
स्वशब्देनाभिधानं सा शब्दस्य पुनरुक्तता॥' इति।

पुनरुक्तमुक्तम्। इदानीं तु सर्वनामस्थानीयत्वेन स्वशब्देन वचनं वाच्यावचनमुच्यते।

'वाच्यस्य अवचनम्' इस प्रकार समास तोड़कर कहने का अभिप्राय अवाच्यवचनरूप एक ऐसे ही दोष को भी बतलाना है।

इदमापरामर्श = भ्रान्ति दूर होती हैं उस प्रत्यक्ष से जो बाधित नहीं होता। और जो प्रत्यक्ष होता है उसका विषय द्वारा निर्देश किया जाना चाहिये। 'तस्य यत् शब्देन वचनम्'—इस प्रकार पहले सर्वनाम के रहते हुए पुनः वाचक शब्द का प्रयोग पुनरुक्त दोष बतलाया गया था— 'सर्वनामपरामर्शयोग्यस्यार्थस्य…' इत्यादि द्वारा। यहाँ जो कहा जा रहा है, उसमें ऐसे शब्द के कथन में दोष का प्रतिपादन है जो सर्वनाम के स्थान पर प्रयुक्त होता है (सर्वनाम नहीं रहता, केवल उसके लिये स्ववाचक रहता है। पुनरुक्त सर्वनाम भी रहता है और स्ववाचक भी)।

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः' इति। अत्र हि कपालिशब्दो धर्मिधर्मोभयार्थवृत्तिः संज्ञिमात्रं वा प्रत्याययेत्, कपालसम्बन्धकृतं वा गर्हितत्वम्, उभयमपि वेति त्रयः पक्षाः। तत्र प्रथमे पक्षे विशेषप्रतिपत्तये कपालिग्रहणमपरमपि कर्तव्यं येनास्य गर्हितत्वं प्रतीयेत। द्वितीये पक्षे तस्याश्रयप्रतिपत्तये तेनैव तत्पर्यायेण सर्वनाम्ना वा विशेष्यमवश्यमुपादेयं भवति येन तस्य विवक्षितार्थसिद्धावार्थो हेतुभावोऽवकल्प्येत। तत्र तेनैवोपादाने यथा—

'सततमनङ्गोऽनङ्गो न वेत्ति परदेहदाहदुःखमहो।
यदयमदयं दहति मामनलशरो ध्रुवमसौ न कुसुमशरः॥' इति।

पर्यायेणोपादाने यथा—

'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये।' इति।

अत्र हरस्येति पर्यायशब्देनोपात्तस्यार्थस्य पिनाकपाणित्वं धैर्यच्युतेरशक्यकरणीयतायामार्थो हेतुः अन्यथा हरग्रहणस्य पौनरुक्त्यं स्यादिति।

यथा च—

'एकः शङ्कामहिकुलरिपोरत्यजद्वैनतेयादि'ति।

सर्वनाम्ना यथा—

'दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः॥' इति।

अत्रापि सर्वनाम्नोपात्तस्यार्थस्य वामलोचनात्वं मनसिजदाहजीवनयोरन्योन्यविभिन्नयोरप्यभिन्नहेतुकत्वोपपत्तावार्थो हेतुः इतरथा वामलोचनात्वस्य पुनरुपादानप्रसङ्गः।

अत एव तृतीयः पक्षो न सम्भवत्येव एकस्यैव शब्दस्यावृत्तिमन्तरेणानेकार्थप्रतिपादनसामर्थ्याभावात्। न चासावनिबन्धना शक्या कल्पयितुमिति वक्ष्यते। न चात्र किञ्चिन्निबन्धनमुक्तमिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः। तेन वरमयमत्र पाठः श्रेयान् अल्पदोषत्वात् 'द्वयं गतं सम्प्रति तस्य शोच्यतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।' इति।

अर्थभेदाद्द्विभिन्नेऽपि शब्दे सादृश्यमात्रजः।
आवृत्तिव्यवहारोऽयं मूलमस्यैकताभ्रमः॥ ७१॥

अतश्च—

तत्पर्यायेण तेनैव सर्वनाम्ना विनिर्दिशेत्।
आर्थहेतुत्वनिष्पत्तौ धर्मिधर्मोभयात्मकम्॥ ७२॥

इत्यन्तरश्लोकौ।

'द्वयं गतम्'—इत्यादि पद्य में कपाली शब्द धर्मी और धर्म दोनों अर्थ का वाचक है, यहाँ वह (१) या तो केवल धर्मी का बोध करा सकता है या (२) कपाल सम्बन्ध से उत्पन्न गर्हितता रूपी धर्म का (३) अथवा दोनों का—ये तीन पक्ष संभव हैं।

इनमें से प्रथम पक्ष में (संज्ञीमात्र का बोध मानने पर) विशेष (कपालवत्त्व) का ज्ञान कराने के लिये एक दूसरे कपाली शब्द का प्रयोग आवश्यक होगा। जिससे इनका गर्हितत्व प्रतीत हो सके। द्वितीय पक्ष में—उस (धर्म) के आश्रय का बोध कराने के लिये उसी (धर्मि-वाचक शब्द) के अथवा पर्यायवाची शब्द और सर्वनाम में से किसी के द्वारा विशेष्य का उपादान अवश्यमेव करना होगा जिससे विवक्षित अर्थ का ज्ञान होने पर उसका आर्थ हेतुत्व सिद्ध हो सके। इन तीनोंमें से उस (धमि-वाचक शब्द)—के द्वारा उपादान होने पर यथा।—

'अनङ्ग सर्वदा अनङ्ग ही है, दूसरे के देह-दाह का दुःख नहीं जानता, यह मुझे निर्दय होकर जला रहा है, इसलिए यह कुसुमशर नहीं अनलशर है (आग के बाण वाला) है।' पर्याय द्वारा उपादान करने पर—'पिनाकपाणि हर का भी धीरज छुटा सकता हूँ'— यहाँ 'हर' इस पर्याय शब्द द्वारा जिस अर्थका उपादान किया गया उसकी पिनाकपाणिता = धैर्यच्युति की अशक्यता में आर्थ हेतु है। नहीं तो हर का उपादान पुनरुक्त हो जाय। और जैसे :—'एक का सर्पकुल के शत्रु गरुड से भय छूट गया' (रघुवंश-१७)—यहाँ (गरुड)। सर्वनाम द्वारा जैसे—'आँख से

जले काम को जो आँखों द्वारा ही जिला देते हैं हम उन त्रिनेत्र (शंकर) को जीतने वाली सुन्दर आँखों वाली स्त्रियों की तारीफ करते हैं।'

यहाँ भी सर्वनाम द्वारा कथित अर्थ का वामलोचनात्व—काम के दाह और जिलानेरूप दो विभिन्न कार्यों में एक ही की हेतुता को बतलाने वाला आर्थ हेतु है। नहीं तो वामलोचनात्व पुनरुक्त होता। इसलिये तीसरा पक्ष नहीं हो सकता, एक ही—शब्द पुनः कथन के बिना अनेक अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकता। यह हम आगे (तृतीय विमर्श में) बतलाएगें कि बिना हेतु के यह (प्रतीति) नहीं कराई जा सकती। यहाँ (द्वयं गतं⋯में) कोई भी हेतु नहीं बतलाया गया, इसलिये वाच्यावचन दोष है। इसलिये यह पाठ अधिक अच्छा होगा—'द्वयं गतं सम्प्रति तस्य शोच्यतां समागमप्रार्थनया कपालिनः'—उस कपाली के समागम की प्रार्थना से अब दो चीजें शोचनीय हो गई हैं। इस पाठ में दोष कम हैं। यहाँ जो यह (एक ही शब्द की) आवृत्ति—बतलाई जा रही है इसका कारण आकारसाम्यमात्र से उत्पन्न एकता का भ्रम है, यद्यपि शब्द अर्थ के भेद से भिन्न हो जाता है। इसी से—'उसी के पर्याय से या—स्वयं उसीसे या फिर सर्वनाम से निर्देश करे, यदि धर्मी और धर्म दोनों के बोध के लिये—आर्थ हेतुता सिद्ध करनी हो।'

धर्मिधर्मेति धर्मी हरलक्षणोऽर्थः। धर्मः कपालसम्बन्धेन गर्हितत्वम्। उभयं धर्मिधर्मात्मकम्। विशेषप्रतिपत्तय इति गर्हितत्वमत्र विशेषः। तस्येति गर्हितत्वस्य। एवं तस्य विवक्षितेत्यत्र ज्ञेयम्। विवक्षितोऽर्थः शोच्यतालक्षणः। आर्थ इति विशेषणद्वारेण भावात्।

वामलोचनात्वमिति। न चात्र वामलोचनेति विशेष्यपदम्। यतो यत्तच्छब्दद्वयोरथापितवाक्यार्थद्वयसामर्थ्यान्नायिकालक्षणस्य विशेष्यस्य प्रतीतिः। विशेषणमेवात्र वामलोचनापदम्।

तृतीय इति उभयवृत्तित्वाख्यः। न चासाविति आवृत्तिः। न चैपामिति तेनैव तत्पर्यायेण सर्वनाम्ना चेत्येषां प्रकाराणाम्। अल्पदोषत्वादिति। तस्येति व्यवहितसम्बन्धात् किञ्चिदुत्कृष्टत्वम्। तस्य समागमप्रार्थनयेति वाच्यम्।

अर्थभेदादिति। अयमर्थः एकस्यासकृद्वृत्तिरावृत्तिः, यथा दरिद्राणां भोजने कांस्यपात्र्याः। तदुक्तम्—'आवृत्तिरसकृद्वृत्तिः' इति। न चार्थभेदे शब्दस्यैकत्वं न्याय्यम् अर्थभेदस्य प्रधानभूतस्य गुणभूतं शब्दं प्रति भेदकत्वात्। तस्मादत्र द्वयोः शब्दयोर्वस्तुवृत्तेन यत् सादृश्यं यश्च सादृश्यहेतुकः प्रतिपत्तॄणामेकताभ्रमः, तन्निबन्धनोऽयं मुख्य एवावृत्तिव्यवहार इति।

अतश्चेति। यत आवृत्तिर्न युज्यते, तत इत्यर्थः। धर्मिधर्मोभयात्मकमिति। उभयमये वस्तुनि प्रतिपित्सिते इत्यर्थः।

धर्मि धर्म—धर्मी हरस्वरूप पदार्थ, धर्म = कपाल सम्बन्ध से प्रतीत गर्हितता, उभय—धर्मी और धर्म दोनों।

विशेषप्रतिपत्तये—यहाँ विशेष है गर्हितता।

तस्य—अर्थात् गर्हितत्व की। इसी प्रकार 'तस्य विवक्षित' इस जगह भी समझना चाहिये।

विवक्षित अर्थ—शोच्यतास्वरूप।

आर्थ—अर्थात् विशेषण द्वारा कारण होने से।

वामलोचनत्व :—यहाँ वामलोचना यह पद विशेष्यवाचक नहीं है, क्योंकि यत् और तत् दोनों शब्दों से प्रतीत दो वाक्यार्थों के सामर्थ्य से नायिकास्वरूप विशेष्य की प्रतीति होती है। अतः वामलोचना शब्द केवल विशेषण है।

तृतीय—उभयवृत्तित्व नामक।

न चासाविति—अर्थात् आवृत्तिः।

न चैषाम्—उसीके द्वारा, उसके पर्याय के द्वारा या सर्वनाम द्वारा—इसप्रकार इतने प्रकारों का।

अल्पदोषत्व—'तस्य' इसका सम्बन्ध व्यवहित होने से कुछ उत्कृष्टता आई। (पूरी नहीं)। कहना था 'तस्य' को 'समागमप्रार्थना' के साथ—'तस्य समागमप्रार्थनया' इसप्रकार।

अर्थभेदाद्—अर्थात्—आवृत्ति का मतलब है एक का अनेक बार प्रयोग, जैसे—'दरिद्र लोगों द्वारा भोजन कराने में काँसे की थाली का। कहा भी है—असकृद् वृत्ति आवृत्ति। अर्थ भिन्न हो जाने से शब्द को एक नहीं मानना चाहिये अर्थ का भेद प्रधान होता है। वह अप्रधानभूत शब्द के भेद का कारण बनता है। इसलिये यहाँ वस्तुतः विद्यमान दो शब्दों का जो सादृश्य और उस सादृश्य के द्वारा उत्पन्न जो ज्ञाता का एकता का भ्रम—उसके आधार पर यह आवृत्ति—व्यवहार चल पड़ा है।

अतश्च—क्योंकि आवृत्ति ठीक नहीं होती इसलिये।

धर्मिधर्मो—दोनों वस्तु प्रतिपादन के लिये अभीष्ट है।

यत्रान्यस्येत्यादिना वाच्यावचनोदाहरणप्रसङ्गेन श्लेषं गुणदोषवत्तया विततं विचारयति।

यत्रान्यस्य—इत्यादि ग्रन्थ द्वारा वाच्यावचन दोष के उदाहरणों के ही प्रसङ्ग में श्लेष के गुण दोषों का विवेचन विस्तारपूर्वक करते हैं।

यत्रान्यस्यालङ्कारस्य विषयेऽलङ्कारान्तरनिबन्धः सोऽपि वाच्यावचनं दोषः। तत्र समासोक्तिविषये श्लेषस्योपनिबन्धो यथा—

'अलकालिकुलाकीर्णमारक्तच्छदसुन्दरम्।
आमोदिकर्णिकाकान्तं भाति तेऽब्जमिवाननम्॥'

अत्र हि अब्जसमुचितविशेषणोपादानसामर्थ्याक्षिप्तस्याब्जस्योपमानभावावगमः समासोक्तेरेव विषयो युक्तो न श्लेषस्य, तत्रैव तस्यानुमीयमानतया सचेतनचमत्कारकारित्वोपपत्तेः, श्लेषे तु तस्य वाच्यतया तद्विपरीतत्वादित्युक्तम्।

जहाँ कोई अन्य अलंकार उपयुक्त हो वहाँ अन्य किसी अलंकार का उपयोग वाच्यावचन दोष होता है। यथा—समासोक्ति के क्षेत्र में श्लेष का उपयोग। यथा—अलकालिकुल से घिरा कुछ-कुछ लाल रंग के छद (पत्र और अधर) से सुन्दर, आमोद (सुगन्ध और प्रहर्ष) से युक्त कर्णिका (कर्णफूल और बीजकोष) से अच्छा लगने वाला तुम्हारा मुख कमल के समान दिखाई देता है।'

यहाँ—कमल के योग्य विशेषणों के उपादानों से ही—आक्षिप्त हुए कमल का उपमान रूप से बोध हो जाता है, उसे समासोक्ति का ही विषय बनना चाहिये, श्लेष का नहीं। समासोक्ति

में वह अनुमान द्वारा प्रतीत होता है, अतः सहृदयों को चमत्कृत भी करता है। श्लेष में तो वह वाच्य हो जाता है, अतः चमत्कारी नहीं हो पाता।

अलकालीति। अलकान्येवालिकुलम् अलकसदृशं चालिकुलम्। छदोऽधरः पत्राणि च। प्रमोदः प्रहर्षः सौरभं च। कर्णिका कर्णाभरणं बीजकोशश्च।

न श्लेषस्येति। ननु श्लेषप्रस्तावे कः प्रसङ्गोऽब्जस्योपमानचर्चायाम्? नैतत्। अलङ्कारान्तरविविक्तविषयाभावेन सर्वालङ्कारापवादत्वाच् श्लेषस्य, उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एवात्र न्याय्यो नोपमेत्यभिप्रायः। अत एव श्लेषे तु तस्य वाच्यतयेत्युक्तम्।

अलकालि—अलक ही अलिकुल, और अलकसदृश अलिकुल। छद—अधर और पत्ते। आमोदः= प्रहर्ष और सुगन्ध, कर्णिका = कान का फूल और बीजकोष।

न श्लेषस्य—(शंका)—श्लेष के प्रसंग में कमल को उपमान बनाने की बात कैसी?— यह (प्रश्न ठीक) नहीं। श्लेष का अन्य अलंकारों से अलग कोई—क्षेत्र नहीं, वह सभी अलंकारों का बाधक है,—इसलिये यहाँ श्लेष ही मान्य है, उपमा नहीं। श्लेष से उपमा दब जाती है इसका केवल आभासमात्र होता है। इसीलिए कहा कि 'श्लेष में वह वाच्य हो जाता है।'

विमर्श : वस्तुतः यहाँ श्लेषमूला उपमा या रूपक ही माना जाना चाहिये। 'येन ध्वस्तमनोभवेन' आदि में श्लेष स्वतंत्र पाया जाता है। अतः वह बाधक नहीं माना जा सकता। उलटे उपमा, रूपक आदि अलङ्कार ही साधारण धर्म की निष्पत्ति के लिये श्लेष का बाध करते हैं क्योंकि साधारण धर्म बिना श्लेष के सम्भव नहीं। अतः उपमा ही श्लेष को दबा देती है और उसका आभासमात्र होने देती है। श्लेष सामान्य अलङ्कार है। उपमा आदि विशेष। वे श्लेष का बाध कर सकते हैं, श्लेष उनका नहीं।—यही व्यवस्था परवर्ती आलंकारिक आचार्य-मम्मट आदि को मान्य है। [द्र० काव्यप्रकाश नवम उल्लास]

यथा च—

'बंहीयांसो गरीयांसः स्थवीयांसो गुणास्तव।
गुणा इव निबध्नन्ति कस्य नाम न मानसम्॥' इति।

अत्र हि मुख्यवृत्त्या निबन्धोऽप्रस्तुतरज्ज्वादिगुणैककार्यः शौर्यादिषु गुणेष्वारोपितस्तेषां सामर्थ्यादेव तत्साम्यमवगमयतीत्ययमपि समासोक्तेरेव विषयो युक्तो न श्लेषस्य।

न हि विशेषणसाम्यमेवैकमप्रस्तुतार्थावगतिहेतुः, यथाहुः—

'प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता॥' इति।

किं तर्हि तत्कार्यसमारोपोऽपीति गुणा इवेत्यपास्यमेव।

'तुम्हारे गुण अधिक बड़े, अधिक गम्भीर और अधिक स्थूल हैं। वे किसके मन को गुण (रस्सी) के समान नहीं बांध लेते।' यहाँ वस्तुतः निबंध (बन्धन) मुख्य रूप से रज्जु आदि गुण का ही कार्य है वह शौर्य आदि गुण पर आरोपित है, वह अपनी शक्ति से शौर्य आदि का ज्ञान करा देता है। इसलिये यह भी समासोक्ति का ही विषय माना जाना चाहिये। श्लेष का नहीं।

केवल विशेषणों का साम्य ही अप्रस्तुत अर्थ का ज्ञान नहीं कराता है, जैसा कि कहा है—"प्रकृतार्थक वाक्य द्वारा उसी के समान विशेषणों से अप्रस्तुत अर्थ का कथन समासोक्ति—कहा गया है। अपितु उसके कार्य का आरोप भी (अप्रस्तुतार्थ की प्रतीति कराने वाला माना गया है) इसलिए 'गुणा इव' इसे हटा ही देना चाहिए।

निवन्ध इति निबध्नन्तीति निर्दिष्टः। तत्साम्यं रज्ज्वादिसाम्यम्। न श्लेषस्येति उपमाश्लेषस्येत्यर्थः। तेन रज्ज्वादिप्रतिपादकं गुणा इवेति न वाच्यम्।

ननु विशेषणसाम्यनिवन्धना समासोक्तिर्न च निवध्नन्तीति विशेषणमित्याह—न हि विशेषणसाम्यमेवेति। एतच्चास्माभिर्हर्षचरितवार्तिके निर्णीतमिति तत एवावगन्तव्यम्।

निवन्ध 'वंहीयांसो००' श्लोक में निर्दिष्ट निवध्नन्ति क्रिया से प्रतीत।

तत्साम्यम्—रज्जु आदि का साम्य।

न श्लेषस्य उपमाश्लेष का। इसलिए रज्जु आदि का प्रतिपादक 'गुणा इव' यह अंश नहीं चाहिए।

(शङ्का)—विशेषणों की समता से समासोक्ति होती है किन्तु यहाँ ('वंहीयांसो'० में आई) निवध्नन्ति क्रिया किसी का विशेषण नहीं है—इस पर उत्तर देते हैं 'न हि'—इत्यादि। इसे हमने हर्षचरितवार्त्तिक में विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है, अतः वहीं से समझ लेना चाहिए।

श्लेषस्य विषये उपमाया यथा—

'भैरवाचार्यस्तु दूरादेव दृष्ट्वा राजानं शशिनमिव जलनिधिश्चचाल' इति।

अत्र हि राजशब्द एवोभयार्थत्वाच्छशिनमाहेति श्लेषस्यायं विषयो युक्तः। यदत्र पृथक् तमुपादाय राजशशिनोरुपमानोपमेयभावोपनिबन्धः सोऽपि वाच्यावचनं दोषः। स ह्यार्थ एव तद्विदामधिकं स्वदते न शाब्द इत्युक्तम्। एवं—

'तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव॥'

इत्यत्रापि द्रष्टव्यम्। अत्र हि श्लेषविषये रूपकमासूत्रितमनादृत्योपमानुरागिणा कविना सैवोपनिबद्धा। न चासौ ताभ्यां स्पर्धितुमुत्सहते तयोर्यथापूर्वं प्रतीयमानार्थसंस्पर्शातिरेकात् तदनुविधायिनः सहृदयैकसंवेद्यस्य चमत्कारातिरेकस्य सम्भवादिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः।

श्लेष के स्थलों में उपमा का कथन जैसे—

'भैरवाचार्य राजा को दूर से ही देखकर चल पड़ा जैसे चंद्रमा को देखकर समुद्र।'

यहाँ अकेला 'राजा' शब्द ही चन्द्रमा का भी ज्ञान करा देता क्योंकि वह उभयार्थक है, अतः यहाँ श्लेष ही चाहिए था। उसे (राजा शब्द को) अलग से प्रयुक्त कर राजा और चन्द्रमा का सादृश्य बतलाया गया वह वाच्यावचनः दोष है। वह आर्थ रहता तो विदग्ध विद्वानों को अधिक स्वाद देता, शाब्द नहीं।

इसी प्रकार—

'उसके शुद्ध वंश में दिलीप नामक अधिक शुद्ध राजेन्दु हुआ जैसे क्षीरसागर में चंद्र।' [रघु०]

यहाँ भी समझना चाहिए। यहाँ श्लेष के स्थान पर रूपक दिया गया है। अन्त में उपमानुरागी कवि ने उपमा ही मढ़ दी। यह (उपमा) उन दोनों (श्लेष और रूपक) से होड़ नहीं लगा सकती। उनमें क्रम से (रूपक की अपेक्षा श्लेष में) प्रतीयमान अर्थ का स्पर्श अधिक रहता है इसलिए उस (प्रतीयमान) के ऊपर निर्भर सहृदयमात्र को समझ में आने वाला चमत्काराधिक्य भी संभव होता है। इसलिए वाच्य (अवश्यकथनीय) होने पर भी उस (श्लेष) का अवचन (अकथन) वाच्यावचन दोष हुआ।

पृथक्तमुपादायेति। तच्छब्देन शशी परामृष्टः। स ह्यर्थ एवेति उपमानोपमेयभावः।

श्लेषविषये इति। अत्र तिस्रः कक्ष्याः। राजशब्दस्योभयार्थत्वाच् श्लेषः। तदनाश्रयणेनेन्दुना रूपणं तत्पृष्ठे चेन्दुरिवेत्युपमा। ननु राजेन्दुरित्यत्र तूपमारूपकयोरेकपरिग्रहे साधकबाधकाभावात् सङ्करो न्याय्यः, न नियमेन रूपकम्। तत् कथमुक्तं 'रूपकमासूत्रितमि'ति। उच्यते। वक्ष्यमाणोपमाभिप्रायात् पौनरुक्त्यभयेन रूपकमाश्रितम्। उपमाया अभावे तु सङ्कर एवात्र युक्तः। यद्वोपमापेक्षया रूपकस्यात्र समासे स्फुटत्वेन प्रतीते रूपकं संश्रितम्। अनेनैव ह्यभिप्रायेण वक्ष्यति रूपकस्य विषये उपमाया यथेति। ताभ्यां स्पर्धितुमिति श्लेषरूपकाभ्याम्। तयोर्यथापूर्वमिति। उपमापेक्षया रूपकस्य रूपकापेक्षया श्लेषस्येत्यर्थः॥

पृथक् तमुपा०—तत् शब्द से शशी का निर्देश किया।

स हि—उपमानोपमेय भाव।

श्लेषविषये—इस विषय में तीन कोटियाँ हैं। राजशब्द उभयार्थ है इसलिये श्लेष हुआ, उसे छोड़कर राजा पर इन्दु का आरोप रूपक और उसके सहारे 'इन्दुरिव' यह उपमा।

शंका—'राजेन्दु' यहाँ उपमा और रूपक में से किसी एक को मानने में न कोई साधक है और न बाधक, इसलिये यहाँ संकर मानना ठीक है। रूपक मानना ठीक नहीं। इसलिये ग्रन्थकार ने यह कैसे कहा कि—'रूपकमासूत्रितम्'।

उत्तर—राजा के साथ इन्दु की उपमा अलग से—'इन्दुः क्षीरनिधाविव' दी गई है। राजेन्दु पद में भी उपमा मानने से उपमा पुनरुक्त हो जाती इसलिये रूपक माना। यदि वह उपमा होती तो वहाँ संकर ही माना जाता। अथवा यहाँ समास में उपमा की अपेक्षा रूपक अधिक स्पष्ट है। इसलिये रूपक ही बतलाया गया है। इसी अभिप्राय को लेकर ग्रन्थकार आगे भी कहेंगे—'रूपक के विषय में उपमा का—जैसे' इत्यादि।

ताभ्यां स्पर्धितुम् = श्लेष और रूपक से।

तयोर्यथापूर्वम्—उपमा की अपेक्षा रूपक का और रूपक की अपेक्षा—श्लेष का।

रूपकस्य विषये उपमाया यथा—

'ततो द्रुतं वैरमदाभितप्तः सोऽतीव रम्याद् भवनाद्रिकुञ्जात्।
विनिर्ययौ दानवगन्धहस्ती महाद्रिकुञ्जादिव गन्धहस्ती॥'

न चात्राद्याविन्दुगन्धहस्तिशब्दौ प्रशंसावाचिनावपरौ पुनरुपमानवाचिनाविति तयोर्भिन्नार्थत्वान्न यथोक्तदोषावकाश इति युक्तं वक्तुम् आद्याभ्यामेव ताभ्यां तदुभयार्थावगतिसिद्धेः।

नन्वेवम्—

'अनिराकृततापसंपदं फलहीनां सुमनोभिरुज्झिताम्।
खलतां खलतामिवासतीं प्रतिपद्येत कथं बुधो जनः॥'

इत्यादिकाव्यमुक्तदोषयोगादसदेव स्यात्। मैवं वोचः। यत्र हि यदलङ्कारप्रतिभानुगुणशब्दोपरचितः श्लेषस्तत्र तदलङ्कारनिबन्धस्तमेव श्लेषमभिव्यनक्ति नतु तस्य विषयमाक्रामतीति निबन्धनान्तराभावे सत्युपात्तस्यापि शब्दस्य यदेतदुपमानाभिधायितया द्विरुपादानं सा श्लेषस्यैवाभिव्यक्तिः, न तु तत्रालङ्कारान्तरसंस्पर्श इति तदतद्विषयताशङ्कैवात्र नावतरतीत्युक्तदोषद्वययोगासिद्धेः कथमिवास्य काव्यस्य दुष्टता स्यात्।

यदलङ्कारव्यक्त्यै ये शब्दास्तदितरोऽपि तैरेव।
व्यज्येताल्पतरैर्यदि तदसौ गृह्येत लाघवान्नान्यः॥ ७३॥
न ह्यस्ति निजे कर्मण्यलङ्कृतीनां स कश्चनातिशयः।
येन विधीयेतैका परा निषिध्येत वा कविभिः॥ ७४॥

इति सङ्ग्रहार्थौ।

रूपक की जगह उपमा का (कथन) जैसे—

'उसके बाद वैर और मद से गरम वह राक्षस-रूपी गंधगज अपने अतीव रम्य भवन से निकला जैसे—ऊँचे पहाड़ की झुरमुट में से गंधगज।'

यहाँ ऐसा कहना ठीक नहीं है कि 'इन्दु और गंधगज शब्द प्रशंसावाची है और बाद के उपमावाची। इसलिये दोनों के अर्थ भिन्न होने से उपर्युक्त दोष नहीं आता'—कारण कि शुरू के ही दोनों शब्दों से उन दोनों अर्थों की प्रतीति हो जाती है। शंका—यदि ऐसा है तो—

'विज्ञजन ख (आकाश) लता के समान खल (दुष्टता) को कैसे अपनाएं, जो तापसम्पत्ति को दूर नहीं कर पाती, जिसमें कोई फल नहीं, और जो सुमनों से रहित रहती है।—

इत्यादि काव्यों में उक्त दोष के कारण हेयता आ जायगी।'

(उत्तर—) ऐसा न कहिए—जहाँ जिस अलङ्कार का आभासमात्र कराने के लिये की गई पदरचना से श्लेष बनता है, वहाँ वह अलंकार उसी श्लेष को अभिव्यक्त करता है, उस (श्लेष) के क्षेत्र में वह स्वयं नहीं आ घुसता। इसलिये और किसी कारण के अभाव में केवल उपमा का आभास कराने के लिये एक बार कथित शब्द का जो पुनः दूसरी बार कथन है उससे श्लेष ही निकलता है, वहाँ दूसरे किसी अलङ्कार का स्पर्श भी नहीं है। इसलिये वहाँ यह शंका ही नहीं उठती कि इस पद्य में वह (उपमा) है या श्लेष ? इसलिये उक्त दोनों दोषों के प्रसिद्ध हो जाने से यह काव्य कैसे दुष्ट हो सकता है। इस प्रकार 'जिस अलंकार की अभिव्यक्ति के लिये जो शब्द दिये गये हों यदि उससे भिन्न अलङ्कार भी उतने ही गिने चुने शब्दों से व्यक्त होता हो तो उसी (दूसरे व्यक्त हो रहे) अलङ्कार को मानना चाहिये और किसी को नहीं।' कवियों की अपनी कृति (काव्य) में अलङ्कारगत ऐसी कोई विशेषता नहीं होती जिससे एक अलङ्कार का विधान किया जाय और दूसरे का निषेध।

नन्वेवं सतीति। अस्य दोषस्यातिप्रसङ्गं ब्रूते। ताप आतपोऽपि। फलं शाल्यादिकमपि। सुमनसः पुष्पाण्यपि। खलता दुर्जनत्वं, धान्यादित्तोदनस्थानं च। असती दूषणीया अशोभना च।

यदलङ्कारेति। खलतामित्यादावुपमोत्थापिते श्लेषे नोपमा श्लेषं बाधते। तस्य विविक्तविषयत्वाभावात्। श्लेषस्तु तां बाधते इति युक्तम्। अस्य न्यायस्यालङ्कारान्तरेऽपि भावाद् व्याप्तिगर्भमुक्तं यदलङ्कारेति।

निबन्धनान्तराभावे इति। सति समासोक्त्यादिनिबन्धने पूर्ववच् श्लेषोत्थापितोपमा न कर्तव्या स्यात्। नचात्रानिराकृतेत्यादिविशेषणसाम्यात् समासोक्तिरिति वाच्यम्। विशेषणानां नियतोपमानगामित्वाप्रतीतेः।

विषयताशङ्केवेति उपमाविषयत्वसम्भावनेत्यर्थः। क्वचित्तु तदतद्विषयतेति पाठः। तत्र श्लेषविषयत्वमुपमाविषयत्वं च युगपन्न शङ्कनीयं तयोरुत्सर्गापवादभावेन व्यवस्थितेरित्यर्थः।

उक्तदोषद्वयेति। उक्तं यच् श्लेषविषये दोषद्वयं-यत्र समासोक्तिविषये श्लेषः कृतः श्लेषविषये चोपमेति, तस्यात्र सम्बन्धाभावादित्यर्थः।

यदलङ्कारेति। श्लेषोपमादीनामलङ्काराणामभिव्यक्त्यर्थं ये शब्दा अब्जमिवेत्यादयः तेभ्योऽलंकारेभ्य इतरः समासोक्तिश्लेषादिः, तैरेव शब्दैः अल्पतरैरब्जमिवेत्यादिरहितैर्यदि व्यज्यते। तदासौ समासोक्तिश्लेषादिर्लघुत्वाद् ग्राह्यो, नापरः श्लेषोपमादिरित्यर्थः।

ननु शोभातिशयहेतुत्वमलङ्कारान्तराणां लक्षणम्। तद्विशेष्यते। तत् कथमिदमुक्तमित्याह—न ह्यस्तीति। शोभातिशयजनने निजे व्यापारे नास्त्यलङ्काराणां विशेषः। ततश्चैको गृह्यतेऽपरस्त्यज्यत इति न युक्तम्। गुरुलघुत्वमाश्रित्य पुनर्युज्यत एतन्नान्यथेति तात्पर्यम्। वाच्यातिशयापेक्षया चैतदुक्तम् प्रतीयमानत्वापेक्षया तु समनन्तरं विशेषो वक्ष्यते।

नन्वेवं सति—इस दोष की अतिव्याप्ति दिखलाते हैं।

ताप—आतप भी। फल = धान आदि भी, सुमनसः = फूल भी। खलता—दुर्जनता और धान आदि की दौरी, दांवन आदि द्वारा साफ करने का स्थान = खल (खलियान) उसका भाव।

असती—दूषणीय और अशोभन भी।

यदलङ्कार—'खलता' इत्यादि उपमा से उठाए श्लेष को उपमा नहीं दबाती क्योंकि श्लेष का स्वतंत्र स्थान नहीं है। यह ठीक है कि श्लेष उसको दबा देता है। यह बात और अलङ्कार में भी सम्भव है—इसलिये अधिक व्यापकता को मन में रख कर कहते हैं।—यदलंकार००।

निबन्धनान्तराभावे—समासोक्ति आदि के होने पर पहले के समान श्लेष से उत्पादित उपमा नहीं करनी चाहिये। यहाँ 'अनिराकृत००' आदि पद्य में विशेषण समान हैं इसलिये समासोक्ति है—ऐसा नहीं मानना चाहिये, कारण कि विशेषण किसी निश्चित उपमान में लगते हुए प्रतीत नहीं होते।

विषयता०—उपमाविषयत्व की सम्भावना। कहीं कहीं—'तदतद्विषयता' ऐसा पाठ है। वहाँ यह अर्थ होगा—श्लेष-विषयत्व और उपमाविषयत्व इसकी शंका एक साथ नहीं करनी चाहिये। वे उत्सर्ग (सामान्य) और अपवाद (विशेष) रूप से व्यवस्थित हैं।

उक्तदोषद्वय—श्लेष के विषय में जो दो दोष दिये 'एक जहाँ समासोक्ति के विषय में श्लेष किया जाय और दूसरा श्लेष के विषय में उपमा' उसका यहां कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदलङ्कार०—श्लेष-उपमा आदि अलंकारों की अभिव्यक्ति के लिये जो शब्द—अब्ज आदि (आते हैं) उन अलङ्कारों से दूसरे—समासोक्ति श्लेष आदि, तैरेव = उन्हीं, शब्दैः—शब्दों द्वारा, अल्पतरैः = 'अब्जमिव' इत्यादि से रहित जो छोटी मात्रा में होते हैं—यदि व्यक्त हों तो लाघव के कारण समासोक्ति और श्लेष आदि ही मान्य होने चाहिये, श्लेषोपमा आदि नहीं।

शंका—अलङ्कार में भिन्नता लाने वाला तत्त्व उनकी शोभतिशय उत्पन्न करने की शक्ति है, इसलिये अलंकार परस्पर भिन्न होते ही हैं। फिर यह कैसे कहा—इस पर उत्तर देते हैं नहि०० अलंकारों का अपना व्यापार शोभातिशय उत्पन्न करना है। उसमें कोई अन्तर नहीं है। इसलिये एक अलंकार माना जाय और दूसरा नहीं—यह ठीक नहीं। तात्पर्य यह कि वह गौरव और लाघव के आधार पर ठीक होता है। यह सब वाच्य अलंकारों के अतिशय को लेकर बतलाया, प्रतीयमान अलंकारों को लेकर तो अन्तर बतलाएँगे ही।

किञ्च सौन्दर्यातिरेकनिष्पत्तयेऽर्थस्य काव्यक्रियारम्भः कवेः, न त्वलङ्कारनिष्पत्तये, तेषां नान्तरीयकतयैव निष्पत्तिसिद्धेः भङ्गिभणितिभेदानामेवालङ्कारत्वोपगमात्। तेनात्र समासोक्तिश्लेषभङ्गिभ्यामेवार्थस्य यथोक्तचमत्कारित्वसिद्धिः, नोपमयेति तयोर्वाच्ययोर्यदवचनं स दोष एव।

न चालङ्कारनिष्पत्त्यै रसबन्धोद्यतः कविः।
यतते ते हि तत्सिद्धिनान्तरीयकसिद्धयः॥ ७५॥

यतः—

रसस्याङ्गं विभावाद्याः साक्षान्निष्पादकत्वतः।
तद्वैचित्र्योक्तिवपुषोऽलङ्कारास्तु तदाश्रयाः॥ ७६॥
तेनैषामप्रधानत्वादाधानोद्धरणादयः।
चारुतापेक्षयार्थस्य कल्प्यन्ते कविना स्वयम्॥ ७७॥

यदाहुः—

'मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैव भूषा लज्जेव योषिताम्॥' इति।
अत एव बहुष्वन्येष्वलङ्कारेषु सत्स्वपि।
काञ्चिदेव निबध्नाति शक्तिमानपि सत्कविः॥ ७८॥
यतः सर्वेष्वलङ्कारेषूपमा जीवितायते।
सा च प्रतीयमानैव तद्विदां स्वदतेतराम्॥ ७९॥
रूपकादिरलङ्कारवर्गो यमक एव हि।
तत्प्रपञ्चतया प्रोक्तः कैश्चित्तत्त्वार्थदर्शिभिः॥ ८०॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कवि काव्य-निर्माण में प्रवृत्त होता है—अर्थ में सौन्दर्य लाने के लिये, अलंकार लाने के लिये नहीं। वे (अलंकार) तो अपने आप चले ही आते हैं। कारण कि विचित्र ढंग से कहना ही तो अलंकार है। इसलिये यहाँ समासोक्ति और श्लेष—इन्हीं

दो ढंगों से पूर्व निर्दिष्ट चमत्कार आता है, उपमा से नहीं। उन (समासोक्ति और श्लेष) का कहा जाना आवश्यक था, इतने पर भी उन्हें नहीं कहा गया यह वाच्यावचन दोष हुआ।

संक्षेप में—

'कवि रसनिष्पत्ति में उद्यत रहता है, अलंकार-निष्पत्ति में नहीं। वे (अलंकार) तो उस (रस) की निष्पत्ति के संग लगे निष्पन्न हो जाते हैं।' क्योंकि—रस के अङ्ग होते हैं विभाव आदि। क्योंकि वे उसे साक्षात् निष्पन्न करते हैं। अलंकार उसपर आश्रित होते हैं। वे उस (रस) की विचित्र ढङ्ग से कथन की पुष्टि करते हैं। इसलिए ये अप्रधान होते हैं। चारुत्व के लिए कवि उनका उपादान और परित्याग स्वयं समझता रहता है। जैसा कि कहा है—

महाकवियों की वाणी अलंकार से युक्त होती है, तब भी उसकी वास्तविक शोभा इसी प्रतीयमान की झलक में होती है। जैसे स्त्रियों की लज्जा में। (ध्वन्यालोक ३)

इसलिए कवि शक्तिमान् होते हुए भी किसी एक अलंकार को अपनाता है, यद्यपि अलङ्कार बहुत से उपस्थित रहते हैं।

क्योंकि सभी अलङ्कारों में उपमा प्राण है। वह भी प्रतीयमान होने पर ही जानकार लोगों को अच्छी लगती है। (इसलिये) कुछ तत्त्वदर्शी लोगों ने रूपक आदि अलंकार वर्ग और यमक (श्लेष) को भी उसी (उपमा) का प्रपञ्च बतलाया है।

किञ्चेत्यादिना काव्यक्रियायां सौन्दर्यनिष्पत्तेः प्रयोजकत्वमलङ्कारनिष्पत्तेश्च अनुनिष्पादित्वं यथा पक्तावोदनाचामयोरित्याह। समासोक्तिश्लेषभङ्गिभ्यामेवेति। समासोक्त्या तु 'अलकाली'त्यादौ। श्लेषेण 'भैरवाचार्य' इत्यादौ। नोपमयेति। अलकालीत्यादावुपमा श्लेषोपमा। भैरवाचार्य इत्यादौ उपमेयोपमा। 'अत्र समासोक्तिश्लेषभङ्गिभ्यामेव' इत्येतद्ग्रन्थानुसारेण 'रूपकस्य विषये उपमाया यथे'त्यादिग्रन्थः प्रक्षिप्त इव लक्ष्यते। रूपकस्येहानुपसंहारात्, 'उक्तदोषद्वययोगानुपपत्तेः' इत्यस्य च पूर्वोक्तग्रन्थस्यात्र पक्षे अनाकलनात् अतश्चैवायं क्वचिदादर्शे न पठ्यते। अप्रक्षेपे तु रूपक—ग्रहणमिह कर्तव्यं स्यात्। तस्मात् स वा ग्रन्थो निवार्य इह वा रूपकग्रहणं प्रक्षेप्यम्। उक्तदोषद्वये'ति च प्रकृतौचित्येन व्याख्यातम्।

ते हि तत्सिद्धीति। रसबन्धसिद्धावलङ्कारा अवश्यं सिध्यन्तीत्यर्थः। निष्पादकत्वमिहानुमापकत्वम्। अत एव भरते 'रसनिष्पत्तिरि'त्यत्र रसानुमितिरिति व्याख्येयम्। तद्वैचित्र्यं विभावादिवैचित्र्यम्।

तदाश्रयाः परम्परया रसाश्रया रसाङ्गसिद्धेतव इत्यर्थः। तेनैषामिति। कवेरर्थगतं चारुत्वं तात्पर्येण सम्पाद्यं, नालङ्कारोपनिबन्धः अलङ्काराणां तत्रान्तरीयकत्वेनाप्राधान्यात्। अतश्चारुत्वं यथा निष्पद्यते तथा तेषामुपनिबन्धः कार्यः। तत्प्रयोजनाद्धाधानोद्धरणादय इत्यर्थः। नन्विहाधानोद्धरणादय इत्युक्त्या अलङ्काराणां परस्परं चारुत्वनिष्पादने विशेषः प्रतिपादितः। पूर्वं च 'न ह्यस्ति निजे' इत्यादिना विशेषाभाव उक्तः। तत् कथं न विरोधः। नैतत्। पूर्वमव्यवधानेन चारुत्वनिष्पादनं मनसिकृत्य विशेषाभावः प्रतिपादितः। इह तु विभावाद्युपकरणत्वेन गुरुलघुत्वादिना विशेष उक्त इत्यपेक्षाभेदान्न विरोधः कश्चित्।

कैश्चिदिति वामनप्रभृतिभिः।

किञ्च—इत्यादि से यह कहते हैं कि—काव्य-निर्माण में सौन्दर्य-निष्पत्ति प्रधान कारण है अलंकार-निष्पत्ति उसके पीछे लगे होती रहती है वैसे ही जैसे पाक क्रिया में भात और आचमन।

समासोक्तिश्लेषभङ्गिभ्यामेव—समासोक्ति द्वारा 'अलकालि'—आदि में। श्लेष द्वारा 'भैरवाचार्य' इत्यादि में।

नोपमया—अलकालि आदि में उपमा–श्लेषोपमा। और वाच्यार्थ इत्यादि में उपमेयोपमा। अत्र समासोक्तिश्लेषभङ्गिभ्यामेव' इस ग्रन्थ के अनुसार—

'रूपकस्य विषये उपमाया यथा' इत्यादि ग्रंथ प्रक्षिप्त दिखाई देता है। क्योंकि यहाँ रूपक का उपसंहार नहीं हुआ। इस पक्ष में 'उक्तदोषद्वययोगानुपपत्तेः' इस पूर्वोक्त ग्रन्थ का समन्वय नहीं हो पाता। इसलिए कुछ आदर्श प्रतियों में यह पाठ भी है। प्रक्षेप न मानने पर यहाँ रूपक—ग्रहण करना होगा। इसलिए या तो वह ग्रन्थांश हटा देने योग्य है या यही ग्रंथ प्रक्षेपयोग्य है। 'उक्त-दोषद्वय' यह प्रकृत प्रसङ्ग के औचित्य पर हमने स्पष्ट किया।

ते हि तत्सिद्धि—रसबन्ध सिद्ध हो जाने पर अलंकार अपने आप सिद्ध हो जाते हैं। निष्पादकत्व का अर्थ यहाँ अनुमापकत्व है, इसलिये भरतसूत्र में—'रसनिष्पत्ति' यहाँ 'रसानुमिति' यह व्याख्या करनी चाहिये।

तद्वैचित्र्यम्—विभावादिका वैचित्र्य।

तदाश्रयाः—परम्परा द्वारा आश्रय अर्थात् रसानुभव के हेतु।

तेनैषान्—कवि को अर्थ में चारुत्व प्रधानरूप से—(तात्पर्यरूप से) निष्पन्न करना होता है, अलंकारों का प्रयोग नहीं। अलंकार चारुत्व से नित्य सम्बद्ध नहीं रहते हैं, अतः गौण होते हैं। इसलिये उन अलंकारों की योजना ऐसी करनी चाहिये जिससे चारुत्व आ सके। उसके लिए—(अलंकारों का) आदान और परित्याग भी किया जाता है।

शंका = कहाँ आदान और परित्याग द्वारा अलंकारों में परस्पर विशेषता बतलाई जा रही है। और पहले 'न ह्यस्ति निजे' इत्यादि द्वारा विशेषता का अभाव बतलाया गया है। यहाँ विरोध क्यों नहीं ? उत्तर = ऐसा नहीं। पहले अव्यवधान को मन में रखकर विशेषता का अभाव बतलाया गया। यहाँ विशेषता बतलाई गई है विभावादि के उपकरण रूप से प्रयुक्त होने के कारण। वैसा होने पर अलंकारों में गौरव या लाघव आ जाते हैं। अतः अपेक्षाभेद होने से कोई भेद नहीं।

कैश्चित्—वामन आदि ने।

विमर्श : व्यक्तिविवेक के प्राचीन चौखम्भा संस्करण में अनुमापकत्व की जगह अनुभावकत्व छपा है।

अधुना यत् प्रतिज्ञामात्रेण प्रतिपादितं यथा 'शब्दस्य शक्त्यन्तराभावाद् व्यञ्जकत्वं न सम्भवती'ति तद्वाच्यावचनोदाहरणत्वोपयोगि—श्लेषप्रसङ्गेनोपपादयितुमासूत्रयति—

अब पहले जो केवल प्रतिज्ञामात्र से बतलाया गया था कि शब्द की दूसरी शक्ति न होने से व्यञ्जकता सम्भव नहीं—उसी को इस प्रकार के श्लेष-प्रसङ्ग से उपपन्न करने के लिये लिखते हैं—'स च' आदि जो वाच्यावचन का उदाहरण माना जा सकेगा।

स चायं द्विविधः श्लेषः शब्दार्थविषयतयोच्यते। तत्र शब्दविषयो यथा—

यत्रान्यूनातिरिक्तेन सादृश्यं वस्तुनोर्द्वयोः।
शब्दमात्रेण कथ्येत स शब्दश्लेष इष्यते॥ ८१॥
स शब्दैः कर्तृकर्मादिप्रधानार्थाविनाकृतैः।
निबद्धो धर्मिधर्मार्थैर्द्विविधः परिकीर्तितः॥ ८२॥

इत्थं समासतो ज्ञेयं शब्दश्लेषस्य लक्षणम् ।
अपरस्तु प्रसिद्धत्वादिहास्माभिर्न लक्षितः ॥ ८३ ॥
उभयत्राप्यभिव्यक्त्यै वाच्यं किञ्चिन्निबन्धनम् ।
अन्यथा व्यर्थ एव स्याच्छ्लेषबन्धोद्यमः कवेः ॥ ८४ ॥

वह श्लेष दो प्रकार का होता है शब्दविषयक और अर्थविषयक। दोनों में से शब्दविषयक जैसे—जहाँ दो वस्तुओं का ऐसा सादृश्य जो न कम हो न अधिक केवल शब्द द्वारा कहा जाता हो—उसे शब्दश्लेष कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है; कारण कि उसके प्रतिपादक कर्तृत्व-कर्मत्व आदि कारकभाव से 'नित्ययुक्त' शब्द दो प्रकार के होते हैं धर्मिवाचक और धर्मवाचक। इस प्रकार शब्दश्लेष का लक्षण संक्षेप में समझ लेना चाहिये।

दूसरा (अर्थश्लेप) प्रसिद्ध है, अतः हमने उसे नहीं बतलाया। अभिव्यक्ति दुतरफा हो इसके लिये (दोनों ही श्लेषों में) कोई न कोई कारण देना ही होता है। नहीं तो कवि का श्लेपरचना का श्रम व्यर्थ नहीं होता है।

स चायमिति। यस्समासोक्तिविषये कृतो यस्य च विषये उपमा कृता स इत्यर्थः।

द्विविध इति वक्ष्यमाणस्योभयश्लेपस्यैवात्रान्तर्भावः। आभ्यामेव सम्मुच्चिताभ्यां तस्योत्थापनात्।

यत्रान्यूनेति यत्र विशेष्यस्य विशेषणं न न्यूनीभवति नाप्यतिरिच्यते तत्र श्लेषः। मात्रग्रहणं लिङ्गवचनानां भेदादुभयसम्बन्धसहिष्णुशब्दतापरिग्रहार्थम्।

कर्तृकर्मेति। कर्तृकर्मरूपः आदिग्रहणात् क्रियारूपो यत्र प्रधानभूतोऽर्थः श्लेपेण स्वरूप-हानिं नीयते, न तत्र श्लेषो निरवद्य इत्यर्थः। तस्य च धर्मप्रतिपादकशब्दविषयत्वेन धर्मिप्रतिपादकशब्दविषयत्वेन च द्वैविध्यम्। उभयप्रतिपादकशब्दविषयत्वं तु दूषयिष्यते।

अपरस्त्विति। अर्थश्लेषः।

उभयत्रापि शब्दश्लेषेऽर्थश्लेषे च। यावत् इवादि निबन्धनं नाश्रितं तावदर्थान्तरम-प्रमाणकमेवेति श्लेपाभिव्यक्त्यर्थं निबन्धनमाश्रयणीयम्।

स चायम्—जिसे समासोक्ति की जगह प्रयुक्त किया गया और जिसकी जगह उपमा प्रयुक्त कर दी गई—वही यह श्लेष।

द्विविध—आगे जो उभयश्लेष कहा जाने वाला है—उसका अन्तर्भाव इन्हीं में होता है क्योंकि इन्हीं के मिल जाने से वह भी निकलता है।

यत्रान्यून—यहाँ विशेष्य का विशेषण न तो कम होता है और न अधिक वहाँ श्लेष होता है। मात्र शब्द इसलिये दिया कि जिससे लिङ्ग और वचन के भेद होने पर भी दोनों ओर अन्वित होने योग्य शब्द लिये जा सकें।

कर्तृकर्मेति—जहाँ कर्तारूप, कर्मरूप और आदि शब्द से क्रियारूप प्रधान पदार्थ की श्लेष द्वारा स्वरूपहानि होती हो, वहाँ श्लेष निर्दोष नहीं होता। वह दो प्रकार का होता है, धर्मप्रतिपादक शब्दविषयक और धर्मिप्रतिपादक शब्दविषयक। उभयप्रतिपादक शब्दविषयक को दूषित बतलाया जाएगा।

अपरस्त्विति—अपर = अर्थश्लेप।

उभयत्रापि—शब्दश्लेप और अर्थश्लेप में। जबतक इवादि कारण नहीं दिये जाते तब तक

वह किसी दूसरे ही अर्थ की प्रतीति कराता जाता है—इसलिए श्लेष की अभिव्यक्ति के लिए कोई कारण दिया जाना चाहिए।

तत्र धर्म्यर्थस्य श्लेषादभिन्नत्वं यथा—

'अत्रान्तरे फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासः कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानो महाकालः।' इति।

अत्र हि समासोक्तिनिबन्धना देवताविशेषवाचिनो महाकालशब्दस्यावृत्तिः, न तु तस्यैवोभयार्थत्वनिबन्धनेति वक्ष्यते।

उनमें धर्म्यर्थक (शब्द की) श्लेष से अभिन्नता यथा—

'इस बीच कुसुमसमययुग का संहार करता हुआ फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहास ग्रीष्म नामक महाकाल विकसित हुआ।' यहाँ देवताविशेष—(रुद्र) वाची महाकालशब्द की समासोक्ति द्वारा आवृत्ति होती है, न कि उभयार्थकता के कारण उसी (श्लेष) की—जैसा कि आगे चलकर कहेंगे।

अत्रान्तरे इति फुल्लमल्लिकाभिर्धवला येऽट्टास्त्रिपुरचतुष्पुरमहाप्राकारा आपणा वा तैः विकासो हासो यस्य तद्वच्च धवलाट्टहासो यस्य। कुसुमसमययुगं मासद्वयं रम्यत्वेन तत्सदृशं च युगं कृतादिमुपसंहरन् अजृम्भत विकसितवान् व्यक्ताननश्चाभूद् महाकालो दीर्घसमयः संहर्तृदेवताविशेषश्च। समासोक्तीति। महाकाल इत्यत्र महासमय इत्यक्लिष्टे विशेष्यपदे प्रयुक्ते विशेषणसाम्यादेव देवताविशेषप्रतीतेः समासोक्तिर्भवन्ती महाकालशब्दस्यावृत्तौ प्रमाणम्। नचात्र महाकालशब्दे प्रयुक्ते प्रयासः कश्चित्। येन 'अलकालिकुले'तिवत् समासोक्त्या श्लेषस्य वैयर्थ्यं शङ्क्येत।

अत्रान्तरे फुल्लमल्लिकाओं द्वारा धवल जो अट्ट अर्थात् त्रिपुर (तीन मंजिल) चतुष्पुर (चार मंजिल) के बड़े विशाल प्राकार या बाजार उनके द्वारा, विकसित होना ही है हास जिसका और उनके समान है हास जिसका।

कुसुमसमययुग—वसन्त का दो महीने का समय, रम्यतारूप साधारण धर्म से कृतयुग आदि भी, उन्हें समाप्त करता हुआ अजृम्भत—विकसित हुआ और मुख फैलाया। महाकाल—लम्बा समय और एक संहारक देवता।

समासोक्ति 'महाकाल'—इसकी जगह 'महासमय' इसी सरल विशेष्यशब्द का प्रयोग करने पर देवताविशेष की प्रतीति विशेषणों की समता से ही हो जाती। उससे समासोक्ति होती और महाकाल शब्द की आवृत्ति भी। महाकाल शब्द का प्रयोग करने में कोई प्रयास भी नहीं है जिससे 'अलकालिकुल०'-इत्यादि पद्य के समान समासोक्ति द्वारा श्लेष की व्यर्थता साबित हो।

निबन्धनाभावे तु तस्य दुष्टतैव यथा—

आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गामाक्रम्य च स्थितमुदग्रविशालशृङ्गम्।
मूर्ध्नि स्खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेनमुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते गिरीशम्॥'
इति।

कारण के अभाव में तो वह दुष्ट ही होता है। यथा—अच्छादितायत—। (श्लोक का अनुवाद व्याख्यान के अनुवाद से स्पष्ट है)

आच्छादितेति। पर्वतपक्षे आच्छादितं वैपुल्याद् दिशश्चाम्बरमाकाशं च येन, उच्चकैस्तरां गां भूमिं चाक्रम्य वर्तमानं महारोहपरिणाहानि शृङ्गाणि शिखराणि यस्य, तदौच्चत्याच्च शिरसि स्फुरच्चन्द्रलेखम्, एवंविधं नगेशं पर्वतराजं दृष्ट्वा को न विस्मितो भवतीत्यर्थः। हरपक्षे तु आच्छादितं परिधानीकृतं दिश एव आयतं वस्त्रं येन तथा उन्नतं स्थूलविषाणं च वृषभमधिरुह्य स्थितं, मस्तके चन्द्रकलान्वितं च नगेशं कैलासाधिपतिं साक्षात्कृत्य अनुगृहीतम्मन्यत्वेन को न विस्मयत इत्यर्थः।

पर्वतपक्ष में:—आच्छादित किया है (ढँक लिया है) विपुलता से दिशाओं और आकाश को जिसने, ऊँची गाय और भूमि को आक्रान्त करके विद्यमान हैं अत्यधिक ऊँचाई और चौड़ाई वाले शृंग-शिखर जिसके। उन (शिखरों) की ऊँचाई से सिर पर चन्द्रलेखा स्फुरित दिखाई देती है ऐसे नगेश अर्थात् पर्वतराज को देखकर कौन नहीं—विस्मित होता।

शिवपक्ष में:—आच्छादित किया है—परिधान बना लिया है दिशारूपी चौड़े वस्त्र को जिसने, और उन्नत अर्थात् ऊँचे और मोटे हैं सींग जिसके ऐसे बैल पर आरूढ़ मस्तक में चन्द्रकला से युक्त, नगेश अर्थात् कैलाशाधिपति (शिव) को देखकर अपने आपको अनुगृहीत मानकर कौन विस्मित नहीं होता।

विमर्शः—मूल में गिरीश शब्द है किन्तु व्याख्यान में नगेश शब्द माना गया है। मूल माघ में 'नगेश' ही है ४।१९।

अत्र हि आवृत्तिनिबन्धनं न किञ्चिदुक्तमिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः।

न च सकृत्प्रयुक्तोऽयं गिरीशशब्द एवोभयार्थत्वाच्छ्वेतो धावतीतिवद्यथायोगं प्रदीपवत् तन्त्रेण प्रसङ्गेन वार्थान्तरप्रतीतिनिबन्धनमिति शक्यते वक्तुं, तयोः प्रतिपत्तृपरामर्शानपेक्षं प्रदीपस्यापरपदार्थविषयत्वेन प्रवृत्तिदर्शनात्, न शब्दविषयतैवम्; शब्दो हि प्रतिपत्तृपरामर्शमन्तरेण नार्थान्तरे प्रतीतिमाधातुमलं, परामर्शश्च निर्निबन्धनो न भवितुमर्हति अतिप्रसङ्गात्, निबन्धनं चात्र न किञ्चिदुपकल्प्यत इति व्यर्थः श्लिष्टार्थशब्दान्वेषणप्रयासः कवेः।

यहाँ आवृत्ति का कोई कारण नहीं बतलाया, इसलिये—उसका अवचन (न कहा जाना) वाच्यावचन दोष हुआ। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि एक ही बार प्रयुक्त हुआ यह गिरीश शब्द ही उभयार्थक होने से—'श्वेतो धावति' के समान यथायोग प्रदीप के समान, तन्त्रद्वारा या प्रसङ्ग द्वारा दूसरे अर्थ की प्रतीति का कारण है—क्योंकि जो शब्द और प्रदीप हैं उनमें से प्रदीप दूसरे—पदार्थ की प्रतीति इस प्रकार कराता है कि उसमें ज्ञाता द्वारा (अपने) ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती। शब्द ऐसा नहीं करता। शब्द का यह स्वभाव है कि वह (अपने) परामर्श (ज्ञान) के बिना दूसरे अर्थ का ज्ञान ज्ञाता द्वारा नहीं करा सकता। और परामर्श बिना कारण के हो नहीं सकता, क्योंकि तब तो किसी भी अर्थ का ज्ञान होना संभव है। इस (आच्छादितायत०) पद्य में ऐसा कोई कारण नहीं बतलाया जा रहा है। इसलिये श्लेष युक्त शब्दों का अन्वेषण व्यर्थ ही है।

श्वेतो धावतीतिवदिति शब्दतन्त्रम्। प्रदीपवदिति—पुनरर्थतन्त्रम्। यथायोगमिति तुल्यप्रधानत्वेन साधारण्यं तन्त्रम्। अतुल्यप्रधानत्वेन तु प्रसङ्गः। तयोः प्रतिपत्तिरिति। किञ्चित् खलु वस्तु शक्त्यैव कार्यकारि यथा दीपादि। किञ्चित्तु परामर्शापेक्षं यथा धूमादि लिङ्गम्। यत्र यस्मिन् विषये परामर्शनैरपेक्ष्येण वस्तुशक्त्यैवोभयकारित्वं तत्र तन्त्रादि नान्यत्र। शब्दः परामर्शापेक्षोऽर्थप्रतीतिकारी। परामर्शो न निर्निबन्धन इति नात्र तन्त्रादिप्रवृत्तिः।

श्वेतो-धावति—यह हुआ शब्द तन्त्र। प्रदीपवत् यह हुआ अर्थतन्त्र।

यथायोग ऐसी साधारणता (दोनों ओर लगना) तन्त्र कहलाती है जिसमें (दोनों की) प्रधानता बराबर हो। जिस साधारणता में प्रधानता बराबर नहीं होती वह प्रसंग कहलाती है।

तयोः प्रतिपत्ति—कुछ वस्तु स्वरूपतः कार्य करती हैं जैसे प्रदीप। कुछ ज्ञात होने पर कार्य करती हैं जैसे—धूमादि अनुमापक हेतु। तन्त्र आदि वहीं होते हैं जहाँ परामर्श की आवश्यकता हो और परामर्शनिरपेक्ष होकर केवल स्वरूप से ही दोनों कार्य करने की शक्ति हो, अन्यत्र नहीं। शब्द जो है—वह परामर्श की सहायता से अर्थज्ञान कराता है। और परामर्श विना किसी हेतु के होता नहीं अतः यहाँ तन्त्र आदि का अवसर नहीं।

विमर्श : पूर्वपक्ष—दीपक जिस वस्तु को देखने के लिये जलाया जाता है उसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को भी दिखलाता है। वैसे ही शब्द भी जिस अर्थ के लिये प्रयुक्त होता है उसके अतिरिक्त अर्थ को भी बतला सकता है। उत्तर पक्ष—दीपक अन्य पदार्थों का भास करा सकता है और शब्द भी। किन्तु दीपक इतर पदार्थ के ज्ञान में अपने ज्ञान की और अपने साथ दूसरे पदार्थों के सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता। शब्द यह अपेक्षा रखता है। शब्द से अर्थज्ञान करने में स्वयं शब्द का ज्ञान अपेक्षित होता है और साथ ही शब्द और अर्थ की संकेत शक्ति का ज्ञान भी। जहाँ अनेक अर्थों में शब्द प्रयोग होता है वहाँ प्रकरण द्वारा ज्ञाता का ज्ञान केवल एक ही अर्थ में ठहर जाता है। दूसरे अर्थ के लिये उसका पुनर्जागरण आवश्यक होता है। यह जागरण विना किसी कारण के संभव नहीं होता। इसलिये श्लेषस्थल में दूसरे अर्थ का ज्ञान करने के लिये कोई-न-कोई कारण उपस्थित करना आवश्यक होता है। इस प्रकार प्रदीप की स्थिति से शब्द की स्थिति अलग है। 'आच्छादितायत०' पद्य में शिवरूपी अर्थ का ज्ञान कराने के लिये कोई कारण नहीं बतलाया गया है अतः वहाँ वाच्यावचन दोष है।

यथा च—

'विदधतः पथिकक्षपणं प्रति स्मृतिभुवो निजशक्त्युपबृंहणम्।
दधुरहार्यभटाः सहकारितामनवमा नवमाधवसङ्गिनः॥'

अत्र हि सहकारिशब्देन सहकर्तुं शीलत्वं सहकारसम्बन्धश्चेत्युभयोऽर्थः श्लेषेण विवक्षितः। तत्र रम्यतातिरेकलक्षण एक एव ततः प्रतीयते नापरो निबन्धनाभावादिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः।

और जैसे—''अनवम' (न अवम = तुच्छ = छोटे) ऊँचे-ऊँचे और नवमाधवसङ्गी (नए वसन्त से युक्त) अहार्य भटों (अहार्य पर्वत भट वीर) ने स्मरण से उत्पन्न (काम) की

अपनी शक्ति को पथिकक्षपण (राहगीरों को दुःखी बनाने) में और अधिक बढ़ाने के लिये सहकारिता (सहयोग, सहकारी = सहकार वृक्षवान् , तद्भाव = सहकारिता धारण की ।'

यहाँ 'सहकारी' शब्द द्वारा श्लेष से दो अर्थ विवक्षित हैं—एक सहयोग देना और दूसरा सहकार नामक आम्र वृक्ष से युक्त होना। उनमें से एक (सहकारवृक्ष सम्बन्धी) अधिक रम्य हैं रम्यता का अत्यधिक आधायक है) वही प्रतीत होता है। दूसरा नहीं। क्योंकि उसकी प्रतीति में कोई कारण नहीं बतलाया गया। इसलिये उसका अकथन वाच्यावचन हुआ।

अहार्यः पर्वतः सहकारिता सहकरणशीलत्वं सहकारसम्बन्धश्च। अनवमा उत्कृष्टाः। नवः प्रत्यग्रः। माधवो वसन्तः। रम्यतातिरेकेति सहकारसम्बन्धरूप इत्यर्थः। तस्यं वाच्यस्येति। तच्छब्देन निबन्धनं परामृष्टम्।

अहार्यः—पर्वत (महीध्रे शिखरिक्ष्माभृदहार्यधरपर्वताः—अमरः)।

सहकारिता—सहयोग दान का स्वभाव और सहकारवृक्ष का संबंध। अनवमा—उत्कृष्ट। नवः—ताजा। माधव—वसन्त। रम्यतातिरेक—सहकार सम्बन्ध रूप अर्थ। तस्यवाच्यस्य—तद् शब्द से निबन्धन (कारण) की ओर संकेत है।

विमर्श : क्षपण, स्मृतिभू , शक्ति, अहार्य, भट, अनवम, नवमाधवलक्ष्मि और सहकारिता के दूसरे भी कोई अर्थ होने चाहिये। इनके लिये विशिष्ट कोशों से सहायता ली जानी चाहिये।

एकोऽनेकार्थकृद् यत्र स्वभावेनैव दीपवत्।
समयस्मृत्यनाकाङ्क्षस्तन्त्रस्य विषयो हि सः ॥ ८५ ॥
शब्दे त्वसिद्धमेकत्वं प्रत्यर्थं तस्य भेदतः।
सादृश्यविप्रलब्धस्तु लोकस्तत्त्वमवस्यति ॥ ८६ ॥
नैतावतावगन्तव्या तस्यानेकार्थवृत्तिता।
नात एव प्रसङ्गस्य पदं शब्दोऽवकल्पते ॥ ८७ ॥
न चानिबन्धना युक्ता शब्दस्यार्थान्तरे गतिः।
तच्चानेकविधं प्रोक्तमव्ययानव्ययात्मकम् ॥ ८८ ॥
तस्मादर्थान्तरव्यक्तिहेतौ कस्मिंश्चनासति।
यः श्लेषबन्धनिर्बन्धः क्लेशायैव कवेरसौ ॥ ८९ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

जहाँ एक ही (शब्द) दीप के समान स्वभावतः अनेक अर्थ का बोधक हो और उसको गृहीत संकेत का स्मरण अपेक्षित न हो, वहाँ तन्त्र माना जाता है। शब्द में एकता सिद्ध नहीं होती। वह प्रत्येक अर्थ में ('प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते' न्याय से) बदल जाता है। लोग सादृश्य (एकरूपता) के कारण (भिन्न अर्थ में प्रयुक्त शब्द को भी) तद्रूप समझते हैं। इस (सादृश्यमात्र) से उस (शब्द) की अनेकार्थता नहीं माननी चाहिये। इसलिये शब्द प्रसंग का विषय भी नहीं बनता और शब्द की जो दूसरे अर्थ में प्रवृत्ति होती है, वह विना किसी कारण के नहीं हो सकती। शब्द भी अनेक प्रकार का माना गया है। अव्ययरूप और उससे भिन्न प्रकार का। इसलिये विना

किसी कारण का उपादान किये, दूसरे अर्थ का बोध कराने के लिये कवि की श्लेषयोजना दुःखदायी ही होती है।

समयस्मृतिः सङ्केतस्मरणम्।

असिद्धमेकत्वमिति। ततश्च नायं तन्त्रादेर्विषयः। तत्त्वम् एकत्वम्।

अव्ययानव्ययात्मकमिति। अव्ययमिवादिः। अनव्ययं सदृशादिः।

समयस्मृतिः—संकेतस्मरण।

असिद्धमेकत्वम्—इसलिये यह तन्त्रादि का विषय नहीं।

तत्त्वम्—एकत्व।

अव्ययानव्ययात्मक—अव्यय इव आदि। अनव्यय—सदृशादि।

धर्मार्थस्य यथा—

'प्रकटकुलिशकुन्तचक्रभास्वत्परबलभीहितमत्तवारणाङ्काः।
दिशि दिशि ददृशे निशान्तपङ्क्तिः समरविमर्दभुवं विडम्बयन्ती॥'

अत्र व्यतिरेकालङ्कारनिबन्धना श्लेषाभिव्यक्तिः।

धर्मार्थक (शब्द) की (श्लेष से अभिन्नता) जैसे—

प्रत्येक दिशा में निशान्त (अन्तःपुर) की पीत युद्धसंघर्ष की भूमि की विडम्बना (अनुकरण, भर्त्सना) करती दिखाई दी। 'प्रकटकुलिशकुन्तचक्रभास्वत्परबलभीहितमत्तवारणाङ्का' थी (प्रकट आदि विशेषण का अर्थ नीचे व्याख्यान में देखिए)।

यहाँ व्यतिरेकालंकार से श्लेष अभिव्यक्त होता है।

धर्मार्थस्येति श्लेषादभिन्नत्वमिति योज्यम्। प्रकटेति कुलयश्चटकाः तदुक्तम्—'कुलिः कुलिङ्गश्चटक' इति, ते च ते शकुन्ताः शकुनयः तेषां चक्रेण समूहेन भास्वतीनां वलभीनां हिताः अनुरूपा मत्तवारणाः अङ्कः चिह्नं यस्याः, निशान्तोऽन्तःपुरम्। विडम्बयन्ती उपहसन्ती। समरभूपक्षे कुलिशं वज्रम्, कुन्ताः प्रासाः, चक्राणि अराणि, तैर्भास्वद्भिः। व्यतिरेको विडम्बयन्तीति प्रकाशितः। प्रकटेत्यादौ च विशेषणभागेऽत्र श्लेषः।

धर्मार्थस्य = इसकी श्लेष से अभिन्नता—ऐसी योजना कर लेनी चाहिए।

प्रकट—कुलि = चटका—गौरैया (चिड़िया) जैसा कि कोष में है, 'कुलिः कुलिङ्गश्चटकः' वे ही शकुन्त—चिड़िया, उनके चक्र समूह से भासित हो रही वलभी के हित = अनुरूप जो मत्तवारण रूप अंक = चिह्न है। जिसमें ऐसी निशान्तः—अन्तःपुर (की पंक्ति) विडम्बयन्ती—हँसती हुई।

समरभूमिपक्ष में—कुलिश = वज्र, कुन्त = भाला (प्रास), चक्र = अर—चक्रे, भासित होने वाले इनसे।

विडम्बयन्ती—कहकर व्यतिरेक बतलाया।

प्रकट—इत्यादिविशेषण भाग में यहाँ श्लेष है।

यथा च—

'उषसि विगलितान्धकारपङ्कप्लवशबलं घनवर्त्म दूरमासीत्।
मधुरतरणितापयोगतारं कमलवने मधुपायिनां च पङ्क्तिः॥' इति।

अत्र चशब्दः श्लेषाभिव्यक्तिहेतुः।

और जैसे—

उषाकाल में उधर तो घनवर्त्म (मेघपथ का आकाश) अत्यधिक विगलितान्धकारपङ्कप्लव और मधुरतरणितापयोगतार था और (इधर) कमलवन में मधुपों की पाँतें विगलितान्धकार पङ्कप्लव-शवलङ्घनवर्त्मदूरमा तथा अरम् (अत्यधिक) मधुरत—रणिता—पयोगता थीं। यहाँ च शब्द श्लेष की अभिव्यक्ति का हेतु है।

उषसीति। अन्धकार एव मलिनत्वात् पङ्कः, तस्य विगलितस्य प्लवोऽनवस्थानं तेन शबलं विचित्रम्, घनवर्त्म वियत्, दूरमत्यर्थम्, मधुरः सुकुमारो यस्तरणितापो रविप्रभा तद्योगेन तारं हृद्यम्, मधुपायिनो भ्रमरास्तेषां पङ्क्तिः अन्धकारपङ्कप्लव एव विगलनेन निस्सारत्वाच्छवः तस्य लङ्घनेन वर्त्मसु पक्ष्मसु दूरमा अरमणीयश्रीः, मधुरता मकरन्दासक्ता तथा रणिता सशब्दा, यद्वा मधुरतेन मकरन्दासङ्गेन रणितं गुञ्जितं यस्याः, पयोगता जलगता, अरमत्यर्थम्। अत्र घनवर्त्मशब्दस्योपमेयवाचिनः श्लेषेऽन्तर्भावात् धर्मिधर्मोभयार्थस्योदाहरणत्वे न्याय्ये धर्मार्थस्योदाहरणत्वं चिन्त्यम्।

(आकाश पक्ष में)—अन्धकार ही मलिन होने से पङ्क अर्थात् कीचड़ हुआ। उस विगलित हुए अन्धकार का जो प्लव—चञ्चलता, उससे शबल अर्थात् रंगविरंगा (जो) घनवर्त्म आकाश (वह) मधुर = सुकुमार जो तरणि = सूर्य का आतप = प्रभा; उसके योग से तार = हृद्य था।

(भौंरे के पक्ष में)—मधुपायी और उनकी पंक्ति = पाँतें, अन्धकार—पङ्कप्लव ही विगलित होने से और निःसार (प्राणरहित) होने से शव = मुरदा हुआ, उसके लंघन से वर्त्म में पाँखों में, (या देखने वालों की आँखों में) दूरमा—अरमणीय शोभा है जिसके। मधु-रता मकरन्द पर आसक्त, और रणिता—गूँजती, अथवा मधुरत से = मकरन्द के आसंग (पान) से रणित = गूँजन है जिसका। पयोगता—जल में विद्यमान। अरम्—अत्यधिक। यहाँ उपमेय वाची घनशब्द श्लेष में अन्तर्भूत हो जाने से जहाँ धर्मी और धर्म दोनों का उदाहरण बनना चाहिये था वहाँ केवल धर्मार्थ का ही उदाहरण बन पाता है यह विचारणीय बात है।

विमर्श : यहाँ व्याख्या में विगलितान्धकारपङ्कप्लवशबल' शब्द को मधुपपंक्ति के साथ लगाने का जो प्रयत्न किया गया है वह अधिक अच्छा नहीं है। हमारी समझ में विगलितान्धकारपङ्कप्लव शबला' इस प्रकार विभक्तिविपरिणाम द्वारा उसे पंक्ति के साथ अन्वित करना चाहिये। ऐसा करने से एक लाभ यह होता है कि 'च' इस समुच्चयबोधक अव्यय द्वारा पंक्ति के साथ समुच्चीयमान घनवर्त्म का भी बोध होता रहता है। शव—लंघन—वर्त्म—दूरमा करने पर पंक्ति के साथ घनवर्त्म का बोध नहीं होता। इसका कारण उसके वाचक घनवर्त्म शब्द का अभाव है। इस प्रकार का पद बनाने से घनवर्त्म शब्द नहीं रहता।

केचित् पुनः धर्मिधर्मोभयार्थस्यापि शब्दस्य श्लेषमिच्छन्ति, यथा—

'अनवरतनयनसलिलसिच्यमानस्तरुरिव विपल्लवोऽपि सहस्रधा प्ररोहति।' इति।

अत्र विपल्लवशब्दस्य। तद्वायुक्तम्। तथाहि—विपल्लवशब्दस्य धर्मिधर्मोभयार्थत्वेऽपि न धर्मार्थत्वम्, यतोऽयमुपमानस्य विशेषणभावमुपगन्तुं

नोत्सहते, तस्योपमेयाभिधाने चरितार्थस्यावृत्तेरनुपपत्तेस्तत्स्वरूपापहारप्रसङ्गात् ।

कुछ लोग धर्मी और धर्म दोनों ही पदार्थों के वाचक शब्दों का भी श्लेष मानते हैं जैसे—

अनवरतनयनसलिलसिच्यमान विपल्लव भी वृक्ष के समान सहस्रों शाखाओं में अंकुरित हो उठता है ।

यहाँ विपल्लव शब्द का (धर्मी और धर्म दोनों में ही श्लेष मानते हैं) पर यह ठीक नहीं। कारण कि विपल्लव शब्द धर्मी और धर्म दोनों अर्थों में है तब भी वहाँ धर्मार्थक (पल्लवराहित्य-वाचक) नहीं हो सकता। क्योंकि यह उपमान (तरु) का विशेषण नहीं हो सकता। वह उपमेय (विपत्ति के लेश) को बतलाकर समाप्त हो जाता है। अतः उसकी आवृत्ति नहीं हो सकती। आवृत्ति के अभाव में भी धर्मार्थक मानने पर) उपमेय का स्वरूप उच्छिन्न होने लगता है।

अनवरतेति। अनवरतं नयनसलिलेन सिच्यमानो वृद्धिं नीयमानः। तथा अनवरत नयनं प्रापणं यस्य तेन सलिलेन सिच्यमान आर्द्रत्वं प्राप्यमाणः। विपदो लवः सूक्ष्मभागो विपल्लवो विगतकिसलयश्च। प्ररोहति विस्तीर्णीभवति अङ्कुरांश्च मुञ्चति।

धर्मार्थत्वमिति। अत्र स्थितमपि धर्मार्थत्वं नोपमानविशेषणत्वायालं विशेषणत्वस्य कक्ष्यान्तरभावित्वात्। न चावृत्तिमन्तरेण कक्ष्यान्तरपरिग्रहो न्याय्यः। न चात्रावृत्तिः कार्या। प्रमाणाभावात्। अनावृत्तौ तु तस्यामेव कक्ष्यायां विशेषणत्वे उपमेयस्वरूपापहार-प्रसङ्ग इति पदार्थः। तस्योपमेयेति तच्छब्देन विपल्लवशब्दः परामृष्टः।

य पुनरिति श्लेषप्रयोजकः शब्दः। अप्रधानं विशेषणभूतम्। प्रधानस्य हि पूर्वोक्तन्यायेनावृत्तिर्न्याय्या। निबन्धनमिवादि।

अनवरत—लगातार, नयनसलिल = आँसुओं से-सिच्यमान सींचा जाता-आपत्तिकाल।

अनवरत—लगातार नयन = ले जाना (ढोना) हो रहा है जिसका ऐसा जो सलिलजल उससे सिच्यमान भिगोया जा रहा वृक्ष।

विपद—विपत्ति का लव = टुकड़ा, छोटा सा हिस्सा। विपल्लव पल्लव-रहित—वृक्ष।

प्ररोहति—विस्तृत होता है, और अंकुर निकालता है।

धर्मार्थत्व—यहाँ धर्मार्थत्व है, तब भी वह उपमान का विशेषण बनने में समर्थ नहीं। इसलिए कि उसमें विशेषणरूपता आती है—दूसरी कक्षा में और दूसरी कक्षा का ज्ञान आवृत्ति के बिना मान्य नहीं। (वह) आवृत्ति यहाँ की नहीं जा सकती क्योंकि उसमें कोई प्रमाण (हेतु) नहीं है। आवृत्ति के अभाव में उसी कक्षा में विशेषण-भाव प्रतीत होने से उपमेय का स्वरूप समाप्त होने की सम्भावना रहती है।

तस्यो०—यहाँ तद् शब्द से विपल्लवशब्द का परामर्श किया गया। यः पुनः—श्लेषोत्थापक पद।

अप्रधान—विशेषणभूत। पूर्वोक्त रीति से प्रधान की आवृत्ति मान्य है।

निबन्धनम्—इव आदि।

यः पुनरप्रधानमेवार्थमभिधत्ते न प्रधानमसावुपयुक्तार्थोऽपि निबन्धन-सद्भावे सत्यावर्त्तत एव। यथा—

'सानुस्थितिर्जनकराजसुतेव भास्वदङ्कोल्लपल्लवतया श्रियमेति यस्य।' इति॥

अत्र भास्वदङ्कोल्लपल्लवताशब्दः।

इह पुनर्द्विरुपादानमेवैकमुपमानसम्बन्धबुद्धिनिबन्धनमवसेयं न चेवाद्यव्ययमनव्ययमलङ्कारान्तरं वा किञ्चित् ।

किन्तु जो किसी अप्रधान अर्थ का अभिधान करता है प्रधान का नहीं, वह अपना अर्थ बतलाकर समाप्त हो जाता है इतने पर भी यदि कोई कारण उपस्थित हो तो उसकी आवृत्ति हो जाती है। जैसे—'जिसकी सानुस्थिति भास्वदङ्कोल्लपल्लवता के कारण सीता के समान सुहावनी लगती है।' यहाँ 'भास्वदङ्कोल्लपल्लवता' शब्द।

यहाँ (विपल्लवशब्द में) एकमात्र दो बार उपादान करना ही उपमान—सम्बन्ध का ज्ञान कराने में हेतु माना जाना चाहिये। न कि इव आदि अव्यय अथवा अव्यय से भिन्न और कोई या कोई अन्य अलंकार।

सानुः पर्वतस्य मालभूभागः। अङ्कोल्लाख्यास्तरवः तेषां पल्लवा भास्वन्तो यत्र। अङ्कोल्लशब्दः प्राकृतभाषापदमपि कविभिरतिप्रसिद्धया श्लेषादिषु प्रयुज्यते। तथा च 'सकुशाङ्कोल्लपल्लवा। मैथिलीव श्रियं धत्ते' इति परिमलेन प्रयुक्तम्। संस्कृते पुनरङ्कोठशब्दः स्थितः। तथा भास्वानङ्के उल्लपन् मुखरः लवाख्यः पुत्रो यत्रेति सामान्येनान्यपदार्थो गृह्यते।

इहेति विपल्लवशब्दे। इवाद्यव्ययमिति तरुरिवेति प्रयुक्तस्येवशब्दस्यान्यथा व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात्। अलङ्कारान्तरं समासोक्त्यादि।

सानुः—पर्वत की चोटी का भाग।

अङ्कोल्ल—इस नाम का एक वृक्ष, उनके चमचमाते पत्ते हैं जहाँ। अङ्कोल्ल—शब्द प्राकृत भाषा का है। अतिप्रसिद्ध होने से कवि उसे श्लेष आदि में संस्कृत के बीच दे देते हैं। परिमल कवि ने भी लिखा है—'सकुशाङ्कोल्लपल्लवा मैथिलीव श्रियं धत्ते'। संस्कृत में तो 'अङ्कोठ' शब्द है। और (सीता पक्ष में) भास्वान् = तेजस्वी तथा अङ्क = गोद में उल्लपन् बोल रहा लव = नाम का पुत्र है जिसका। इस प्रकार दूसरा पदार्थ (सीता) यहाँ सामान्यरूप से लिया जाता है।

('मालभूमाग' = 'मालमुन्नतभूतलम्'—इत्युत्पलमाला—मेघदूत १।१६ सञ्जीविनी।)

इह—विपल्लवशब्द में।

इवाद्यव्यय—तरुरिव—यहाँ जो इव शब्द है उसको आगे और सिद्ध किया जानेवाला है।

अलंकारान्तर—समासोक्ति आदि।

यत्र च प्रधानार्थसंस्पर्शमात्रादेवोभयार्थस्य शब्दस्य द्विरुपादानमवश्यं कार्यं तत्र तदेकार्थस्य तत् स्थितमेव। यथा—

'अभ्यस्येद्धा रुचिर्वो रुचिरिव रुचितस्याप्तये वस्तुनोऽस्तु।' इति।

यथा च—

'खलतां खलतामिवासतीं प्रतिपद्येत कथं बुधो जनः।' इति।

जहाँ कहीं उभयार्थक शब्द का प्रधान अर्थ के संस्पर्श मात्र से दो बार उपादान नियमतः करना ही पड़ता है वहाँ केवल एक अर्थके वाचक शब्द का वह (दो बार प्रयोग) नियमतः होता ही है। जैसे—

चाही हुई वस्तु की प्राप्ति के लिये इद्ध (धधकती) रुचि के समान सूर्य की इद्ध रुचि

(दीप्ति) आपके लिये चाही वस्तु की प्राप्ति का कारण बने।' और जैसे—(पहले आया) खलतां खलतामिवासतीं'।

प्रधानार्थसंस्पर्शमात्रादिति। यतः तेन पदेन सम्भवदप्रधानार्थेनापि प्रधानभूतोऽर्थः संस्पृष्टः, ततोऽन्तरसम्बन्धासहिष्णुत्वात् द्विरुपादानार्हत्वम्। यत्र च प्रधानाप्रधानोभयार्थस्य द्विरुपादानमवश्यं कार्यं, तत्र दण्डापूपिकया तदेकार्थस्य प्रधानमात्रार्थस्य शब्दस्य द्विरुपादानं न्यायसिद्धमेव।

रुचिर्दीप्तिः अभिलाषश्च रुचिः। अत्र द्वौ रुचिशब्दौ विशेष्यवाचित्वात् प्रधानार्थौ। ननूपमानस्य यदि विशेष्यत्वं नोपमेयविशेषणत्वं तत् कथमुपमेयसम्बन्धिन्युपमानस्य विभक्तिः। यथा 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' इति। नैष दोषः। विशेषणत्वमवच्छेदकत्वं तच्चोपमानस्योपमेयं प्रत्युपमितिक्रियायां विद्यत एव। अन्यथा तयोः सम्बन्धाभावादनन्वयप्रसङ्गः। स्थिते विशेषणत्वे तस्य न विशेष्यविभक्तेर्हानिः काचित्। यत् पुनरिहोपमानशब्दस्य विशेष्यवाचित्वमुक्तं तद् धर्मिताभिप्रायेण। धर्मी ह्युपमानम्। न च स्वतन्त्रत्वात् विशेष्यार्थः। अतश्चैवायं 'स्त्रीव गच्छति षण्ढोऽयम्' इत्युपमेयलिङ्गं न भजते। धर्मवाचि तु विशेषणं विशेष्यलिङ्गमेव। तदुक्तम्—'गुणवचनानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति' इति। तदेवमुपमानमुपमेयविभक्तिं भजते धर्मित्वं च न जहातीति। खलता आकाशवल्ली।

प्रधानार्थसंस्पर्शमात्रात्—क्योंकि उस पदने, जिसका कोई अप्रधान अर्थ भी सम्भव है, प्रधान भूत का स्पर्श किया है, अतः उसका और किसी अर्थ से सम्बन्ध न हो सकने के कारण दूसरी बार उपादान चाहिये। जहाँ प्रधान और अप्रधान दोनों अर्थों का दो बार उपादान अवश्य ही करना हो वहाँ दण्डापूपिका न्याय से—तदेकार्थक—प्रधानमात्रार्थ शब्द का दो बार उपादान स्वतः सिद्ध है। अर्थात् यदि किसी ने दण्डे (सींक) में रोटी पिरोकर रखी हो और यदि उस दण्डे को चूहा खा जाय या खींच ले जाय तो रोटी का खाया या खींचा जाना जैसे स्वतः सिद्ध होता है वैसे ही उभयार्थक शब्द का यदि दो बार प्रयोग आवश्यक हो तो एकार्थक के प्रयोग का दो बार होना स्वतः ही सिद्ध है।

रुचि—दीप्ति, और अभिलाषा भी रुचि। यहाँ दो रुचि शब्द विशेष्य वाची होने से प्रधानार्थक हैं।

(शंका)—यदि उपमान विशेष्य है, उपमेय का विशेषण नहीं तो उपमेय सम्बन्धी में उपमान की विभक्ति कैसे देखी जाती है जैसे—'वागर्थाविव संपृक्तौ' में।

(उत्तर)—यह दोष नहीं। विशेषणत्व होता है—अवच्छेदकत्व और वह उपमिति क्रिया में उपमान का उपमेय के प्रति है ही। ऐसा न होता तो उनमें सम्बन्ध न रहता और तब अन्वय न होता। विशेषणत्व होने पर भी उनमें विशेष्य की विभक्ति छूटती नहीं। यहाँ जो कि उपमानवाची शब्द को विशेष्यवाची बतलाया वह इसलिए कि उपमान धर्मी (सादृश्य या साधर्म्यरूपी धर्म से युक्त) होता है। उसे स्वतंत्रता के आधार पर विशेष्य नहीं—कहा गया है। इसलिये (धर्मी होने के कारण) यह (उपमान रूप विशेष्यार्थ) 'स्त्रीव गच्छति षण्ढोयम्'= देखो देखो यह नपुंसक स्त्री के समान चल रहा है—इत्यादि में उपमेय का लिंङ्ग नहीं अपनाता। जो विशेषण धर्म—वाची होता है वह विशेष्य के लिङ्ग को अपनाता है। कहा भी है—'गुणवाची शब्दों के लिङ्ग और वचन विशेष्य के लिंङ्ग और वचन पर निर्भर रहते हैं। इस प्रकार उपमान उपमेय की विभक्ति धारण करता है और धर्मित्व को नहीं छोड़ता। खलता—आकाशलता—

विमर्श: व्यक्तिविवेकव्याख्यानकार की यह स्थापना अत्यंत मौलिक है। इससे यह अभिप्राय निकलता है—उपमान उपमेय में विशेषण होता है, किन्तु अन्य विशेषणों के समान नहीं। अन्य विशेषण धर्म रूप होते हैं जब कि उपमान धर्मी होता है। उपमान की धर्मिता की पहचान यह है कि वह उपमेय रूप विशेष्य का लिंङ्ग नहीं अपनाता। वह केवल अवच्छेदक होता है। अवच्छेदक का अर्थ—परिमापक है। 'मुख सुन्दर है' कहने पर यह प्रश्न उठता है कि उसमें सौन्दर्य कितना है? उसके उत्तर में चन्द्र आदि उपमान उपस्थित कर दिये जाते हैं। उनसे यह प्रतीत होता है कि मुख का सौन्दर्य, सौन्दर्य के अगाध समुद्र का उतना बड़ा हिस्सा है जितना बड़ा चन्द्र का सौन्दर्य। इसप्रकार चन्द्र मुख के सौन्दर्य की नाप बन गया। इतने ही अर्थ में वह मुख आदि का विशेषण कहा जा सकता है। इस प्रकार उपमान—अवच्छेदकता-मात्र के आधार पर विशेषण माना जाता है। उपमान को धर्मी होने के आधार पर विशेष्य भी कहा जा सकता है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थ-कार ने 'रुचिरिवरुचिः'—यहाँ दोनों रुचि को विशेष्य माना है।

(दण्डापूपिकान्याय—मूषकेण दण्डो भक्षितश्चेदिहस्थः पूपोऽपि तेन भक्षित इति न्यायो दण्डापूपिका—साहित्य कौमुदी)

न चावृत्तिनिबन्धनमिवशब्दोऽत्र प्रयुक्त एवेति कुतः प्रधानार्थसंस्पर्शवशाद्विपल्लवशब्दस्य द्विरुपादानप्रसङ्ग इति शक्यते वक्तुं, तस्य तरुविपल्लवयोरुपमानोपमेयभावद्योतनमात्रचरितार्थस्य तयोर्विशेषणविशेष्यभावाभिधानसामर्थ्याभावात्।

अथ विपल्लवशब्दस्य तरुविशेषणभावोपगमयोग्यार्थान्तरसम्भवे तस्य तरुणा सामानाधिकरण्ये सत्याकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावशात् तयोर्विशेषणविशेष्यभावोऽवगम्यत इति चेत्, तन्न; वाक्यप्रभेदप्रसङ्गात् 'विपल्लवस्तरुरिव स च तरुर्विपल्लव' इति।

अथ समासोक्तिवशादुक्तनयेन तयोः सम्बन्धावगतिरिति। तदयुक्तम्। तस्या उपमानभूतधर्मिमात्रप्रतीतिसामर्थ्योपगमात्। इह तु तरुरिवेति तदुपात्तमेवेति व्यर्थ एवायमनेकार्थपदोपादानप्रयासः कवेः।

तस्मात् सलिलसिच्यमानत्वसहस्रधाप्ररोहादिसमानधर्मापेक्षयैवात्र तरुविपल्लवयोरुपमानोपमेयभावोऽवगन्तव्यः न तु श्लेषः, स हि भ्रान्तिमात्रकृतः।

यह नहीं कहा जा सकता कि 'यहाँ (तरुरिव विपल्लवोऽपि) में (विपल्लव की) आवृत्ति के लिये इव शब्द का प्रयोग किया गया है, इसलिये प्रधान अर्थ के संस्पर्श से उसके पुनः उपादान का प्रश्न ही कहाँ उठता है? (क्योंकि)—'वह' (इव शब्द), केवल तरु और विपल्लव—के उपमानोपमेयभाव को बतलाकर समाप्त हो जाता है; अतः वह उनके विशेषणविशेष्यभाव को नहीं बतला सकता। ऐसा कहना भी ठीक नहीं कि—'विपल्लव-शब्द का वह अर्थ भी सम्भव है जो तरु का विशेषण माना जा सके, ऐसा होने पर जब उसका तरु के साथ सामानाधिकरण्य हो जाता है तो आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के आधार पर उसका विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध भी जाना

जा सकता है' क्योंकि ऐसा करने पर वाक्यभेद की आपत्ति आती है। 'विपल्लव तरु' के समान और वह तरु विपल्लव (= पल्लव रहित)—इस प्रकार (का वाक्यभेद होगा)। यदि यह माना जाय कि 'समासोक्ति के आधार पर कथित रीति से उनके सम्बन्ध का बोध हो जायगा—'तो वह भी ठीक नहीं' क्योंकि उस (समासोक्ति) में केवल उपमानभूत धर्मि (जो कि शब्दतः कथित नहीं रहता) का प्रतीति की शक्ति मानी जाती है। यहाँ तो वह (उपमान) 'तरुरिव' इस प्रकार शब्द द्वारा कह दिया गया है, इसलिये कवि का अनेकार्थक पद का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। इसलिये यहाँ सलिल द्वारा सिच्यमानता और सहस्रधा-प्ररोहयुक्तता आदि साधारणधर्म को लेकर ही तरु और विपल्लव का उपमानोपमेयभावमात्र माना जाना चाहिये, श्लेष नहीं। उसकी प्रतीति तो केवल भ्रान्ति से होती है।

अत्र प्रयुक्त इति। तरुरिवेत्यत्र।

वाक्यभेदप्रसङ्गादिति 'सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यत' इति वाक्यभेदस्य प्रतिपत्तिगौरववत्त्वाद्धेयत्वम्।

अथ समासोक्तीति। अनवरतजलेत्यादेर्विशेषणस्य द्व्यर्थत्वात्। उपमानभूतेति। यत्रोपमानभूतस्य धर्मिणोऽन्यस्यार्थस्य गम्यमानत्वं तत्र समासोक्तिः, न साक्षादुपादान इत्यर्थः।

अत्र प्रयुक्त = तरुरिव यहाँ प्रयुक्त है।

वाक्य भेद प्रसंग—एकवाक्यता संभव हो तो वाक्यभेद अच्छा नहीं, इसप्रकार वाक्यभेद प्रतिपत्तिगौरव (ज्ञानगौरव) का कारण बतलाया—गया है।

अथ समाससोक्तिः—'अनवरतजल' इत्यादि विशेषण द्व्यर्थक है। (इससे समासोक्ति)।

उपमानभूता—जहाँ उपमानभूत किसी धर्मी का दूसरा अर्थ गम्य हो वहाँ समासोक्ति होती है, उसके शब्दतः उपादान में नहीं।

यथा च—

"क्वचित् तरुतलविवरवर्त्तिनो बभ्रव क्वचित् स्वच्छन्दचारिणो हरिणाः क्वचिज्जटावल्कलावलम्बिनः कपिला" इति।

और जैसे:—कहीं तरुतल और विवर में स्थित बभ्रु (पीले और नकुल = चातक) कहीं स्वच्छन्दचारी हरिण—(हरे रंग के और मृग) कहीं जटावल्कलावलम्बी कपिल—(पीले और कपिलमुनि)।

क्वचिदिति। बभ्रवः कपिलाः। एतद् दावाग्निविशेषणं सनकुललक्षणमर्थं प्रतिपादयतीति धर्मिधर्मोभयात्मत्वम्। एवं हरिणा हरिता मृगाश्च। जटा मूलानि केशसन्निवेशाश्च। वल्कलं वृक्षत्वक् तत्कृतं च वासः। कपिलाः पिङ्गला मुनिविशेषाश्च। आरोपविषयबहुत्वादारोप्यमाणानामपि बहुत्वम्।

क्वचिद्—बभ्रुः कपिल वर्ण के। यह दावाग्नि का विशेषण होते हुए नकुल (नेवला) का ज्ञान कराता है इसलिये धर्मीरूप भी है और धर्मरूप भी।

इसीप्रकार हरिण—हरे रंग के और मृग।

जटा—जड़ और केशों का एक विशेषण रूप।

वल्कल = वृक्ष की छाल और उसके द्वारा बनाया कपड़ा।

कपिल—पीले और उस नामके एक मुनि। आरोपविषय बहुत होने से आरोप्यमाण भी बहुत हुए।

एवमर्थश्लेषेऽप्यवगन्तव्यम्। यथा—

'समन्ततः केसरिणं वसन्तं भीमं च कान्तं च वपुर्वहन्तम्।
विलोक्य दूरात् तरसाभिमानो दुर्वारणः क्वापि गतः स मत्तः॥' इति।

इसी प्रकार अर्थश्लेष में भी समझना चाहिये। जैसे—'केसरी भीम (भयंकर, वियोगियों के लिये दुःखद और कान्तशरीर धारण किये हुए वसन्त को चारों और देखकर वह दुर्वारण अभिमान दूरसे—ही बड़े वेग के साथ मुझ से हट गया।' (वह मतवाला और विगड़ा हाथी शेर को रहता देख कहीं चला गया)।

केसरिणं वकुलपुष्पवन्तं सिंहं च। वसन्तं माधवं निवसन्तं च। अभिमानो धाराधिरूढो मानो महाप्रमाणश्च। दुर्वारणोऽशक्यवारणो दुष्टश्च करी। मत्तो मत्सकाशात् समदश्च। अभिमान इति न तथा हृदयङ्गमः पाठः।

केसरिणम्—वकुलपुष्पयुक्त (वसन्त को) और सिंह को। (केसर = वकुल पुष्प और सटा उससे युक्त वसन्त और सिंह)

वसन्तम्—वसन्त ऋतु को और रहते हुए (शेर) को।

अभिमानः—धाराधिरूढ़ मान और बहुत बड़े (मान) आकार का (हाथी)।

दुर्वारणः—जिसका निवारण सम्भव नहीं, और दुष्टगज।

मत्तः—मुझसे, और मद से युक्त।

यहाँ अभिमान यह उतना अच्छा पाठ नहीं है।

अत्र हि केसरिदुर्वारणयोर्वसन्ताभिमानयोश्च धर्मिधर्मोभयार्थयोरन्योन्यं विशेषणविशेष्यभावो रूप्यरूपकभावो वा निबद्धः। स चायुक्तः। न हि स्वतन्त्रपरतन्त्रतालक्षणविशेषणविशेष्याद्यात्मकविरुद्धोभयार्थाभिधानं सकृदुपात्तेनैकेनैव शब्देन शक्यते कर्त्तुम् अर्थयोरन्योन्यविरोधात्। द्विरुपादाने तु तयोर्भिन्नार्थत्वान्न कश्चित् दोषः। यथा—

'अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव॥'

इत्युक्तप्रायम्।

न च तदुपात्तमिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः।

यहाँ केसरी और दुर्वारण या वसन्त और अभिमान जो धर्मी और धर्म दोनों के अर्थ में है, उनका विशेषणविशेष्यभाव या रूप्यरूपकभाव निबद्ध किया गया है। वह अयुक्त है। केवल एक बार कथित शब्द के द्वारा स्वतंत्रता जिसका असाधारण धर्म है वह विशेष्य और परतंत्रता जिसका असाधारण धर्म है वह विशेषण तथा ऐसे और भी परस्पर विरोधी दो अर्थों का अभिधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे अर्थ परस्पर विरुद्ध होते हैं। दो बार उपादान होने पर वे भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हो जाते हैं, अतः कोई दोष नहीं रहता। जैसे—'काजल की बूँद के समान मनोहर और पुष्पपंक्ति पर टूटने वाले भौंरों से चिह्नित तिलक (वृक्ष), जिस

प्रकार प्रमदा को (माथे पर लगा) तिलक सुशोभित करता है उसीप्रकार तिलक वनस्थली को शोभित नहीं कर रहा था ऐसी बात नहीं।' इत्यादि में प्रायः कह दिया गया हो। परन्तु (समन्ततः इत्यादि पद्य में) वह (द्वितीय पद) नहीं दिया गया अतः वाच्य होने पर भी उसका अवचन (अकथन) वाच्यावचन दोष हुआ।

अन्योन्यमिति वसन्तमित्यस्य केसरिणमिति विशेषणं, सिंहपक्षे च केसरिणमित्यस्य वसन्तमिति। रूप्येति यः केसरी प्रतीतः स वसन्तस्य रूपकत्वेन न ताटस्थ्येन। एवं वसन्तमित्यस्य निवसनार्थयोगेऽपि वसन्तार्थः केसरिणो रूपकत्वेन योजनीयः। इत्थमेव दुर्वारणाभिमानयोर्वाच्यम्। विशेष्यत्वेन रूप्यत्वेन च स्वतन्त्रत्वं, तद्विपर्ययेण परतन्त्रत्वम्। विशेष्याद्यात्मकेति। आदिग्रहणेन रूप्यरूपकभावो गृह्यते।

तिलकस्तरुविशेषस्तिलकः विशेषकश्च।

अन्योन्येति—केसरी यह वसन्त का विशेषण है और वसन्त केसरी का।

रूप्य—जो केसरी प्रतीत हुआ वह वसन्त के रूपक के रूप में, तटस्थरूप में नहीं। इसी प्रकार 'वसन्तम्' का रहने अर्थ में प्रयोग होने पर भी वसन्त ऋतुरूपी अर्थ केसरी के साथ रूपकरूप से मिलना चाहिये। इसीप्रकार दुर्वारण और अभिमान का माना जाना चाहिये। विशेष्य होने और रूप्य होने से स्वतंत्रता, उसके विपरीत होने से परतन्त्रता।

विशेष्याद्यात्मक—आदि शब्द से रूप्यरूपकभाव का ग्रहण किया जाता है।

तिलक—एक वृक्ष और भाल का टीका।

तदभिव्यक्तिनिबन्धनसद्भावे तु तयोः प्रधानेतराभिव्यक्तौ विशेषणविशेष्यप्रतिनियमो युक्त एव। यथा—

'अतिगम्भीरे भूपे कूप इव जनस्य निरवतारस्य।
दधति समीहितसिद्धिं गुणवन्तः पार्थिवा घटकाः॥' इति।

अत्र हि इवशब्दनिबन्धनो गुणवत्त्वघटकत्वयोर्विशेषणविशेष्यभावः, न पार्थिवत्वस्यापि, तस्योपमेयतया प्राधान्यात् तस्य स्वरूपापहारापत्तेरित्युक्तम्।

उसकी अभिव्यक्ति का कारण विद्यमान हो तो उनकी प्रधानता और अप्रधानता की अभिव्यक्ति हो जाती है, और तब विशेषणविशेष्य का निश्चितरूप ठीक ही रहता है।—उदाहरणार्थ—'जो राजा कूप के समान अतिगम्भीर होता है उसमें उतरने में असमर्थ व्यक्ति की इष्टसिद्धि गुणवान् और पार्थिव घटक करते हैं।'

यहाँ इव शब्द के कारण गुणवत्व और घटकत्व का विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध है न कि पार्थिव का भी, क्योंकि वह उपमेय होने से प्रधान है। नहीं तो, उस (प्राधान्य) का स्वरूप ही उच्छिन्न होने लगेगा।

तदभिव्यक्ति रुभयार्थाभिव्यक्तिः। तयोरर्थयोः। गुणवन्तो रज्जुयुक्ता अपि। घटकाः सङ्घटयितारो ह्रस्वाश्च घटाः। पार्थिवा राजानः, ननु वक्ष्यमाणयुक्त्या पृथिवीविकारा व्याख्येयाः।

गुणवत्त्वघटकत्वयोरिति। यद्यप्यत्र समीहितसिद्धौ हेतुत्वेन व्यवस्थितस्य घटका इत्यस्य पार्थिवा इति प्रतिविशेषणत्वं, तथापि कूप इवेत्युपमासामर्थ्याद् विशेष्यत्वमपि घटते॥

गुणवन्तः—रज्जु से युक्त भी।

घटक—घटना (मिलन) करा देने वाले और छोटे-छोटे घड़े भी।

पार्थिव—राजा, न कि आगे कहे जाने वाले ढंग से पृथिवी के विकार भी।

गुणवत्त्वघटकत्वयोः—यद्यपि यहाँ समीहितसिद्धि में हेतु रूप से व्यवस्थित 'घटका' इसका 'पार्थिव' इसके प्रति विशेषणभाव है तो भी 'कूप इव' इस उपमा के आधार उसकी विशेष्यता भी बन जाती है।

किञ्च मत्त इत्यस्य द्विरुपादानेऽपि नार्थश्लेषो घटते तयोर्भिन्नविभक्तिकत्वादिति भ्रान्तिमात्रकृतस्तत्रार्थश्लेषाभिमानः।

किञ्च लक्षणवाक्ये शब्दमात्रेणेति यन्मात्रग्रहणं तदुपमानसामानाधिकरण्यतदितरयोग्ययोरुभयोरपि शब्दयोः परिग्रहार्थम्। तेन लिङ्गवचनविभक्तिविशेषयोगे सति यस्य तद्योग्यत्वमुपजायते तेनापि सादृश्यं कथनीयमित्यभ्यनुज्ञातं भवति।

तत्र लिङ्गविशेषयोगे सति यथा—

'उषसि विगलितान्धकारपङ्कप्लवशबलं घनवर्त्म दूरमासीत्।
मधुरतरणितापयोगतारं कमलवने मधुपायिनां च पङ्क्तिः॥' इति।

अत्र चशब्दनिबन्धना श्लेषाभिव्यक्तिः।

और 'मत्त' इसका दो बार उपादान होने पर भी अर्थ श्लेप बनता नहीं है क्योंकि उन दोनों [मत्तः मत्तः इसप्रकार दो बार प्रयुक्त हुए मत्त शब्दों] में विभक्ति भिन्न है। (एक में प्रथमा है और दूसरे में पंचमी) इसलिये वहाँ अर्थश्लेप की मान्यता केवल भ्रान्तिजन्य है। और (यत्रान्यूनातिरिक्तेन—इस) लक्षणवाक्य में 'शब्द मात्रेण' इसप्रकार जो मात्रशब्द का ग्रहण है वह (१) उपमान सामानाधिकण्य और (२) उससे भिन्न (वैयधिकरण्य) के योग्य इसप्रकार के दोनों शब्दों के संग्रह के लिए। इससे विशेष प्रकार के लिंग, वचन, विभक्ति का योग होने पर जो उसके योग्य ठहरता है उससे भी सादृश्य कहा जाना ही चाहिए। ऐसा भी अर्थ अभिमत है।

लिङ्गविशेष का योग होने पर जैसे—(पूर्वोक्त)

'उपसि विगलिता……'—यहाँ 'च' शब्द से श्लेप की अभिव्यक्ति होती है।

विमर्शः यहाँ घनवर्त्म नपुंसकलिंग है और पंक्ति पुँलिङ्ग इतने पर भी दोनों का सादृश्य बतलाया गया है। व्यक्तिविवेक व्याख्यान अभीतक इससे आगे नहीं मिला है। त्रिवेन्द्रम् और चौखंबा, वाराणसी, से वह यहीं तक प्रकाशित हुआ है।

वचनविशेषयोगे यथा—

'वघटिततिमिरौघदिक्प्रवन्धप्रकटनभस्यभवन्निशावसाने ।
स्फुटदलनमनाश्च पद्मषण्डास्सपदि हिमेतरदीधितिश्च तेषाम् ॥' इति ।

अत्र चशब्दनिवन्धनावृत्तिः ।

वचनविशेष के योग में जैसेः—'रात वीतने पर अँधेरे का ढेर विघटित हो गया और दिशाओं का आंकाश स्पष्ट दिखाई देने लगा, तो कमल के समूह तत्काल स्फुटदलंनमन हो गये, और सूर्य भी उसके लिये स्फुट-दलन-मनाः होने लगा ।' यहाँ 'च' शब्द से श्लेप की अभिव्यक्ति होती है ।

विमर्शः स्फुट—खिले, दल, पखुड़ियों से, नमन = झुकने वाले—कमल, स्फुट = साफ-साफ, दलन = खिलाने, के लिये—मनाः—इच्छुक—सूर्य च शब्द के कारण यहाँ स्फुट•••—इत्यादि विशेषण का कमलषण्ड और सूर्य दोनों में अन्वय होता है । यहाँ अभवन्निशा में सन्धि के कारण 'अभवत्' का एकवचन छिप गया उससे—वहुवचन भी आ गया । 'मनस्' शब्द सान्त होने से प्रथमा के एक वचन में वैसाही बन गया जैसा नमन शब्द—पुंलिंग में बहुवचनान्त होने पर होता है ।

यथा च—

'तनुत्वरमणीयस्य मध्यस्य च भुजस्य च ।
अभवन्नितरां तस्या वलयः कान्तिवृद्धये ॥' इति ।

और जैसे—'वलयः' (बलियाँ और कंगन) उस सुन्दरी के तनुता से रमणीय मध्य और भुज दोनों के लिये अत्यधिक कान्तिवर्धक हुआ ।'

विमर्शः—यहाँ 'वलयः' का मध्य के साथ त्रिवली के अर्थ में सन्वन्ध हो जाने पर भी 'च' शब्द के आधार पर भुज के साथ कंकण के अर्थ में सम्बन्ध होता है ।

विभक्तिविशेषयोगे यथा—

'सरसमन्थरतामरसोदरभ्रमरसज्जलया नलिनी मधौ ।
जलधिदेवतया सदृशीं श्रियं स्फुटतरागतरागरुचिं दधौ ॥' इति ।

अत्र सादृश्यमनव्ययमावृत्तिनिबन्धनम् ।

विभक्तिविशेष के योग में, यथा :—

सरस—मन्थर–तामरसोदर–भ्रमर–सज्ज–लया, कमलिनी ने सरस–मन्थ–रत–अमर–सोदर–भ्रम–रसज्–जलया (जल वाली)—समुद्र देवता के सदृश स्फुटतर–आगत–रागरुचि–श्री को धारण किया ।' यहाँ (सदृशी पद से व्यक्त) सादृश्य जो अव्यय नहीं है वह सादृश्य का कारण है ।

विमर्श : तामरसोदर = कमल के भीतरी भाग में बैठे भौंरे के सरस और मंद गुंजार से युक्त–नलिनी । यहाँ 'कुवलया' में स्त्रीलिंग एक वचन है । सरस = प्रलोभन से युक्त, मन्थ–रत = मथने में लगे, अमर = देवता और उनके सोदर = सहोदर भाई दैत्य, उनके भ्रम = घुमाने से, रसत् = आवाज करता हुआ है—जल जिसका ऐसी जल की अधिदेवता (देवता शब्द संस्कृत में स्त्रीलिंग है ।) समुद्र का अधिदैवत रूप (स्त्री) । यहाँ जलया में स्त्रीलिंग तृतीया का एक वचन है ।

'स्फुटतरागतरागरुचि'—स्फुटतर-आगत-राग-रुचि। साफ साफ आई लाल वर्ण की कान्ति (नलिनी पक्ष में)। राग = पद्मराग की कान्ति-(समुद्र पक्ष में)। समुद्र पक्ष में एक अर्थ यह भी लगाया जा सकता है कि—मन्थन काल में मन्थन स्वर एक विशेष राग = लय से युक्त प्रतीत हो रहा था। दही मथते समय महिलाएँ अरई से विशेष स्वर निकाला करती हैं। यहाँ सदृशी शब्द से 'सरस-जलया' को जलधि देवता और नलिनी दोनों पक्ष में लगाना ही पड़ता है।

न्यूनातिरिक्तप्रतिषेधश्चास्य प्रधानविशेषणसाम्यप्रतिपत्त्यर्थः। तेन यत्र तन्न सम्भवति स दुष्ट एव श्लेष इत्यवसेयम्।

तत्र न्यूनत्वं यथा—

'इह चटुलतया विलोचनौघैः स्फुटशितितारकविभ्रमैस्तरुण्यः।
दधति मधुकरैश्च कोरकान्तस्थितिरमणीयतरैः श्रियं नलिन्यः॥' इति।
अत्र मधुकरपक्षे न्यूनत्वम्।

(श्लेष के लक्षण में)—न्यून और अतिरिक्त शब्द का निषेध इस (श्लेष) के प्रधान विशेषण की समता का ज्ञान कराने के लिये है। उससे यह तथ्य स्पष्ट हुआ कि—जिसमें वह नहीं होता वह श्लेष दुष्ट ही होता है। इनमें न्यूनता जैसे—'इस जगह तरुणियाँ और कमलिनियाँ—सौन्दर्य धारण करती है। तरुणियाँ काली पुतली के साफ साफ विभ्रम वाली अनन्त आँखों से और कमलिनियाँ-कमल के बीच बैठने से अधिक सुन्दर भौंरों से।' यहाँ मधुकर पक्ष में (चटुलता की) न्यूनता है।

विमर्शः यह न्यूनता कैसे है यह इस प्रकार पाठ बदलने से विदित होता है—'दधति सरसिजैस्तथा द्विरेफस्थितिरमणीयतरैः।' इस पाठ में चटुलता धर्म सरसिज में अन्वित हो जाता है किन्तु वह भ्रमरों में अन्वित नहीं होता। भ्रमरों की स्थिति (बैठने) का उल्लेख किया गया है, इस लिये उनकी चंचलता नहीं मानी जा सकती। साथ ही आँखों का अर्थ केवल आँख की पुतली नहीं है, पलक, बरौनी और पुतली के समुदाय का नाम आँख है। मधुकर की तुलना केवल आँख की पुतली से दी जा सकती है, पूरी आँख से नहीं। पूरी आँख से जिसकी तुलना होती है वह है उस (भ्रमर) से युक्त कमल। इसके लिये कालिदास का यह पद्य प्रमाण है—

'तद् वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत् सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम्॥' (रघु० ५।६८)

इसलिये चटुलता का भ्रमर में अन्वय नहीं होता यह कमी रह जाती है।

अतिरिक्तत्वं यथा—

'दिशि दिशि विहगास्तनूस्समन्तादनलसपक्षतयोपचीयमानाः।
उषसि जिगमिषाकुलास्तदानीं दयितवियोगदशा वधूश्च देहुः॥' इति।
अत्र दयितवियोगदशापक्षेऽतिरिक्तत्वम्। अव्ययमावृत्तिहेतुः।

अतिरिक्तता (अधिकता) जैसे—

'पौ फटते ही अनलस—पक्षता (पंखों का आलस्य निकल जाने) से उपचीयमान (उपचय = वृद्धि को प्राप्त हो रहे) अपने शरीरों को पक्षी गण दिशाओं में (क्रिया का अभाव) और अनल (विरहाग्नि) की सपक्षता = (आश्रयता) के कारण प्रियवियोग दशाएँ जाने के लिए आकुल अभिसारिकाओं को जलाने लगीं।'—यह

यहाँ दयितवियोगदशापक्ष में अतिरिक्तता (अधिकता) है और आवृत्ति का हेतु अव्यय ('च') शब्द है।

विमर्श : इस पद्य में दो पक्ष हैं एक विहग पक्ष और दूसरा वियोगदशा पक्ष। पहले का कर्ता है विहग और दूसरे का दशा। दोनों पक्षों में पद्य के अन्य पदार्थों की योजना इस प्रकार होगी— 'उषसि तदानीं दिशि दिशि विहगाः जिगमिषाकुलाः (सन्तः) अनलस-पक्षतया उपचीयमानाः (सतीः) तनूः समन्तात् (क्रियापद नहीं दिया है) दयितवियोगदशाः (कर्त्र्यः) च अनलसपक्षतया उपचीयमानाः (सत्यः) जिगमिषाकुलाः (सतीः) वधूः देहुः।'

इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं, एक तो यह कि 'देहुः' यह क्रिया विहग पक्ष में अन्वित नहीं होती क्योंकि जलाने अर्थ की √'दह' धातु के परोक्षभूत में अन्य पुरुष के बहुवचन का वह रूप है, उसमें कोई दूसरा अर्थ नहीं है, फलतः पक्षियों में शरीरों का जलाना असङ्गत है। मधुसूदनी विवृति में 'देहुः' का अर्थ 'उपचिताः चक्रुः' भी किया गया है, निश्चित ही वहाँ इस क्रियापद को 'उपचय' अर्थ की 'दिह्' धातु से निष्पन्न माना गया है जो अत्यन्त भ्रामक है, 'दिह्' का परोक्षभूत में अन्य पुरुष के बहुवचन का रूप 'दिदिहुः' होता है, 'देहुः' कदापि नहीं।

दूसरी बात है 'उपचीयमानाः' और 'जिगमिषाकुलाः' इन विशेषणों के अन्वय में विषमता। 'उपचीयमानाः' विहगपक्ष में जहाँ कर्म = 'तनूः' में अन्वित होता है वहाँ दशापक्ष में कर्ता = दशा में। इसी प्रकार 'जिगमिषाकुलाः' जहाँ विहगपक्ष में कर्ता = विहग में अन्वित होता है वहाँ दशापक्ष में कर्म = वधू में। उपचीयमानाः = 'बढ़ रहे या फूल रहे'—इस भाव की संगति प्रातःकाल केवल विहगों के शरीर में ही संभव है, विहगों की संख्या में उपचय केवल सायंकाल होता है, प्रातःकाल प्रत्युत कमी होती है अतः उपचीयमानाः का अर्थ 'संख्यायां वर्धमानाः' भी नहीं किया जा सकता, इसके अतिरिक्त विहगों के साथ इस विशेषण की संगति अन्य किसी प्रकार से संभव नहीं हैं। दशापक्ष में उपचय वियोगदशा में ही संभव है। वधूजनों में उपचय अस्वाभाविक और व्यर्थ अतः अहृद्य है। इसी प्रकार 'जिगमिषाकुलाः' 'जाने की इच्छा से आकुल'—यह भाव प्रातःकाल विहगपक्ष में विहगों में संभव और स्वाभाविक है तथा दशापक्ष में वधूजनों में। दशाओं में 'जिगमिषया आकुला अधिकं मूर्च्छिताः'—ऐसी व्याख्या कर 'जिगमिषाकुलत्व' की संगति क्लिष्ट कल्पना है, और तब भी वधूजनों में 'जिगमिषाकुलात्व' अन्वित हुए बिना रहता नहीं है।

यहाँ श्लेष में अतिरिक्तता दिखलाई जा रही है। वह उक्त विवेचन के अनुसार 'देहुः' में स्पष्ट है क्योंकि वह केवल दशा पक्ष में ही अन्वित होता है विहगपक्ष में नहीं। 'जिगमिषाकुलत्व' विहगपक्ष के 'कर्म' में अन्वित नहीं होता अतः उसे दशापक्ष में अधिक कहा जा सकता है। किन्तु तब विहगपक्ष में 'उपचीयमानत्व' अधिक हो जाता है, फिर जहाँ तक दोनों पक्षों का प्रश्न है उनमें तो उक्त दोनों विशेषण लग ही जाते हैं भले ही वे किसी प्रकार लगें, अतः उनके आधार पर किसी एक पक्ष में न्यूनाधिकभाव नहीं बतलाया जा सकता। वस्तुतः 'इह चटुलतया' को अतिरिक्त का और 'दिशि दिशि विहगाः' को न्यूनत्व का उदाहरण मानना चाहिए। 'इह चटुलतया' पद्य में 'स्फुटशितितारकविभ्रमत्व' समानरूप से अन्वित होता है अतः इसी से विलोचनौघ तथा मधुकरों का साम्य बन जाता है। 'कोरकान्तःस्थितरमणीयतरत्व' केवल मधुकरों में अन्वित होता है अतः वह मधुकरपक्ष में अधिक है। इसी प्रकार 'दिशि दिशि'—में 'देहुः' क्रिया का विहगपक्ष में अन्वय न होने से किसी अन्य क्रिया की आवश्यकता है, किन्तु वह वहाँ नहीं है अतः उस पक्ष में उसकी न्यूनता है। इसी प्रकार उपचीयमानत्व की कमी वधुओं में दिखलाई जा सकती है और 'जिगमिषाकुलत्व' की 'तनूः' में उपचीयमानत्व केवल दशा में लगता है, विहग में नहीं अतः एक में अधिकता और दूसरे में न्यूनता दिखलाई जा सकती है।

मधुसूदन मिश्र ने 'वियोगदशाः' में 'दशाः' शब्द को अधिक माना है क्योंकि विहगों के लिए 'विहगसंघाः' आदि शब्द न देकर केवल विहगाः शब्द ही दिया गया है। वस्तुतः दशा शब्द प्रधान विशेषण नहीं है जिसकी कमी या अधिकता पर श्लेष में दोष माना जाय। फिर दशा शब्द समूह वाचक नहीं है जिससे विहग में भी 'संघ' आदि किसी शब्द की योजना की जाय। दशा तो श्रृंगार में वियोग काल की विशेष वस्तु है। इस प्रकार तो न्यूनता के उदाहरण 'इह चटुलतया विलोचनौघैः' में भी ओघशब्द अधिक है और मधुकर में कम। वहाँ भी उक्त महाशय को ऐसी ही दोष संगति दिखलानी थी। उन्होंने निजको साहित्यार्णवकर्णधार' ठीक ही कहा है। भला कर्णधार 'आपातालनिविष्ट'—मन्थाचल का कार्य कैसे कर सकता है। उसमें तो 'साहित्यरत्नाकरमन्थशैल' ही समर्थ है।

किञ्चात्र शब्दश्लेषे न कर्तृकर्मादिप्रधानार्थपदोपनिबन्धेन शब्दसादृश्यमुपकल्पनीयं प्रधानस्वरूपापहारप्रसङ्गात्। तत्र कर्तुः स्वरूपापहारो यथा—

'इह विबुधगजस्य कर्णतालस्खलनसमीरविधूतकुम्भधातोः।
वहति मदनदीपरागरक्ता रतिगृहभित्तिरिव श्रियं पराध्यार्म्॥' इति।

प्रधान का स्वरूप मिटने के भय से शब्द श्लेष में कर्ता, कर्म आदि प्रधानार्थक शब्दों को देकर शब्द सादृश्य की कल्पना करनी चाहिए। इनमें—

कर्त्ता के स्वरूप का परिहार, जैसे—

'कर्णताल के हिलाने से उत्पन्न हुई हवा के द्वारा सिर पर लगी धातु (गैरिक आदि) को मिटा चुके विबुधगज (ऐरावत) की मदनदी पराग से रंगी मदनदीप के राग से लाल रतिगृह की भित्ति के समान उत्कृष्ट शोभा धारण करती है।

विमर्शः यहाँ मदनदी कर्त्ता है। वह उपमान पक्ष में लुप्त हो जाता है। अतः उसे स्वतन्त्र शब्द द्वारा बतला दिया जाना चाहिये।

यथा च—

'सङ्ग्रामनाटककुतूहलिनां तदानीमुत्थापनेन दधतो मुदमुत्तमानाम्।
विस्पष्टभाण्डरुचयोऽतिविचित्ररूपां लक्ष्मीं दधुर्जवनिकामहितास्तुरङ्गाः॥' इति।

और जैसे—संग्रामरूपी नाटक में कुतूहलपूर्ण उत्तम लोगों के घोड़ों ने शोभा धारण की जो अतिविचित्ररूप की थी, वे उत्थापन से अधिक प्रसन्नता धारण किये हुए थे, उनके भाण्ड (अश्व अलङ्कारों) की कान्ति स्पष्ट थी, और वे जवनिका (चाल या पीठ पर पहनाया गया कपड़ा) में प्रशस्त थे।

विमर्शः यहाँ घोड़ों पर नटों का आरोप है। दोनों में विशेषण योजना इस प्रकार है—

अतिविचित्ररूप—रूप = वेश भाँति भाँति के अद्भुत वेश।

उत्थापन—स्थापना आदि अथवा उत्तम सहृदयों के बढ़ावे से प्रसन्न हो रहे। घोड़ों का उत्थापन—पैर ऊपर उठाना या चलने के लिये तैयार होना।

भाण्ड—अश्वालंकार, अश्वघोष ने—अश्ववर्णन में उसके आभूषणों के लिये भाण्ड शब्द का प्रयोग किया है—

'प्रचलच्चामरचारुहेमभाण्डम्' ।

'भाण्डं पात्रे वणिङ्मूलधने भूषाश्वभूषयोः'—मेदिनी

जवनिका = तिरस्करिणी या परदा, और जवनिका—घोड़े के पीठ पर पहनाया गया कपड़ा—अथवा चाल। घोड़ों की चाल का उल्लेख मल्लिनाथ ने माघ के ५।६० पद्य की टीका में किया है। वहाँ जवनिका का उल्लेख धारावों और वल्गा किसी में नहीं है। धारा के पांच भेदों में एक मध्य-जवा भेद है। ज्ञात होता है 'जवनिका' धारा सामान्य के लिये आया है। धारा गतिका नाम है और 'जव'—वेग का। धारा गति ह्रस्वा मध्या और दीर्घा—तीन उपभागों में विभक्त की गई है, जवनिका उसका मध्यभाग होना चाहिये। बुन्देलखण्डी भाषा में उसे दुल्की चाल कहते है। इस चाल में ही घोड़े की अच्छाई देखी जाती है। इस चाल में चलते घोड़े की पीठ एकदम स्थिर रहती है, केवल पैर ही चलते हैं। यहाँ तक कि परीक्षा लेने के लिये घुड़सवार लोग पीठपर बैठते और हाथ में लबालब भरा कटोरा रख लेते हैं। घोड़ा चलता रहे और पीठ पर बैठे सवार के हाथ का कटोरा न छलके तो घोड़ा कीमती माना जाता है। यहाँ—नाटक पक्ष में उसके कर्ता का तिरोधान होता है।

एवम्—

'अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥'

इत्यादावपि द्रष्टव्यः। अत्र हि 'न विद्विषा भीः सुहृदा च नादरः' इति युक्तः पाठः।

इसी तरह— 'अवन्ध्यकोपस्य……' शरीरधारी लोग उस व्यक्ति के वश में स्वयं हो जाते हैं, जिसका, क्रोध निष्फल न हो और जो आपत्ति का निवारण करता है। क्रोध शून्य और अकिंचित्कर (जन्तु) मित्र हो जाय तो किसी के मन में उसके प्रति आदर नहीं होता, और शत्रु बन जाय तो डर नहीं होता। इत्यादि में भी देखना चाहिये। यहाँ 'न विद्विषा भीः सुहृदा च नादरः' यह पाठ ठीक है।

विमर्श: 'विद्विषादरः' पाठ में एक दर की आवृत्ति होती है जब उसका 'जातहार्देन' से अन्वय नहीं होता तो गवेषणा करने पर आदर शब्द की प्रतीति होती है। प्रस्तावित पाठ में 'भी' (भय) और 'आदर' दोनों ही शब्दतः कथित हैं।

कर्मणो यथा—

'कुन्तालीभिर्युधमिव गहनामेतामासाद्योच्चैश्शितशतशरशतसङ्कीर्णाः ।
अस्मिन् नानाफलकवलनसंसक्ता वल्गन्त्येते दिशि दिशि हरिसैन्यौघाः ॥' इति।

कर्म का यथा—'इनकी कुन्तालियों (कुन्त = भाले, आली = पंक्ति) से युद्ध के समान तालवृक्षों से दुर्गम भूमियों में पहुँचकर हरि की ये सेनायें जो लम्बे और तीखे सैकड़ों बाणों से लैस हैं, जो अनेक फल खाने और भालों के फल चमकाने में लगी हुई हैं, प्रत्येक दिशा में यहाँ वहाँ घूम फिर रही हैं।'

विमर्श: यहाँ 'कुन्तालीभिः युधमिव गहनाम्' यह एक वाक्यांश है, इसकी क्रिया है 'आसाद्य'। शेष वाक्यांश से यह प्रतीत होता है कि भालों की पंक्तियों से युक्त युद्ध के समान (को पाकर)। इसमें जो पदार्थ समान है वह नहीं आता। वस्तुतः वह पदार्थ है पृथिवी। उसे 'कुन्तालीभिः' शब्द के

श्लेष में डाल रखा है। 'कुं—पृथिवीं—तालीभिः गहनामिव', अतएव कुन्तालीभिः गहनां, युधमिव—ऐसा अर्थ निकालना पड़ता है। वस्तुतः उपमेय = पृथिवी को स्वतन्त्र शब्द द्वारा अलग रखना चाहिये। इसमें पाठ का परिवर्तन सम्भव नहीं। अतः ग्रन्थकार ने भी उसे नहीं दिया। इस छन्द का नाम —'भद्रा' है।

क्रियाया यथा—

'कुसुमैः कृतवासनः समन्तादपनिद्रत्वमुपेयिवद्भिरस्मिन्।
श्रुतिमन्त्रगणाभिरामरूपैर्न ववौषट्पदशोभिभिः समीरः॥' इति।

क्रिया का यथा—यहाँ (इस समय) चारों ओर विकास को प्राप्त हो रहे और वेदमन्त्रों के समान सुन्दर रूप वाले षट्पदों से शोभित पुष्पों द्वारा—सुगन्धित पवन नहीं वहा।'

विमर्श : 'न ववौषट्पदशोभिभिः कुसुमैः कृतवासनः समीरः'—पद अपने आप में पूर्ण है। किन्तु 'श्रुतिमन्त्रगणाभिरामरूपैः' शब्द द्वारा जो वेदमन्त्रों की उपमा फूलों को दी वह साधारण धर्म खोजती है।: 'समीर नहीं वहा'—अर्थ में वह नहीं मिलता। उसके लिये—'नव वौषट्-पद-शोभिभिः' 'नवीन वौषट् शब्द से सुशोभित'। इस प्रकार का पदच्छेद करना पड़ता है तब अर्थ निकलता है—इस पाठ में 'ववौ' क्रिया नहीं बनती। अतः क्रियापद अलग से दिया जाना चाहिये।

एष चार्थो न्यायसिद्धोऽपि मृदुमतीन् प्रति सुखप्रतिपत्तये वचनेन प्रतिपादितः।

सा चेयमखिलस्यैव पदस्यावृत्तिरिष्यते।
निबन्धनबलोद्भूता न तदंशस्य जातुचित्॥ ९० ॥
उपयुक्तार्थता ह्यस्य पदस्येव न विद्यते।
अधुना तूपयोगेऽस्य पूर्वस्यार्थस्तिरोभवेत्॥ ९१ ॥
अर्थप्रयोगो युगपल्लाघवेनोभयोरपि।
स्यादयं कामचारो यद्येकेनोक्तिर्द्वयोर्भवेत्॥ ९२ ॥

वृत्यन्तरश्लोकाः

यह विषय अपने आप समझ में आ सकता है तो भी कोमलमति वाले व्यक्तियों के लिये सुखपूर्वक बोध हो जाय—इसलिए शब्दतः कहकर बतलाया।

संक्षेप में—यह आवृत्ति पूरे पद की ही होती है, किसी एक अंश की नहीं। इसका कारण भी अवश्य ही कथित होता है। अंश से अर्थ की पद के अर्थ के समान उपयोगिता नहीं होती। पदांश के उपयोग में पद की उपयोगिता छिप जाती है। दोनों के अर्थों का प्रयोग एक साथ—थोड़े में हो जाता है। यह स्वेच्छा तब बरती जा सकती है, जब दोनों का कथन एक (एक पद) से हो।

'यत्र च मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च गौर्यो विभवरताश्च श्यामाः पद्मरागिण्यश्च धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदिनिश्वसिताश्च प्रमदाः।' इति।

अत्र चशब्दावेदितो विरोधः तस्याप्यपिशब्दस्येव तदर्थाभिधानसामर्थ्योपगमात्।

यथा—'घृणी कर्णः प्रमादी च तेन मेऽर्धरथो मतः।'
इत्यसिद्धं विरोधस्य साक्षाच्छब्देनाप्रदर्शितत्वम्।

जहाँ प्रमदाएँ मातङ्गगामिनी—मातङ्ग = चाण्डाल के पास गमन करने वाली और मातङ्ग = हाथी के समान चलने वाली, और शीलयुक्त गौरी (पार्वती, गौरे रंग की) और विभव रत (भव से विरत, विभव = संपत्ति में रत) श्याम (साँवली, षोडशवर्ष की) और पद्मरागिनी (पद्मराग मणि के रंग की लालकमल पर रुचिपूर्ण) उज्ज्वल द्विजों (दाँत, ब्राह्मण) से शुचि (सफेद, पवित्र) मुँहवाली और मदिरा की गन्ध से युक्त निश्वासवाली। यहाँ 'च' शब्द द्वारा विरोध बतलाया गया, वह (च) भी अपि शब्द के समान विरुद्धार्थ का कथन करने में समर्थ माना गया है।

यथा—कर्ण—घृणी (दयालु है) साथ ही प्रमादी (असावधान है) इसलिये मैं उसे अर्धरथ मानता हूँ। इसलिये यहाँ विरोध का साक्षात् शब्द द्वारा न बतलाया जाना असिद्ध है।

विमर्श : ध्वनिकार ने 'यत्र च मातङ्गगामिन्यः—प्रमदाः' उदाहरण देकर कहा था 'अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषोऽयमिति न शक्यं वक्तुम्, साक्षाच्छब्देन विरोधालङ्कारस्याप्रकाशितत्वात्—(२।२१ वृत्ति—चौखंभासंस्करण के ध्वन्यालोक का पृष्ठ २४५) अर्थात् यहाँ इस उद्धरण मे विरोधालङ्कार किसी शब्द द्वारा अभिधा से प्रतिपादित नहीं है।' व्यक्ति-विवेककार ने उसका विरोध किया। ध्वनिकार ने 'अपि' शब्द द्वारा विरोध को वाच्य माना है। व्यक्तिविवेककार 'च' को 'अपि' का पर्याय मानकर उससे भी विरोध को वाच्य बतला रहे हैं।

'खं येऽभ्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिनो
ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमधिक्षिप्ताब्जभासश्चये।
ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-
स्याक्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रियै सन्तु वः॥'

इत्यत्रोभयेषां पादानां व्यतिरेकोऽनुमेयस्तत्र चैषां भिन्नविशेषणत्वमेव हेतुः।

अभिन्नविशेषणत्वे हि निबन्धनसद्भावे सति सादृश्यमात्रं प्रतीयते न व्यतिरेकः, यथा—

'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीं दृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः॥' इत्यादौ।

'तम को नष्ट कर चुके जो 'ख' को खूब प्रकाशित करते हैं, और जो नखोद्भासी (ख आकाश को उद्भासित न करने वाले तथा नखों से चमकने वाले) हैं; जो सरोरुह की शोभा बढ़ाते हैं, और अब्ज—(कमल, चन्द्र) की कान्ति को तिरस्कृत करते हैं, जो क्षितिभृत् (पर्वत, राजा) लोगों के शिरों (शृङ्गों, मस्तकों) पर भासित होते हैं, और जो देवताओं के सिर पर भी (आक्रमण) चढ़ते हैं—दिनपति के वे दोनों पाद (किरण और चरण) आपके लिये श्रीजनक हों।

यहाँ दोनों पादों का व्यतिरेक अनुमेय है। उसमें इनके—विशेषणों का भेद ही कारण है। यदि विशेषण अभिन्न हो और कोई कारण दे दिया जाय तो उससे केवल सादृश्य की प्रतीति होती है व्यतिरेक की नहीं। यथा—भगवान् विष्णु के दोनों नेत्र या शरीर आपकी सांसारिक व्याधि शान्त करे, जो (दोनों)—

१. भक्तिप्रह्व-विलोकन-प्रणयिनी हैः—(भक्ति से नम्र व्यक्तियों को देखने और उनके द्वारा देखे जाने का प्रणय है जिनमें (जिससे)।

२. नीलोत्पल-स्पर्धिनी = नीले कमल से स्पर्धा रखती है।

३. ईहित और हित प्राप्ति के लिये जो समाधि निरत व्यक्तियों द्वारा ध्यान की आधारता को पहुँचाई गई तथा पहुँचाए गये हैं।

४. जो लावण्य की विपुल निधि है। और—

५. जो लक्ष्मी की आँखों में रसिकता बढ़ाती हैं।

विमर्श : यहाँ भाषागत वैचित्र्य से नपुंसकलिंग द्विवचनान्त नेत्र और स्त्रीलिंग एक वचनान्त तनु—दोनों के साथ 'भक्ति०' आदि विशेषण लागू होते हैं। 'इन्' प्रत्ययान्त शब्द का जो रूप प्रथमा विभक्ति स्त्रीलिंग के एकवचन में बनता है वही नपुंसक लिंग द्विवचन में। अतः प्रणयिनी—और—स्पर्धिनी दोनों के विशेषण हैं। 'नीतेहितप्राप्ति' में 'नीते हित०' पदच्छेद द्वारा नेत्रों का विशेषण सिद्ध होता है। 'नीता ईहितप्राप्तये' द्वारा—तनु का। 'महानिधी रसिकताम्'—में—'निधिः रसिकता०' इस संधि के अनुसार विसर्ग का लोप और ई को दीर्घ होना पड़ता है अतः महानिधी-रसि० 'रूप बन जाता है और तनु के साथ एकवचनान्त होकर अन्वित हो जाता है। महानिधि इस प्रकार निधि शब्द विशेष्यनिघ्न न होने से पुल्लिंग रहता है और द्विवचन में हरि शब्द के समान निधी बनकर नेत्र का विशेषण बन जाता है। इस प्रकार नेत्र और तनु दोनों का विशेषण एक ही है। उनमें सादृश्य प्रतीति होता है।

भिन्नविशेषणत्वे तु तेषामन्योन्यविशेषप्रतिपत्तिः। विशेषो हि न भेदमन्तरेण भवति स एव च व्यतिरेको नापर इति भिन्नविशेषणत्वानुमेय एवासौ न शब्दशक्तिमूलः।

तदभिव्यक्तिनिबन्धनं क्वचिदन्यदीयं वचनमपि भवति। यथा वेणीसंहारे—

'रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः।'

इति शैलूषवचनाकर्णनक्रुद्धं भीमसेनं सान्त्वयितुं सहदेवस्य 'आर्य! अनुमतमेव नो भरतपुत्रस्य वचनम्' इति वचनम्।

विशेषण भिन्न होते हैं तो उनके पारस्परिक वैशिष्ट्य या अन्तर का ज्ञान होता है। विशेषता भेद के विना संभव नहीं होती। वह विशेष ही (तो) व्यतिरेक है; न कि अन्य कोई वस्तु। इसलिये यह व्यतिरेक विशेषणों में भिन्नता द्वारा विदित होता है वह भी अनुमान से, शब्दशक्ति से नहीं उस (श्लेष) की अभिव्यक्ति का कारण कहीं कहीं दूसरे का कथन भी होता है। जैसे वेणी संहार में—'रक्त प्रसाधितभू और क्षतविग्रह कौरव अपने नौकरों के साथ स्वस्थ हों'—यहाँ शैलूष (नट) के वचन से कुपित भीमसेन को सान्त्वना देने के लिये सहदेव का यह कथन—'पूज्यवर, भरतपुत्र (नट) का वह कहना हमें मान्य है।'

विमर्शः रक्तप्रसाधितभू, क्षतविग्रह और स्वस्थ शब्द के दो दो अर्थ हैं।

१-रक्त = अनुरक्त प्रसाधित = व्यवस्थित कर दी है भू जिन्होंने (ऐसे पाण्डव)।

२-रक्तसे = खून से सँवार दी है भू = पृथिवी जिन्होंने। (ऐसे कौरव)

१-क्षत हो गया है विग्रह—युद्ध या विरोध जिनका (ऐसे पाण्डव)

२-क्षत हो गये हैं विग्रह शरीर जिनके (ऐसे कौरव)

१-स्वस्थ—शरीर से ठीक (पाण्डव)

२-स्वस्थ—स्व-स्वर्ग में पहुँचे = मरे (कौरव)

नट के वचन से पहले भीम कौरवों के लिए पहला (कल्याणकारी) अर्थ अभिप्रेत समझते हैं, और क्रुद्ध होते हैं। सहदेव उन्हें दूसरा (अमांगलिक) अर्थ समझाते हैं। इस प्रकार दूसरा अर्थ सहदेव के कथन से स्पष्ट होता है।

क्वचित् पुनः प्रतीयमानार्थस्तदभिव्यक्तिनिबन्धनं भवति यथा—

'आलिङ्गनादरचितस्थितिराबभौ या पत्युर्विकासिपरिखाजलनीविबन्धा।
विस्तारिसालजघनं परिवर्त्तमाननक्षत्ररत्नरशनागुणमुद्वहन्ती ॥' इति।

अत्र तदुचितविशेषणसामर्थ्योपस्थापितो नायिकार्थः पत्युरालिङ्गनादरचितस्थितस्य श्लेषस्य।

कहीं प्रतीयमान अर्थ उस (श्लेष) का अभिव्यक्ति का कारण बनता है—जैसे 'विकासि-परिखा जलनीविबन्धा और पति के लिये आलिङ्गनादरचित स्थिति—जो परिवर्तमान-नक्षत्र-रत्न-रशना-गुण-विस्तारिसाल-जघन को धारण किये हुए सुशोभित हुई।' यहाँ—उस (नायिका) के योग्य विशेषण के आधार पर उपस्थित नायिका रूपी अर्थ पति के आलिङ्गनादरचित-स्थित श्लेष का (अभिव्यक्ति कारण है)।

विमर्शः विकासी परिखा-जल ही है नीविबन्ध जिसका-(पुरी), विकासि-परिखा-जल के समान है नीविबन्ध जिसका (नायिका) पति = (रक्षक-स्वामी पुरी, पाणिग्रहीता) आलिंगन के आदर से युक्त है—(निर्मित है) स्थिति जिसकी (नायिका)।

विस्तारि साल = प्राकार ही है विस्तृत जघन जिसका (पुरी), विस्तारी साल के समान है जघन जिसका (नायिका) परिवर्तमान = घूम रहे नक्षत्र ही हैं रत्नरशनागुण (करधनी) जिसकी (पुरी) नक्षत्र के समान हैं रत्नों की करधनी जिसकी (नायिका)। यहाँ जब नायिका रूपी अर्थ प्रतीत होता है तो श्लेष अभिव्यक्त होता है।

यत्र तु आवृत्तिनिबन्धनगन्धोऽपि न सम्भवति न तत्रार्थान्तरावगतिरिति वृथैव तत्र कवीनामुभयार्थपदोपनिबन्धप्रयासः, वाच्यावचनदोषदुष्टत्वात्। तत्र शब्दश्लेषे यथा—

'क्ष्माभर्त्तुरस्य विकटः कटकः सपीलु-
पालीकुलस्सहरिसैन्यशतावमर्दः।
लक्ष्मीं विलासघटनां नयति व्यपास्त-
नानाधिकासचरमागधराजितश्रीः ॥' इति।

जहाँ आवृत्तिकारण की गन्ध भी सम्भव नहीं वहाँ दूसरे अर्थ का बोध नहीं होता। इसलिये कवियों का उभयार्थक शब्दों के प्रयोग का प्रयास व्यर्थ होता है, कारण कि उनमें वाच्यावचन दोष होता है।

जैसे कि शब्द श्लेष में—

'इस क्ष्माभर्त्ता (राजा-पर्वत) का विकट कटक (सैन्य, निचला भाग), जो पीलु = हाथी के समुदाय से युक्त है, जिसमें सैकड़ों हरि (घोड़े, शेर) की भीड़ है जो 'व्यपास्तनानाधिकामचर-मागधराजितश्री' है और जो लक्ष्मी को विलास घटना को पहुँचाता है।

विमर्श : व्यपास्तनानाधि-कामचर-मागध-राजितश्रीः—राजा अर्थात् नाना प्रकार की व्याधियों से दूर स्वेच्छाचार, स्तुतिकारक व्यक्तियों द्वारा शोभित हो शोभा जिसकी—(राजा) व्यपास्तना-नाधि-काम्-(स्वार्थे क प्रत्यय) दूर हो गई नाना प्रकार की व्याधियाँ जिससे ऐसी लक्ष्मी को, और—अचरम = पूर्व, अग = पर्वत, उसकी धरा-भूमि, उसकी श्री को जीत लिया है जिनने (पर्वत) यहाँ राजा और पर्वत दोनों का श्लेष है। किन्तु शब्दों द्वारा कोई एक ही अर्थ निकाला जा सकता है। दूसरे अर्थ के लिए कोई उत्थापक हेतु यहाँ नहीं है।

यथा च—'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो
यश्चोद्रिक्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥' इति।

एवम्—'कह णाम ण होसि तुम भाअणमसमञ्जसस्स णराह !।
णिच्चं चेअ कुणन्तो जहिच्छमत्थाण विणिओअम् ॥'

['कथं नाम न भवसि त्वं भाजनमसमञ्जसस्य नरनाथ ?
नित्यं चैव कुर्वन् यथेच्छमर्थानां विनियोगम् ॥']

इत्यादावपि द्रष्टव्यः। न ह्यत्र चाटौ निन्दायां वा निश्चयो निबन्धनाभावा-दिति।

और जैसे—'येन ध्वस्त'—

कृष्णपक्ष—स्वयं वह माधव आपकी रक्षा करे, जो सब कुछ देने वाला है, अन्धक कुल के लिये क्षय (मकान) और (विनाश) बनाने वाला है, देवता जिसका 'शशिमच्छिरोहर'—यह स्तुत्य नाम लेते हैं—(शशिनं मथ्नाति—शशिमत् = राहुः, तस्य शिरसो हरः चन्द्रमा को ग्रसनेवाला = राहु, उसके, सिर को हरने वाला—विष्णु, विष्णु ने राहु का सिर काटा था), जो मदमत्त (कालिय या कुवलयापीड) नाग (सर्प या हाथी) का हनन करने वाला है, अरव—(लोचनकार के अनुसार 'अकारो विष्णुः' इस प्रमाण से—'अ' इस 'रव' अर्थात् ध्वनि या शब्द के साथ ऐकात्म्य है जिसका, जिसने गोवर्धन पर्वत और (पाताल गई) पृथिवी को धारण किया, जिसने बलि को जीतने वाला अपना शरीर स्त्री बना दिया, जो अजन्मा हैं और जिसने शकटासुर को नष्ट किया।

शिवपक्ष—स्वयं वह उमाधव (उमा = पार्वती के धव = पति, अर्थात् शिव) आपकी सदा रक्षा करे जो अन्धकासुर के संहारक हैं, 'हर' ऐसा नाम देवता लोग गाया करते हैं, जिसका शिर चन्द्रमा से युक्त है, जो फुफकारते साँपों का हार और कंकण पहनते हैं, जो गङ्गा को धारण किये हुए हैं, जिनने विष्णु के शरीर को स्त्री बनाया और जिनने मनोभव काम को ध्वस्त किया। इसी प्रकार—

हे नरनाथ तुम अनौचित्य के भाजन क्यों नहीं होते। प्रतिदिन अर्थों का विनियोग यथेच्छ जो करते हैं।

इत्यादि में भी देखना चाहिये। यहाँ चाटु या निन्दा दोनों में से किसी एक का निश्चय नहीं होता, कारण कि उसका हेतु कोई नहीं है।

अर्थश्लेषे यथा—

'दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाक्लिष्टसृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु॥' इति।

अत्र हि गाव इत्यस्य विशेष्यवाचिन उपमानाभिमतार्थान्तरवृत्तित्वेऽपि विशेषणानाञ्चोभयार्थानुगुण्येऽप्युपमानस्य तत्सम्बन्धाभिधायिनश्चावश्यवाच्यस्यावचनं यत् स दोष इत्येतद्वितनिष्यते।

अर्थश्लेष में जैसे :—

सूर्य की वे गौएँ आप पवित्र लोगों को अपरिमिति प्रीति प्रदान करें उचित समय पर सरलता से बरसाए पय द्वारा जो प्रजाओं को आनन्द देती हैं, सबेरे जो दिशाओं में बिखर जाती हैं और दिन डूबे लौट आती हैं जो दीर्घ दुःख का उत्पत्तिस्थान जो संसार तद्रूपी भय के समुद्र को पार करने की नौका हैं।

यहाँ 'गावः' यह विशेष्यवाची है। इसका एक अर्थ उपमान भी है। विशेषण भी उपमान उपमेय दोनों अर्थों के अनुरूप है, इतने पर भी उपमान और इसके संबन्ध का अभिधान करने वाला कोई हेतु अवश्यमेव कहा जाना था। उसे जो नहीं कहा गया यही दोष हुआ। इसे आगे (तृतीय विमर्श में) विस्तारपूर्वक बतलाएंगे।

विमर्श : गौ = किरण, गाय। पय = पानी और दूध।

गाएं और किरणें दोनों सबेरे दिशाओं में बिखर जाती हैं और शाम को इकट्ठी हो जाती हैं। सूर्य किरणों की उपासना से मुक्ति मिल जाती है और गाय की पूंछ पकड़ कर वैतरणी पार कर ली जाती है।

दत्तानन्दाः प्रजानां आदि शब्दों की जगह दूसरे शब्द भी यहाँ रखे जा सकते हैं अतः अर्थ श्लेष है किन्तु—गावः और पयः में शब्द श्लेष ही है, वहाँ शब्द नहीं बदले जा सकते।

उभयश्लेषे यथा—

'सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम्।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम्॥' इति।

इहापि वाच्यावचनमवगन्तव्यम्।

उभयश्लेष में जैसे—श्री कृष्ण को प्रणाम करें। वे सभी के एक ही शरण हैं, अक्षय हैं, अधीश है, धी = बुद्धि और इन्द्रियों के ईश हैं, हरि हैं, कृष्ण हैं, चतुरात्मा हैं, निष्क्रिय हैं, अरिमथन हैं, चक्रधर हैं।' यहाँ भी वाच्यावचन मानना चाहिये।

विमर्श :—

विरोध—

सर्वैकशरण = सभी के एक शरण—घर।

क्षय = घर उससे रहित अक्षय।

कवीश=घी के ईश नहीं, धी के ईश।

हरि=हरे रंग के, कृष्ण काले।

चतुरात्मा—संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध चाररूपधारी, निष्क्रिय=क्रिया रहित।

अरी=अर से युक्त अरी चक्र, उसका मथन करने वाले।

चक्रधर=चक्र को धारण करने वाले।

परिहार—

शरण=सभी के त्राता, अक्षय=क्षय—विनाशरहित।

अधीश=अधि—सब ओर से ईश स्वामी।

हरि—विपत्ति हारी।

अरि=शत्रु को मथन—मारने वाले।

चक्रधर—सुदर्शनचक्र धारी।

यहाँ विरोध का स्पष्टीकरण किसी भी शब्द से नहीं किया गया (उसकी कमी वाच्यावचन दोष हुआ) अतः श्लेष ग्राहक हो दिया गया।

यथा—

'पतिते पतङ्गमृगराजि निजप्रतिबिम्बरोषत इवाम्बुनिधौ।
अथ नागयूथमलिनानि जगत्परितस्तमांसि परितस्तरिरे॥' इति।

अत्र नागयूथेन धर्मिणा साम्यं तमसां वक्तुमभिमतं कवेः, न तद्धर्मेण मलिनत्वमात्रेण। मृगपतौ पतिते निष्प्रतिपक्षतया तस्यैव स्वेच्छाविहारित्वोपपत्तेः, न तद्वन्मलिनानां तमसां, पतङ्गस्य मृगराजरूपणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न च तत् मलिनादिशब्दाः शक्नुवन्ति वक्तुं हरिसुन्दरसुभगसदृशसविभादिशब्दानामेव तदभिधानसामर्थ्यदर्शनात्।

अन्यथा—

'सरोजकर्णिकागौरीं गौरीं प्रति मनो दधौ।'

इत्यादौ गौरादिशब्दा अपि धर्मिसाम्यमेवावगमयेयुः न धर्ममात्रसाम्यम्। तच्चानिष्टं गौरत्वमात्रसाधर्म्यकृतस्य गौर्याः सरोजकर्णिकासाम्यस्य वैवक्षिकत्वात्।

'अपने प्रतिबिम्ब के रोष से समुद्र में जब पतङ्गमृगराज गिर पड़े तब हाथियों के समुदाय के समान मलिन अन्धकार ने जगत् को—चारों ओर से ढँक लिया।'

यहाँ—कवि को नागयूथ रूपी धर्मी से अंधकार का साम्य बतलाना अभीष्ट है और वह केवल उसके मलिनत्व धर्म द्वारा। मृगराज का नाश हो जाने पर वही (नागयूथ ही) अपना शत्रु न होने से स्वेच्छा विहार कर सकता है, उसके समान मलिन—अन्धकार नहीं। इसलिए पतङ्ग पर मृगराज का रूपक व्यर्थ होने लगता है। उस (सादृश्य) को केवल मलिनादि शब्द अभिधा द्वारा नहीं बतला सकते। उसके अभिधान की शक्ति 'हरि' सुन्दर, सुभग, सदृश—सुरभि आदि शब्दों में ही देखी गई है। नहीं तो—

'सरोज कर्णिका के समान गौरी (गौरवर्ण की) गौरी के प्रति मन किया।' इत्यादि में गौरादि

शब्द भी सदृश आदि शब्द के समान साक्षात् धर्मी का ही साम्य बतलाते, पर वह मान्य नहीं, सरोज कर्णिका का साम्य एकमात्र गौरत्व—धर्म को लेकर विवक्षित है।

विमर्श : मृगराजि=में 'मृगराज' शब्द हलन्त है। आगमविधि के अनित्य होने से यहाँ 'राजाहःसखिभ्यः०' सूत्र से टच् नहीं हुआ जैसे वासुल की मंदसौर प्रशस्ति में वीर्यावस्कन्नराज्ञः (देशान्)—में। [द्र० Setect Skt. Inscriptions—करम्बेलकर]

अथोच्यते गौरादिशब्दा अपि सदृशादिशब्दवत् साक्षाद् धर्मिसाम्यमेवाभिदध्युः, सामर्थ्यात् तु धर्ममात्रसाम्यावगतिः कर्णिकाया गौरत्वाव्यभिचाराद् इति। तदयुक्तम्। तन्निबन्धनभूतायाः श्रुतहानेरश्रुतकल्पनायाश्चान्याय्यत्वात्। युज्येत पुनरेवं, यदि प्रतीतिः क्षमेतेति।

यत् पुनर्धर्मयोरेकनिर्देशेऽन्यधर्मप्रतिपत्तिः साहचर्यादित्यन्ये मन्यन्ते, यथा—'निर्वृष्टेऽपि बहिर्घने न विरमन्त्यन्तर्जरद्वेश्मनां
लूतातन्तुततिच्छिदो मधुपृषत्पिङ्गाः पयोबिन्दवः॥'

इत्यत्र पयोबिन्दूनां मधुपृषत्पिङ्गत्वात् पिङ्गत्वसहचरितवृत्तत्वस्य प्रतिपत्तिरिति, तदनुपपन्नम्। माधुर्यादेरपि प्रतिपत्तिप्रसङ्गात् साहचर्याविशेषात्। या तु रूपादेस्ततो गतिः सा हेतुधर्मानुमानेनेष्यते। इह तु हेतुहेतुमद्भावस्तयोरसिद्ध इति साहचर्यासिद्धौ कुतोऽन्यधर्मप्रतिपत्तिसिद्धिः। सिद्धेऽपि वा तस्मिंस्तस्यैकस्य धर्मस्य साधनभावेनानिर्देशे कथमन्यधर्मप्रतिपत्तिसिद्धिः।

एवं हि—
'दुःखामितस्य जनस्य जाने तुषारशीतः प्रतिभाति वह्निः।'
इत्यत्र वह्नावपि शीतत्वसाहचर्यात् पाण्डुत्वप्रतिपत्तिप्रसङ्गः।
किञ्च सत्यामन्यधर्मप्रतिपत्तिसिद्धौ तद्धेतुः साहचर्यमन्यद्वा परिकल्प्येत। अत्र तु सैव न सिद्धेति व्यर्थस्तत्परिकल्पनप्रयासः।

किं हि तत्परिकल्पनं विनात्र परिहीयेत। पयोबिन्दूनां मधुपृषद्वृत्तत्वमिति चेत्, कामं परिहीयताम्। न च प्रयोजनवशात् प्रमाणव्यवस्था भवितुमर्हति।

यदि कहा जाय कि सदृश आदि शब्दों के समान गौरादि शब्द साक्षात् धर्मी का ही साम्य बतला दें, और धर्म साम्य की प्रतीति उसी के बल से ऊपर से हो जायगी क्योंकि कर्णिका और गौरत्व का सम्बन्ध नित्य है तो वह ठीक नहीं, उससे श्रुत=पठित वस्तु की हानि और अश्रुत=अपठित वस्तु की कल्पना होती है, जो ठीक नहीं। यह हो तो सकता था यदि—प्रतीति हो रही होती तो दूसरे लोग जो यह मानते हैं कि दो धर्मों में से एक का निर्देश न होने से दूसरे धर्म का ज्ञान हो जाता है—साहचर्य के कारण (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४।२।१०) जैसे—

'मेघ बाहर पानी बरस कर चले जाते हैं किन्तु जर्जर मकानों में भीतर पानी की बूँदें पड़ती ही रहती हैं, वे मकड़ी के जाल को तोड़ जाती हैं—और उनका रंग शहद की बूंद के समान लाल पीला हो जाता है।' यहाँ—पयोविन्दु में—शहद की बूंद की ललोइ के साहचर्य से गोलाकारत्व की भी प्रतीति होती है—

यह ठीक नहीं,—क्योंकि ऐसा मानने पर माधुर्यादि की भी प्रतीति माननी पड़ेगी, क्योंकि जैसे पिङ्गत्व (पीले रंग) का साहचर्य गोल आकार के साथ है—वैसे ही माधुर्य के साथ भी है। जहाँ तक रूप आदि के रहने पर उनकी प्रतीति का सम्बन्ध है वह हेतु और धर्म के अनुमान से (कार्य से कारण का अनुमान; धर्मी से धर्म का अनुमान) मानी जाती है, किन्तु यहाँ उन दोनों का हेतु-हेतुमद्भाव भी असिद्ध है अतः साहचर्य प्रतीत नहीं होता। इसलिये दूसरे धर्मी की प्रतीति बनती ही कैसे ? और यदि साहचर्य सिद्ध भी हो जाय तो उससे युक्त धर्मी में से किसी एक का साधन रूप से निर्देश न होने के कारण दूसरे धर्म की प्रतीति कैसे हो ?

ऐसा होने पर तो—'दुःख से तपे आदमी को अग्नि पाले के समान ठंढी लगती है'—यहाँ अग्नि में भी शीतत्व के साहचर्य से उसकी पाण्डुता (शुभ्रता) की प्रतीति माननी चाहिए।

और—अन्य धर्म की प्रतिपत्ति यदि सचमुच हो रही हो तो उसके लिए साहचर्य या और कोई हेतु कल्पित किया जाय। यहाँ तो वही (प्रतीति) ही नहीं होती—इसलिये अन्य धर्म की कल्पना का प्रयास ही व्यर्थ है। उसकी कल्पना के विना यहाँ बिगड़ ही क्या जायगा ? जल की बूँदों की मधुबिंदु के समान वृत्तता (गोलकारता) की प्रतीति बिगड़ती हो तो उसे भली भाँति बिगड़ जाने दीजिए। प्रमाण की व्यवस्था अपने मत को हल करने के लिए नहीं की जा सकती।

तस्मादनेकधर्मत्वेऽप्यर्थस्य यस्यैव धर्मस्य निर्देशस्तस्यैव प्रतिपत्तिर्न्याय्या नान्यस्येत्यत्र तमसां नागयूथसादृश्ये वाच्ये यत् तेषां मलिनत्वमुक्तं स वाच्यावचनं दोषः।

एवं च पृषत्पदप्रयोगोऽत्रातिरिच्यमानोऽनुप्रासवृत्तपरिपूरणायैव पर्यवस्यति न बिन्दूनां वृत्तत्वप्रतिपत्तये इति 'नागयूथसदृशानी'—त्यत्र पाठो युक्त इति।

यत्तु—

'करिकरभ ! विमुञ्च लोलतां चर विनयव्रतमानताननः।
मृगपतिनखकोटिभङ्गुरो गुरुरुपरि क्रमते न तेऽङ्कुशः॥'

इत्यत्राङ्कुशस्य मृगपतिनखकोटिभङ्गुरत्वं दुस्सहत्वं चेति धर्मद्वयं वक्तुमभिमतम्। न तदुक्तनयेन भङ्गुरशब्द एवावगमयितुं क्षमते, तस्य कौटिल्यमात्राभिधायित्वेनैव प्रसिद्धेः। यत् तु तस्य दुस्सहत्वं तत् मृगपतिपदसम्बन्धसामर्थ्यादेव प्रतीयते न भङ्गुरत्वसाहचर्यादिति।

एवम्—

'प्रभवति च समरमूर्धनि नवनीरदनील एष तव खड्गः।
विशति च मानसममलं सतां यशो हंसविसरसितम्॥'

इत्यत्रापि खड्गस्य यशसश्च पूर्वोक्तेन नयेन नवनीरदहंसविसररूपत्वाप्रतीतौ तन्निबन्धनाया अर्थान्तरप्रतीतेरनुपपत्तिरिति भ्रान्तिमात्रकृतोऽसाविति मन्तव्यम्। तेन 'नवनीरदसुन्दरः कृपाणः' इति 'हंसविसरसम'मिति चात्रानुगुणौ पाठौ।

धर्मिसाम्यविवक्षायां धर्ममात्राभिधायिनाम्।
नेष्टः प्रयोगः शब्दानां समासोपमितौ बुधैः॥ ९३॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

इसलिए धर्म अनेक हों तो भी प्रतिपत्ति उसी की मानी जानी चाहिये जिसका निर्देश हो, अन्य की नहीं। इसलिए नागयूथ के सादृश्य की प्रतीति करने में उनका जो मलिनत्व बतलाया उससे वाच्य (सादृश्य वाचक पद) का अवचन दोष हुआ। इसी प्रकार यहाँ पृषत् पद भी अतिरिक्त (व्यर्थ) है। उससे केवल अनुप्रास और छन्द की पूर्ति ही सिद्ध होती हैं। उससे बिन्दुओं का गोल आकार प्रतीत नहीं होता—इसलिये 'नागयूथ सदृशानि' पाठ चाहिए।

और जो—'हे करिकलभ ? चंचलता को छोड़ो—तुम सिर झुकाओ और विनय का व्रत पालो। तुम्हारे ऊपर मृगराज के नाखूनों के समान टेढ़ा और कठोर अंकुश नहीं चलाया जा सकता।' यहाँ अंकुश के दो धर्म बतलाना अभीष्ट है एक सिंह के नाखून के अग्रभाग के समान टेढ़ापन और दूसरा—दुःसहत्व'। सो उसे ऊपर बतलाए अनुसार एक अकेला भंगुर शब्द ही नहीं बतला सकता। वह तो एकमात्र कुटिलता (टेढ़ेपन) के अभिधान के लिए प्रसिद्ध है। उसका जो दुःसहत्व है वह मृगपति-सम्बन्ध के बल से ही प्रतीत हो जाता है भङ्गुर शब्द के साहचर्य से नहीं।

इसी प्रकार—'युद्ध भूमि में आपका नए मेघ के समान यह नीला खड्ग चमकता है और सज्जनों के हंस विसर—सित मानस में हंसविसरसित यश प्रवेश करता है यहाँ भी खड्ग और यश दोनों की उपर्युक्त नियम के अनुसार नवनीरदरूपता और हंसविसररूपता प्रतीत नहीं होती इसलिये उस पर आधारित दूसरे अर्थ की प्रतीति भी नहीं होती। इस लिये यहाँ यह (श्लेष) एकमात्र भ्रान्तिमूलक है। इसलिये—ये पाठ अनुरूप होंगे—'नवनीरदसुन्दर' और 'हंसविसरसम्'।

संक्षेप में—'धर्मी के साम्य की विवक्षा होने पर केवल धर्म मात्र को बतलाने वाले शब्दों का प्रयोग समास और उपमा (सादृश्य) में मान्य नहीं।'

विमर्श :—हंस—विसर हंस पंक्ति के समान सित = उज्जवल, कालुष्यहीन सन्तों का मन। उसमें राजा का—हंस-विसर-हंसपंक्ति के समान सितउज्ज्वल यश प्रवेश करता है।

यहाँ मानस से मन और मानससर दोनों प्रतीत होते हैं। मानससर की जो प्रतीति होती है उसमें 'हंस विसरसितम्' का अर्थ निकलता है हंस नामक जो 'वि'—पक्षी उनके द्वारा 'सरसित अर्थात् रसित—शब्द सहित। अभिप्राय यह है बरसात में जब मेघ आकाश में छाते हैं तो मानससर हंसों से सफेद हो जाता है उसमें हंस पहुँच जाते हैं। हंसों का यह स्वभाव है कि वे बरसा में मानससर चले जाते हैं। मेघदूत में 'संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः' और 'कतिपयदिनस्थायिहंसादशार्णाः'—द्वारा यह तथा स्पष्ट है। युद्ध भूमि में नीला खड्ग नीलमेघरूप है और उज्ज्वल यश सफेद हंस रूप। जब खड्गमेघ युद्धाकाश में आता है तो यशहंस मानस में

पहुँच जाते हैं। किन्तु यक्ष, नीले मेघ, मानस और हंस के व्यवहार की प्रतीति के विषय में ग्रन्थकार को यह अरुचि है कि वह स्पष्ट रूप से सामने नहीं आती।

यथा च—

'तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम्।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः॥' इति।

अत्रानुयातिक्रियापेक्षो राजमरुत्वतोः कर्तृकर्मभावोऽभिधातुमभिमतः कवेः। न चासौ तत्सम्बन्धस्तयोः साक्षादुक्तः, जललीलासम्बन्धमुखेन राजसम्बन्धस्योक्तत्वात्। अतोऽत्र साक्षात् तत्सम्बन्धो वा वाच्यः, तदर्थमन्यत् क्रियान्तरं वा, येन कर्तृकर्मभावस्तयोर्घटनामियात्।

न चोभयोरेकमप्युक्तमिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः। तेन वरमत्र पाठः श्रेयान् 'आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतोऽनुयातो मघवा विलासैः' इति। न चैवं क्रियान्तराकाङ्क्षाप्रसङ्गः।

और जैसे :—अपने रनिवास की प्रमदाओं के साथ उस उत्तम नदी (सरयू) में जलक्रीड़ा कर रहे कुश द्वारा अप्सराओं से घिरे और आकाश गंगा में रति कर रहे इन्द्र अनुयातलील (जिसकी लीला का अनुकरण किया गया हो) हुए [रघु० १६], यहाँ कवि को अनुयाति (अनुगमन, अनुकरण) क्रिया को लेकर राजा और इन्द्र का कर्तृकर्मभाव कहना अभीष्ट है। किन्तु इन दोनों का यह सम्बन्ध साक्षात् नहीं कहा, कारण कि राजा का सम्बन्ध जल लीला के सम्बन्ध से बतलाया गया, इसलिए या तो उनका वह सम्बन्ध साक्षात् बतलाना चाहिये या फिर उसके लिए किसी और क्रिया का उपादान करना चाहिये जिससे उनका यह कर्तृकर्मभाव बन सके पर दोनों में कुछ भी नहीं किया गया, इसलिए (दोनों में से कोई) एक वाच्य (था उस) का अवचन (अकथन) दोष हुआ। इसलिए यहाँ यह पाठ अधिक अच्छा है—

विलासों से आकाश गंगा में अप्सराओं से घिरे इन्द्र का अनुकरण किया ऐसा करने पर अन्य क्रिया की भी आकांक्षा नहीं होगी।

यथा वा—

'लच्छी दुहिआ जामादुओ हरी तह घरल्लिआ गङ्गा।
अमियमिअङ्का अ सुआ अहो? कुडुम्बं महोअहिणो॥' इति।

['लक्ष्मीर्दुहिता जामाता हरिस्तस्य गृहिणी गङ्गा।
अमृतमृगाङ्कौ च सुतौ अहो कुटुम्ब महोदधेः॥']

अत्र लक्ष्म्या दुहितृत्वममृतमृगाङ्कयोः सुतत्वं च विधीयमानं तेषां त्रैलोक्यैकस्पृहणीयतया तत्कुटुम्बस्य महोदधेः श्लाघाया आस्पदत्वमुपपद्यत इति द्वयमेवोपादेयं द्रष्टव्यं नान्यत्।

तत्र हि भगवतो हरेर्गङ्गायाश्च सकलत्रैलोक्यालङ्कारत्वेऽपि न तयोर्जामातृगृहिणीभावेन विधानमिति न महोदधेः श्लाघातिशययोगः यन्निबन्धनमत्यद्भुतास्पदत्वमस्य स्याद् इति तद्विधानस्य वाच्यस्यावचनं दोषः।

अथ हरिर्जामाता गङ्गा गृहिणीत्येवं विपर्ययेणात्र सम्बन्धः करिष्यते तस्य पुरुषाधीनत्वात्। तथा च न यथोक्तदोषावकाशः इति। सत्यम्। किन्तु न सर्वविषयोऽयं सम्बन्धस्य पुरुषाधीनत्वोपगमः। तस्य हि विशेषणविशेष्यभाव एव विषयोऽवगन्तव्यः। यत्र स्वसौन्दर्यादेव तयोरन्योन्यापेक्षो विध्यनुवादभावः तत्र हि यथाश्रुतपदार्थसवन्धनिबन्धनोऽर्थप्रतीतिक्रम इति तत्रैव पदार्थपौर्वापर्यनियमोऽवगन्तव्यः। यथा—

'त्वक् तारवी निवसनं मृगचर्म शय्या
गेहं गुहा विपुलपत्रपुटा घटाश्च।
मूलं दलं च कुसुमं च फलं च भोज्यं
पुत्रस्य जातमटवीगृहमेधिनस्ते॥' इति।

प्रत्युदाहरणं यथा—

'शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः
शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः।
इत्यप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे दोषोऽयमेको वने
दुष्प्रापार्थिनि यत् परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते॥' इति।

अत्रोदाहरणप्रत्युदाहरणप्रतीत्योर्यदन्तरं तन्मतिमतामेवावभासते अन्येषां तु शपथप्रत्येयमेव।

और जैसे—'लक्ष्मी पुत्री, जमाई विष्णु, उसकी घर वाली गंगा, अमृत और चन्द्र पुत्र, आश्चर्यकारी है समुद्र का कुटुम्ब।

यहाँ लक्ष्मी का पुत्रीत्व तथा अमृत तथा चन्द्र का पुत्रत्व बतलाया जा रहा है। उससे समुद्र के कुटुम्ब में त्रैलोक्यस्पृहणीयता आती है और समुद्र में श्लाघ्यता। इसलिये केवल इन्हीं दो (पुत्रीत्व और पुत्रत्व) का उल्लेख किया जाना चाहिये। अन्य का नहीं भगवान् विष्णु और गंगा समस्त त्रिलोकी के भूषण हैं, उन्हें यदि यहाँ जामाता और पत्नी सिद्ध किया जाता तो बात दूसरी थी, किन्तु (यहाँ तो जामाता में और पत्नी में हरित्व और गंगात्व सिद्ध किया गया है) वैसा नहीं किया गया इसलिये महोदधि में श्लाघ्यता की उच्चता नहीं आती, जिससे उसमें अत्यद्भुतता आये, इसलिये उस प्रकार के कथन का अभाव वाच्यावचन दोष हुआ। कहा जाय कि (श्लोक में शब्द जैसे भी दिये जायँ) उनका अन्वय हरि जामाता, गंगा गृहिणी, इस प्रकार किया जा सकता है, क्योंकि वह (अन्वय) तो—पुरुषाधीन है, अतः कोई दोष नहीं होता'—तो यह ठीक है. किन्तु पुरुषाधीनता अन्वय में सर्वत्र नहीं रहती केवल विशेषणविशेष्यभाव संबंध में ही वह रहती है। जहाँ अपने सौन्दर्य से विध्यनुवादभाव परस्परापेक्षी होता है, वहाँ अर्थप्रतीति का क्रम–शब्द–प्रयोग (शब्दों की—आनुपूर्वी) पर निर्भर रहता है इसलिये प्रयोग में ही पदों का पौर्वापर्य नियम मानना चाहिये (उसी से पदार्थों के संबंध में सौन्दर्य आता है) जैसे—मेरे पुत्र के लिये–जिसने जंगल में घर बसा लिया है—वृक्ष की छाल वस्त्र, मृगछाला विस्तर, घर गुहा—बड़े पत्तों के दोने घड़े, मूल, पत्ते, फूल और फल—भोजन हो गए हैं।'—

उलटा उदाहरण—"शय्या घास, आसन पवित्र साफ़ शिला, घर वृक्षतल, झरने का ठंढा जल पेय, भोजन कन्द साथी संगी और मौके बेमौके काम पड़ने वाले लोग—हिरने हैं, इसप्रकार जिसमें सम्पूर्ण वैभव विना मांगे प्राप्त हैं उस बन में दोष केवल एक है—कि याचक दुष्प्राप्य होता है फलतः परोपकार निरत लोगों को हाथ पर हाथ रखे बैठे रहना—पड़ता है।'

इन उदाहरण और प्रत्युदाहरणों में जो अन्तर है वह बुद्धिमानों की समझ में ही आता है। और लोगों के लिये तो शपथ प्रत्येय (समझाने से समझ में आता) है। संक्षेप में—

अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्।
न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति ॥ ९४ ॥
विधेयोद्देश्यभावोऽयं रूप्यरूपकतात्मकः।
न च तत्र विधेयोक्तिरुद्देश्यात् पूर्वमिष्यते ॥ ९५ ॥

इत्यन्तरश्लोकौ।

यथा—

'स्पष्टोच्छ्वसत्किरणकेसरसूर्यबिम्बविस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम्।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलापमुखावतारबद्धान्धकारमधुपावलि सञ्चुकोच ॥'

इत्यादौ केसरादेः।

पदानामभिसम्बन्धस्यान्यथाभावमात्रतः।
यत्रानिष्टप्रतीतिः स्याद् रचनां तां परित्यजेत् ॥ ९६ ॥

यथा—

'तव कण्ठासृजासिक्ता करवाललता द्विषाम्।
प्रसूते समरारण्ये यशःकुसुमसम्पदम् ॥' इति।

अत्र हि चाटुके युष्मदर्थस्य च पौर्वापर्यविपर्यये समासे वा वाच्ये यत् तयोरवचनं तदेवानिष्टार्थप्रतिपत्तिमूलमिति दोषतयावगन्तव्यम्।

यथा च—

'मधुश्च ते मन्मथ ! साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव।
समीरणः प्रेरयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ॥' इति।

अत एव—

"येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थेनापि तेन सः।
पदानामसमासानामानन्तर्यमकारणम् ॥"
इति प्रतीत्योर्वैचित्र्यमनालोच्यैव चर्चितम्।
गुणदोषमपश्यद्भिर्दूरादूरोत्थयोस्तयोः ॥ ९७ ॥
स्वरूपेऽवस्थितिर्येषां शब्दानामिति नेष्यते।
न तानन्यव्यवहितान् प्रयुञ्जीत विचक्षणः ॥ ९८ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

तेन 'द्विषत्कण्ठासृजासिक्ता त्वत्कृपाणलता वरा।' इत्येकत्र युक्तः पाठः, अपरत्र 'व्यादिश्यते केन समीरणो वा हविर्भुजश्चोदयिता भवे'ति ।

'अनुवाद्य विना कहे विधेय को न कहे । कोई भी वस्तु विना आधार पाये कहीं भी जमती नहीं । यह जो विधेयोद्देश्यमात्र है वह रूप्यरूपकरूप है इसलिये उसमें विधेय का कथन उद्देश्य के पहले अच्छा नहीं माना जाता ।' जैसे—

'स्पष्टरूप से फैलती किरणों की केसर और सूर्य की वितृस्त कर्णिका से जो युक्त था वह दिन रूपी अरविन्द अब एक दूसरे से सटी आठ दिशाओं की पँखुड़ियों के अगले हिस्से में उतर कर बँधे—अंधकार की भ्रमरमाला को लिये हुए बन्द हो गया ।' यहाँ केसर आदि का उपादान बाद में किया गया है ।

उस रचना को छोड़ दे जिसमें पदों के अभिसंबंध (पारस्परिक सम्बन्ध) के उलटने से प्रतीति बिगड़ती हो ॥ ९६ ॥

जैसे—'आप से सम्बन्धित कंठ के खून से सनी शत्रु सवन्धी तलवाररूपी लता युद्धवन में यशरूपी पुष्प संपत्ति पैदा करती है ।' चापलूसी की इस उक्ति में युष्मदर्थ (तुम-आप और शत्रु) का पौर्वापर्य—उलटना था (तव की जगह द्विषाम् चाहिये था और द्विषां की जगह तव) या समास करना था, वह जो नहीं किया वही विपरीत अर्थ की प्रतीति का कारण है, अतः उसे दोष मानना चाहिये ।

और जैसे—हे मन्मथ, इस मधु के साथ तुम्हारा संग है । यह बिना कहे तुम्हारा साथ देगा । हवा को ऐसा कौन कहता है कि 'अग्नि को प्रेरणा दो' (धौंको) ! यहाँ अग्नि को प्रेरणा दो इस प्रकार अन्वय अभीष्ट है । इसलिये 'जिससे जिसका सम्बन्ध है दुहराने पर भी उससे उसका संबंध होता ही है । असमस्त पदों में आनन्तर्य कोई महत्त्व नहीं रखता'—यह उन शब्दों की दूर और पास में रहने पर हुई प्रतीतियों के भेद को और गुण दोष को बिना ही देखे मुंह से निकाल दिया गया, जिनकी पूर्णता अपने स्वरूप में होती है । इसलिये—एक जगह—'द्विषत्कण्ठासृजासिक्ता त्वत्कृपाणलता वरा'—यह पाठ ठीक है और दूसरी जगह 'व्यादिश्यते केन समीरणो वा हविर्भुजश्चोदयिता भवेति'—यह । (वरा की जगह—'ऽसिता' या शिता पाठ अच्छा होगा)।

अनन्वयोऽप्यभ्यूह्यार्थत्वाद्रसभङ्गहेतुरिति सोऽपि वाच्यावचनं दोषः ।

यथा—

'निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनान् जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान् ।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽसौ वीर्योदग्रे राजशब्दे मृगाणाम् ॥' इति ।

अत्र हि सिंहानां तावन्न राजशब्दसम्बन्धः सम्भवति तेषां तद्वाच्यत्वा-भावात् तत्सम्बन्धाभावाच्च। तत्पर्यायस्य मृगराजशब्दस्य सत्त्वप्यसावनुपयुक्त एव तस्य प्रक्रान्तत्वाभावाद् मृगाणामित्यत्र मृगराजानामित्येवमनुक्तेश्च । किञ्च मृगेषु राजत्वं भवति सिंहानां ननु शब्द इति वीर्योदग्रत्वं तद्विशेषण-मनुपपन्नमेव तस्यार्थनिष्ठत्वेनोपपत्तेः । तेन न सिंहानां न मृगाणां न वीर्योद-ग्रत्वस्य च राजशब्दशब्देनान्वयः सङ्गच्छत इत्यवाच्य एवासौ । तेन राज-भाव इति मृगेष्विति वा वाच्ये तदवचनं दोषः । यथा—

अन्वय का न होना भी वाच्यावचन दोष है क्योंकि तब भी उसका अर्थ कल्पना करके निकाला जाता है अतः वह रसभङ्ग करता है। जैसे—

'रगड़ के कारण उग्र प्रत्यंचा के निर्घोषों से कुञ्जों में छिपे शेरों को उसने क्षुब्ध किया। निश्चित ही वह उनके पौरुष के ज्ञापक मृगों के 'राजा' शब्द पर ईर्ष्यालु था।' [रघु० ९] यहाँ सिंहों का राजा शब्द से सम्बन्ध नहीं बनता। क्योंकि न 'राजा' शब्द की सिंह में अभिधा है और न उन (सिंहों) का उस (राजशब्द) से कोई सम्बन्ध ही है। उस (सिंह) के पर्याय मृगराज शब्द का सम्बन्ध होने पर भी यह (सम्बन्ध) यहाँ उपयोग में नहीं लाया गया क्योंकि यहाँ वह (मृगराज शब्द) न तो पहले कभी कहा गया और न यहीं, जब कि यहाँ मृगाणां—की जगह मृगराजानाम् कहा जा सकता था। इसके अतिरिक्त सिंह का राजत्वमृग (जङ्गली) पशुओं पर होता है, मृग शब्द पर नहीं। वह सदा अर्थ में रहता है। इसलिये उस (सिंह शब्द) का 'वीर्योदग्रे' यह विशेषण नहीं बनता। वह सदा अर्थ में रहता है। इसलिये न सिंहों का, न मृगों का और न वीर्योदग्रता का 'राजशब्द' पद से अन्वय बना इसलिये यह राजा शब्द यहाँ अवाच्य ही है। इसलिये 'राजभावे' या 'मृगेषु' ऐसा कहना था, उसका न कहना—वाच्यावचन दोष हुआ।

'तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो
वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्त्तवः
पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां दधुः॥' इति।

अत्र हि तपर्त्तौलिङ्गविशेषानुमितपुरुषभावस्य कर्तृत्वात्प्राधान्यं वक्तुमुचितम्, वर्षाणां च स्त्रीत्वस्य सहभावेन निर्देशादप्राधान्यम्, यथान्येषां हिमागमादीनाम्, अन्यथा तेषां कुटुम्बिरूपतानुपपत्तेः। न च तथोक्तमिति तस्य वाच्यस्यावचनं दोषः।

'किमवेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया॥'

इत्यत्र महीयसामिति बहुवचनं वा वीप्सासमानफलं प्रयोक्तव्यम्, यथा—

'यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः॥'

इत्यत्रार्थान्तरन्यासे, सर्वादिशब्दो वा यथा—

'छायामपास्य महतीमपि वर्त्तमाना-
मागामिनीं जगृहिरे जनतास्तरूणाम्।
सर्वो हि नोपनतमप्यपचीयमानं
वर्धिष्णुमाश्रयमनागतमप्युपैति॥'

इत्यत्र। अन्यथा समर्थकस्य प्रकृतिमहीयस्त्वस्य हेतोरन्यसमुन्नत्यस-

हिष्णुत्वलक्षणेन साध्येन सर्वोपसंहारव्याप्तिर्न प्रतीयते। तस्मादेवमत्र पाठः परिणमयितव्यः—

'प्रकृतिः खलु सा महीयसां न सहन्तेऽन्यसमुन्नतिं यया।' इति।

और 'ऋतु का निवास इसके नगर में सदा ही नगरवासी कुटुम्बियों के समान था, ग्रीष्म के साथ वर्षा, शरद् के साथ हेमन्त और वसन्तश्री के साथ शिशिर रहते थे तथा प्रसून पैदा किया करते थे। इस पद्य में तप ऋतु (ग्रीष्म), जिसमें लिङ्ग विशेष (पुलिङ्ग) से पुरुषभाव की प्रतीति होती है, कर्त्ता है, अतः उसका प्राधान्य होना चाहिये। और वर्षा का अप्राधान्य क्योंकि वह स्त्रीरूप से प्रतीत हो रही है और उसमें सहभाव (अप्रधान) है भी। जैसा कि—अन्य हिमागम आदि में बतलाया गया है। इसके बिना उनमें कुटुम्बिता प्रतीत नहीं होती। वैसा कहा नहीं गया इसलिये वाच्यावचन दोष हुआ।

'मृगराज क्या लाभ देखता है जो गड़गड़ाते मेघों को ललकारा करता है। बड़प्पन वाले व्यक्तियों का यह स्वभाव ही है कि वह दूसरे की उन्नति नहीं सहता।' यहाँ या तो वीप्सा (अनेकत्व) की प्रतीति कराने में सक्षम 'महीयसाम्'—ऐसा बहुवचन देना चाहिये जैसा कि—इस प्रकार समस्त विषय से युक्त बात कहकर श्रीकृष्ण चुप हो गये। बड़े लोग—'स्वभावतः कम बोलते हैं।' इस प्रकार इस अर्थान्तरन्यास में, (दिया गया है) अथवा (यदि एकवचन ही देना हो तो) सर्व आदि शब्द देना चाहिये—जैसा कि—वृक्षों की उपस्थित—लम्बी छाया को भी छोड़कर आने वाली महती छाया को लोगों ने अपनाया। सब का यह स्वभाव है कि घटने वाले प्राप्त पदार्थ को नहीं, बढ़ने वाले आगामी पदार्थ को अपनाते हैं।' यहाँ (दिया गया है)। नहीं तो प्रकृतिमहत्तरतारूपी हेतु और अन्यसमुन्नति की सहिष्णुता रूपी साध्य का व्याप्ति संबंध सर्वांश में नहीं बनेगा। (ऐसा प्रतीत होगा कि—कुछ ही ऐसे बड़े होते हैं, जो दूसरे की उन्नति नहीं सहते, सभी नहीं) इसलिये यहाँ ऐसा पाठ करना चाहिये—'बड़ों का यह स्वभाव ही है—कि दूसरे की उन्नति नहीं सहते।'

सर्वनामपरामर्शयोग्यस्यार्थस्य या पुनः।
स्वशब्देनाभिधा दोषः स वाच्यावचनाभिधः॥ ९९॥

यथा—

'निशि नान्तिकस्थितामपि चक्राह्वः सहचरीं विलोकयति।
चक्राह्वापि न सहचरमहो सुदुर्लङ्घता नियतेः॥' इति।

अत्र हि चक्राह्वासहचरौ न स्वशब्दपरामर्शविषयौ भवितुमर्हतः, तयोरुक्तनयेन सर्वनामपरामर्शविषयत्वोपपादनात्, अन्यथा तयोः पौनरुक्त्यं सर्वनाम्नां च विषयापहारः स्यात्। न चात्र तथा परामर्शो विहित इति वाच्यावचनं दोषः। तेन 'विरहविधुरा न सापि त'मित्यत्रानुगुणः पाठः।

एवम्—

'परिपाति स केवलं शिशूनिति तन्नामनि मास्म विश्वसीः।'

इत्यादावप्ययं दोषो द्रष्टव्यः। तस्य हि शिशुपाल इति नाम प्रसिद्धं न तु शिशुपरिप इति। तेन 'स शिशून् किल पालयत्यभीः' इति युक्तः पाठः इत्यलं बहुभाषितेन।

'सर्वनाम द्वारा जिसका परामर्श संभव हो ऐसे अर्थ का फिर से अपने मुख्य शब्द द्वारा जो कथन वह भी वाच्यावचन दोष है।' जैसे—रात में पास बैठी सहचरी को चक्रवाक नहीं देखता, और न चक्रवाकी अपने सहचर को, देखिये तो नियति की कठोरता कैसी है? यहाँ (उत्तरार्ध में) चक्राह्व और सहचर स्वशब्द वाच्य नहीं होना चाहिये। उसका परामर्श उक्त ढंग से सर्वनाम द्वारा होना चाहिये। नहीं तो उन दोनों में पुनरुक्ति दोष होगा और सर्वनाम के लिये कोई जगह नहीं रह जायगी—(अर्थात् यदि सर्वत्र मुख्यशब्द का ही प्रयोग होने लगे तो सर्वनाम का प्रयोग कहाँ होगा)।

यहाँ उनका वैसा परामर्श नहीं किया गया इसलिये वाच्यावचन दोष हुआ। इसलिये 'विरहविधुरा न सापि तम्'—विरह की मारी वह भी उसे'—'यह पाठ अनुरूप है। इसी प्रकार—'वह शिशुओं का परिपालन करता है इतने से ही उसके नाम पर विश्वास मत कर लो' इत्यादि में भी यही दोष मानना चाहिये। उसका 'शिशुपाल' नाम प्रसिद्ध है न कि 'शिशुपरिप' इसलिये 'वह निर्भीक शिशुओं को पालता है'—ऐसा पाठ चाहिये। रहने भी दिया जाय, अधिक कहने से क्या?

(६) अवाच्यवचन

अनेन च वाच्यावचनेन सामर्थ्यादवाच्यवचनमपि सङ्गृहीतं वेदितव्यम्। तस्यापीष्टार्थविपर्ययात्मकत्वात्। तद्यथा—

'सरित्समुद्रान् सरसींश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि।
तस्यापतन् मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः॥' इति।

अत्र ह्येकस्यैवार्थस्य यः पर्यायमात्रभेदेन भेदमुपकल्प्योपमानोपमेयभावो निबद्धः सोऽवाच्यवचनं दोषः, तस्य भिन्नार्थनिष्ठत्वात्। तदयमत्र पाठो युक्तः 'विन्ध्यस्य मेघप्रभवानि यद्वत्' इति। अस्मिंश्च पाठे भिन्नलिङ्गत्वमुपमादोषोऽपि परिहृतो भवति।

पर्यायमात्रभिन्नस्य यदेकस्यैव वस्तुनः।
उपमानोपमेयत्वमवाच्यवचनं च तत्॥ १०१॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

अवाच्यावचन—इस वाच्यावचन से अवाच्यवचन दोष भी अपने आप अपना लेना चाहिए। वह भी अभीष्ट अर्थ को उलट देता है। जैसे—'नदियों, समुद्रों और तालाबों तक जाकर राक्षसों और वानरों के स्वामी लोगों द्वारा लाये गये जल उसके सिर पर छूटे, जैसे विन्ध्य के सिर पर मेघमुक्त आप् (जल)।' यहाँ एक ही अर्थ का जो पर्याय भेद से भेद बनाकर उपमानोपमेयभाव बतलाया गया वह अवाच्यवचन दोष है। वह (उपमानोपमेयभाव) भिन्न अर्थों में रहता है। इसलिये

यहाँ यह पाठ ठीक है—'विन्ध्यस्य मेघप्रभवानि यद्वत्'—'जैसे विन्ध्य की (सिर पर) मेघ से उत्पन्न (जल)। इस पाठ में (जलानि=नपुंसकलिङ्ग, आपः=स्त्रीलिङ्ग इस प्रकार का) लिङ्गभेद दोष भी दूर हो जाता है।

संक्षेप में—

पर्यायमात्र से भिन्न एक ही वस्तु का जो उपमानोपमेयभाव वह अवाच्यावचन दोष है—

यथा च—

'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयो-
रसावस्यास्स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः।
अयं कण्ठे बाहुः शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥' इति।

अत्र यत् साक्षान्नायिकावर्णनं तदवाच्यमेव। तत्सम्बन्धिनामेव स्पर्शादीनामिव रम्याणामर्थानां विरहव्यतिरेकेणाङ्गभावोपगमाद्। न तस्या एव विरहस्य तत्सम्बन्धित्वेऽप्यसह्यत्वाभिधानादिति तस्या वचनं दोषः। तेन 'मुखं पूर्णश्चन्द्रो वपुरमृतवर्त्तिर्नयनयो'रित्यत्र युक्तः पाठः।

दूसरे उदाहरण जैसे—

'यह घर में लक्ष्मी है, यह आँखों की अमृतवत्ती है, शरीर पर इसका यह स्पर्श गहरा चंदन रस है, यह हाथ कण्ठ में मोतियों का ठंडा और चिकना हार है। इसकी कौन सी वस्तु प्रिय नहीं? केवल असह्य है तो इसका विरह।'

यहाँ (इयं गेहे लक्ष्मी=यह घर में लक्ष्मी है इस प्रकार) साक्षात् नायिका का वर्णन है वह अवाच्य है, (वह वैसा नहीं चाहिये) यहाँ नायिका सम्बन्धी स्पर्श आदि रम्यपदार्थों को, केवल विरह को छोड़कर नायिका का अंग स्वीकार किया गया है; उसका विरह भी उसी का सम्बन्धी है किन्तु वह असह्य है इसलिये उसका अंग नहीं माना गया। इसलिये उस (नायिका) का कथन दोष है। इसलिये ('इयं गेहे लक्ष्मीः' के स्थान पर भी) 'मुखं—पूर्णश्चन्द्रो' मुखपूर्ण चन्द्र है ऐसा पाठ (कर लेना) ठीक है। (यहां विरह को अंग न मानने की बात अनुसंगकथित है)।

यथा च—

'शोकानलधूमसम्भारसम्भृताम्भोदभरितमिव वर्षति
नयनवारिधाराविसरं शरीरम्।' इति।

अत्र हि शोकस्य केनचित् साधर्म्येण यदनलत्वेन रूपणं तत् तावद्-रूप्यस्य सद्भावाद्युक्तमेव। धूमस्य पुनर्न किञ्चिद् रूप्यमस्तीत्यवाच्य एवासौ। यथा 'शोकानलदाहभीतेव न हृदयमवतरती'त्यत्र।

रूप्यान्तरसद्भावे तु न कश्चिद् दोषः। यथा—

'तस्या धौताञ्जनश्यामा हृदयं दहतोऽनिशम्।
शोकाग्नेर्धूमलेखेव गलत्यश्रुकणावलिः॥' इति।

अनलकार्यत्वात् तस्य वाच्यत्वमदुष्टमिति चेत्, न, अनवस्थापत्तेरति-प्रसङ्गाच्चेति तस्य वचनं दोष एव।

यथा च—

'तप्ते महाविरहवह्निशिखावलीभिरापाण्डुरं स्तनतटे हृदये प्रियायाः।' इत्यादि।

उपचारस्सहैकैव रूपकस्येष्यते क्रिया।
यथानलस्य दाहादिर्न कार्यादिरसम्भवात्॥ १०२॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

और जैसेः—

'शरीर अश्रुधारा बरसा रहा है, मानो वह शोकानल के धूमसमुदाय से बने मेघ से भर गया है।' यहाँ किसी साधर्म्य के आधार पर शोक का जो—अग्निरूप से रूपण (शोक पर अग्नि का आरोप है) है वह ठीक है क्योंकि उसका रूप्य (उपमेय) विद्यमान है किन्तु धुएँ का तो कोई रूप्य नहीं है, इसलिये यह तो अवाच्य ही है। जैसे कि—'शोकानल की जलन से डरी हुई सी वह हृदय में नहीं उतरती' में (धुँआ नहीं दिया गया) दूसरा कोई रूप्य हो तो कोई दोष नहीं। जैसे—

'धुले काजल से काली उसकी अश्रुधारा हृदय की दिनरात फूंक रहे शोकानल की धूम रेखा के समान झड़ रही है।' यह।

यदि यह कहा जाय कि 'वह (धूम) अनल का कार्य है इसलिये उसका उपादान दोषावह नहीं'—तो वह ठीक नहीं, ऐसा करने से अनवस्था होगी और अतिव्याप्ति भी, इसलिए उसका कथन दोष ही है। और जैसे—

उत्कट विरहाग्नि की शिखावली से तप्त प्रिया के स्तनतट पर कुछ पीला, इत्यादि में। यहाँ (शिखा नहीं दी जानी चाहिये)

संक्षेप में—

(धर्मी के) रूपक में (धर्मगत) उपचार (गौणी सारोपा लक्षण) केवल एक ही क्रियारूपी धर्म में हो सकता है जैसे यदि अग्नि का आरोप किया जाय तो आरोप विषय (विरह आदि) गत (संतापादि) धर्म पर उसकी दाह क्रिया का आरोप किया जा सकता है, किन्तु यह कदापि संभव नहीं कि उसके कार्य (जैसे अग्नि का कार्य धूम) का भी आरोप किया जाय।'

विमर्शः धूम अग्नि का कार्य है इतने भर से वह अग्नि के साथ सर्वत्र बोला जाय तो—कृष्ण ने राधा का आलिंगन किया—यहाँ भी प्रद्युम्न का कहना जरूरी होगा। इसी प्रकार—जहाँ प्रद्युम्न ने रति का—यहाँ कारण—(पिता) श्रीकृष्ण का भी उल्लेख होना ही चाहिये। और इसी प्रकार तप्तेमहाविरहशोक.शिखा—में शिखा शब्द के बिना भी ताप की प्रतीति सम्भव है, परन्तु उसे दुष्ट नहीं कहा जा सकेगा। स्तनस्थ वस्तु में आपाण्डुरता की सिद्धि के लिए हृदयस्थ अग्नि पर्याप्त नहीं अतः वहाँ से उठकर स्तनों तक आने वाली अनेक लपटें उसके लिए आवश्यक हैं, इसलिए शिखा और अवली दोनों का उपादान उचित है। अनुचित है केवल (अवली में) बहुवचन का उपादान। बहुत्व की प्रतीति अवली शब्द से ही हो जाती है।

'दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोशनिषण्णस्य सहजमलिनस्य ।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥' इति ।

अत्र कृपणकृपाणयोराकारमात्रतो व्यतिरेक उक्तः स चायुक्तः, द्विविधो ह्याकारार्थः सन्निवेशलक्षणोऽक्षरविशेषलक्षणश्च ।

तत्राद्यस्तावदिहानुपादेय एव, सहानवस्थानव्रतोरर्थयोस्तद्व्यभिचाराभावादिति नासौ सचेतसां चमत्कारमावहति। द्वितीयस्तु न सम्भवत्येव, अक्षरकृतविशेषस्य शब्दैकविषयत्वात् । यद्यपि हि स्वरूपमपि शब्दस्यार्थ एव । यदाहुः—

'विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते ।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः ॥' इति ।

तथापि तस्य तात्पर्येणाविवक्षितत्वात् न तदपेक्षमर्थविषयत्वमस्य शक्यं वक्तुम् । वाच्यदशापत्तावपि तस्य शब्दस्वरूपतानपायादिति ।

यथा च—

'येनालङ्कृतमुद्यानं विहारेणामुना तव ।
तेनैव निर्विकारेण करिकुम्भनिभौ कुचौ ॥' इति ।

इह तु युक्त एवासौ—

'अक्षराणामकारोऽहमिति यः स्वयमभ्यधात् ।
सोऽपि त्वयामुना स्वामिन्नाकारेण लघूकृतः ॥' इति ।

तेनाक्षरविशेषात्मकाकारभेदलक्षणस्य शब्दधर्मस्यार्थविशेषणभावेनावाच्यस्य यद्वचनं सोऽपि दोष एवेति द्रष्टव्यम् ।

यद्यप्यर्थावुभौ शब्दः क्रमेणाभिदधात्ययम् ।
स्वरूपञ्चार्थरूपं च तथाप्यस्याभिधा क्रिया ॥ १०३ ॥
तत्परत्वाद् विवक्षाया विश्राम्यत्यर्थ एव हि ।
भिन्नधर्मतया तेन भिन्नकक्ष्यतयापि च ॥ १०४ ॥
नार्हतो जातुचिदिमौ श्लिष्टमेकं विशेषणम् ।
मा भूदेकात्मतापत्तिदोषोऽसावेतयोरिति ॥ १०५ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः ।

'जिसकी मुष्टि खूब दृढ़ता के साथ बँधी रहती है, जो स्वभावतः मलिन होता है और कोष में प्रविष्ट रहता है ऐसे कृपण और कृपाण का भेद केवल आकार (आकृति तथा 'आ' अक्षर) को लेकर होता है ।'

[मुष्टि—तलवार—की मूठ, मुट्ठी, मलिन = श्याम और गन्दा, कोश = म्यान और खजाना]

यहाँ कृपण-और-कृपाण का भेद केवल आकार को लेकर बतलाया गया है ! पर वह ठीक नहीं है। आकार के दो अर्थ होते हैं—आकृति और ('आ' यह) एक अक्षर उनमें से प्रथम (आकृति) को यहाँ अपनाया नहीं जा सकता, क्योंकि जो दो वस्तुएँ एक जगह कदापि नहीं रह सकती (अर्थात् जिनमें भिन्नता रहती है) उनमें उस (आकृति भेद) का—व्यभिचार (अभाव) नहीं होता (जिस = भेद के आधार पर—कमल आदि के साथ नील आदि विशेषण अपनाए जाते हैं) वह (आकृति के अर्थ में अपनाया 'आकार') सहृदयों को अच्छा नहीं लगता। दूसरा तो संभव ही नहीं है 'अक्षर' के आधार पर जो भेद या अभेद की बात है वह केवल कृपण और कृपाण) शब्दों में संभव है। यद्यपि शब्दों का स्वरूप भी (एक) अर्थ है। जैसा कि कहा गया है—'शब्द जब तक जाने नहीं जाते तब तक अर्थज्ञान नहीं कराते। वे संकेतित रूप से न जाने-जाने पर केवल अपनी सत्ता मात्र से अर्थ का ज्ञान नहीं कराते।' (सत्तामात्र में शब्द भी अर्थ ही है।)

इतने पर भी यहाँ वह (शब्द) तात्पर्य रूप से विवक्षित नहीं है, इसलिये इसको लेकर शब्द-स्वरूप को अर्थ नहीं माना जा सकता। वह ('शब्द') वाच्य भी होता है, तब भी स्वरूप से वह शब्द ही रहता है। इसी प्रकार—'तुम्हारे जिस इस विहार ने उद्यान को अलंकृत किया (और) विकार (वि उपसर्ग) रहित उसी (हार) ने करिकुंभ के समान तुम्हारे कुचों को' यहाँ भी। (विहार से 'वि' हटाने पर हार अतः नायिका स्तनों को हार ने, उद्यान को विहार ने अलंकृत किया)

यहाँ तो वह ठीक है—'मैं अक्षरों में अकार हूँ, ऐसा जिसने स्वयं कहा, हे स्वामिन् उसे भी तुमने अपने इस आकार से छोटा बना दिया।' इसलिये अक्षर विशेषरूप 'आकार' की भिन्नता जो शब्द में रहने वाला धर्म है—उसे अर्थ का धर्म नहीं कहना चाहिये। इसलिये ऐसा कथन दोष ही है।

संक्षेप में—

यद्यपि शब्द क्रम से स्व-स्वरूप और अर्थस्वरूप दोनों अर्थों का अभिधान करता है तथापि इसकी अभिधान क्रिया विश्रान्त होती है क्योंकि उसकी विवक्षा उसी में रहती है। इसलिये भिन्न-धर्मता या भिन्न सत्ता के आधार पर दोनों कभी भी किसी एक श्लिष्ट विशेषण से कहने योग्य नहीं। ऐसा करने से इन दोनों के अभिन्न रूप से प्रतीत होने का भय रहता है। ऐसा होना यह (अवाच्य-वचन) दोष है।

'यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ॥' इति।

अत्र हिरण्यकशिपुमिति वक्तव्ये हिरण्यपूर्वं कशिपुमित्युक्तं सोऽवाच्यवचनं दोषः।

यतोऽत्र हिरण्यशब्दः कशिपुशब्दश्चाभिधेयप्रधानौ वा स्यातां स्वरूपमात्रप्रधानौ वा। तत्र न तावदभिधेयप्रधानौ अनभ्युपगमाद्, अर्थस्यासमन्वयात्; कशिपुशब्दस्य नपुंसकलिङ्गतापत्तेश्च। नापि स्वरूपप्रधानौ। नह्येवमसुरविशेषस्य हिरण्यकशिपोरभिधानानुकारः प्रख्यानक्रियाकर्मभावेनाभिहितो भवति।

द्विविधो हि शब्दानुकारः शाब्दत्वार्थत्वभेदात्। तत्रेतिना व्यवच्छेदे शाब्दः प्रसिद्ध एव। अर्थावच्छेदभावादार्थः; यथा 'महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः' इति।

इह चायमार्थोऽनुकारः, इतिनानवच्छेदात्। केवलं यत् तस्याभिधानमनुकार्यं तन्नानुकृतं, यच्चानुकृतं तत् तस्याभिधानमेव न भवति। लोके हिरण्यकशिपुरिति तस्याख्यानं न हिरण्यपूर्वः कशिपुरिति, अतस्तस्यावाच्यस्य वचनं दोषः। यथा वा—

'क्षुण्णं यदन्तःकरणेन वृक्षाः फलन्ति कल्पोपपदास्तदेव।' इत्यत्र।

अत्र—'क्षुण्णं यदन्तःकरणेन नाम तदेव कल्पद्रुमकाः फलन्ति।' इति युक्तः पाठः। अस्मिंश्च पाठे क्षुण्णस्यार्थस्य कल्पद्रुमाणां चावज्ञावगतौ गुणान्तरलाभः। एवम्—

'दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं प्रचक्षते।'

इत्यादौ द्रष्टव्यम्।

इन्द्र के इन्द्र शब्द के अर्थ को मटियामेट कर देने वाले जिस (दैत्य) को हिरण्यपूर्वक कशिपु कहा करते हैं। कहना था 'हिरण्यकशिपुम्'। उसकी जगह हिरण्यपूर्वक कशिपु कहना अवाच्यवचन ही है। क्योंकि यहाँ हिरण्य और कशिपु दोनों शब्द अर्थप्रधान हो सकते हैं या स्वरूप प्रधान। दोनों में अभिधेय (अर्थ) प्रधान तो हो नहीं सकते—क्योंकि वह कविविवक्षित नहीं है, अर्थ (शय्या) का समन्वय नहीं होता और कशिपु शब्द में नपुंसक लिंगता (कशिपु शब्द पुलिंग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में होता है। ग्रन्थकार को एकमात्र नपुंसक का संस्कार रहा।) चली आती है। स्वरूप प्रधान भी नहीं हो सकते क्योंकि ऐसा करने पर असुरविशेष = हिरण्यकशिपु के नाम का अनुवाद 'प्रख्यान (प्रचक्षते) क्रिया' के कर्मरूप से कथित नहीं होता। शब्द का अनुकरण दो प्रकार का होता है शाब्द और आर्थ दोनों में इति (आदि शब्दों) से व्यवच्छेद हो जाने पर शाब्द तो (प्रथम विमर्श के आरम्भ में बतलाया जा चुका है अतः) प्रसिद्ध ही है, अर्थ के अवच्छेद से आर्थ होता है—जैसे 'महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः' = दूसरे के भारी दुःख को भी शीतल ठीक ही कहा है। यहाँ अनुकरण आर्थ ही है, क्योंकि इति शब्द से तो व्यवच्छेद किया नहीं गया। किन्तु अनुकार्य जो है—उसके नाम (हिरण्यकशिपु) का अनुकरण नहीं किया गया, जिसका अनुकरण किया गया है, वह (है हिरण्यपूर्व कशिपु जो) उसका नाम नहीं है। लोक में उसका नाम 'हिरण्यकशिपु' है न कि 'हिरण्य पूर्व कशिपु' अतः जिसको नहीं कहना था उसका कथन अवाच्यवचन दोष हुआ।

और जैसे—'जो अन्तःकरण चाहता है कल्प उपपद वृक्ष वही फलते हैं।' यहाँ 'क्षुण्णं यदन्तःकरणेन नाम 'कल्पद्रुमका फलन्ति' यह पाठ चाहिये। इस पाठ में एक और विशेषता आ जाती है—(नाम शब्द से) अर्थ (अभीष्ट वस्तु) और (कन् प्रत्यय से) कल्पद्रुम की क्षुद्रता भी प्रतीत होती है। इसी प्रकार—दशकण्ठ (रावण) के शत्रु के (राम के) पिता जिस (राजा) को······ दश पूर्वक रथ कहते थे।' इत्यादि में समझना चाहिये।

'या घर्मभासस्तनयापि शीतलैः
स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनैः ।
कृष्णापि शुद्धेरधिकं विधातृभि-
र्विहन्तुमंहांसि जलैः पटीयसी ॥' इति ।

अत्र घर्मभासस्तनयत्वादीनां शीतलत्वादीनां च धर्माणामेकाश्रयत्वेन विरोधो वक्तुं युक्तो, न भिन्नाश्रयत्वेन, तस्य तथानुपपत्तेः । नचासौ तथोक्तः, एकेषां यमुनाश्रयत्वेन अन्येषां जलाश्रयत्वेनोपादानात् ।

यद्यपि यमुनायास्तज्जलानां च तात्त्विकमेवैक्यं, तथापि तेषां शब्देन कर्तृकरणतया निर्देशाच्छाब्दं भिन्नत्वमस्त्येव । शाब्द एव विरोधो वक्तुमिष्टः कवेरिति तस्यावाच्यस्य वचनं दोषः तेनायमत्र पाठः श्रेयान् ।

'या घर्मभासस्तनयापि शीतला
स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनी ।
कृष्णापि शुद्धेरधिकं विधायिनी
विहन्तुमंहांसि जलैः पटीयसी ॥' इति ।

स्वयं श्याम होने पर भी अधिक शुद्धि करने वाले उष्णदीधिति—सूर्य की पुत्री होने पर भी ठण्डे, और यमराज की बहन होने पर भी जान ला देने वाले जलों से पाप दूर करने में अधिक चतुर है ।'—यहाँ सूर्य की पुत्री होना और शीतल होना आदि धर्मों का विरोध एक वस्तु में बतलाना ठीक था; भिन्न-भिन्न वस्तुओं में नहीं, भिन्न-भिन्न वस्तुओं में बतलाने से विरोध नहीं होता । यहाँ वैसा किया नहीं गया, कुछ का यमुनाश्रितरूप से और—कुछ का जलाश्रितरूप से उपादान किया गया है ।

यद्यपि यमुना और जल दोनों तत्वतः एक हैं, इतने पर उनका शब्दतः जो निर्देश हुआ है उसमें भेद है क्योंकि एक को करण के रूप में उपस्थित किया गया है और दूसरे को कर्ता के रूप में । इसलिए शब्दतः भिन्नता तो है ही । और विरोध जो है सो शाब्द ही तो कवि को कहना है अतः उसका न कह सकना अवाच्यवचन दोष है । इसलिये यह पाठ यहाँ अधिक अच्छा है—'जो सूर्य की पुत्री होने पर भी ठंडी है, यम की बहन होने पर भी जनों को जीवन देने वाली है, श्याम होने पर भी अधिक शुद्धि का विधान करती है और अपने जल से पापों को दूर (नष्ट) करने में चतुर है ।'

यथा च—

'रुरुचे हिमाचलगुहामुखोन्मुखः पयसां प्रवाह इव सौरसैन्धवः' अत्र हि पयसामिति यत्प्रवाहस्य सम्बन्धितया विशेषणं तदवाच्यमेव तस्य हि तत्सम्बन्धिताऽव्यभिचारात् । यच्चात्र सौरसैन्धव इति विशेषणं तत्र तद्धितनिर्देशोऽप्यवाच्य एव, षष्ठीनिर्देश एव षष्ठीनिर्देशेनैव तदर्थावगतिसिद्धेः । तेन 'सुमहान् प्रवाह इव जह्नुजन्मनः' इत्यत्र युक्तः पाठः । यथा च—

'लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ॥'
'रहयिष्यति तं लक्ष्मीर्नयविमुखो नापदां पदं क इव ।
स च तव रिपुरेवमतो भावी तस्यापि तद्विरहः ॥' इति ।

अत्र प्रतिज्ञानिगमनयोः पौनरुक्त्यम् । प्रसिद्धव्याप्तिकस्य हेतोर्धर्मिण्युपसंहारवचनेनैव तदुभयार्थसिद्धेरिति । यदुक्तं 'प्रतिज्ञाया एव तावद्गम्यमानार्थाया वचनं पुनर्वचनं, किं पुनरस्याः पुनर्वचनमित्यपार्थकं निगमनम्' इति ।

इह तु न दोषः—
'यो यत्कथाप्रसङ्गे छिन्नच्छिन्नायतोष्णनिश्वसितः ।
स भवति तं प्रति रक्तस्त्वं च तथा दृश्यसे सुतनु ! ॥' इति ।

और जैसे—'हिमालय की गुहाओं की ओर जा रहा वह जल के सुरसिन्धु (गङ्गाजी) संबन्धी प्रवाह जैसा लगा०' इसमें पयसाम्—यह जो संबन्धी रूप से प्रवाह का विशेषण है, वह अवाच्य है, वह तो उसके साथ नित्य संबंधित है। और जो यहाँ 'सौरसैन्धव' यह विशेषण है उसमें जो तद्धित निर्देश है—वह भी अवाच्य ही है, (सुरसिन्धोः-इस प्रकार) 'षष्ठी' विभक्ति देने से ही उसका काम—हो जाता है; 'इसलिये सुमहान् प्रवाह इव जह्नुजन्मनः' पाठ चाहिये। और जैसे—

'सिंह के समान शक्ति वाले (दशरथ) ने जिस हिरन पर शर साधा किन्तु उसे ओट में करके खड़ी उसकी सहचरी को देख कान तक खींचे तीर को भी दयार्द्रचित्त होकर उसने उलटा उतार लिया।' (तथा)—

'उसे लक्ष्मी छोड़ देगी, नीति विमुख कौन सा व्यक्ति आपत्ति का आस्पद नहीं होता। तुम्हारा वह शत्रु ऐसा ही है, अतः उसे भी उस (संपत्ति—लक्ष्मी) का विरह भोगना होगा।' यहाँ प्रतिज्ञा (नीतिविमुख०००होता) और निगमन (अतः उसे उसका विरह भोगना होगा) पुनरुक्त होगा। जिस हेतु की व्याप्ति प्रसिद्ध होती है उसका धर्मी (पक्ष) में उपसंहार बतला देने से ही दोनों कार्यों (प्रतिज्ञा, निगमन) की सिद्धि हो जाती है। जैसा कि कहा है—'प्रतिज्ञा का ही (निगमन में पुनः) कथन पुनरुक्ति है क्योंकि उसका अर्थ स्वयमेव गम्यमान होता है' तब इसे फिर से कहना ही क्यों। इसलिए निगमन व्यर्थ ही होता है।

किन्तु निम्नलिखितस्थल में उक्त दोष नहीं होता—

'जिसकी बात चलने पर जो रुक-रुक कर गरम साँसें लेता है वह उसके प्रति अनुरक्त होता है और हे सलोनी सखी तुम ऐसी ही दिखाई दे रही हो।

विमर्श : 'लक्ष्यीकृतस्य०' पद्य में 'कृपामृदुमनाः' का 'मनः' शब्द पुनरुक्त है। कृपा तो मनका ही धर्म है अतः मन अपने आप प्रतीत हो जाता है। इसीप्रकार प्रतिसंजहार में 'प्रति'

पुनरुक्त है। संधान किये बाण को विना छोड़े वापस करलेना केवल 'संजहार' से प्रतीत हो जाता है। इसी प्रकार कानतक खींचा जाता है धनुष न कि वाण, अतः वाग का कानतक खींचा जाना अवाच्यवचन है। फलतः—'आकर्णकृष्टमपि कामितया सुधन्वा चापं कृपामृदुरसौ शिथिलीचकार' पाठ (उत्तरार्ध में) चाहिए। 'सुधन्वा' पद देने से 'स-असौ' इन सर्वनामों में अन्यतर की पुनरुक्ति हट जाती है।

यत्राप्रस्तुतादेव प्रस्तुतस्यार्थस्य प्रतिबिम्बादिव बिम्बस्य साम्यावगतिर्न तत्रासौ वक्तव्यतामवतरति तदभिधानसामर्थ्यादेव तदवगमाद् उक्तावाच्यवचनदोषानुषङ्गात्। यथा—

'आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरा वार्यते
मध्येवारिधि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां पदम्।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम्॥' इति।

अत्र प्रभुमिवेत्युपमानभावः प्रभोः। यथा च—

'द्रविणमापदि भूषणमुत्सवे शरणमात्मभये निशि दीपकः।
बहुविधाभ्युपकारभरक्षमो भवति कोऽपि भवानिव सन्मणिः॥' इति।

अत्र भवदर्थस्योपमानभावः।

जहाँ अप्रस्तुत से ही प्रस्तुत का साम्य प्रतिबिम्ब से बिम्ब के समान समझ में आ जाता हो वहाँ वह (प्रस्तुत) कहा नहीं जाता। उस (अप्रस्तुत) के कथन से ही उस (प्रस्तुत) की प्रतीति हो जाती है अतः (प्रस्तुत को) कहने पर अवाच्यवचन दोष का भय रहता है। उदाहरणार्थ—

'यदि आकाशचारियों को बुलाया जाय और उसमें यदि मच्छर भी आए तो वह रोका नहीं जा सकता, समुद्र में रहती तृणमणि भी मणियों का स्थान पाती है, (सूर्य, चन्द्र आदि) तेजस्वी लोगों के बीच अवस्थित जुगनू (खद्योत) भी टससे मस नहीं होता। अतः तत्त्वभेद करने में असमर्थ स्वामी के समान इस जड़ सामान्यतत्त्व (जाति) को धिक्कार है।' यहाँ स्वामी (की प्रतीति स्वतः हो जाती है अतः उस) का उपमानरूप से उपस्थित किया जाना (अवाच्यवचन दोष है)। और जैसे—

'धन केवल आपत्ति में उपकार करता है, भूषण केवल उत्सवों में, रक्षा करने वाला केवल प्राणभय के समय और दीपक केवल रात्रि में। आप जैसा बहुविध उपकार करने में समर्थ और सत्पुरुषों में रत्न कोई विरला ही होता है।' यहाँ जिसके लिए 'आप' (भवान्) शब्द कहा गया है उसे उपमानरूप से शब्दतः कहना (दोषावह है)।

प्रस्तुतात्तु तदन्यस्य प्रतीतिरनिबन्धना न सम्भवत्येवेति तत्र तस्योक्तिरुपपद्यत एव।

'निम्नमुन्नतमवस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत्।
सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ् महत्त्वमसतां हतान्तरम्॥' इति।

अत्र तमसः प्रस्तुतत्वात्तदुक्तेरसत्पुरुषमहत्त्वप्रतीतावसामर्थ्यमिति तद्ध-क्तव्यमेव भवतीति न तत्रावाच्यवचनदोषानुषङ्गः ।

जहां तक प्रस्तुत से अप्रस्तुत का प्रतीति का सम्बन्ध है वह बिना कोई कारण उपस्थित किए नहीं होती अतः उस (अप्रस्तुत) को अवश्य ही शब्दतः कहना पड़ता है, अतः उसका शब्दतः कथन दोष नहीं माना जाता ।

जैसे—

'नीचा, ऊँचा, स्थिर, चल, टेढ़ा, सीधा जो भी है अन्धकार ने उस सबको बराबर कर दिया है । अन्तर न जानने वाले असत्पुरुषों की प्रभुता को धिक्कार है ।' यह ।

यहां अन्धकार प्रस्तुत है (केवल) उसके (ही) कथन से असत्पुरुषों के महत्त्व का ज्ञान होना सम्भव नहीं, इसलिए उसे कहना ही पड़ता है) उसमें अवाच्य वचन दोष नहीं ।

अप्रस्तुतोक्तिसामर्थ्यात् प्रस्तुतं यत्र गम्यते ।
प्रतिबिम्बाद् यथा बिम्बं तस्योक्तिस्तत्र नेष्यते ॥ १०६ ॥
प्रस्तुतात्तु तदन्यस्य प्रतीतिरनिबन्धना ।
न सम्भवत्येव ततस्तदुक्तिस्तत्र शस्यते ॥ १०७ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकौ ।

संक्षेप में (सार यह कि)—

'जहाँ अप्रस्तुत के कथन के बल से प्रस्तुत का बोध हो जाता है जैसे प्रतिबिम्ब से बिम्ब का वहाँ इस (प्रस्तुत) का कथन आवश्यक नहीं । किन्तु प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति बिना किसी कारण के नहीं होती अतः उसका कथन आवश्यक माना जाता है ।'

किञ्च यत्राप्रस्तुतप्रशंसायामप्रस्तुतस्यार्थस्य श्लेषमुखेनासन्नेवोत्कर्षोऽपकर्षो वा तदितरस्य तथाप्रतिपत्तयेऽभिधीयते नासौ तात्त्विक इति न तत्र तामाधातुमुत्सहते तयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावेनावस्थानोपगमादित्यवाच्य एवासौ, तस्य वचनं दोषः । तत्रोत्कर्षे यथा—

'सद्वृत्ते महति स्वभावसरले बद्धोऽसि यस्मिन् गुणै-
र्युक्ते संयमहेतुतामुपगते यत्रापि विश्राम्यसि ।
तस्याक्षेपपरम्पराभिरभितो दोलायमानस्थिते-
रालानस्य मतङ्गजेष कतमो निर्मूलने दुर्ग्रहः ॥' इति ।

अत्र सद्वृत्तादिभिर्विशेषणैररुन्तुदस्यालानस्याप्रस्तुतस्य श्लेषबलोपकल्पितेन सदाचारत्वादिधर्मसम्बन्धेनोत्कर्षोऽभिहितः, न चासौ वास्तव इति तदुन्मूलनग्रहो गजस्योचित एव न दुष्ट इत्युपालम्भयोग्यत्वं तत्रासिद्धमेव । यच्च बिम्बभूते तस्मिन्नसिद्धं, तत् कथं प्रस्तुतेऽर्थे दर्पणप्रतिमे प्रतिबिम्बीभवेदिति श्लेषोत्कर्षस्यावाच्यस्य वचनं दोषः । तस्माच्छ्लेषमनादृत्यैव निराकाङ्क्षकाकुक्रमेण किंशब्दस्यार्थो व्याख्येयः । तेन 'कतमो निर्मूलने

दुर्ग्रह' इत्यत्र 'न खलु कश्चिदित्युचित एवायं निर्मूलनेऽभिनिवेशस्तव' इत्ययमर्थोऽवतिष्ठत इति। एवमपकर्षेऽपि द्रष्टव्यम्।

इसके अतिरिक्त अप्रस्तुतप्रशंसा में जहाँ उत्कृष्ट को अपकृष्ट तथा अपकृष्ट को उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए अप्रस्तुत अर्थ का अवास्तविक (झूठा ही) उत्कर्ष या अपकर्ष श्लेष के द्वारा उपस्थित किया जाता है वहाँ वह अवास्तविक होने के कारण वैसा सिद्ध नहीं कर पाता। कारण कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत परस्पर में विम्ब और प्रतिविम्ब के समान माने जाते हैं। इसलिए वह (अप्रस्तुत का अवास्तविक उत्कर्षापकर्ष) अवाच्य ही है और उसका कथन अवाच्यवचन दोष है। जैसे कि उत्कर्ष में—

हे गजराज जिसका वृत्त (व्यवहार और घेरा) बहुत अच्छा है, जो महान् (उदात्त और लम्बा) है, स्वभाव से सरल (सीधा) है, जिसमें तुम बँधे हो, जो गुणों (शील आदि तथा रस्सी) से युक्त और संयम (इन्द्रिय निग्रह, बन्धन) का कारणभाव प्राप्त कर लेता है जिसके सहारे तुम विश्राम भी करते हो, आक्षेप (लाञ्छन, टक्कर) की परम्परा द्वारा हिल रहे उस आलान (हाथी को बांधने के खूंटे) को जड़ से उखाड़ फेंकने में यह आपका आग्रह कैसा ?

यहाँ सद्वृत्त आदि विशेषणों द्वारा मर्मच्छेदी अप्रस्तुत आलान का उत्कर्ष श्लेष के द्वारा सदाचार आदि कल्पित गुणों के आधार पर बतलाया गया, पर यह वास्तविक नहीं है, इसलिये हाथी का उसे उखाड़ फेंकने का आग्रह अनुचित सिद्ध नहीं होता, इसलिये उसमें (हाथी में) उपालंभ (उलाहने की) योग्यता नहीं बनती। (क्योंकि) विम्बभूत उसमें (अप्रस्तुत में) जो सिद्ध नहीं होता वह दर्पण के समान प्रस्तुत अर्थ में प्रतिविम्बित कैसे हो सकता है, इसलिए श्लेप द्वारा कल्पित उत्कर्ष यहाँ वाच्य (कथनीय) नहीं था, उसका वचन (कथन) दोष हुआ। इसलिये किं (कतम) शब्द का अर्थ श्लेप को छोड़ कर केवल काकु के आधार पर करना चाहिये। इस प्रकार काकु से अर्थ निकलेगा—'उखाड़ फेंकने का आग्रह दुष्ट क्यों माना जाय' और उत्तर आएगा 'न माना जाय', फलतः 'तुम्हारा उखाड़ फेंकने का आग्रह उचित ही है'—ऐसा अभिप्राय निकलेगा। इसी प्रकार अपकर्ष में भी देखना चाहिये।

विमर्श : अपकर्ष के लिये 'शिरःशार्वं गङ्गा०' (इत्यादि भर्तृहरिशतक का) पद्य ठीक है। गङ्गा का नीचे आना अधःपतन नहीं है। अतः विवेकयुक्त लोगों का अपकर्ष गङ्गा में सिद्ध नहीं होता। ऐसी ही कोई अप्रस्तु-प्रशंसा अपनाई जा सकती है।

सर्वनाम्ना परामृष्टस्याप्यर्थस्य यत्पुनः स्वशब्देन वचनं सोऽवाच्यवचनं दोषः। यथा—

'उदन्वच्छिन्ना भूः, स च निधिरपां योजनशतम्, इति।

अत्र निधिरपामिति।

यस्यार्थस्य समासोक्तित एवोपमानभावोऽवसितो न तस्यासौ पुनर्वाच्यो भवति अवाच्यवचनदोषानुषङ्गात्। यथा—

'अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव॥' इति।

अत्र तिलकप्रमदयोरेकतरस्मिन् वाच्ये यदुभयोर्वचनं तदवाच्यवचनं दोषः।

ये तु गण्डस्योपरि पिटकोद्भेदमिव तत्राप्यार्थमेव तस्योपमानत्वमुपरचयन्ति, नमस्तेभ्यः कविचरेभ्यः। तद्यथा—

'जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्स्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः'॥ इति।

अत्र हि समासोक्त्यैव दण्डपादस्याम्भोजतुल्यत्वेऽवगते यत् तस्याम्भोजशोभां विदधदिति पुनर्वचनं तदवाच्यवचनदोषतां नातिपतति।

. सर्वनाम द्वारा कहे अर्थ को पुनः अपने वाचक शब्द द्वारा कहना भी अवाच्यवचनदोष है। जैसे—'भूमि समुद्र से सीमित है और वह समुद्र भी सौ योजन का है'—इसमें (निधिरपां (समुद्र) का।

जिसकी उपमानता समासोक्ति द्वारा ही प्रतीत हो रही हो उस अर्थ को कहना नहीं चाहिये। ऐसा करने से अवाच्यवचनदोष होता है।

उदाहरण—अलिभिः (इत्यादि पूर्वोक्त) यहां तिलक और प्रमदा दोनों में से किसी एक का कथन चाहिए दोनों के कथन में अवाच्यवचन हुआ गूम के ऊपर फून्सी फूटने के समान जो तब भी उसका उपमान भाव आर्थ रूप से ही उपस्थित करते हैं—उन कविपुङ्गवों को नमस्कार है। जैसे—

'पति के नृत्य का अनुकरण करने में अपने शरीर की स्वच्छलावण्यरूपी वापिका में उत्पन्न कमल की शोभा लिये हुये पार्वती के दण्डपाद की जय।

जङ्घाकाण्ड (घुटनों से नीचे और पैर की पहुँची से ऊपर का शरीरभाग जिसे हिन्दी में पिंढ़री कहा जाता है) उसमें लम्बी नाल है, नाखूनों की किरण उसमें चमचमाती पंखुड़ियां हैं तुरन्त लगे अलक्तक की कान्ति का फैलाव कोंपलें हैं और मन्जुल मंजीर भौंरे। यहां दण्डपाद का अम्भोज सादृश्य समासोक्ति ही से ज्ञात हो जाता है इतने पर भी उसके लिये 'अम्भोज शोभाको धारण किये हुए' ऐसा कहा गया, यह अवाच्यवचन दोष हुआ।

विमर्श : दण्डपाद के लिये देखिए वामनी काव्य प्रकाश २७६। नाट्यशास्त्र ४।१४२-३,— अभिनव भारती। संक्षेप में यह समझना पर्याप्त है कि नृत्य में दाहिना पैर पीछे पीठ की ओर से शिर की दिशा में ऊपर दण्डे के समान ऊँचा ताना जाता है। उसका तलवा जूड़े से लग जाता है। इस मुद्रा को दण्डपाद कहा जाता है।

यत् पुनस्तत्राप्यम्भोजस्यार्थमुपमानत्वमुपात्तं तदप्ययुक्तमेव, तस्योरुनालत्वादिधर्मसम्बन्धोपगमयोग्यतानुपपत्तेः। केवलमेकेनैव समासान्तर्भावाद् वापीसम्भूतत्वेनास्य विशेषणविशेष्यभावः सङ्गच्छते। किन्तु समास एवात्रोक्तनयेनानुपपन्न इवावभासते सचेतसां प्रक्रमभेदप्रसङ्गादित्युक्तम्।

न च दण्डपादस्य तत्सम्बन्धो घटिष्यत इति शक्यते वक्तुं, तस्य तद्धर्मसम्बन्धासंभवात्। तेनात्राम्भोजस्य शाब्दमुपमानत्वं वा, दण्डपादस्य वाम्भोजत्वेन रूपणं कर्तव्यम्, येनास्य प्राधान्ये सति विशेषणसम्बन्धोपगमयोग्यता स्यात्।

किञ्च भर्तुर्नृत्तस्योद्धतस्य ताण्डवात्मनो योऽनुकारस्तस्य दण्डपादविषयभावेनोपादानाद्,जङ्घाकाण्डनालत्वविशिष्टतया संस्थानविशेषवशाच्च पादस्य दण्डाकारता अभिनवत्वं चेत्युभयमप्यवगतमिति न तत्पुनरुपादेयतामर्हति। अतो वरमयमत्र पाठः श्रेयान्—

'स्वच्छलावण्यवापीसम्भूतो भक्तिभाजां भवदवदहनः पादपद्मो भवान्याः' इति।

एवञ्च धारणमात्रविवक्षायां विपूर्वस्य दधातेः प्रयोगः परिहृतो भवति, स हि विपूर्वः करोत्यर्थे वर्त्तते न धारण इति।

यत्रार्थस्योपमानत्वं समासोक्त्यैव गम्यते।
न तत् तत्र पुनर्वाच्यमुक्तौ वा शाब्दमस्तु तत्॥ १०८॥
अन्यथा त्वन्यधर्मैः कः सम्बन्धोऽन्यस्य वस्तुनः।
तेन वाच्यत्वमार्थत्वं चेत्यस्य द्वयमप्यसत्॥ १०९॥

इति सङ्ग्रहश्लोकौ।

यहाँ अम्भोज का जो अर्थतः उपमानभाव बतलाया गया वह भी ठीक नहीं है, उस (अम्भोज) में ऊरुनालत्व आदि धर्म का संबंध नहीं हो सकता। केवल एक ही 'वापीसंभूतत्व-' रूप विशेषण के साथ अम्भोज का विशेषणविशेष्यभाव संबंध बन सकता है क्योंकि वह समास के अन्तर्गत ही है। किन्तु यहाँ तो समास ही ठीक नहीं बैठता, सहृदयों को उससे प्रक्रमभेद का अनुभव होता है।

यदि यह कहा जाय कि उन ऊरुनालत्व आदि विशेषणों का संबंध दण्डपाद के साथ हो जायेगा, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि वह अम्भोज के धर्मों से युक्त नहीं हो सकता। इसलिये इस पद्य में या तो उपमानभाव शब्द द्वारा कहा जाना चाहिये, या फिर दण्डपाद का अम्भोज के साथ रूपक होना चाहिये जिससे इस (अम्भोज) का प्राधान्य होने से विशेषणों के संबन्ध को स्वीकार करने की योग्यता आ जाय और भर्त्ता का जो ताण्डवरूप उद्धत नृत्य है उसका जो अनुकरण है उसका दण्डपादरूप से उपादान किया गया है—इस कारण और विशेष अंग के जङ्घाकाण्डनालत्व से विशिष्ट होने के कारण पाद का दण्डतुल्य आकार और अभिनवत्व—दोनों ही जान लिये गये, इसलिये उन्हें फिर से नहीं कहना चाहिये। इसलिये यहाँ यह पाठ अच्छा है—'लावण्य की स्वच्छवापी से उत्पन्न हुआ भवानी का भक्तों की संसार-अटवी का दाहक पादपद्म।' ऐसा करने से धारण मात्र की विवक्षा में वि उपसर्ग सहित दधाति (धा) का प्रयोग भी हट जाता है। वि उपसर्ग से युक्त वह (धा) धातु विधान करने अर्थ में है, धारण करने अर्थ में नहीं।

सार यह कि—जहाँ अर्थ की उपमानता समासोक्ति से ही ज्ञात हो जाती हो वहाँ उसका कथन नहीं होना चाहिये, कथन हो भी तो वह शाब्द हो। नहीं तो अन्य वस्तु का अन्य धर्मों से सम्बन्ध ही क्या बन सकेगा ?

इसलिये इस (उपमान) का वाच्यत्व और आर्थत्व दोनों ही गलत है।

विमर्श: 'जंघाकाण्ड०' पद्य में नाल आदि धर्मों का कथन है। उससे-पाद का अम्भोज-सादृश्य बिना कहे प्रतीत हो जाता है। अतः 'अम्भोजशोभां विदधत्' ऐसा नहीं कहना चाहिये। कहना भी हो तो—उपमान को स्वतन्त्र रखकर उसकी उपमा शब्दवाच्य करनी चाहिये। यहाँ 'अम्भोजशोभां विदधत्' में अम्भोज समास में दब गया है। अतः उसका दण्डपाद से स्पष्ट सादृश्य नहीं दीखता। अर्थतः उसकी प्रतीति होती है। अर्थात्—जो जिसकी शोभा धारण करता है वह असदृश नहीं हो सकता। इसलिये 'अंभोज शोभा धारण' के बल पर अम्भोज का सादृश्य—पाद में प्रतीत होता है। यह सादृश्य आर्थ हुआ। शाब्द नहीं। ऐसा नहीं होना चाहिये। इससे कठिनाई यह आती है कि उपमान के धर्म उपमान में ही अन्वित नहीं हो पाते। ऊरुनाल अम्भोज का धर्म है। अम्भोज समास में प्रविष्ट है, अतः इस धर्म का सम्बन्ध अम्भोज से न होकर अम्भोजशोभा से होता है, जो गलत है। 'नाल' शोभा का अंग नहीं—अम्भोज का अंग है। इसी प्रकार ताण्डव का अनुकरण जिस ढंग से किया जाता है उसमें पैर की दण्डायमानता अवश्यमेव आ जाती है। यहाँ पैर में दण्डतुल्यता का ज्ञान—ऊरुनाल के रूपक से भी प्रतीत होता है। नयापन भी नाल की प्रकाण्डता से आ जाता है। नाल यदि प्रकाण्ड नहीं होती तो पुष्प भी ताजा नहीं रहता। इसलिये दण्ड और अभिनव दोनों पदों का कहना आवश्यक नहीं। इसके अतिरिक्त वि पूर्वक धा धातु का अर्थ धारण करना नहीं होता, निर्माण करना होता है; और प्रयोग है यहाँ धारण करने के अर्थ में, अतः वि उपसर्ग भी बेकाम है। इन सब का कथन अवाच्यवचन है। इनके परिहार के लिये ग्रन्थकार ने नया—पाठ दिया है। उस पाठ में भी पद्म के लिये दहन का रूपक अत्यन्त अनुचित है। काव्यप्रकाशकार आदि ने 'निज' के प्रयोग में अभवन्मतयोग दोष बतलाया है। उससे प्रतीत यह होता है कि वह वापी दण्डपाद की है, भवानी की नहीं।

'पत्ता णिअंबफंसं ह्णाणुत्तिण्णाए सामलङ्गीए।
चिहुरा रुअन्ति जलबिन्दुएहि बन्धस्स व भएण ॥'

['प्राप्ता नितम्बस्पर्शं स्नानोत्तीर्णाया श्यामलाङ्ग्याः।
चिकुरा रुदन्ति जलबिन्दुभिर्बन्धस्येव भयेन ॥]

इत्यत्र रोदनं बन्धनभयञ्चेति यद् द्वयमुत्प्रेक्षितं वर्तते, तत्र प्राधान्याद्-रोदनाभिधायिन एव पदादनन्तरमुत्प्रेक्षावादिनि पदे वाच्ये यत् तस्यान्यैतो-वचनं सोऽवाच्यवचनं दोषस्तस्य तादर्थ्येनाप्राधान्यात्। प्रधाने चोत्प्रेक्षिते तदितरदर्थादुत्प्रेक्षितमेव भवति। यथा—

'ज्योतीरसाश्मभवनाजिरदुग्धसिन्धुरभ्युन्मिषत्प्रचुरतुङ्गमरीचिवीचिः।
वातायनस्थितवधूवदनेन्दुबिम्बसन्दर्शनादनिशमुल्लसतीव यस्याम् ॥'

इत्यत्रेन्दुबिम्बसन्दर्शनम्। तेन 'जलबिन्दुएहिं रुअइव चिहुरचयो बन्धण-भएण' इति अत्र युक्तः पाठः।

एकत्रोत्प्रेक्षितत्वेन यत्रार्था बहवो मताः।
तत्रेवादिः प्रयोक्तव्यः प्रधानादेव नान्यतः ॥ ११० ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकः।

'नहाकर निकली गोरी के नितम्बों से छुआ रहे बाल बन्धन के भय से पानी की बूँद चुआकर मानो रो रहे हैं। यहाँ रोदन और बन्धन भय—इन दो की उत्प्रेक्षा की जा रही है। यहाँ उत्पेक्षावाचक 'इव' पद का कथन रोदन के अनन्तर करना चाहिये, क्योंकि वही प्रधान है। ऐसा न करके उसका प्रयोग बन्धन भय के बाद किया गया। यह अवाच्य वचन हुआ। क्योंकि वह (बन्धभय) अप्रधान है कारण कि वह रोदन के लिये उपात्त है। प्रधान की उत्प्रेक्षा हो जाने पर उसके सम्बन्धी अन्य सबकी उत्प्रेक्षा तो हो ही जाती है।

जैसे—'चन्द्रकान्त मणि के बने महलों के आंगन का दुग्ध सिन्धु, खिड़की पर हवा खा रहीं ललनाओं के मुख रूपी इन्दु विम्ब के देखने से निकल रही ऊँची किरणरूपी तरंगों से सदा उमड़ता सा रहता है यहां इन्दु विम्ब का दर्शन (अपने आप उत्प्रेक्षित हो जाता है।) इसलिये—

'जलविन्दुभी रोदितीव चिकुरचयो वन्धनभयेन' यह पाठ ठीक है।

सारांश यह कि—

जहां बहुत से पदार्थ एक जगह उत्प्रेक्षित किये जा रहे हों वहां इव आदि शब्द प्रधान के बाद ही देने चाहिये, अन्य के साथ नहीं।

'तव वदनपदार्थश्चन्द्रशब्दार्थतुल्यो
हृदयकुमुदवस्तूज्जृम्भयत्येष यन्मे'

इत्यत्र समासान्तर्गतेन वदनशब्देनैकेनैव वदने वाच्ये यद् बहुभिः शब्दैस्तस्य वचनं सोऽवाच्यवचनं दोषः।

तथा हि वदनं च तत् पदार्थश्चाशाविति कर्मधारयो वा कल्प्येत, वदनपदस्यार्थ इति तत्पुरुषो वा। तत्राद्यस्तावदर्थयोरन्योन्यव्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकभावाभावादनुपपन्नः, द्वितीयोऽपि प्रयोजनाभावात्। न हि समासे सत्यसति वार्थस्य कश्चिद्विशेषोऽवगम्यते अन्यत्र प्रतिपत्तिगौरवादित्यवाच्यवचनप्रकार एवायमिति।

यथा च–'कुशं द्विषामङ्कुशवस्तु विद्वान्' इति

'तुम्हारा वदन (मुख) शब्द (का) अर्थ, चन्द्र शब्द (के) अर्थ के समान है, क्योंकि वह मेरी हृदय कुमुद रूपी वस्तु को मचला रहा है।' यहां समास में आये एक ही वदन शब्द से वदन अर्थ का कथन पर्याप्त था। इतने पर भी अनेक शब्दों से उसका कथन अवाच्य वचन है। क्योंकि उसमें 'जो, वदन वही पदार्थ' ऐसा कर्मधारय यहां मानना होगा अथवा 'वदन पद का अर्थ' ऐसा

तत्पुरुष। उनमें प्रथम तो बनता नहीं क्योंकि अर्थों में व्यवच्छेद्य (विशेष्य) व्यवच्छेदक-(विशेषण) भाव सम्बन्ध नहीं है, दूसरा भी नहीं बनता, कारण कि उसका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। समास होने से पदार्थ में कोई विशेषता नहीं आती, केवल समझने में कठिनाई के अतिरिक्त। इसलिये यह भी एक प्रकार से अवाच्यवचन का भेद ही है। इसी प्रकार और भी जैसे—'कुश को—शत्रु के लिये अंकुश वस्तु समझता हुआ।' इसमें (वस्तु शब्द में अवाच्यवचन दोष है)।

यत्स्वरूपानुवादैकफलं फल्गु विशेषणम्।
अप्रत्यक्षायमाणार्थं स्मृतमप्रतिभोद्भवम्॥ १११॥
तदवाच्यमिति ज्ञेयं वचनं तस्य दूषणम्।
तद् वृत्तपूरणायैव न कवित्वाय कल्पते॥ ११२॥

यथा—

'ककुभां मुखानि सहसोज्ज्वलयन् दददाकुलत्वमधिकं रतये।
अदिदीपदिन्दुरपरो दहनः कुसुमेषुमत्रिनयनप्रभवः॥' इति।

अत्र हि यदत्रिनयनप्रभवत्वमिन्दोर्विशेषणं तत् स्वरूपमात्रानुवादफलमित्यवाच्यमेव, तस्य तदव्यभिचारात्।

न चाव्यभिचारिणोऽपि ततस्तस्योत्कर्षः कश्चिद्विवक्षितः कवेः, यथा—

'अत्रेर्लोचनशुक्तिमौक्तिकमणेर्देवात्सुधादीधिते-
र्गोत्रं हैहयभुजां यदुदगात् तस्मिन्नभूदर्जुनः'

इत्यत्र सुधादीधितेरिति तस्यावाच्यस्य वचनं दोषः। यच्चात्र दहनस्यापर इति व्यतिरेकप्रतीतिफलदं विशेषणं तदवाच्यमेव तस्यात्रिनयनप्रभव इति नञ्समासेनैव प्रतिपादितत्वात्। तस्मादुदित इति तत्रानुगुणः पाठः।

जो विशेषण एकमात्र विशेष्य के स्वरूप का ज्ञान करता हो, अतः निःसार हो, और जिसका अर्थ सामने न आता हो—जो एक प्रकार से प्रतिभा-शून्यता के कारण आ गया हो, अतः जिसे कदापि नहीं प्रयुक्त करना चाहियें, इसलिये उसका प्रयोग दोष (अवाच्यवचन) समझना चाहिये। वह केवल छन्दःपूर्ति मात्र के काम का होता है, इससे कवित्व सिद्ध नहीं होता।

जैसे—'इन्दु, जो एक प्रकार से अत्रिनयनप्रभव अत्रि ऋषि की आँख से पैदा हुआ (और त्रिनयन शिव से नहीं उत्पन्न) दूसरी आग था, उसने दिशाओं को उज्ज्वल करते हुए, उनमें रति के लिये अधिक आकुलता भरते हुए कामदेव को उद्दीप्त किया।' यहाँ—चन्द्रमा का 'अत्रिनयन-प्रभवत्व' विशेषण एकमात्र उसके स्वरूप का अनुवाद करता है, इसलिये निष्फल है, अतः उसे नहीं ही कहना चाहिये, उसका (चन्द्र में) कभी भी अभाव नहीं रहता। अव्यभिचारी (अलग न होने वाला होने पर भी) उससे चन्द्र का कोई उत्कर्ष कवि को नहीं बतलाता है जैसे—'अत्रिमुनि की आँखरूपी सीप की मुक्तामणि, सुधामय किरणों वाले देव चन्द्रमा से हैहयराजाओं का जो वंश पैदा हुआ, उसमें अर्जुन पैदा हुआ।'

यहाँ—सुधादीधिति से (चन्द्र का उत्कर्ष विवक्षित है) अतः उस (अत्रि-नयनप्रभवत्व रूपी अवाच्य) का कथन दोष (अवाच्यवचन) ही है। और जो यहाँ दहन में 'अपर' यह

व्यतिरेक का ज्ञापक विशेषण है वह भी अवाच्य ही है। उसका प्रतिपादन अ-त्रिनयनप्रभव इस प्रकार के नञ् समास से ही हो जाता है, इसलिये (अपर की जगह) उदित पाठ चाहिये।

यथा च—

'नाडीजङ्घो निजघ्ने कृततदुपकृतिर्यत्कृते गौतमेन' इति।

अत्र हि तच्छब्दपरामर्शो गौतमस्यावाच्य एव तमन्तरेणाप्युपकारस्य तद्विषयभावावगतेः। तेन परमपकृतवानिति वरमत्र युक्तः पाठः। यथा च—

'कटस्थलप्रोषितदानवारिभि'रिति। अत्र हि दानवारिप्रवासस्य यदेतत् कटस्थलमवधिभावेन विशेषणमुपात्तं तन्न वाच्यमव्यभिचारात्।

एवम्—

'उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते! मम हि गौरि!।
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति! युष्मत्प्रसादेन॥'

इत्यत्रापि द्रष्टव्यम्, उत्फुल्लकेसरगौरशब्दानां पौनरुक्त्यात्।

और जैसे—'जिसके लिये गौतम ने उसका उपकार करने वाले नाड़ी जंघ को मारा' यहाँ गौतम को तत्पद से नहीं बतलाया जाना चाहिये। उसके बिना भी यह ज्ञात होता ही है कि उपकार गौतम का ही है। इसलिये यहाँ 'परमुपकृतवान्' यह पाठ उपयुक्त है। और जैसे—

'कट-स्थल से दूर (प्रोषित) हो गया है मदजल जिनके' यहाँ कटस्थल को विशेषणरूप से मदजल के प्रवास का अपादान (विच्युतिस्थान) बतलाया गया यह नहीं बतलाया जाना चाहिये, वह तो मदजल से नित्य संबंधित ही है।

इसी प्रकार—'खिले हुए कमल की पखुड़ियों के पराग के समान गौरद्युति वाली हे भगवती गौरि। आपके प्रसाद से मेरा मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध हो जाय।' यहाँ भी देखना चाहिये। यहाँ उत्फुल्ल, केसर तथा गौर शब्द पुनरुक्त है।

कथं तर्हि स्वभावोक्तेरलङ्कारत्वमिष्यते।
न हि स्वभावमात्रोक्तौ विशेषः कश्चनानयोः॥ ११३॥
उच्यते वस्तुनस्तावद्द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः॥ ११४॥
स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्त्तितः।
अत एवाभिधेयं ते सामान्यं बोधयन्त्यलम्॥ ११५॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥ ११६॥

यतः—

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः॥ ११७॥

सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैकाल्यवर्त्तिनः॥ ११८॥
इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम्।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्य इति नेह प्रपञ्चितम्॥ ११९॥
अर्थस्वभावस्योक्तिर्या सालङ्कारतया मता।
यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्थाः प्रतिभार्पिताः॥ १२०॥

शंका—यदि ऐसा है तो फिर स्वभावोक्ति को अलंकार कैसे माना जाता है। केवल स्वभाव के कथन का जहाँ तक संबन्ध है, उपर्युक्त कथन और इसमें कोई अन्तर नहीं है।

उत्तर—इस पर हमारा कहना है कि संसार में वस्तु के दो रूप होते हैं—उनमें से एक सामान्य होता है—उसमें प्रायः सन्देह रहता है। वही अर्थ सभी शब्दों का विषय बतलाया गया है। इसलिये वे (शब्द) केवल सामान्य अर्थ का बोध कराते हैं। जो इस (वस्तु) का विशिष्ट रूप है वह प्रत्यक्ष का विषय है, वही अच्छे कवियों की प्रतिभाप्रसूत वाणी का विषय होता है। क्योंकि कवि की वह प्रज्ञा ही तो प्रतिभा है जो रस के अनुरूप शब्द और अर्थों के सोच विचार में निश्चल चित्त होने पर स्वरूप का स्पर्श करने से उन्मिषित होती है। वही तो भगवान् शंकर का तृतीय नेत्र है। जिससे वे तीनों कालों के पदार्थों का साक्षात् दर्शन करते हैं। हमने (अपने) 'तत्त्वोक्तिकोष' नामक शास्त्र में प्रतिभा तत्त्व का यह विवेचन विस्तार पूर्वक किया है, अतः यहाँ उसे नहीं बढ़ाया। अर्थ के स्वभाव की जो उक्ति है—वह अलंकार इसलिए मानी गई है क्योंकि (उक्त) प्रतिभा उसमें पदार्थों को चित्रित करती है और वे आँखों देखे से लगते हैं [उदाहरण आगे वहीं दिए जा रहे हैं]।

विमर्श : दण्डी ने 'स्वभावोक्ति और जाति' आदि को अलंकार माना था। कुन्तक ने उसका जोरदार खण्डन करते हुए लिखा—

'अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते॥
स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते॥
शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुते परम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति॥
भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे।
भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा॥
स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे संकरस्ततः।
अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते॥

[वक्रोक्तिजीवित—१।११-१५]

काव्यालङ्कार (ग्रन्थ) बनाने वाले जो महानुभाव स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं उनके यहाँ अलंकार्य क्या रह जाता है क्योंकि जो भी कुछ कहा जाता है वह स्वभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, स्वभाव से रहित वस्तु का निरूपण ही संभव नहीं। इस प्रकार स्वभाव की

उक्ति तो (काव्य का) शरीर है, वह स्वयं अलंकार और स्वयं ही अलंकार्य कैसे बन सकती है भला कोई स्वयं अपने ही कंधे पर चढ़ सका है।

यदि स्वभावोक्ति को अलंकार मान उसे अलंकार्य बनाने के लिए कोई दूसरा अलंकार दिया जाना अभीष्ट हो तो प्रश्न उठेगा कि ये दोनों भिन्न-भिन्न होंगे या अभिन्न। भिन्न होने पर प्रत्येक काव्य में संसृष्टि अलंकार ही होगा और अभिन्न होने पर संकर। इस प्रकार अन्य अलंकार के लिए कोई जगह नहीं रहेगी एक प्रकार से वे उच्छिन्न हो जाएँगे।

ग्रन्थकार इसके उत्तर में स्वभावोक्ति के मार्मिक समर्थन में लिखते हैं—वस्तु के दो रूप होते हैं एक स्थूल और दूसरा बारीकी से युक्त। शब्द से जो वस्तु बतलाई जाती है, वह स्थूल रूप से समझ में आती है। वस्तु का समस्त बारीकियों से अन्वितरूप आँखों से देखने पर ही समझ में आता है। किन्तु कुछ शब्द भी ऐसे होते हैं जो वस्तु की यह बारीकी पूर्ण रूप से सामने ला देते हैं। ये शब्द प्रतिभा-सम्पन्न कवि के होते हैं। इन शब्दों से होता तो वस्तु के स्वभाव का ही कथन है; किन्तु वह अन्य शब्दों से अधिक अच्छा होता है अतः उसे अलङ्कार माना जाता है। यह अनुभूति का विषय है।

स्वरूप-स्पर्श का अर्थ शब्दार्थ के स्वरूप का स्पर्श भी किया जा सकता है और आत्मा का स्पर्श भी। कवि का अन्तःकरण जब समाधि गुण से केन्द्रित होता है तो उसमें विस्फार होता है, इसे सत्त्व गुण का उद्रेक भी कहते हैं। इस स्थिति में कवि को आत्म-साक्षात्कार होता है और बुद्धि स्तब्धता का अनुभव करती है। इस स्थिति में कवि के अन्तःकरण में काव्यानुरूप शब्द और अर्थों का स्मरण और स्फुरण होता है। इसी बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं। कवि इससे अतीत अनागत और वर्तमान सभी पदार्थों को सामने पाता है। इसे ज्ञानचक्षु कहते हैं। वही भगवान् शंकर के तीसरे नेत्र के रूप में समझा जाता है। अपने तत्त्वोक्तिकोष ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने इसका विस्तृत विवेचन किया था किन्तु वह अब तक प्राप्त नहीं है। स्वभावोक्ति के अच्छे उदाहरण ग्रन्थकार देते हैं—

यथा—

'ऋजुतां नयतः स्मरामि ते शरमुत्सङ्गनिषण्णधन्वनः।
मधुना सह सस्मिताः कथा नयनोपान्तविलोकितं च तत्।' इति।

यथा च—

'कुर्वन्नाभुग्नपृष्ठो मुखनिकटकटिः कन्धरामातिरश्चीं
लोलेनाहन्यमानस्तुहिनकणमुचा चञ्चता केसरेण।
निद्राकण्डूकषायं कषति निबिडितश्रोत्रशुक्तिस्तुरङ्ग-
स्त्वङ्गत्पक्ष्माग्रलग्नप्रतनुबुसकणं कोणमक्ष्णः खुरेण॥' इति।

यथा वा—

'ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।

दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥'

जैसे—

'वसन्त के साथ कमानी को गोद में रखकर तीर को सीधा करते हुए उस प्रकार मुसकुरा-मुसकुराकर बातें करना और वह तिरछी आँखों से देखना मुझे याद आ रहा है।' (कुमारसंभव में रति विलाप)

और जैसे—

'घोड़ा अपनी आँख के कोने को खुर से खुजलाता है। उसमें चंचल बरोनियों के ऊपर छोटा सा भूसे का टुकड़ा लगा हुआ है, वह (आँख का कोना) नींद की खुजलाहट से गेरुआ हो गया है। ऐसा करते समय उस घोड़े के सीप (छिपनी) जैसे कान की नोंके मिल जाती हैं। उसकी पीठ टेढ़ी है, कमर मुँह के पास आ गई है। वह गर्दन टेढ़ी कर रहा है, इसलिए गर्दन के बालों से टपकी ओस की बूँदे उसे चाबुक सा लगा रही हैं।'

या जैसे—देखो (यह-हरिण) अत्यधिक कुलाचें भरने से आसमान में अधिक और जमीन पर कम चल रहा है। वह बराबर गर्दन टेढ़ी और आंख रथ की तरफ किये दृष्टिगोचर हो रहा है। उसे तीर के लगने का भय है अतः उसने अपना दुम वाला हिस्सा अगले शरीर (गर्दन) से बहुत अधिक सटा लिया है। उसका मुँह थकावट से खुल गया है और उसके अधचबे दाभों (कुशतृणों) से रास्ता छा सा गया है।'

सामान्यस्तु स्वभावो यः सोऽन्यालङ्कारगोचरः।
श्लिष्टमर्थमलङ्कर्तुमन्यथा को हि शक्नुयात् ॥ १२१ ॥
वस्तुमात्रानुवादस्तु पूरणैकफलो मतः।
अनन्तरोक्तयोरेव यद्वान्तर्भावमर्हति ॥ १२२ ॥
यथायोगमयं दोषस्तेन पञ्चैव ते मताः।

इत्यन्तरश्लोकाः।

(विशिष्ट स्वभाव तो स्वभावोक्ति का विषय हुआ अब) जो सामान्य स्वभाव है—वह दूसरे अलङ्कारों में आता है। नहीं तो छिपे हुये (अव्यक्त) अर्थ को कौन अलंकृत कर सकता है। यदि वस्तु का केवल अनुवाद कर दिया जाय तो वह एक प्रकार से छन्दः पूर्ति मात्र के लिये है जो वस्तुतः दोष है। यह दोष पिछले बतलाये—(पुनरुक्त, वाच्यावचन)—दो दोषों में अन्तर्भूत हो जाता है, इसलिये केवल पाँच ही दोष बतलाये हैं।

विमर्श : यहाँ तक दोषों का निरूपण किया, अब प्रकृत प्रसंग में उसे घटाने के लिये उपसंहार करते हैं। प्रकृत प्रसंग ध्वनिखण्डन है। ग्रन्थकार ध्वनिकार के श्लोक 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः' में ये दोष दिखलायेंगे। इसी के लिये उन्होंने इतने दोषों का निर्वचन किया है। इसके पहले वे—'इन दोषों का समझ सकना बहुत कठिन है'—इस तथ्य को बतलाने के लिये महाकवि कालिदास के श्लोक को उपस्थित करते हैं—

ता एता दोषजातयो महाकवीनामपि दुर्लक्षा इत्यवसीयन्ते। यथा—
'उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥'

इत्यत्र यथातथाशब्दाभ्यामेव मागधीनृपयोरुमावृषाङ्कसाम्यं शचीपुरन्दरसाम्यं च, सुतस्य च शरजन्मजयन्तसादृश्यमवगमितमिति यत् तयोस्तस्य च पुनस्तत्सादृश्यवचनं तत् पुनरुक्तम्।

तथोपमानयोर्यो निर्देशक्रमः प्रक्रान्तः स उपमेययोः क्रमे भेदं नीत इति निर्देशप्रक्रमभेदो दोषः; तत एव च तत्समावित्यत्रावाच्यवचनदोषोऽपि तावत् स्फुट एव उपमानयोग्यत्वानुपपत्तेः।

किञ्च तथा शब्दस्य यद्वचनं सोऽवाच्यवचनं दोषः, तद्व्यतिरेकेणाप्यर्धयोर्विपर्यासमात्रेण तदर्थावगतिसिद्धेः। तस्मादेवमत्र पाठः श्रेयान् 'सुजन्मना तेन सुतेन तावुभौ ननन्दतुः सा च विशांपतिश्च सः' इति।

ये जो दोष जातियाँ हैं उन्हें ऐसा समझा जाता है कि वे महान् कवियों को भी कठिनाई से समझ में आती हैं। यथा—उमावृषांको……(यह पूर्वोद्धृत पद्य)। यहां—यथा और तथा शब्दों से ही मागधी और राजा का उमावृषांक—साम्य और शचीपुरन्दर—साम्य समझा दिया जाता है और पुत्र का कार्तिकेय तथा जयन्त से साम्य।

इतने पर भी जो उनका फिर से उन उपमानों के साथ सादृश्य बतलाया गया वह—पुनरुक्त हुआ। इसके अतिरिक्त उपमानों का निर्देश जिस क्रम से किया गया था वह क्रम उपमेयों के क्रम में तोड़ दिया गया, इसलिये निर्देशप्रक्रमभेद दोश हुआ। इसीसे तत्समौ इसमें अवाच्यवचन दोष भी स्पष्ट ही है। उसके विना तो उपमानयोग्यता ही न बनती (अतः उसकी प्रतीति तो अपने आप हो सकती थी) और तथा शब्द का कथन अवाच्यवचन दोष है। इसके विना भी आधे-आधे भागों को उलट कर रख देने से उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है, इसलिये यहां यह पाठ—ठीक है सुजन्मना तेन॰ (इत्यादि मूल में दत्त)।

विमर्श : अर्धों का विपर्यास इस प्रकार होगा—

'सुजन्मना तेन सुतेन तावुभौ ननन्दतुः सा च विशाम्पतिश्च सः।
उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ॥'

'तत्सदृशेन, तत्समौ' के सर्वनामों के परामर्श्य उत्तरार्ध में आने के कारण 'तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ'—को पूर्वार्ध नहीं बनाया जा सकता।

यतो वस्तुमात्रोपनिबद्धप्रायेऽपि पदसमुदाये दृश्यन्त एव ते—

अन्येषां यथा—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः-प्रीतये तत्स्वरूपम्॥' इति।

अत्र 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' इति 'इति'-शब्दस्य तावत् क्रमभेदः। स हि काव्यात्मपदानन्तरं प्रयोक्तव्यः काव्यस्यात्मेतीति। अन्यथा ध्वनिनैवास्य सम्बन्धे विज्ञायमाने तस्य सर्वनामपरामर्शाभावे अभावो भाक्तत्वं वागविष-

यत्वं च न प्रतीयेत। तस्याभिधानात्मन इतिना व्यवच्छेदाद्, अन्यस्य च ध्वनेरनुपदानात्।

स ह्यभावादिधर्माधिकरणभावेन सर्वनामपरामर्शयोग्योऽवश्यमुपादेयः, नचोपात्तः। यश्चोपात्तः स तदभिधानानुकारस्वरूपमात्रप्रधानो नार्थाभिमुख इति काव्यात्मन एवार्थस्य तदधिकरणभावो विज्ञायते न ध्वनेः।

स हि तत्र संज्ञामात्रम्। यत् स एवाह 'काव्यस्यात्मा ध्वनिसंज्ञित' इति।

(ये दोष महाकवियों को भी कठिनाई से दिखाई पड़ते हैं) क्योंकि (कविता की तो बात दूर रहे) साधारण सी बात को लेकर बनाये गये पदसमुदाय (वाक्य) में भी ये दिखाई देते ही हैं। जैसे—और दूसरों (आनन्दवर्धनाचार्य) का (पद्य)—

"–काव्य की आत्मा ध्वनि' इस प्रकार विद्वानों ने जिसे पहले ही स्पष्ट घोषित किया है, दूसरों ने उसका अभाव बतलाया, दूसरों ने उसे भक्ति कहा, किन्हीं ने उसके तत्त्व को वाणी के अविषय में स्थित माना, इसलिये सहृदयों के मन की प्रसन्नता के लिये हम उसका स्वरूप बतलाते हैं" यह।

यहां पहले तो इसमें 'काव्य की आत्मा ध्वनिरिति' इस प्रकार इति शब्द में क्रम भेद है। उसका प्रयोग काव्यात्मा पद के बाद 'काव्यस्यात्मेति'–इस प्रकार किया जाना चाहिये नहीं तो इस (इति) का सम्बन्ध ध्वनि से ही ज्ञात होता है, तब उसका सर्वनाम से परामर्श नहीं होता, इसलिये उसके अभाव, भक्तित्व और वागविषयत्व का बोध नहीं होगा, क्योंकि उस (ध्वनि) का (परवर्ती विद्वानों ने कहा......आदि वाक्य से) व्यवच्छेद (पृथक्करण) हो जाता है अतः वह नाम—शब्द बनकर रह जाता है। अन्य किसी ध्वनि का प्रयोग किया नहीं गया है, (जिससे अभाव आदि के सम्बन्ध के लिये सर्वनाम परामर्श हो सके) उस (दूसरे ध्वनि शब्द) का जो अभाव आदि का अधिकरण बन सके और सर्वनाम परामर्श के योग्य हो, अवश्य ही प्रयोग होना चाहिये परन्तु प्रयोग नहीं हुआ। जिसका प्रयोग हुआ है, उसमें उस (ध्वनि तत्व) के नाम शब्द का अनुकरण मात्र प्रधान है, वह अर्थ (ध्वनि अर्थ) की ओर नहीं बढ़ता, इसलिये अभाव आदि की अधिकरणता (उलटे) काव्यात्मा में ही समझ पड़ती है। ध्वनि में नहीं। ध्वनि केवल संज्ञारूप है, इसमें स्वयं ध्वनिकार का 'काव्य की आत्मा ध्वनि नामक'—यह वाक्य प्रमाण है।

तच्चानिष्टमेव। न हि केचित् काव्यात्मनो रसादेरभावं भाक्तत्वं वाभ्युपगच्छन्ति। मुख्यवृत्त्या च काव्यात्मशब्दवाच्यो रसादिरेव युक्तो नापरः। तदभावे प्रतीयमानार्थान्तरसंस्पर्शोऽप्यर्थापत्त्यादिवाक्यवत् काव्यस्य निर्जीवतापत्तेः।

एतच्च रसस्वरूपमुपक्रम्य स एवाह—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥' इति।

और वह (काव्यात्मा में—अभाव आदि का अधिकरणत्व) मान्य नहीं। काव्यात्मा है—रस

आदि। उसका अभाव या भाक्तत्व किसी को मान्य नहीं। काव्यात्मा शब्द का मुख्य अर्थ रस आदि ही मान्य है, और कोई नहीं। उसके अभाव में अन्य प्रतीयमान अर्थ का स्पर्श होने पर भी काव्य अर्थापत्ति वाक्यादि के समान निर्जीव हो सकता है।

इस बात को रस स्वरूप उपस्थित कर स्वयं उन्हीं (ध्वनिकार) ने कहा है—वही अर्थ काव्य की आत्मा है वैसा ही लोक में देखा जाता है। पहले आदि कवि का क्रौञ्च के जोड़े के बिछुड़ने से जागा शोक ही श्लोक रूप में परिणत हुआ था।

इतिनार्थो व्यवच्छिन्नः शब्दमात्रेऽवतिष्ठते ॥ १२३ ॥
सर्वनामपरामर्शयोग्योऽसौ न भवेत् ततः।
यथा घटः कुट इति ज्ञेयो यस्स पृथूदरः ॥ १२४ ॥
'यथा नृपो नृग इति ख्यातो यः स महामतिः।'
ततोऽर्थ एव काव्यात्मा तत्परामर्शनोचितः।
न ध्वनिस्तदभावादिसम्बन्धोऽस्य कथं मतः ॥ १२५ ॥

इत्यन्तरश्लोकाः।

सार यह कि—

जो अर्थ इति से व्यवच्छिन्न हो जाता है, (वाक्य में) वह केवल शब्द भर ही रहता है, इस कारण वह सर्वनाम परामर्श के योग्य नहीं हो सकता, जैसे—जो घट कुट ऐसा समझा जाता है—उसका पेट बड़ा होता है; जैसे-'नृग' इस नाम से विख्यात जो राजा है वह महामति है।' इसलिये 'काव्यात्मा रूपी' अर्थ ही उस (इति) के परामर्श के योग्य है, ध्वनि नहीं। इस स्थिति में उस (ध्वनि) के साथ अभाव आदि का सम्बन्ध कैसे माना जाय?

एवन्तर्हि—

'अस्त्युन्नते सुरसरिज्जलधाव्यमान-
भागे नवार्करुचि मन्दरशैलशृङ्गे।
ज्योत्स्नावतीति नगरी भुवनत्रयैक-
भूषा वृषाङ्कशिरसीव शशाङ्कलेखा ॥

इत्यत्र शशाङ्कलेखाया ज्योत्स्नावतीत्वेन यद्विशेषणं तदनुपपन्नमेव स्याद् इतिशब्दव्यवच्छेदादिति। बाढम्। को वा नानुमन्यते। केवलमितिशब्दार्थानवधारणमूलो मोह एवासौ व्याख्यातॄणामिति। ?

शंका—यदि ऐसा है तो—'उन्नत (ऊँचा, किसी के सामने न झुकने वाला) गंगा जल से धोये जा रहे अंगों से युक्त—'नवीन अर्क' (सूर्य और अकौवा के फूल) से कान्तिमान् मन्दरगिरि के शृङ्ग पर 'ज्योत्स्नावती' यह तीनों लोकों की स्वरूप नगरी है जैसे शंकर जी के सिर पर शशांक लेखा।

इस स्थल में 'शशाङ्कलेखा' को 'ज्योत्स्नावती' यह जो विशेषण दिया गया है; वह नहीं ही बनेगा। उसका तो इति शब्द से व्यवच्छेद है।

उत्तर = ठीक है, कौन उसका अनुमोदन नहीं करता? सिर्फ व्याख्याता लोगों को यहां भ्रान्ति हो रही है; उसका कारण है—इति शब्द के अर्थ का अबोध। (यहां इति शब्द हेत्वर्थक है, नगरी

ज्योत्स्नावती है, अतः त्रिलोक भूषण है, इस प्रकार, वह व्यवच्छेदक नहीं है—ऐसा स्वयं आगे कहा जायेगा।)

अथ काव्यात्मानुवादेन विहितस्य ध्वनेः समाम्नानक्रियाकर्मभावावच्छेदेन समुदायादयमितिशब्दः प्रयुक्त इत्यर्थप्रधान एवायं ध्वनिशब्दो न स्वरूपप्रधान इति तस्य सर्वनामपरामर्शयोग्यस्याभावादिसम्बन्धो घटत एव इत्युच्यते तदयुक्तम्। एवं हि वाक्यार्थावच्छेदः प्रतीयेत, ततश्च तत्परामर्शिनः सर्वनामपदादेर्नपुंसकलिङ्गनिर्देशप्रसङ्गः। यथा—'तदवितथमेव मन्ये विषया आशीविषा इति यदाहु'। इति।

तस्मादात्मशब्दानन्तरमेवायमितिशब्दः प्रयोक्तव्यः। स च हेत्वर्थवृत्तिः। यथा—'रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः' इत्यत्र। तेनायमर्थः—यतः काव्यस्यात्मा जीवितभूतस्ततो बुधैर्यो ध्वनिर्नाम समाम्नातपूर्व इति। एष एवार्थोऽभिमतः कवेरिति विज्ञायते यदयं तत्र तत्र ध्वनेः काव्यैकजीवितत्वमाह।

किञ्च समाम्नातेर्धातोः कर्मणि भूते च क्तप्रत्ययोत्पत्तौ कर्मण एव प्राधान्ये तस्यैव निर्देशो न्याय्यो न कर्तुर्नापि पूर्वशब्दस्य, अव्यभिचारात् प्रयोजनाभावाच्चेति यदेतयोरुपादानं तत् पुनरुक्तमेव।

शंका—काव्यात्मा का अनुवाद किया जाय और उस पर ध्वनि का विधान, तथा उसे समाम्नान-क्रिया का कर्म माना जाय। इसके बाद 'इति' द्वारा उसका व्यंवच्छेद हो। इस प्रकार 'इति' शब्द का प्रयोग समुदाय (काव्यात्मा ध्वनि है, ऐसा विद्वानों ने कहा है—इस वाक्य में काव्यात्मा ध्वनि है, इस समुदाय) के लिए हुआ माना जाय। इस ढंग से ध्वनि शब्द अर्थ प्रधान ही हो जाता है, स्वरूप (शब्द) प्रधान नहीं रहता, इसलिए उसकी सर्वनामपरामर्शयोग्यता बन जाती है और अभाव आदि के साथ सम्बन्ध भी।

उत्तर—इस पर हमारा उत्तर है कि—ऐसा मानने पर 'इति' से वाक्यार्थ का अवच्छेद (विलगाव) प्रतीत होगा और तब सर्वनामपद नपुंसकलिंग के होंगे (क्योंकि वाक्यशब्द नपुंसक लिंग है।) जैसे—'विषय विषैले सांप है, ऐसा जो कहा गया है, उसे (तत्) मैं सर्वथा झूठ मानता हूँ' यहां। इसलिये इतिशब्द का प्रयोग आत्मशब्द के बाद ही होना चाहिये। तब वह हेत्वर्थक होगा, जैसे—'रम्य इसलिए पताका (प्रसिद्धि और झण्डी) को प्राप्त, विविक्त (स्वच्छ और निर्जन) इसलिए राग बढ़ाने वाली—' यहां। तब यह अर्थ निकलेगा—'क्योंकि काव्य की आत्मा है, अर्थात् उसका प्राणभूत तत्त्व है, उसी से विद्वानों ने जिस ध्वनि का पर्याप्त निर्वचन किया है।' और ऐसा लगता है कि यही अर्थ उस ('काव्यस्यात्मा' इस श्लोक के निर्माता) विद्वान् को भी मान्य है। उसने जगह-जगह पर ध्वनि को काव्य का प्रधान प्राण (प्राणभूत प्रधान तत्त्व) कहा है। (लोचनकार ने वाक्य-विच्छेदक रूप में इति को मानना भी चाहा है, पर वे सफल नहीं हुए हैं) और ('समाम्नात' में) समाम्नान क्रिया से कर्म में भूतार्थक 'क्त'—प्रत्यय का उपयोग किया गया है। इसलिए प्रधानता कर्म की ही है; अतः निर्देश उसी (कर्म) का होना चाहिये, न तो कर्त्ता (बुधैः) का और न पूर्व शब्द का। वे तो (कर्म के साथ कर्त्ता और क्त के साथ पूर्व शब्द का अर्थ) नित्य

सम्बन्धित है और उनका कोई प्रयोजन नहीं है, अतः उनका उपादान पुनरुक्त है। (ध्वनिकार ने बुधैर्वैयाकरणैः प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्' इत्यादि द्वारा प्रयोजन बतलाया है।

किञ्च 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इत्यत्रापि पूर्ववद् इतिशब्दः प्रयोक्तव्यः उत्तरत्र च। अन्यथा अन्येषां केषाञ्चिदुक्तिर्नानुकृता स्यात्।

ततश्च भाक्तो यो ध्वनिस्तमाहुरन्य इति, वाचामविषये स्थितं यत् तदीयं तत्त्वं तत् केचिदूचुरिति प्रतीतौ, ध्वनेर्भाक्तत्वोक्तिः, अन्येषां केषाञ्चिच्च वाचामविषये स्थितत्वं यत् तदीयस्य तत्त्वस्य, तदुक्तिर्नानुकृता स्याद्, इतिना व्यवच्छेदाभावाद् इति वाच्यावचनं दोषः।

सामर्थ्यादुक्तेरनुकारानुगमे वा पूर्वत्रेतिशब्दस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गः।

किञ्चात्र वचनार्थो गदतिः प्रयुक्त एवेति तस्यैवादिदीपकन्यायेनानुवृत्तिर्युक्ता न तु तदभिन्नार्थस्य ब्रवीतेरुपादानमित्युभयत्राप्युक्तदोषद्वयानतिवृत्तिः।

कालविशेषप्रक्रमभेदश्चात्रावगन्तव्यो जगदुरित्यूचुरिति च कालविशेषस्य प्रक्रान्तस्यानिर्वाहात्।

किञ्च ध्वनेस्तत्त्वं ध्वनिरेव वा स्याद् अन्यदेव वा। तत्र ध्वनिरूपत्वे तत्त्वमूचुस्तदीयमिति त्रितयमपि पुनरुक्तं स्यात्। केचिद् वाचां स्थितमविषये जगदुरित्येतावद्भिः प्रयुक्तान्तर्गतैरेव पदैस्तदर्थावगतिसिद्धेः। यथोक्तं प्राक्—

'प्रयुक्तान्तर्गतैरेव यत्र सोऽर्थः प्रतीयते।
प्रयोगस्तत्र शेषाणां पदानां पौनरुक्त्यकृदिति ॥'

अन्यरूपत्वे त्वन्यस्य वागविषयत्वाभावे ध्वनेस्तदविषयत्वं नोक्तं स्यात् तयोर्भेदात्।

किञ्च भक्तेरेव ध्वनिरूपतामन्ये मन्यन्ते न तत्सम्बन्धिनोऽन्यस्य व्यापारादेरिति व्यर्थस्तद्धितनिर्देशः। यत् स एवाह भक्तिर्ध्वनिरिति—

'भक्त्या बिभर्त्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः।' इति।

युक्तं चैतत्, तथा हि—

'कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्'

इत्यत्र वदत्यर्थाद्वाच्यादन्यस्य व्यक्तिलक्षणस्यार्थस्य तात्पर्येण प्रकाशनमिति ध्वनिलक्षणानुगमात् भक्तेरेव तत्त्वमुपपद्यते नान्यस्येति व्यर्थस्तद्धितनिर्देशः।

सहृदयमनःप्रीतय इत्यत्र च मनश्शब्दः पुनरुक्तः प्रीतेर्मनोधर्मतया तदधिकरणभावाव्यभिचारादित्येतत् प्रपञ्चितमेव प्राक्।

इसी प्रकार—'उसे लोगों ने भाक्त कहा है' इसमें भी पहिले के ही समान इति शब्द का प्रयोग होना चाहिये, और आगे भी, नहीं तो जो 'अन्य' शब्द से कहे गये हैं और जो 'केचिद्' शब्द से उन लोगों के कथन का अनुकरण नहीं हो पायेगा। तब ऐसी प्रतीति होगी—'भाक्त जो ध्वनि है उसे दूसरों ने कहा है' वाणी के अविषय में स्थित जो उसका तत्त्व है, उसे किसी ने कहा है। और ऐसा होने पर ध्वनि के भक्तित्व का कथन और वाणी के अविषय में स्थित होने का कथन इनका अनुकरण नहीं किया जा सकेगा क्योंकि 'इति' द्वारा उनका व्यवच्छेद नहीं हुआ, अतः वाच्यावचन दोष हुआ। यदि यह कहा जाय कि इन स्थानों में इति का कथन वाक्य-सामर्थ्य से ही हो जायेगा या एक बार जो प्रयोग किया गया है, उसीका अनुगम कर लिया जायेगा तो—पहली बार जो इति शब्द दिया गया उसके लिये भी यही कहा जा सकता है, फलतः वह भी पुनरुक्त होता है और कहने अर्थ में 'गद' धातु का प्रयोग किया ही गया है, आदि-दीपक-न्याय से उसी का अनुगम बाद में भी होना ठीक है, न कि 'ब्रू' धातु का, क्योंकि दोनों का अर्थ एक ही है। इसलिए—'आहुः और ऊचुः' दोनों में उपर्युक्त दोनों दोष (पुनरुक्ति या वाच्यावचन) आ ही जाते हैं। (किसी भिन्नार्थक धातु का प्रयोग करना था वह नहीं किया, इसलिए वाच्यावचन)।

यहाँ कालविशेष (भूतकाल) का प्रक्रम-भेद भी है। ('आहुः' इस वर्तमान काल की क्रिया को) जगदुः 'ऊचुः' (इन परोक्षार्थक भूत क्रिया) में बदल दिया गया है। और ध्वनि का तत्त्व ध्वनि ही हो सकता है, या ध्वनि से भिन्न। ध्वनिरूप होने पर 'तत्त्वमूचुस्तदीयम्' ये तीनों व्यर्थ हो जाते हैं। क्योंकि उसका अर्थ 'केचिद् वाचां स्थितमविषय उचुः' इतने ही शब्दों से चला आता है, जो प्रयुक्त शब्दों के अन्तर्गत है; जैसा कि पहले (तीसरे पृष्ठ पर) कहा है—प्रयुक्तान्तर्गतैरेव······। यदि भिन्न है तो दूसरे की वागविषयता सिद्ध होती है, ध्वनि की नहीं। कारण कि दोनों में भेद है, [अतः अवाच्यवचन या वाच्यावचन होता है। मुद्रित प्रति में 'वागविषयत्वाभावे' छपा है। हम उसे 'वाग्विषयत्वाभावे' या 'वागविषयत्वभावे' मानते हैं। इसी पाठ में सुविधा सौकर्य है] और दूसरे लोग भक्ति को ध्वनिरूप मानते हैं। उससे सम्बन्धित व्यापार आदि को नहीं।

इसलिये (भाक्त में) तद्धित का निर्देश व्यर्थ है जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है—ध्वनि और भक्ति एक नहीं मानी जा सकती, उनके रूपों में भेद हैं और यह ठीक भी है क्योंकि—'कमल पखुड़ी की सेज उस कृशाङ्गी के सन्ताप को कहती है' में 'वदति = कहती है' का अर्थ जो वाच्य है उससे 'सूचित करना' आदि अर्थ तात्पर्य रूप से बतलाया जाता है, इसलिये ध्वनि लक्षण का अनुगम करने से भक्ति ही ध्वनि-रूप मानी जा सकती है, और कुछ नहीं। अतः तद्धितनिर्देश व्यर्थ है। 'सहृदयमनःप्रीतये' में मन शब्द पुनरुक्त हैं। प्रीति मन का ही धर्म है, अतः प्रीति की अधिकरणता उससे दूर नहीं होती—इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया जा चुका है।

तेन वरमयमत्र पाठः श्रेयान् अल्पदोषत्वात्—

'काव्यस्यात्मेत्यमलमतिभिर्यो ध्वनिर्नाम गीत-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भक्तिरित्येवमन्ये।
केचिद्वाचामविषय इति प्रस्फुरत्तत्त्वमन्त-
स्तेन ब्रूमः सहृदयजनप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥' इति।

उक्त दोषों के कारण यहां यह पाठ अच्छा है—'काव्य की आत्मा' इस प्रकार से शुद्ध बुद्धिवाले लोगों ने जिस ध्वनि का विवेचन किया था दूसरों ने उसका अभाव बतलाया, और लोगों

ने उसे भक्ति ही माना, कुछ लोगों ने वाणी का अविषय। अतः अन्तःकरण में स्फुरित हो रहे उसके स्वरूप को सहृदयजनों की प्रीति के लिये बतलाते हैं।' इसमें दोष कम है।

यद्वा—

इदमद्यतनानां च भाविनां चानुशासनम्।
लेशतः कृतमस्माभिः कविवर्त्मारुरुक्षताम् ॥ १२६ ॥

इत्यलमप्रस्तुतवस्तुविस्तरेण।

अस्तु, हमने यह अनुशासन (दोषशिक्षा) इस समय विद्यमान तथा भावी कविपथ पर चढ़ने के लिए इच्छुक व्यक्तियों के लिए संक्षेप में किया। क्योंकि यह 'व्यक्तिविवेक' में अप्रस्तुत है इसलिए इसका विस्तार अधिक नहीं करते।

तस्मात् स्थितमेतद् यथा शब्दस्यार्थाभिधानमन्तरेण न व्यापारान्तरं सम्भवतीति।

गमयन्त्यर्थमुखेन हि सुप्तिङ्वचनादयोऽपरानर्थान्।
तेन ध्वनिलक्ष्मविधौ शब्दग्रहणं विफलमेव ॥ १२७ ॥

इमि सङ्ग्रहार्या।

इति श्रीराजानकमहिमभट्टविरचिते व्यक्तिविवेकाख्ये काव्याऽलङ्कारे शब्दानौचित्यविचारो नाम द्वितीयो विमर्शः।



इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि शब्द में अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता केवल अर्थ के अभिधान (अभिधा शक्ति) को छोड़कर।

सुबन्त और तिङन्त सभी शब्द दूसरे अर्थों को अपने अभिधेय अर्थ के द्वारा बोधित करते हैं अतः ध्वनि का स्वरूप (यत्रार्थः शब्दो वा०) बतलाते समय उस (शब्द) का ग्रहण करना सर्वथा व्यर्थ है।

इस प्रकार राजानक श्रीमहिमभट्ट द्वारा रचित व्यक्तिविवेक नामक काव्यशास्त्र में शब्दानौचित्यविचारनामक द्वितीय विमर्श पूर्ण हुआ।

इस प्रकार व्यक्तिविवेक तथा उसके संस्कृत व्याख्यान के द्वितीय विमर्श का नादनेर (भोपाल, म० प्र०) वासी पं० श्री नर्मदाप्रसादद्विवेदी के आत्मज श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दीभाष्य पूर्ण हुआ।



अथ तृतीयो विमर्शः

तदेवं ध्वनिलक्षणस्य तद्भेदानां चानुमानेऽन्तर्भावमुपपाद्य सम्प्रति तदुदाहरणानां यथायोगं क्रमेणासावुपदर्श्यते। तत्र वस्तुमात्रस्य तावत्—

'भम धम्मिअ! वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण॥' इति।

[भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुकनोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुडङ्गवासिना दृप्तसिंहेन॥

अत्र केनचित् सुकृतिना यूना सह विस्रम्भसम्भोगसुखास्वादलालसया विजने वने विविधकुसुमामोदमुदितमधुकृति कृतसङ्केतया कयाचित् कुसुमापचिचीषया भ्रमतो धार्मिकस्य मनोरथपरिपन्थि तद्देशासादनं विघ्नमिव मन्यमानया जानानयापि केसरिकिशोरकस्य क्रौर्यातिरेकं कुक्कुरमारणमात्रन्यासोपन्यासेनास्य प्रियमावेदयितुकामया विदग्धयापि मुग्धयेव विधिमुखेन भ्रमणस्य प्रतिषेधो विहितः।

अत्र हि द्वावर्थौ वाच्यप्रतीयमानौ विधिनिषेधात्मकौ क्रमेण प्रतीतिपथमवतरतः, तयोर्धूमाग्न्योरिव साध्यसाधनभावेनावस्थानात्। तत्राद्यस्तावदविवेकसिद्धः स्पष्ट एव, भ्रमणविधिलक्षणस्य साध्यस्य तत्परिपन्थिक्रूरकुक्कुरमारणात्मनः साधनस्य चोभयोरप्युपादानात्।

द्वितीयस्त्वत एव हेतोः पर्यालोचितणिजर्थस्य विवेकिनः प्रतिपत्तुः प्रयोजकस्वरूपनिरूपणेन सामर्थ्यात् प्रतीतिमवतरति। तच्च सामर्थ्यं मृतेऽपि कौलेयके क्रूरतरस्य सत्त्वान्तरस्य तत्र सद्भावावेदनं नाम नापरम्। तदेव च साधनम्। तयोश्च साध्यसाधनयोरविनाभावनियमो विरोधमूलः। स चानयोर्लोकप्रमाणसिद्ध इत्युक्तम्।

तो इस प्रकार ध्वनि के लक्षण और उस (ध्वनि) के प्रभेदों का अनुमान में अन्तर्भाव सिद्ध किया अब क्रम से उस (ध्वनि) के उदाहरणों का यथायोग [उसी अनुमन में] अन्तर्भाव दिखलाया जाता है। उन (ध्वनि-उदाहरणों) में पहले वस्तुमात्र का उदाहरण—'हे धार्मिक, बेखटके घूम । वह दुष्ट कुत्ता आज उस गोदावरी के कछार की झुरमुट में रह रहे उन्मत्त सिंह ने मार डाला।' (प्रसंग)—एक चतुर नायिका किसी भाग्यवान् युवक के साथ सुरत का निर्भर आस्वाद लेना चाहती थी। उसने एक निर्जनवन में जहाँ भांति-भांति के फूलों की सुगन्ध से भौंरे आनन्द कर रहे थे, उस युवक से मिलने का समय निश्चित किया। किन्तु उसे वहीं फूल तोड़ने के लिये घूमता हुआ एक धार्मिक दिखाई दिया। नायिका नहीं चाहती थी कि धार्मिक वहाँ पहुँचे। उसने उसे विघ्न माना और उसे रोकने के लिये चतुर होते हुए भी भोली भाली बनकर उसने

धार्मिक से उसके हित की बात कहने की चाल चली और सिंह के निरतिशय क्रौर्य को जानते हुए भी इस पद्य में केवल कुत्ते के मरने की बात कहकर भय उपस्थित दिखलाया। इस तरह 'घूमो' इस प्रकार घूमने के विधान के बहाने उसमें न घूमने (निषेध) की संमति दी।

यहाँ दो अर्थ हैं। एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। वाच्य ('हे धार्मिक तुम खूब घूमो'-इस प्रकार का) विधिरूप है और प्रतीयमान (वहाँ शेर है अतः न घूमो-यह) निषेधरूप। वे दोनों क्रम से जान पड़ते हैं। कारण कि उनके बीच साध्यसाधनभाव सम्बन्ध है, वाच्य जो है सो धूम के समान साधन है और प्रतीयमान अग्नि के समान साध्य। दोनों में प्रथम (विधिरूप वाच्य अर्थ) तो स्पष्टरूप से समझ में आ ही रहा है, कारण कि उसके (प्रतिपादक वाक्य-भ्रम धार्मिक···में) भ्रमण-विधानरूपी साध्य ('भ्रम'-इस अनुज्ञार्थक लकार से युक्त क्रियापद द्वारा) और भ्रमणविरोधी दुष्ट कुत्ते का मारा जाना—रूपी कारण (मारितः-पद द्वारा) दोनों—ही कह दिये गये हैं। परन्तु दूसरा—(प्रतीयमान) इसी (वाच्यार्थ = विधि) से प्रतीत होता है। इसके ('मारित' में दिखाई देने वाले) णिजर्थ (णिच्-प्रत्यय = प्रयोजकार्थक प्रत्यय उसका अर्थ प्रेरणा) के ऊपर ध्यान देने से और प्रयोजक (मारने वाले) के स्वरूप का ज्ञान करने से सामर्थ्यवशात्—(वाक्यार्थशक्ति द्वारा) विवेकी ज्ञाता के समझ में आ जाता है। वह—सामर्थ्य और कुछ नहीं—कुत्ते के मर जाने पर भी वहाँ उससे अधिक क्रूर प्राणी के सद्भाव का कथन है। वही साधन है (निषेधरूप प्रतीयमान की प्रतीति में)।

इन साध्य और साधक दोनों का व्याप्ति-संबन्ध विरोधमूलक है, (भीरुभ्रमण—साध्य; भ्रमणस्थल में भयानक प्राणी का सद्भाव साधन—दोनों विरुद्ध हैं) इस विरोध में लोकानुभव प्रमाण है। (ऐसा प्रथन विमर्श में ही कहा जा चुका है)।

ननु यद्यतो वाक्यादर्थद्वयावगमस्तत् कथमुत्तरस्मिन्नेव नियमेन विश्रान्तिः, न पूर्वस्मिन् उभयत्रापि वा, तयोः प्राकरणिकत्वेन विशेषाभावात्।

उच्यते। न तावदत्र वाच्यानुमेययोरर्थयोः समुच्चयेन अवगतिरुपपद्यते भ्रम मा च भ्रमीरिति विधिनिषेधयोरेकाश्रयत्वविरोधात्।

नापि विकल्पेन, भ्रम वा मा वा भ्रमीरिति वचनोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्।

नाप्यङ्गाङ्गिभावेन, विधिनिषेधयोस्तदसम्भवात्।

केवलं योऽसौ भ्रमणविधौ हेतुभावेन दृप्तपञ्चाननव्यापारस्तत्रोपात्तः स एव विमृश्यमानः परम्परया धार्मिकस्य तन्निषेधे पर्यवस्यति तयोर्बाध्यबाधकभावेनावस्थानात्।

को ह्यनुन्मत्तः कुक्कुरमात्रसद्भावभयात् परिहृतभ्रमणस्तत्रैव दृप्तसिंहसद्भावाशङ्कायामपि सविस्रम्भं भ्रमेदित्यनुमेयार्थविश्रान्तिनियमहेतुर्बाध्यबाधकभावोऽस्त्येवात्र विशेषः।

अवश्यं चैतदभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा शुक्तिकारजतप्रतीत्योरपि क्रमभाविन्योरेतत्पर्यनुयोगप्रसङ्गः केन वार्यते। तस्माद् बाध्यबाधकभावावसायकृत एवात्रोत्तरार्थविश्रान्तिनियम इति स्थितम्।

(शंका)—यदि इस वाक्य से दो अर्थ ज्ञात होते हैं तो सदा अन्तिम (निषेध) अर्थ में ही वाक्यार्थ की समाप्ति क्यों होती है ? प्रथम अर्थ (विधि) में, या दोनों (विधिनिषेध) में क्यों नहीं होती ? क्योंकि वे दोनों अर्थ समान रूप से प्राकरणिक हैं।

(उत्तर)—स्थिति ऐसी है कि वाच्य और प्रतीयमान अर्थों की समुच्चयात्मक (साथ-साथ) प्रतीति नहीं हो सकती, कारण कि—(विधि) 'घूम' और (निषेध) 'मत घूम' ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। वे एक ही आश्रय में नहीं रह सकते (जो घूमेगा, उसमें घूमने का अभाव नहीं रहेगा)। इनकी प्रतीति विकल्पात्मक (घूमो या न घूमो) भी नहीं बन सकती; क्योंकि विकल्प जो—'घूमो' या 'न घूमो' ऐसा कहना है, कोई मतलब नहीं रखता। और न दोनों एक दूसरे के अङ्ग या अङ्गी ही बन सकते, क्योंकि विधि और निषेध में वह (अङ्ग अङ्गी भाव) हो नहीं सकता।

केवल यह जो (धार्मिक के) घूमने में कारणरूप से जंगली शेर का व्यापार घूमने की जगह (गोदावरी तीर में) बतलाया गया है, उसी पर विचार करने से वही आगे चलकर धार्मिक के घूमने का निषेध बतलाता है, क्योंकि उन (भ्रमण विधि और सिंहसत्त्व) दोनों का बाध्यबाधकभाव सम्बन्ध है। भला ऐसा कौन होगा जो यदि पागल न हो तो केवल कुत्ते के सद्भाव से तो डर करके घूमना रोक दे किन्तु वहीं बिगड़े शेर के सद्भाव का डर रहते हुए खुशी के साथ घूमे ? इसलिये यहाँ अनुमेय अर्थ में ही वाक्यार्थ का विराम होता है। उसका हेतु है बाध्यबाधकभाव (भीरु-भ्रमण और भय कारण के सद्भाव का ज्ञान)। यही (बाध्यबाधकभाव) वाच्य और प्रतीयमान दोनों में अन्तर डालता है। और इसे अवश्य ही मानना पड़ता है, नहीं तो सीप और रजत की प्रतीति में भी जो कि क्रम से होती है यह प्रश्न उठाया जा सकेगा, और उसे कोई नहीं हटा सकेगा, इसलिये बाध्यबाधकभाव के निश्चय से परवर्ती (निषेध) अर्थ में ही वाक्यार्थ विश्रान्ति होती है, यही बात सिद्ध होती है।

तत्र 'भम धम्मिअ ! वीसद्धो' इति वाक्यार्थरूपो भ्रमणविधिर्वाच्यः, तस्य 'सोसुणओ अज्ज मारिओ देण' इत्यादिना क्रूरकुक्कुरमारणं दृप्तसिंहविहितं वाक्यार्थरूपमेवार्थो हेतुः। तत्प्रतिषेधस्त्वनुमेय एव न वाच्यः, तस्योक्तनयेनाक्षेपात्।

तत्र 'गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा' इति गोदावरीकच्छकुहरस्य धर्मित्वनिर्देशः। 'दरिअसीहेणे'ति श्वमारणकारणाभिधानद्वारेणोपात्तस्य दृप्तसिंहसद्भावस्य हेतुभावः। कुडङ्गवासिणेति तद्विशेषणेन तस्य धर्मिणि सद्भावोपपादनम्।

तस्यास्य हेतोः साध्यस्य च निर्भयभ्रमणविधिलक्षणस्य सहानवस्थानलक्षणो विरोधः प्रसिद्ध एवेत्येकस्य सद्भाववेदनेनापरस्य स्वभावविरुद्धोपलब्ध्या प्रतिषेधे विज्ञायमाने सति समशीर्षिकयोभयार्थप्रतीतिरेवात्र न समस्तीति तद्विश्रान्तिपर्यनुयोगो निरवकाश एव।

तेनानुमेय एव भ्रमणस्य निषेधो न व्यङ्ग्य इत्यवसेयं यथा नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेरित्यतः शीतस्पर्शस्य। यदि वा प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरनर्थसंशयाभावनिश्चयेन व्याप्ता, तद्विरुद्धश्चात्रानर्थसंशयोऽस्माद् विधिवाक्याण्णिजर्थपर्या-

लोचनयावसीयत इति व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या, यथा नात्र तुषारस्पर्शोऽग्ने-रित्यतः तुषारस्पर्शस्य।

यहाँ 'भ्रम धार्मिक विस्रब्धः = धार्मिक जो प्रेम से घूमिये' यह वाक्यार्थ रूप भ्रमण विधि वाच्य है, उसका 'स शुनकोऽद्य मारितस्तेन'—वह दुष्ट कुत्ता आदि आज उसने मार दिया है। इत्यादि से क्रूर कुत्ते का सिंह द्वारा किया गया मारण हेतु है, वह वाक्यार्थ रूप है। उस (भ्रमण) का निषेध अनुमेय ही है, वाच्य नहीं। उसका आक्षेप होता है। उसकी प्रक्रिया ऊपर बतलाई गई है। (अनुमान में) 'गोदावरीकच्छकुहरवासिना' इस प्रकार गोदावरी कच्छकुहर को धर्मी (पक्ष) बतलाया गया। 'दृप्तसिंहेन' इस प्रकार कुत्ते को मारने वाले के रूप से 'दृप्तसिंह' के सद्भाव को हेतु बतलाया गया। और उस (सिंह) के विशेषण = 'कुहरवासिना' 'कुहर में रह रहे'—द्वारा उसका धर्मी में सद्भाव दिखलाया गया।

इसके हेतु और निर्भयभ्रमणरूप साध्य का एक साथ न रहना प्रसिद्ध ही है, इसलिये एक (हेतु) के सद्भाव के कथन से दूसरे (साध्य) के निषेध का ज्ञान होता है। यह ज्ञान—उनके स्वाभाविक विरोध के ज्ञान से होता है। इस स्थिति में (समशीर्षिकया) बराबरी से दोनों अर्थों की प्रतीति नहीं होती, इसलिये उस (वाच्य प्रतीति में वाक्यार्थ) के पर्यवसान का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये भ्रमण का निषेध अनुमेय ही है, व्यङ्ग्य नहीं। ऐसा समझना चाहिये। जैसे—(दूरसे कहीं आग जलती देखकर कहा जाय कि) 'शीतस्पर्श (ठंडक) नहीं होना चाहिये क्योंकि यहां अग्नि है'—यहां शीतस्पर्श का निषेध (अनुमान द्वारा प्रतीत होता है) दूसरी बात यह है कि बुद्धिमान् लोग वहीं जाते हैं जहाँ अनर्थ का भय नहीं रहता। यहाँ उसके विरुद्ध इस विधि-वाक्य (घूमो) और मारित के 'णि' प्रत्यय से प्रतीत प्रयोजक (सिंह) के पर्यालोचन से अनर्थ का भय जान पड़ता है। इसलिये (सिंह सद्भाव का) जो ज्ञान हो रहा है वह प्रवृत्तिजनक (अनर्थ-संशयाभावनिश्चयरूप) ज्ञान के विरुद्ध है।

जैसे—यहाँ 'शीतस्पर्श' है—क्योंकि यहाँ अग्नि है—यहाँ शीतस्पर्श का निषेध (शीतस्पर्श का व्यापक है अग्न्यभाव, यहाँ उससे उलटा अग्नि ही विद्यमान है अतः भले ही अभिधा द्वारा शीतस्पर्श की प्रतिज्ञा की जाय परन्तु सिद्धि होती है उसके अभाव की ही)।

अपि चास्मिन्नुदाहरणे दारुणतरानितरानृक्षप्रभृतीन् प्रसिद्धतद्व्यापारान-पास्य यदेतत् करिकलभकुम्भनिर्भेदैकहेवाकिनः केसरिणः कौलेयकवधाभि-धानमौचित्यैकनिकेतनस्य कवेस्तत्र चिरं चिन्तयन्तोऽप्यभिप्रायं न विद्मः।

न हि दृप्ततया यत्किञ्चनकारिणोऽन्यस्यापि स्वजातिसमुचितं चरितम-पहायाप्रसिद्धमेव किमपि रसभङ्गभीरवः कवयो वर्णयितुमाद्रियन्ते किमुत जगद्विदितव्यापारस्य केसरिणः।

अनौचित्यनिबन्धो हि परं रसभङ्गकारणं कवयो वदन्ति। यत् स एवाह—

> **'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।**
> **प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥' इति।**

तस्माद्दृरिअरिकूखेणेत्यत्र पाठः श्रेयान्।

इसके अतिरिक्त कवि एकमात्र औचित्य पर निर्भर रहता है किन्तु उसने इस उदाहरण में

हाथी के मस्तकविदारण का चाव रखने वाले सिंह की प्रवृत्ति रीछ आदि अन्य अधिक भयंकर जानवरों (के साथ) को ओर न दिखलाकर कुत्ते के वध की ओर दिखलाई इसका अभि-प्राय काफी सोचने पर भी हम नहीं समझ पाते। यह ठीक है कि जो दृप्त होता है वह कुछ का कुछ करने लगता है किन्तु इतने पर भी कविजन प्राणियों की जाति के अनुकूल कार्य को छोड़कर किसी तुच्छ प्राणी के भी किसी जाति विरुद्ध कार्य को (कविता में) अपनाते नहीं, क्योंकि वे रसभंग से डरते हैं, फिर सिंह की तो बात ही क्या ? उसकी चेष्टा तो जगत् प्रसिद्ध है।

कवियों का कहना है कि एक मात्र अनौचित्य का विधान ही रसभंग का कारण है। जैसा कि स्वयं उन्हीं (आनन्दवर्द्धन) ने कहा—'अनौचित्य को छोड़कर रसभंग का और कोई कारण नहीं। और औचित्य का विधान रस की प्रधान कुञ्जी है।' अतः—'दृप्तऋक्षेण' ऐसा पाठ अधिक अच्छा है। अर्थात् शेर की जगह रीछ को कुत्ता मारने के लिये अपना ठीक है।

विमर्श : ध्वनिकार ने भ्रम धार्मिक पद्य में भ्रमण विधान से भ्रमण निषेध की प्रतीति व्यञ्जना नामक एक अतिरिक्त शब्दशक्ति द्वारा मानी थी। ग्रन्थकार का कहना है कि व्यञ्जना के अभाव में भी अनुमान द्वारा इसकी प्रतीति हो सकती है, और ऊपर उसका प्रकार बतलाया। उन्होंने बतलाया कि—भ्रमण विधान के प्रति कुत्ते के भय की निवृत्ति को कारण बतलाया। इससे सिद्ध होता है कि घूमने वाला भीरु (डरपोक) है और वह भयकारण का अभाव ज्ञात होने पर ही कहीं घूम सकता है, यह ठीक है कि यहाँ कुत्तारूपी भयकारण का अभाव है अतः भीरु घूम सकता है, किन्तु उसी के साथ वहीं सिंह रूप भयकारण का सद्भाव बतला दिया गया है, अतः भले ही घूमने को कहा जाय, परन्तु अर्थ वही निकलता है कि भीरु वहाँ न घूमे।

मम्मट ने इसका खण्डन किया है। उन्होंने वही चाल चली जो अनुमान के खण्डन में प्रत्येक प्रतिवादी चलता है। जब अनुमान का खण्डन करना होता है तो प्रतिवादी अनुमान के हेतु को दूषित ठहराने का प्रयत्न करता है। मम्मट ने भी हेतु को दूषित ठहराने का प्रयत्न किया। उनका कहना है कि—भीरुभ्रमण और भयकारणभावज्ञान में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है। कहीं कहीं भय-कारण का ज्ञान होने पर भी भीरु भ्रमण देखा जाता है। गुरु की आज्ञा से, प्रिया के अनुराग से या स्वामी के आदेश से व्यक्ति डरता जाता है और आगे बढ़ता जाता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि वाच्यार्थ के साथ प्रतीयमान अर्थ का जो सम्बन्ध होता है उसमें सन्देह रहता है। अनुमिति में हेतु के साथ साध्य का सम्बन्ध निश्चित होता है। (उसमें सन्देह नहीं होता) ऐसे ही और भी तर्क है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि हेतु के समान हेत्वाभास से भी अनुमिति होती है। यह अलग की बात है कि वह अनुमति प्रमात्मिका नहीं होती और वह अनुमान प्रमाणा-त्मक अर्थात् वाच्यार्थ से अर्थान्तर की प्रतीति भी इसी प्रकार अनुमिति रूप है। उसको काव्य में प्रमात्मिका मानना अभिप्रेत भी नहीं। व्यञ्जना द्वारा जो अर्थ प्रतीत माना जाता है उसमें भी प्रमात्मकता नहीं मानी जाती। अतः हेत्वाभास से होने वाली अनुमति में पूर्ण व्यञ्जना का अन्तर्भाव हो जाता है। और जहाँ तक 'भ्रम धार्मिक पद्य का' सम्बन्ध है इसमें तो हेतु साध्य में कोई सन्देह नहीं। वक्ता का जो आशय निकलता है उसमें जो हेतु है और जो साध्य वह लोक सिद्ध है। हाँ यह हो सकता है कि यह घटना ही असत्य मानी जाय। उक्त उदाहरण में विधि से निषेध का अनुमान बतलाया गया और उससे उलटा निषेध से विधि का अनुमान बतलाया जाता है—

'अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसए पलोएहि।
मा पहिअ ! रत्तिअंधअ सेज्जाए महँणिमज्जहिसि॥'

[आर्या अत्र निमज्जति अत्र अहं दिवसके प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध ? शय्यायां मम निमांक्षीः ॥]

अत्र हि चलितचारित्रमुद्रा प्रोषितपथिकयुवतिः कञ्चिद् युवानं वासरावसाने वसतिं प्रार्थयमानमुद्दिश्योत्पन्नमन्मथव्यथावेशा श्वश्रूसन्निधौ तस्मै शयनस्थानं विविक्तमुपदिश्य निशान्धताध्यारोपेण स्वशयनसंस्पर्शप्रतिषेधमुखेन श्वश्रूशय्यासन्निवेशदेशं दर्शयन्ती रात्रावत्र मदीय एव शयनीये त्वया निभृतमुपस्थातव्यमिति तैस्तैराकारैः प्रतिषेधमुखेन स्वाभिप्रेतमर्थमस्मै निवेदयते ।

आर्या = सास यहाँ डूबी हुई है (और) मैं यहाँ, दिन में ही देख ले हे रतौंधी से पीडित बटोही ? ऐसा नहीं कि रात में मेरी खाट पर गिरते फिरो ।

प्रसङ्ग—कोई एक चारित्र्य से चञ्चल युवती स्त्री थी, जिसका पति परदेश गया हुआ था। उसने दिन डूबे ठहरने की जगह चाह रहे किसी युवक रास्तागीर को देखा। उसके प्रति उस स्त्री के मन में काम व्यथा जाग उठी। किंतु वहीं उसकी सास थी। उसने इस पद्य से सास के सामने अपने अलग-अलग स्थान की ओर संकेत किया—और रात में अन्धे होने का आरोप कर और अपनी खाट को छूने का निषेध कर उसने सास के सोने की जगह भी दिखलाई और वस्तुतः ऐसा करके उसने—'अपनी मनचाही रात में मेरे ही विस्तरे पर तुम चुपके से चले आओ—' यह वात उन-उन चेष्टाओं द्वारा निषेध के बहाने पथिक को वतला दी।'

तत्र च केचिदविदितस्वरूपस्यैव पथिकस्याकस्मान्निशान्धतोपक्षेपः स्वशयनीयोद्देशदर्शनं चेत्युभयव्यभिचारि साधनमिति मन्यन्ते । तद्वशाद्धि तस्य नायिकाशयनोद्देशोपसर्पणमपि कल्पनीयं स्यात् । श्वश्र्वाश्च तस्याविनयदोषाशङ्कानिरास इत्युभयमभिमतं सिध्यति ।

यत्त्वत्र श्वश्रूशयनदर्शनं तत् तदाशङ्कानिरासार्थमेव न पथिकप्रवर्त्तनाङ्गतां गच्छति आत्मन एव शयनोद्देशदर्शने हि तस्याः शङ्का स्यात् यद्वा शयनयोर्विप्रकर्षप्रकाशनपरं तद्, इति तत्प्रवृत्त्यङ्गमेवास्तु तदिति च तच्चायुक्तम्, अत्र हि श्वश्रूः प्रत्याय्या वर्त्तते नान्यः । न चायं चिरपरिशीलनावसेयो निशान्धताख्यो हेतुस्तां प्रति सिद्धः । तथाविधश्चोपादीयमानः प्रत्युत तस्याः शङ्कामुपजनयेत् । उभयार्थकारी ह्यत्र हेतुरुपादेयो भवति यो न श्वश्र्वाः शङ्कामाधत्ते पथिकं च प्रवर्त्तयति । नचायं निशान्धताख्यो हेतुस्तथेति व्यर्थस्तदुपन्यासः । किञ्चायं निशान्धतोपक्षेपः पक्षद्वयेऽप्यप्रयोजक एव शयनसन्निवेशदर्शनसंस्कारादेव तदुभयसिद्धेः ।

ये तु शयनीययोर्विप्रकर्षदर्शनेनान्यान्यदर्शनस्यास्फुटत्वमनुमीयमानं हेतुतया मन्यन्ते अत एव च 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ' इति पठन्ति तेऽप्ययुक्तवादिनः । अनैकान्तिकत्वात् । दृश्यन्ते ह्यचलितचारित्राणामपि युवतीनामेवंविधाः सद्भावगर्भाः भणितयः ।

आकारविशेषाणां हेतुत्वपरिकल्पनमुपहासायैव तेषां वाच्यत्वाभावात् वाच्यस्यैव व्यञ्जकत्वेन प्रकृतत्वात्।

यहाँ कुछ लोग दो पदार्थों को 'अव्यभिचारी हेतु मानते हैं—एक पथिक पर एकाएक रात्र्यंधता का आरोप जो पथिक के स्वरूप को विना जाने ही किया गया है और दूसरा अपने विछौने की जगह का वतलाना। उसी के आधार पर पथिक के नायिका के विछौने तक पहुँचने की कल्पना की जा सकती है और सास की उस नायिका के प्रति चांचल्य-शंका दूर हो जाती है। इस प्रकार दोनों अभीष्ट वातें सध जाती हैं और यहाँ जो सास के विस्तर का दिखलाना है वह केवल उस (सास) की आशंका को दूर करने के लिये ही है। वह पथिक की प्रवृत्ति में कारण नहीं वनता। यदि वह केवल अपना विछौना ही दिखलाती तो सास को शंका हो जाती। अथवा (उसे) सास के विछौने की दूरी वतलाने के लिये माना जा सकता है, इससे वह (सास के विछौने का निर्देश) पथिक की प्रवृत्ति का अंग भी वन सकता है।'—यह सब युक्तिसंगत नहीं है। यहाँ केवल सास को भरोसा दिलाना है, और किसी व्यक्ति को नहीं। उसके प्रति यह 'निशान्धता' रूपी हेतु नहीं वनता, कारण कि वह वहुत कुछ सोचने के वाद समझ में आता है। वल्कि ऐसा हेतु देने से तो उलटी शंका हो सकती है। ऐसी जगह जो हेतु दिया जाता है, उसे दोनों ओर लगने वाला होना चाहिये जिससे सास को भी शंका न हो और पथिक भी प्रवृत्त हो सके। निशान्धता रूप हेतु वैसा नहीं है, अतः उसे देना व्यर्थ है और यह निशान्धता का उल्लेख दोनों ही पक्षों में किसी काम का नहीं। केवल विछौने की जगह वतलाने पर से वे दोनों (सास का विश्वास और पथिक की प्रवृत्ति रूपी) काम वन जाते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि विस्तरों का उल्लेख इसलिये किया गया है कि पथिक यह समझ जाय कि वे लोग दूर से सास को दिखाई न देंगे, यह वात अनुमान से आती है और उससे पथिक का आमंत्रण प्रतीत होता है, इसलिए 'सास यहाँ डूवी है'—ऐसा कहा गया, उनके पास भी कोई अच्छी युक्ति नहीं है। कारण कि यह हेतु साध्य के साथ नित्य संवद्ध नहीं है। ऐसी भी कुछ युवतियाँ दिखाई देती हैं जो साध्वी होती हैं और एक मात्र सद्भाव से युक्त वात कहती हैं। आकारविशेष को कारण मानना मजाक की वात है, ये यहाँ कही नहीं गई हैं, और जो कहा जाता है वही व्यञ्जक माना जाता है।

किञ्चात्र निरूप्यमाणो हेतुरेव न लभ्यते। स हि विधेयानुगुणो वा स्यात् प्रतिषेध्यानुगुण उभयानुगुणो वा। तत्राद्यः श्वश्र्वाः शङ्कामेव जनयेदसिद्धत्वाच्चाक्षुषत्वादिवत्। द्वितीयो न विवक्षितार्थसिद्धिहेतुर्विरुद्धत्वात् कृतकत्वमिव नित्यत्वे। तृतीयस्तु सन्देहमेव जनयत्यनैकान्तिकत्वात्। प्रमेयत्वादिवदिति। यदाहुः—

'नासिद्धो भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः।
धर्मो विरुद्धो भावस्य सा सत्ता साध्यते कथम् ॥' इति।

अपि च तत्र यथाद्य उदाहरणे भ्रमणविधिहेतुरेव निरूप्यमाणः प्रतिषेधे पर्यवस्यति न तथेह प्रतिषेधहेतुरेव विधाविति कुतो विधिरूपार्थान्तरप्रतीतिसिद्धिः। तस्माद्विधेयस्यार्थान्तरस्य निबन्धनाभावात् प्रतीतिरेव नास्तीति कुतस्तस्य व्यङ्ग्यत्वमित्ययुक्तमेवेदमुदाहरणम्।

एक प्रकार से यहाँ बहुत कुछ सोचने पर भी कोई हेतु समझ में ही नहीं आता। हेतु या तो विधेय (प्रतीयमान) के अनुगुण हो सकता या प्रतिषेध (वाच्य) के या दोनों के। उनमें से पहला (विधेय 'आ जाना'—के अनुगुण हेतु) सास के मन में शंका ही पैदा करता है। वह असिद्ध है, ठीक वैसे ही जैसे—शब्द से (शब्द को हेतु बनाकर) चाक्षुषता (का ज्ञान कराना) दूसरा भी विवक्षितार्थ को सिद्ध नहीं कर सकता, वह विरुद्ध है, जैसे कि घट की नित्यता सिद्ध करने में उसकी कृत्रिमता (कृत्रिमवस्तु सदा अनित्य ही होती है)। तीसरा उलटा सन्देह ही पैदा करता है, साध्य से उसका निश्चित सम्बन्ध नहीं है। जैसे—('यह मनुष्य है, क्योंकि ज्ञेय है'—इसमें) ज्ञेयत्व का (मनुष्यत्व)। जैसा कि कहा है—असिद्ध पदार्थ साध्य का हेतु नहीं होता, (इसी प्रकार) न तो व्यभिचारी और न उभयाश्रित और न विरुद्ध। ऐसा होने पर साध्य की सत्ता कैसे सध सकती है।' और जैसे पहले उदाहरण (भ्रम धार्मिक……) में भ्रमण विधान का हेतु ही पर्यालोचन करने पर प्रतिषेध में पर्यवसित होता है, वैसे यहाँ निषेध का हेतु विधान में (पर्यवसित) नहीं (होता)। इसलिये यहां विविध रूप दूसरे अर्थ का ज्ञान हो कैसे सकता है। इसलिये दूसरा, अर्थ जो विधेय है, उसके प्रति कोई ठीक कारण नहीं होने से उसकी प्रतीति नहीं होती। इसलिये वह व्यङ्ग्य भी कैसे हो सकता है। अतः यह उदाहरण ही गलत है।

'वच्च महच्चिअ एक्काए होन्तु णीसासरोइअव्वाइं।
मा तुज्झ वि तीए विणा दक्खिण्णहअस्स जाअन्तु॥'
[व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जायन्ताम्॥]

अत्र कयाचित् खण्डितयान्तर्ज्वलितेर्ष्याप्रकोपया सावहित्थं सोल्लुण्ठनं सप्रणयौचित्यं च यः प्रियं प्रति भेदो विहितस्तत्र तस्यामेव भवान्निर्व्याजमनुरक्तहृदयो मयि तु कितव! तव कृतकोपचारवचनरचनामात्रमेतदिति नायकस्यान्यत्रानुरागातिशयः साध्यः।

तत्र च गच्छ त्वद्विरहविहितानि निश्वासरोदितव्यानि ममैव एकस्या भवन्तु मा तवापि दाक्षिण्यमात्रविवशस्य तया विना तानि भूवन्निति तत्र तस्य प्रस्थानानुमतिर्हेतुः। प्रस्थाने हि तस्य तद्विरहविरतिः। तद्विरतौ च तद्धेतुकानां निःश्वासरोदनादिदुःखानामपि विरतिः।

स्नेहोत्कर्षानुविधायिनो हि प्राणिनां विरहव्यथावेशा भवन्ति तेषां तत्कार्यत्वात् कार्यकारणभावश्चैषामध्यात्मप्रमाणसिद्धः। धर्मिणि सद्भावसिद्धिश्चास्य हेतोस्सतोऽसत एव वा प्रतिषेधसामर्थ्यादवसीयते, प्राप्तिपूर्वका हि प्रतिषेधा भवन्तीति।

तस्य च सत्यासत्यत्वविचारो निरुपयोग एव प्रतीतिमात्रपरमार्थत्वात् काव्यनाट्यादीनामिति विरहव्यथावसितोऽनुरागातिशयः कान्तस्यानुमेय एव भवति, न व्यङ्ग्य इत्यवसेयम्।

'जाओ मुझी अकेली के उसास और आंसू बहें, तुम जो मेरे मुलाहिजे में यहाँ चले आये हो, इससे ऐसा न हो कि उसके विना तुम्हारे भी बहने लगे।'

एक खण्डिता ने जिसके भीतर ईर्ष्या-कोप जल रहा था अपनी मंसा छिपाते हुये उलझने के साथ और प्रीति की रीति निवाहते हुये प्रिय के प्रति यह 'जाओ' कह कर अपनी तटस्थता बतलाई उससे यह झलकता है कि श्रीमान् उसी स्त्री पर निश्छल रूप से चित लगाये हुए हैं, मेरे साथ तो तुम कोरा व्यवहार निवाह रहे हो।' इस प्रकार यहां नायक का दूसरी स्त्री में अधिक अनुराग साध्य है।

इसमें—'जाओ तुम्हारे विरह से उत्पन्न निश्वास और रोना—मुझ ही अकेली को झेलने पड़े, उसके विना एकमात्र मेरे दाक्षिण्य में पड़े तुम्हे भी न झेलने पड़े। इस प्रकार जो प्रस्थान (जाने) की अनुमति है वह हेतु है। क्योंकि उसके प्रस्थान से उसके विरह की शान्ति संभव है और उस कारण उस विरह से उत्पन्न निःश्वास और रोदन आदि के दुःख की। प्राणियों को जो विरह की व्यथा की लहर उठती है वह स्नेह की वढ़ौती के कारण। क्योंकि विरह व्यथा की लहर स्नेह का कार्य है (स्नेह से उत्पन्न होती है)। इस प्रकार इनका कार्यकारणभावसम्बन्ध स्वयं अनुभव से सिद्ध है। धर्मी अर्थात्—पक्ष में इस हेतु के सद्भाव की सिद्धि (आंसू रोदन न हो इस) निषेध के आधार पर होती है भले ही वह (निषेध) सच्चा हो या झूठा। कारण कि निषेध तब होता है जब वस्तु की प्राप्ति (सत्ता) रहती है। उस (निषेध) के सच या झूठ होने का विचार फिजूल ही है। क्योंकि काव्य और नाटक का फल केवल ज्ञान करा देना भर है। इसलिये प्रिय का अनुराग विरह व्यथा से जाना जाता है। फलतः वह अनुमेय ही हुआ। व्यङ्ग्य नहीं—ऐसा समझना चाहिये।

'दे आ पसिअ णिअत्तसु मुहससिजोह्लाविलुत्ततमणिवहे ?।
अहिसारिआणं विग्घं करेसि अण्णाण वि हआसे ! ॥' इति।

[प्रार्थये तावत् प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ! ॥]

अत्र काचित् कामपि निशान्धकाराभिसरणसमुद्यतां सहजसौन्दर्यकान्तिकमनीयमुखीं सखीमालोक्य मुदितान्तःकरणा प्रणयोपालम्भनिभेन तस्यास्तां रूपसम्पदमित्थमुपवर्णयतीति चाटुकार्थोऽत्र प्रतीयमानोऽनुमेयः।

तत्र च वाच्यस्य प्रतिषेधानुपपत्तिरेव हेतुः। तदनुपपत्तिश्च सम्बोधनद्वारेणोपात्तस्य मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहत्वस्य हेतोरार्थस्यासिद्धेः, परमार्थतो मानुषीमात्रस्य तथाविधाया वदनेन्दुकान्तेरसम्भवात्।

अतस्तस्यास्तदन्यासां चाभिसारिकाणामभिसरणविघ्न एव न सम्भवतीति तत्प्रतिषेधप्रणयप्रयासस्सख्यास्तस्यामनर्थक एवेति प्रतिषेधविधेरनुपपत्तिसिद्धिः।

अतो वदनेन्दुकान्तेर्यदेतद्विलुप्ततमोनिवहत्वमुपात्तं तदन्यथानुपपद्यमानं वदनस्य कान्त्यतिरेकलक्षणमर्थान्तरमेव चाटुरूपमनया भङ्ग्यानुमापयति कान्त्यतिरेकमन्तरेण निर्मूलस्य तदतिशयारोपस्य लोकैरनादृतत्वादिति तत्प्रमाणसिद्ध एवानयोः सम्बन्धो बोद्धव्यः।

'प्रार्थना करती हूँ मत जा लौट चल। तू अपने मुखचन्द्र की किरणों से रास्ते की अँधियारी दूर कर रही है तथा हे हताशे और दूसरी अभिसारिकाओं को भी विघ्न पहुँचा रही है।'

यहाँ—किसी सखी ने अँधेरी रात में अपनी सखी को चोरी से प्रिय के पास जाते देख।

सखी का चेहरा स्वाभाविक सौन्दर्य की लुनाई से दमक रहा था। सखी को देखकर उसे काफी खुशी हुई और उसने नेह भरी बोली बोलते हुए उसकी रूपराशि का इस प्रकार वर्णन किया है। इसलिये यहाँ चाटुरूपी अर्थ प्रतीयमान है। वह अनुमान से प्रतीत होता है। उसमें वाच्यार्थ का जो प्रतिषेध किया गया है वह नहीं बनता। वही हेतु है। उसके न बनने का कारण यह है कि सम्बोधन द्वारा जो (नायिका को) मुखचन्द्र की रोशनी से अन्धकार को नष्ट कर देने का विशेषण (मुखशशि—निवहे) दिया है, जो अभिसारिकाओं के गमनागमन में विघ्न का आर्थ हेतु है, वह नहीं बनता, कारण कि जो स्त्री केवल मानुषी हो उसके मुख में इतनी अधिक कान्ति का होना संभव नहीं। इसलिये उस नायिका में अन्य अभिसारिकाओं के अभिसरण में विघ्न करना सिद्ध नहीं होता, फलतः उसके निषेध के लिये सखी का उस नायिका के प्रति किया गया प्रयत्न बेकार है। इस प्रकार प्रतिषेध कार्य नहीं बनता। इसलिये मुखचन्द्र की कान्ति में जो यह अन्धकारपुञ्ज के नाश करने का गुण बतलाया गया है वह और किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, निदान वह मुख में अत्यधिक कान्तिरूप दूसरे अर्थ की सिद्धि करता है जो चाटुरूप है। कथन के इस ढंग से वह उसी का अनुमान कराती है। यदि अत्यधिक कान्ति न हो तो उसका आरोप भी संभव नहीं। अतः उसे लोग मान नहीं सकते। इसलिये लोक-प्रमाण से ही उन दोनों का सम्बन्ध सिद्ध होता है।

'कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरम्।
सब्भमरपदुमाघाइणि वारिअवामे सहसु एह्णिम्॥'

[कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि ? वारितवामे ! सहस्वेदानीम्॥]

अत्र काचिद् विदग्धा सखी कामपि कामुकान्तिके परपुरुषपरिक्षताधरपल्लवामालोक्य तदसहनस्वभावं च तं कामुकमाकलय्य तस्यापरपरिभोगशङ्काकलङ्कमपाकर्त्तुमधरक्षतस्यान्यथासिद्धत्वमुपालम्भनिभेन तामाह।

तत्र सव्रणवल्लभाधरदलदर्शनं सर्वस्यैव कामुकलोकस्येर्ष्याप्रकोपकारणं भवतीति व्याप्तिवचनम्। तव च वारितवामाया सभ्रमराम्भोजाघ्राणशीलायास्तन्निबन्धनमिदमधरस्य सव्रणत्वमिति पक्षधर्मोपसंहारः। सह्यतामिदानीं तस्य निजस्याविनयस्य विपाकः प्रियतमप्रकोपरूपस्त्वयेति निगमननिर्देशः। इति वाच्यार्थविषयः साध्यसाधनभावस्तावत् स्पष्ट एव।

अनुमेयार्थविषये तु तस्मिन् परपुरुषपरिभोगशङ्कानिरासः साध्यः। तस्य सभ्रमराम्भोजाघ्राणशीलत्वेन सम्बोधनसमर्पितेनानुमितमधरपल्लवपरिक्षतेरन्यथासिद्धत्वमार्थो हेतुः। तयोश्चाविनाभावनियमोऽनुरागिणामध्यात्मप्रमाणसिद्ध एवेति सिद्धम्।

अत्र वाच्यानुमेययोरर्थयोरपि प्रतीतावनुमेय एव विश्रान्तिर्न वाच्ये तस्य तदङ्गतया प्राधान्याभावाद्, इत्युक्तमेव।

'प्रिया के अधर को घायल देख किसे रोष नहीं होता इसलिये, अरी भौंरे से युक्त कमल को सूँघने की शौकीन और मना करने पर उलटी-चलने वाली-तू अब अपना किया भोग।' यहाँ कोई चतुर सखी कामुक को लक्ष्य करके कह रही है। उसने किसी सखी को दूसरे पुरुष द्वारा अधर

भाग में क्षत (घाव) युक्त देखा और सोचा कि वह कामुक ऐसी घटना को सह नहीं सकता तो उस सखी के अन्यकृत भोग की शंका के कलंक को दूर करने के लिये उपालम्भ के बहाने अधरव्रण को और किसी कारण से उत्पन्न बतलाने के लिये यह कहती है। इस कथन में व्याप्ति-कथन है—'प्रत्येक कामुक के लिए अपनी प्रिया के घायल प्रियाधर का दर्शन ईर्ष्याजनित प्रकोप का कारण होता है।'

'तुझे मना करने पर और उलटी चलने वाली और भौंरे युक्त कमल को सूँघने वाली के अधर में घाव हुआ—यह पक्ष में धर्म (हेतु) का कथन हुआ।'

'अब तू अपनी धृष्टता का फल 'प्रिय का रोष' सह' यह हुआ निगमन। इस प्रकार वाच्यार्थ में आया साध्यसाधनभाव तो साफ है। अनुमेय अर्थ के विषय में—जो साध्यसाधनभाव है उसमें परपुरुष शंका का निरास (हटाना) साध्य है। उसमें जो हेतु दिया गया है वह आर्थ है। वह—संबोधन द्वारा बतलाया गया है। संबोधन का अर्थ है—भौंरे से युक्त कमल को सूँघने के शौकीन'। इसमें 'अधर के क्षतियुक्त होने का कारण और ही कोई है' यही है (उस अनुमेयार्थ के प्रति) हेतु। साध्य और साधन (हेतु) का व्याप्ति-संबंध अनुरागियों में अपने अनुभव से सिद्ध है।'

यहाँ प्रतीति दोनों की होती है वाच्य की भी—और अनुमेय की भी। परंतु वाक्यार्थ की विश्रान्ति अनुमेय में ही होती है; वाच्य में नहीं, कारण कि वाच्य अनुमेय का अंग है ऐसा कहा जा चुका है।

'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥' इति।

अत्र शूरादीनां त्रयाणां सर्वत्रैव स्वाधीनाः सम्पदो भवन्तीति साध्यम्। तत्र सुवर्णपुष्पपृथिवीचयने कर्तृत्वाभिधानं तेषां हेतुः।

तद्धि मुख्यमनुपपद्यमानं वाक्यार्थोपचारवृत्त्या तत्सदृशमेव सर्वत्र सुलभविभवत्वमनुमापयति यथा पदार्थोपचारे गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गाशब्दो गङ्गासमीपवर्त्तिनं तटम्।

द्विविधो ह्युपचार इष्टः, पदार्थवाक्यार्थविषयत्वात् उपचारे च वाच्यस्योपायत्वात् अप्राधान्ये सत्यविवक्षितत्वमेव भवति, उपचारविषयस्यैवोपेयतया प्राधान्यात्। तयोश्च प्रसिद्धिकृत एवाविनाभावनियमोऽवगन्तव्यः, साध्यश्चानुमेय एव, न वचनगोचरतां गच्छतीत्युक्तम्।

सोना फूलती धरती को बटोरते हैं तीन लोग शूर, विद्वान् और सेवा की कला जानने वाला।'

यहाँ साध्य है—'शूर आदि तीन लोगों के लिये सम्पदाएँ सदा स्वाधीन रहती हैं।' उसमें हेतु है सुवर्णपुष्पा पृथिवी के बटोरने में उन (शूर आदि) को कर्त्ता बतलाना। वह (सुवर्णपुष्पा पृथिवी का बटोरना) मुख्य (बटोरने) रूप में तो बनता नहीं, इसलिए उपचारवृत्ति (लक्षणा) से (शूर आदि). सब में वैभव की सुलभता का अनुमान कराता है। यह (उपचार) वृत्ति यहाँ वाक्यार्थ में होती है। ठीक वैसे ही जैसे पदार्थ के उपचार के स्थान 'गङ्गा पर घर' में गंगा शब्द गंगा के पास के तट का अनुमान कराता है।

उपचार दो प्रकार का मान्य है, पदार्थविषयक और वाक्यार्थविषयक। उपचार में वाच्य उपाय (हेतु) होता है। अतः वह अप्रधान होने से विवक्षाविषयक नहीं होता। उपेय (साध्य) वही

होता है जिसमें उपचार किया जाता है (तट आदि), और वही प्रधान (भी) होता है। उनका जो अविनाभावसम्बन्ध है वह लोकप्रसिद्धि से सिद्ध है और जो साध्य होता है वह अनुमेय ही होता है उसे शब्द से नहीं कहा जाता है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है।

'शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
तरुणि! येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः॥' इति।

अत्र त्वदधरपल्लवपरिचुम्बनामृतं नाल्पपुण्यः पुमानासादयतीति चाटुकरूपोऽर्थः साध्यः। तत्सादृश्यलवावलम्बिनो बिम्बफलस्यापि परिखण्डनविधौ शुकशावकस्य लोकोत्तरतपःपरिणामशालित्वसमारोपो हेतुः।

यत्र खलु यत्सादृश्यसद्भावमात्रभाजो भावस्य पुण्योपचयपरिश्रमपरिप्रापणीयत्वमाशङ्क्यते तत्र तस्य तत्सम्बन्धिनो मुख्यस्यैव तत् कथं नावगम्यते। तस्मादत्रापि साध्यसाधनभावगर्भतैवोपपन्नेति सिद्धम्।

'कौन से पहाड़ पर कितने दिनों तक किस नाम का तप किया है इसने कि हे तरुणि? यह तोते का बच्चा तुम्हारे अधर के समान पाटल (श्वेतरक्त) बिम्बफल को डँस रहा है।'

यहाँ 'जो अधिक पुण्यात्मा होता है वही तुम्हारे अधरपल्लव के चुम्बनामृत को पाता है यह चाटुरूप अर्थ साध्य है। हेतु है—'अधर के समान बिम्बफल के काटने में शुकशावक के ऊपर अद्भुत अलौकिक तप के फल से युक्त होने का आरोप।' जहां वस्तु के केवल सादृश्य से युक्त वस्तु को राशि राशि पुण्य जोड़नें के श्रम से लभ्य बतलाया जा रहा हो वहां स्वयं उस वस्तु में वह (पुण्यातिशय से लभ्य होना) क्यों नहीं जाना जा सकता। इसलिए यहां भी वाक्यार्थ में साध्यसाधनभाव है ही।

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि! धीरा भव॥' इति।

अत्र मदनदहनोद्दीपनचन्द्रोदयोद्यानादिदारुणपदार्थसार्थदर्शनदुःखसहिष्णुत्वं नाम रामस्य साध्यम्। तत्र च रामत्वमेवार्थो हेतुः।

रामशब्दो ह्ययं स्वेच्छापरिकल्पितप्रकरणाद्यवसेयसकलक्लेशभाजनत्वलक्षणधर्मविशिष्टं संज्ञिनं प्रत्याययति न संज्ञिमात्रम्। तयोश्च व्याप्यव्यापकभावलक्षणः सम्बन्धः प्रसिद्धिकृतोऽध्यात्मप्रसिद्ध एवावगन्तव्यः, यथा वृक्षशिंशपयोः।

यच्च तदनुमितं धर्मान्तरं तत् सर्वसहत्वस्योपात्तस्य साधनं, न रामत्वमेवेत्यनुमितानुमेयं तत्। एवमस्मीत्यस्मदर्थे धर्मिणि रामत्वमात्रनिबन्धनायां सकलक्लेशभाजनत्वलक्षणसाध्यधर्मसिद्धौ स्फुट एवास्यानुमानान्तर्भावः। ततश्च रामस्य यत् कठोरहृदयत्वाभिधानं तत् पुनरुक्तमेव, अनुवादपक्षस्यातितुच्छत्वात्।

'भले ही—मेघ चिकनी और श्याम आभा से आसमान लीपें; उनमें बगुलों की पांत भी जुड़ती रहें, फुहारे लेकर हवा के झोके बहें, मेघों के मित्रों (मयूरों) की आनन्द से भरी सुन्दर केका कूजें, (परन्तु) मैं तो राम हूँ, कठोर हृदय वाला, सब कुछ सह लूँगा। परन्तु, हाय-हाय सीता का क्या होगा। हे देवि ? तुम भी धीरज रखना।' यहां—राम द्वारा कामाग्नि को बढ़ाने वाले चन्द्रोदय, उद्यान आदि दारुण पदार्थों के देखने के दुःख को सहना साध्य है। यहाँ रामत्व ही हेतु है, वह आर्थ है। यह जो राम शब्द है वह केवल संज्ञावान् को नहीं बतलाता, अपितु उस संज्ञावान् को बतलाता है जिसमें अपनी इच्छा से कल्पित प्रकरणादि द्वारा समझ में आने वाला—'क्लेशभाजनत्व'—रूप धर्म का बोध होता है। उन (रामत्व और क्लेशसहत्वरूप धर्मों) का व्याप्यव्यापकभाव रूप सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है, अर्थात् वह अध्यात्म (स्वानुभूति) प्रमाण से ही सिद्ध है। ठीक वैसे ही जैसे वृक्ष (सामान्य) और (उसका कोई एक भेद) शिंशपा (शीशम) आदि का।

जो (सकलक्लेशसहिष्णुत्व) दूसरा धर्म उस (रामत्व) से अनुमित हो रहा है वह शब्दतः कथित सर्वसहिष्णुता का साधक हेतु है; इस प्रकार केवल रामत्व ही (वियोगदुःखसहिष्णुत्व रूप धर्म का) अनुमापक नहीं है,—अपितु रामत्व से अनुमित (क्लेशभाजनत्व) धर्म भी उसका अनुमापक है, अतः वियोगानुभवसहिष्णुता धर्म अनुमित अर्थ द्वारा अनुमित होता है।

इसी प्रकार 'अस्मि' यहाँ अस्मद् शब्द का अर्थ (मैं धर्मी) है। उसमें केवल 'रामत्व' से सब प्रकार के दुःखभाजनत्व (रूपी) धर्म की सिद्धि होती है। अतः स्पष्ट रूप से ही इसका अनुमान में अन्तर्भाव है। और राम की कठोरहृदयता का जो कथन है वह पुनरुक्त है। ऐसा करने से अनुवाद पक्ष ('कठोरहृदय मैं सब कुछ सह सकता हूँ।—इसमें जो कठोरहृदय मैं अनुवाद्यांश है वह) अति हेय हो जाता है। (क्योंकि वह सदोष हो जाता है)।

विमर्श : 'राम वियोग को सह सकने हैं यह है—तात्पर्यभूत अनुमेय। उसका हेतु है—रामत्व और ऐसा रामत्व जिसमें सर्वविधदुःखसहिष्णुत्व का अनुमान होता है और यह अनुमित धर्म भी रामत्व के साथ-साथ वियोग सहने की क्षमता का अनुमान कराता है, अतः वियोग-दुःख को सहने की क्षमता अनुमित अर्थ से अनुमित होती है, वह अनुमितानुमेय है। सर्वविधदुःखसहिष्णुत्व' धर्म की एक विशेषता यह भी है कि वह अनुमित वियोगसहिष्णुत्व के साथ ही—'सर्वं सहे' इस प्रकार कथित सर्वसहिष्णुता का भी हेतु है।

'ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति।
रइकिरणाणुग्गहिआइ होन्ति कमलाइ कमलाइ॥'
[तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि]

इत्यत्राद्यस्तावत् कमलशब्दः सामान्यवृत्तिर्द्वितीयो विशेषवृत्तिः। स चास्य विशेषो निरतिशयशोभाभिरामतालक्षणोऽर्थः प्रकरणादिगम्यो रविकिरणानुग्रहकृतः प्रमाणान्तरसिद्धस्सामान्यनिष्ठोऽनुमेयः। तत्र च तयोः सामान्यविशेषार्थयोर्विजातीययोरिव सजातीययोरप्यारोप्यारोपकभाव एव हेतुः, यथा सिंहो माणवक इति।

न च भिन्नजातीयत्वमेवार्थानामारोपनिबन्धनमिति नियमः सम्भवति

येनात्र सजातीयत्वादसौ न स्यात् तस्य भिन्नार्थमात्रप्रयुक्तत्वात्। तच्चानयोरुक्तनयेनास्त्येवेति नासिद्धो हेतुः।

सामान्यविशेषवृत्तित्वं चेदं शब्दानां विवक्षामात्रनिर्मितमिति न तस्य पूर्वपश्चाद्भावनियमः कश्चित्। ततश्च—

'एमेअ जणो तिस्सा देउ कवोलोपमाइ ससिम्बिबम्।
परमत्थविआरे उण चन्दो चन्दो विअ वराओ॥'

[एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिबिम्बम्।
परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र इव वराकः]

इति विपर्ययेणापि तदुपपद्यत एव। एवञ्चास्याप्यनुमानान्तर्भाव एवावगन्तव्यः।

'गुण तब गुण होते हैं जब उन्हें सहृदयों द्वारा मान्यता दी जाती है। सूर्यकिरणों से अनुगृहीत होने पर ही कमल-कमल (होते हैं)। यहां प्रथम कमल शब्द साधारण कमल का वाचक है और दूसरा कमल विशेष कमल का (वाचक है)। कमल का यह जो विशेष धर्म है वह है—लोकोत्तर शोभा और सुगन्ध से सुन्दर होना। वह प्रकरण आदि से प्रतीत होता है, उसकी उत्पत्ति रविकिरणों के अनुग्रह से होती है। अतः वह लोकप्रमाण से ही सिद्ध है। फलतः वह अनुमेय है। सामान्य और विशेष दोनों अर्थ हैं सजातीय किन्तु विजातीय के समान उनका आरोप्यारोपकभाव बतलाया गया है। यही विशेषार्थ का अनुमापक है ठीक वैसे ही जैसे 'सिंहो माणवकः' में। यह कोई नियम नहीं है कि पदार्थ विजातीय हो तभी उनमें आरोप हो। जिससे सजातीयता के कारण यहां यह—(आरोप) न हो। वह (आरोप) तो केवल अर्थ—की भिन्नता पर निर्भर है। और वह (भिन्नार्थता) ऊपर कहे अनुसार इन (सामान्य विशेष कमलों) में है ही। इसलिये हेतु असिद्ध नहीं है। शब्दों का यह सामान्य और विशेष अर्थ में प्रयुक्त होना विवक्षामात्र पर निर्भर है, इसलिये उसमें कोई पूर्वापरभाव (आगे-पीछे होना) निश्चित नहीं—इस कारण—'लोग—यूँ ही उसके कपोल की उपमा में शशिबिम्ब को रखते हैं, वास्तविकता पर विचार करने से तो चन्द्रमा बेचारा चन्द्रमा ही है।'

इसप्रकार उलट जाने पर (सामान्य-विशेषभाव के विशेषसामान्यभाव हो जाने पर भी) भी वह बन ही जाता है। इसलिये इसका अन्तर्भाव भी अनुमान में ही मान लेना पड़ता है।

विमर्श : 'ताल०' पद्य में प्रथम कमल सामान्य का उस पर विशेष का आरोप होता था। यहाँ प्रथम चन्द्र विशेष है, उस पर सामान्य का आरोप होता है। वही—विपर्यय हुआ।

'निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते' इति।

अत्रादर्शस्य विच्छायत्वमनुमितमुपमानम्। तदनुमितौ चादर्शस्यान्ध्याभिधानं साधनम्। तद्धि तत्र मुख्यं न सम्भवति प्राणिधर्मत्वात्।

अतस्तत्सामर्थ्यात् पटलपिहितस्येव नयनस्य निःश्वाससमर्पितं दर्पणस्य विच्छायत्वमेवानुमापयतीत्यत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽपि सिंहो माणवक इत्यादिवत् पदार्थोपचार एव। तस्य चानुमानान्तर्भावः समर्थित एव प्राक्। एवम्—

'गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइ अ वणाइ।
णिरहङ्कारमियङ्का हरन्ति णीलाओ वि णिसाओ ॥'
[गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहंकारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः]

इत्यत्र मत्तनिरहङ्कारशब्दयोरपि द्रष्टव्यम्।

'निःश्वास से अन्धे दर्पण के समान चन्द्रमा चमक नहीं रहा है'—यहाँ दर्पण का निष्प्रभ होना अनुमित होता है। वही उपमान है। उसकी अनुमति में दर्पण की अन्धता का कथन हेतु है। वह (अन्धता), उस (दर्पण) में वास्तविकरूप से नहीं बनती, क्योंकि अन्धता प्राणवान् का धर्म है। इसलिये उस (अवास्तविकता) के आधार पर वह (अन्धत्व) पटल से ढंकी आंख की निष्प्रभता जैसी निष्प्रभता का अनुमान कराता है। इसप्रकार अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य भी 'माणवक सिंह है' के समान—पदार्थ का उपचार ही है। उसका अनुमान में अन्तर्भाव पहले ही वतला दिया गया। इसी प्रकार—'आकाश में मतवाले मेघ हैं। जंगलों में अर्जुन वृक्ष—धारा से चमचमा रहा है। निशाएँ—काली हैं और उनमें चन्द्रमा का अहंकार मिट गया है इतने पर भी मनोहर हैं।' यहाँ पर मत्त और निरहंकार शब्द में समझना चाहिये।

विमर्श : मत्त का अर्थ है पागल। पागल होना—प्राणी का धर्म है। मेघ प्राणी नहीं है, अतः उसमें वह चरितार्थ न होकर उससे सम्बन्धित त्रासजनकत्व रूप धर्म का अनुमान कराता है। इसी प्रकार चन्द्रमा भी जड़ है। उसमें अहंकार का अभाव उसकी निष्प्रभता का अनुमान कराता है।

यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भावमर्हतीति। 'विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते। ते हि रत्यादीनां भावानां कारणकार्यसहकारिभूतास्ताननुमापयन्त एव रसादीन् निष्पादयन्ति। त एव हि प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते इत्यवश्यम्भावी तत्प्रतीतिक्रमः। केवलमाशुभावितयासौ न लक्ष्यते यतोऽयमप्यभिव्यक्तिक्रम' इत्युक्तम्।

अत्रोदाहरणानि यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगमनादिवर्णनं मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्च परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णनादीनि।

विभाव आदि से रस आदि की जो प्रतीति है, वह भी अनुमान में ही अन्तर्भाव के योग्य है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों की प्रतीति को रस की प्रतीति का कारण माना जाता है। वे (विभाव आदि) रति आदि (स्थायी) भावों के प्रति कारण-कार्य-सहकारी रूप से उपस्थित होते हैं और उनकी—(रति आदि) अनुमिति कराते हैं, और अनुमिति कराते हुए ही रसादि को निष्पन्न करते हैं। वे ही जब अनुमान द्वारा आस्वादित होते हैं तो रस कहलाते हैं, इसलिये उन (व्यभिचारी आदि और रति आदि या रसादि) की प्रतीति में क्रम पौर्वापर्य—होना निश्चित ही है। केवल यह क्रम प्रतीति में अत्यन्त शीघ्रता के कारण समझ में नहीं आता। इसलिए यहाँ भी प्रतीति में क्रम है ही। इसके लिये—उदाहरण जैसे कुमारसम्भव में वसन्त वर्णन के अवसर पर वसन्त-पुष्पों का श्रृंगार किये पार्वती जी के आने आदि का कामद्वारा शरसंधान करने तक का वर्णन और भगवान् शिव का धैर्य छूटने—पर विशेष चेष्टाओं का वर्णन।

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नुदजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः'

इत्यत्राप्राकरणिकमहाकालाख्यदेवताविशेषविषया प्रतीतिस्साध्या। तस्याश्चाट्टहाससम्बन्धो युगसंहारव्यापारश्चेत्युभयं साधनं तस्य तत्कार्यत्वात्। कार्यकारणभावावसायश्चानयोरागमप्रमाणमूल इति तत एव समासोक्तिक्रमेणाप्राकारणिकार्थान्तरप्रतीतिसिद्धिः, न तूभयार्थवृत्तेर्महाकालशब्दस्य सा शक्तिरित्येतदुक्तं वक्ष्यते च।

यहाँ अप्राकरणिक महाकाल नामक विशेष देवता (रुद्र) की प्रतीति साध्य है। उसके प्रति हेतु है—अट्टहास का सम्बन्ध और युग के संहार का कार्य। क्योंकि ये दोनों देवताविशेष (शिव) के कार्य हैं। इनका कार्यकारणभाव—शास्त्रमूलक है। इसलिये इसी हेतु और व्याप्ति से समासोक्तिक्रम से अप्राकरणिक दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है। महाकालशब्द को अर्थों में अभिधा नहीं मानी जा सकती ऐसा कह चुके हैं, और कहेंगे भी।

'उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम्॥'

इत्यत्र त्वनन्तरोक्तः प्रकारो न सम्भवतीति कुतोऽर्थान्तरप्रतीतिः।

उन्नत, प्रोल्लसद्धार, कालागुरु-मलीमस, तन्वी का पयोधरभर किसे अभिलाषी नहीं बना देता।

विमर्श : उन्नत = स्तनपक्ष में ऊँचा, मेघपक्ष में भी ऊँचा।

प्रोल्लसद्धारः = स्तनपक्ष में हार से युक्त; मेघ पक्ष में धारा से युक्त।

कालागुरुमलीमस—स्तनपक्ष में काले अगर से कृष्ण मेघ पक्ष में काले अगर के समान कृष्ण।

पयोधरभर—पयोधर = स्तन और मेघ।

अभिलाषी—इच्छुक, और उत्कण्ठित।

यहाँ पीछे बतलाया प्रकार (समासोक्ति) नहीं हो सकता अतः दूसरे अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है?

'दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाक्लिष्टसृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु॥'

इत्यत्र तु गोशब्दस्यानेकार्थत्वेऽप्राकरणिकार्थान्तरप्रतिभोत्पत्तौ न किञ्चिन्निबन्धनमवधारयामः।

तथा हि—गोशब्द एवानेकार्थत्वात् निबन्धनमुपकल्प्येत, तद्विशेषणजातम्, उभयमपि वा, अन्यस्यार्थप्रकरणादेरसम्भवात् तत्र न तावद् गोशब्द एवेति शक्यते वक्तुम्, सुरभिव्यतिरिक्ते वज्रादावनभिमतेऽप्यर्थान्तरे प्रतीत्युपजननप्रसङ्गात्, तस्यानेकार्थत्वाविशेषे नियमहेतोरभावात्।

अथ विशेषणजातमेव नियमहेतुर्नापरः, तद्धि यदर्थानुगुणमुपलभ्यते तत्रैव प्रतीतिमुपजनयतीति उच्यते। तर्हि ततोऽपि सा तदनुगुणार्थावगतिर्निब-

न्धना तद्वदेवाकस्मिकी कथमिवोत्पद्येत ?। विशेष्यवाचिनोऽनेकार्थस्य तु तन्निबन्धनभावोपगमे अन्योन्याश्रयदोषः।

न चोभयमप्यन्योन्यानुग्राहितदुपजननसामर्थ्यमवनिपवनादिकमिवाङ्कुरमर्थान्तरप्रतिभामुपजनयति, यो जडपदार्थविषय एवायमुपपन्नः क्रमः, यत्र स्वाभाविक एवायं जन्यजनकभावः, न वाच्यवाचकभावविषयः, तत्र हि प्रतिपत्तपरामर्शापेक्षापरतन्त्रोऽर्थाध्यवसायोपजनो न स्वाभाविकः।

तत्र वाच्यार्थविषयस्यास्य वाचक एव तत्संस्कारप्रबोधनिबन्धनं नान्यः। अर्थान्तरविषयस्य तु तस्यावश्यमन्यदेवापेक्षणीयं युक्तं न पुनरेक एवोभयत्रापि; एकहेतुकत्वेऽर्थयोः क्रमनियमानुपपत्तेः, प्रत्यर्थं शब्दनिवेशोपगमविरोधाच्चेति तयोर्भिन्नहेतुकत्वमवगन्तव्यम्।

तच्च तदावृत्त्या वास्तु अर्थप्रकरणादिना वा, न तत्रास्माकमभिनिवेशः कश्चित्। केवलमन्यतस्तत्प्रतिभोद्भेदाभ्युपगमेऽनुमानान्तर्भावः स्फुट एव तस्यैव लिङ्गतापत्तेरिति शब्दस्यानेकार्थतावगममात्रमूलोऽयमद्यापि कवीनामर्थान्तरप्रतीतिभ्रम इति व्यर्थः शब्दशक्तिपरिकल्पनप्रयासः।

एवं चास्य वाच्यातिरेकिणोऽर्थान्तरस्य प्रतीतिरेव न समस्तीति यत्राप्रस्तुताभिधानप्रसङ्गभयात् तयोरुपमानोपमेयभावप्रकल्पनं तदपि निर्मूलमेवेत्यवगन्तव्यम्।

(पद्य का अनुवाद द्वितीय विमर्श में किया जा चुका है) यहाँ गोशब्द अनेकार्थ है। उससे अप्राकरणिक भी एक अर्थ निकल सकता है किन्तु उसका कोई हेतु यहाँ नहीं है। क्योंकि—कारण माना जा सकता है तो अनेकार्थ होने से वही गोशब्द, या उसके विशेषण या फिर दोनों (गो शब्द और उसके विशेषण) इनके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन, प्रकरणादि यहाँ संभव नहीं है। इनमें से गोशब्द कारण नहीं माना जा सकता। उसे कारण मानने पर गाय के अतिरिक्त वज्र आदि—अन्य अर्थों की प्रतीति भी मानने की आपत्ति उठेगी क्योंकि जब वह (गोशब्द) अनेकार्थक है तो किसी की प्रतीति मानने और किसी की प्रतीति न मानने का नियम नहीं बन सकता। यदि विशेषणों को कारण माना जाय, और किसी को नहीं तो विशेषण जिस पदार्थ के लिये आता है, उसी में विशेषता की प्रतीति कराता है, तो उससे भी वह दूसरे अर्थ के अनुरूप प्रतीति बिना किसी कारण के कैसे होगी। यदि विशेष्यवाची (गो) शब्दों की अनेकार्थकता को उसका कारण माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। और—एक दूसरे की सहायता करके मिट्टी से पानी आदि, जैसे अंकुर उगते है वैसे ही विशेषण-विशेष्य दोनों एक दूसरे के सहयोग से उस अर्थ को उत्पन्न करें ऐसा भी संभव नहीं, क्योंकि अन्योन्य सहयोग से वस्तु का उत्पादन जड़ पदार्थों में ही देखा गया है। वहाँ (जड़ों में) यह जन्यजनकभाव सम्बन्ध स्वाभाविक होता है। वहाँ वाच्यवाचकभाव की अपेक्षा नहीं। विशेषणविशेष्य स्थल में—अर्थ का ज्ञान ज्ञाता के संकेतग्रह की अपेक्षा रखता है; वहाँ वह स्वाभाविक नहीं। वाच्यार्थविषयक जो अर्थाध्यवसायोपजन = ज्ञाननिष्पत्ति है उसमें उसके संस्कार का जनक उसका वाचक ही होता है। और कोई नहीं। ऐसी स्थिति में दूसरे अर्थ के लिये किसी दूसरे को ही कारण मानना जरूरी है, उसी वाचक को दोनों जगह कारण मानना ठीक नहीं

कारण कि यदि अर्थों का ज्ञापक हेतु एक ही होगा तो उनके ज्ञान में क्रम नहीं रहेगा। और यह जो माना जाता है कि 'प्रत्येक अर्थ के साथ शब्द बदलता है'—इसका भी विरोध होगा। इसलिये उन दोनों अर्थों के ज्ञापक शब्दों में भी भेद मानना ही चाहिये। वह (भेद) या तो आवृत्ति द्वारा हो सकता है या प्रयोजन, प्रकरण आदि द्वारा। किसी के द्वारा हो हमारा उसमें कोई आग्रह नहीं; हमारा कहना केवल इतना ही है कि और किसी से अर्थ का ज्ञान होता हुआ स्वीकार करने पर उसका अनुमान में अन्तर्भाव साफ ही है, क्योंकि जो उसका ज्ञान करायेगा वही अनुमापक = हेतु बन जाएगा। इस प्रकार अभी तक जो दूसरे अर्थों की प्रतीति में शब्द की अनेकार्थतामात्र को कारण माना जा रहा है वह कवियों (विद्वानों) का भ्रम ही है। इसलिये शब्द की अतिरिक्त शक्ति मानने की कोशिश निरर्थक ही है। और इस प्रकार इस वाच्य से भिन्न अर्थ की जब प्रतीति ही नहीं है, तब अप्रस्तुत = असंबद्ध—अर्थ के कथन की कल्पनामात्र से उनके उपमानोपमेयभाव की कल्पना करना भी बे सिर-पैर की बात है।

किञ्च न स्वभावत एव शब्दानामर्थप्रतीतिक्रम इति नियमसम्भवः, किन्तर्हि ? ; सामग्रीवशात्। सा हि यदर्थानुगुणा उपलभ्यते तमेव तस्यार्थं कल्पयतीति सर्वः शब्दः सर्वार्थविषयः सर्वश्चार्थः सर्वशब्दविषयो भवितुमर्हति। ततश्च अतदर्थोऽप्यन्यः शब्दः सामग्रीवशात् समासोक्तिन्यायेन तमवगमितुं क्षमेतैव, न पुनस्तदर्थोऽपि सामग्रीविकलो गवादिशब्दः।

आस्तां वान्यः शब्दो, यः साधुत्वेन प्रसिद्धः। असाधुरपि यावत् तद्वशादनुमितवाचकभावोऽभिमतमर्थमभिदधात्येवेति सामग्रीसद्भावान्वयव्यतिरेकानुविधायिनीयमर्थान्तरप्रतीतिरित्यवसीयते। यदाहुः—

'असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते।
वाचकत्वाविशेषेऽपि नियमः पुण्यपापयोः ॥' इति।

न चैतावता तस्यापशब्दत्वं कल्पयितुं युक्तम्। यतः शब्दस्तावच्छब्द्यते विमृश्यतेऽभिधीयतेऽनेनार्थ इति शब्दनक्रियाकरणभावोपपन्नोऽर्थः कथ्यते। स च त्रिविधः। साधुरसाधुरपशब्दश्चेति। लक्षणानुगतः साधुः प्रकृतिप्रत्ययादिविभागपरिकल्पनया लक्षणेनानुगम्यत इति। यतोऽन्योऽसाधुरव्युत्पन्नो डित्थादिवत्। शब्दादपेतोऽपशब्दः योऽर्थं न प्रतिपादयति विगुणसामग्रीक इत्यर्थः।

एवञ्च साधुशब्दस्यापि सामग्रीवैगुण्येनावाचकत्वादपशब्दत्वमुपपन्नं भवति। ततश्च वाचकत्वावाचकत्वमात्रनिबन्धने शब्दापशब्दत्वव्यवहारे व्यवस्थिते सति ये केचिदितिहासपुराणादावागमशास्त्रादौ च क्वचित् केषाश्चिच्छब्दानामसाधुत्वादपशब्दत्वमुद्भावयन्ति ते प्रत्युक्ता भवन्ति।

'शब्द जिन अर्थों का कथन कराते हैं, उनमें ज्ञान का आगे पीछे होना (क्रम) अपने आप होता है ऐसी कोई बात नहीं है, वह तो कारणों से होता है। वे कारण जिस अर्थ के अनुरूप मिलते हैं उसी अर्थ को उस शब्द का अर्थ मान लिया जाता है, इसलिये प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का ज्ञापक हो सकता है, और प्रत्येक अर्थ प्रत्येक शब्द का ज्ञाप्य। इस कारण जो शब्द जिस

अर्थ का वाचक नहीं होता, वह भी सामग्री के आधार पर समासोक्ति के समान इस अर्थ का ज्ञान करा ही सकता है। और उस अर्थ का वाचक होने पर भी सामग्रीरहित गोआदि शब्द उस अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता। अथवा उसे दूसरा ही शब्द मान लिया जाय जो कि साधु (संस्कृत और अभिधाशक्तिसम्पन्न) शब्द रूप से प्रसिद्ध है। (तब भी) हमारा तो यह कहना है कि असाधु शब्द भी सामग्री (कारण विशेष) होने पर अपने वाचकत्व का अनुमान करा लेता है और विवक्षित अर्थ का अभिधान करता ही है, इसलिये दूसरे अर्थ की प्रतीति सामग्री के अन्वय-व्यतिरेक का अनुगमन करती है (अर्थात् सामग्री के होने पर वह होती है न होने पर नहीं)—यही बात बनती है। जैसा कि कहा है—'कुछ लोग असाधु शब्दों को भी अनुमान द्वारा वाचक मान लेते हैं। वैसा होने पर वाचकता सभी अर्थों में बराबर ही होती है—इतने पर भी पुण्य और पाप बराबर नहीं होते।' इतने पर से उसे अपशब्द नहीं माना जा सकता। क्योंकि शब्द उस वस्तु को कहते हैं, जिसमें—'शब्दित किया जाता है, विमृष्ट किया जाता है या अभिधान द्वारा कहा जाता है—अर्थ जिससे'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्दन = कथन नामक क्रियाकारिता रहती है। वह तीन प्रकार का होता है, साधु, असाधु और अपशब्द। जो लक्षणानुगत होता है वह साधु कहलाता है। जो लक्षणानुगत का अर्थ है—प्रकृति, प्रत्यय आदि के विभाग की ठीक-ठीक व्यवस्था कर अपने स्वरूप में आया। उससे भिन्न असाधु होता है, वह प्रकृति, प्रत्यय की व्युत्पत्ति से रहित होता है, जैसे डित्थ। अर्थज्ञापक व्यापार से रहित शब्द अपशब्द होता है, जो अर्थ का ज्ञान नहीं कराता अर्थात् जिसकी कारण-सामग्री ठीक नहीं होती। इस प्रकार यदि कारण-सामग्री ठीक नहीं हो तो साधु शब्द भी अपशब्द हो जाता है। कारण कि वह किसी भी अर्थ का वाचक नहीं होता। इस प्रकार जब शब्दत्व और अपशब्दत्व की व्यवस्था वाचकत्व और अवाचकत्व पर मान ली गई तब जो लोग इतिहास, पुराण और शास्त्रों में कहीं-कहीं किन्हीं शब्दों को असाधत्व के कारण अपशब्द बतलाया करते हैं—उनका मुँह बन्द हो जाता है।

अस्मान् प्रति पुनरविषये प्रयुज्यमानः शब्दोऽपशब्द इति। तद्यथा—

'मधुकरैरपवादकरैरिव स्मृतिभुवः पथिका हरिणा इव।
कलतया वचसः परिवादिनीस्वरजिता रजिता वशमाययुः॥' इति।

अत्र हरिणानामुपमानत्वादप्राधान्यमविगणय्यैव यः कविना रञ्जिलुंप्तानुनासिकः प्रयुक्तः सोऽपशब्द एव तत्प्रयोगस्योपमेयार्थानुगुण्येनोपपन्नत्वात्, तस्यैव प्राधान्यात्, प्रधाने च कार्यसम्प्रत्ययोपगमात्। केवलमप्रधानापेक्षया शब्दसंस्कारविपरिणामेन व्याख्यानमत्र श्रेयो न पुनस्तस्य प्रयोगः। युज्येत पुनरेतद् यदि पथिकानां हरिणतया रूपणं स्याद् आरोपो वा, यथा—'स्मृतिभुवो वत पान्थमृगव्रजा' इति, यथा वा—'स्मृतिभुवः पथिका हरिणव्रजा' इति। अन्यथा त्वपशब्द एवायमविषये प्रयुक्तत्वाद् अस्वगोण्यादिशब्दवत्। यदुक्तम्—

'अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे।
निमित्तभेदात् सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम्॥' इति।

हमारे लिये तो वे ही शब्द अपशब्द हैं, जो जिस अर्थ में प्रयुक्त नहीं किये जाने चाहिये उस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

'वाणी की मधुरता से वीणा के स्वर को जीतने वाले या उससे जीते गये आसक्त (रजित) पथिकों को हरिणों के समान अपवाद करो जैसे भौरों ने स्मृतिभू के वश में कर दिया'।

रजिता = आसक्त, अनुरंजित।

स्मृतिभू = काम, हिरण के पकड़ने का गड्ढा।

अपवाद—विश्वास, हिरण पकड़ने के लिये बजाया जाने वाला (घंटा आदि) छोटा बाजा।

रजित—'रञ्जि' धातु का प्रयोग मृगों को लुभाने के लिये होता है तो उसके 'न' का लोप हो जाता है। —'रञ्जेर्णौ-मृगरमणे नलोपो वक्तव्यः' वा-४०६७।

यहाँ हरिण उपमान है। अतः अप्रधान है। उनकी अप्रधानता को विना विचारे ही कवि ने 'रञ्जि' धातु को विना नकार के प्रयुक्त कर दिया। वह अपशब्द है। उस (रञ्जि) का प्रयोग उपमेय के अनुरूप ही हो सकता क्योंकि वही प्रधान है। जो प्रधान होता है उसी में कार्य (विशेषण) का निश्चय माना जाता है। (इसलिए यहां प्रयोग होना था रञ्जिताः का और) उसको बदलकर (रञ्जित) करना चाहिये था। अप्रधान (उपमान) के लिये। उस (अप्रधान के लिए बदलने योग्य) शब्द (रजित) का प्रयोग नहीं। यह भी ठीक हो सकता यदि पथिकों का हरिणरूप से निरूपण किया गया होता या पथिकों पर हरिण का आरोप किया गया होता। वह इस प्रकार हो सकता था—'स्मृतिभुवो वत पान्थमृगव्रजाः' या 'स्मृतिभुवः पथिका हरिणव्रजाः'। ऐसा न करने से वह अपशब्द ही है। उसका प्रयोग जहां नहीं करना चाहिये वहां किया गया है। अतः वह भी गोपी आदि के समान अपशब्द है। कहा भी है—'अस्व, गोणी आदि शब्द दूसरे क्षेत्र में साधु हैं। साधुत्व की व्यवस्था निमित्त के भेद से सर्वत्र है अर्थात् कारणभेद से प्रत्येक शब्द साधु होता है।'

शब्दप्रयोगः कर्त्तव्यः प्रधानार्थव्यपेक्षया।
तदन्यापेक्षया त्वर्थादेनं विपरिणामयेत् ॥ १ ॥
विपरीतमतो यत् स्यादपशब्दः स मां प्रति।
हेतुर्ध्वनेश्चायमेव प्रयोगपरिणामयोः ॥ २ ॥
परिणामो बहुविधो वाचो लिङ्गादिभेदतः।
स च प्रसिद्ध एवेति नास्माभिरिह दर्शितः ॥ ३ ॥

इति संग्रहश्लोकाः।

संक्षेप में—'शब्द का प्रयोग प्रधान अर्थ को देखकर करना चाहिये। दूसरे के लिए उसका ऊपर से विपरिणाम (परिवर्तन) कर लेना चाहिये। जो इसके विपरीत होता है, वह हमारे लिये अपशब्द है। यहाँ ('दत्तानन्दाः' में) यही ध्वनि का हेतु माना गया है। शब्द के प्रयोग और परिणाम में से परिणाम कई प्रकार का होता है, उसके लिंग आदि का भेद होते हैं। वह तो प्रसिद्ध ही है अतः हमने उसे नहीं दिखलाया।

विमर्श : रञ्जि धातु का 'रजित', शब्द विशेषण है। वह प्रधान विशेष्य में लगता है। प्रधान विशेष्य होता है उपमेय। उपमेय पथिक और पथिक अर्थ में रञ्जि का नकार लुप्त नहीं होता। वह जिसके लिए प्रयुक्त होने पर लुप्त होता है वह है हरिण। और हरिण यहाँ उपमान होने से अप्रधान है अतः रजित का हरिण के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। फलतः रजित केवल पथिक का विशेषण बनता है। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से वह पथिक के लिये अशुद्ध है

ग्रन्थकार ने इसके दो उपाय बतलाए हैं। एक तो—पथिक पर हरिण का आरोप और दूसरा रूपण। ये दोनों हैं एक ही वस्तु। प्रयोग के भेद से दोनों—भिन्न माने जा सकते हैं। इनके प्रयोग भी ग्रंथकार ने उपस्थित किये हैं। ग्रन्थकार की यह मान्यता है—कि यहाँ पथिक का हरिण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है न आरोप और न रूपण। मल्लिनाथ यहाँ लिखते हैं—इह उपमानमृगसादृश्या-दौपचारिकं मृगत्वमुपमेयेषु पथिकेष्वस्तीत्यविरोधः। अर्थात् सादृश्य के कारण उपमान मृग का उपमेय पथिक पर आरोप है।' परन्तु ऐसी मान्यता का कोई शाब्दिक आधार उस पद्य में नहीं है। वह तभी सम्भव था जब—'पथिका मृगाः' या 'पथिकमृगाः' ऐसा पाठ होता। इसीलिये 'रजिताः' अशुद्ध ही है। अतः अपशब्द ही है। ग्रन्थकार का सुझाव है कि ऐसी जगह 'रञ्जिताः' प्रयोग होना था। हरिण पक्ष में लगाने के लिये उसे 'रजिताः' बना लिया जाता।

यद्यपि च केचिदाचक्षते समानायामर्थगतौ शब्देनापशब्देन च शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते साधुभिरेव भाषितव्यं नासाधुभिरिति, तत्र कूपखानक-वद् वृत्तिर्भविष्यतीत्यादिना तैरेव प्रतिविहितम्। सा चेतिहासपुराणागमशा-स्त्रेष्वप्यस्त्येवेति नागमविरोधः। त्रिविधं हि शास्त्रं शब्दप्रधानमर्थप्रधान-मुभयप्रधानञ्चेति। तत्र शब्दप्रधानं वेदादि अध्ययनादेवाभ्युदयश्रवणात् मनागपि पाठविपर्यासे प्रत्यवायश्रवणाच्च। अर्थप्रधानमितिहासपुराणादि तस्या-र्थवादमात्ररूपत्वात्। उभयप्रधानं सर्गबन्धादि काव्यं तस्य रसात्मकत्वाद् रसस्य चोभयौचित्येन परिपोषदर्शनात्। काव्यस्यापि शास्त्रत्वमुपपादित-मेव। तदेवं यदर्थप्रधानमिष्यते तच्छ्रवणधारणार्थावबोधानुष्ठानोत्थितेन धर्मे-णासाधुशब्दोदीरणोदितोऽधर्मः प्रतिहतो भवतीतीयमसौ कूपखानकवृत्तिः। धर्मस्य तदुत्थितत्वमुपगतमेव—

'यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥' इति।

यद्यपि कुछ लोग कहते हैं कि 'अर्थ का ज्ञान शब्द और अपशब्द दोनों से बराबर होता है। शास्त्र तो उसपर धर्म (कर्त्तव्य) की व्यवस्था देता है कि साधु शब्दों से ही व्यवहार करना चाहिये, असाधु शब्दों से नहीं।' इस पर उत्तर भी उन्हीं लोगों ने दिया है कि कूपखानक के समान वहाँ काम चलेगा। यह स्थिति इतिहास, पुराण आदि में भी है। अतः आरम्भ का कोई विरोध नहीं। शास्त्र तीन प्रकार के होते हैं—शब्दप्रधान, अर्थप्रधान और उभयप्रधान। उनमें शब्दप्रधान है वेद आदि। श्रुति का कहना है उनमें पाठमात्र से अभ्युदय होता है और थोड़े से पाठभेद से अनिष्ट होता है। अर्थप्रधान होते हैं इतिहास, पुराण आदि। वे केवल अर्थवादस्वरूप होते हैं। उभयप्रधान होते हैं महाकाव्य। वे रसात्मक होते हैं और रस शब्द और अर्थ दोनों के औचित्य पर परिपुष्ट होता है। हमने काव्य की शास्त्रता भी सिद्ध की है। इस प्रकार जो वस्तु अर्थप्रधान होती हैं उसके सुनने-समझने और अर्थ जानने से जो धर्म उत्पन्न होता है उससे असाधु शब्द के उच्चारण से उत्पन्न अधर्म समाप्त हो जाता है, यही कूपखानकवृत्ति है। धर्म उससे होता है—ऐसा माना ही गया है—जो वाणी का उपयोग जानता है और चतुर व्यवहारकाल में शब्दों को ठीक-ठीक बतलाता है वह दूसरों पर अनन्त विजय प्राप्त करता है। वह अपशब्दों से दूषित भी होता है।

विमर्श: 'चापशब्दैः' पाठ की जगह अन्य पुस्तकों में 'नाथ शब्दैः' भी पाठ है।

कूपखानकः—कुँआ खोदने वाले। जैसे वे खोदते समय शरीर में लगी मिट्टी को खोदने से निकले जल से धोकर निर्मल हो जाते हैं वैसे ही प्रकृत में इतिहास, पुराण, काव्य आदि में दिए अपशब्द से उत्पन्न अधर्म साधुशब्दों द्वारा उत्पन्न धर्म से धुल जाना है।

असाधुश्चापशब्दश्च द्विधा शब्दः प्रकीर्त्तितः।
तत्रासाधुर्न साध्यो यः प्रकृतिप्रत्ययादिभिः॥ ४॥
शब्दादपेतोऽपशब्दः शब्दनाकरणात्मनः।
शब्दना हि परामर्शो वाच्यार्थविषयोऽस्य यः॥ ५॥
एवञ्चासाधुशब्दोऽपि नापशब्दत्वमर्हति।
न सोऽप्यभ्येति साधुत्वं तयोर्विषयभेदतः॥ ६॥
ततश्च—सामर्थ्यादेव शब्दस्य विषयेऽवगते सति।
न प्रयोगोऽस्य न ह्येष स्वनिष्पत्त्यै प्रवर्त्तते॥ ७॥
अत एव प्रकृत्यर्थमात्रं तत्र प्रयुञ्जते।
सङ्ख्यासाधनकालादेरानुगुण्यानपेक्षिणः॥ ८॥
इयता चापशब्दत्वं न तेषामवकल्प्यते।
अर्थेषु शब्दनाकर्मकरणत्वानपायतः॥ ९॥
असाधूच्चारणाद् यस्तु तत्राधर्मः प्रवर्त्तते।
कूपखानकवद्वृत्तेः सोऽर्थज्ञानान्निवर्त्तते॥ १०॥
अथवार्थपरिज्ञानमास्तां तत्पठनादपि।
धारणादपि वा पुंसां श्रूयतेऽभ्युदयः परः॥ ११॥

इति संग्रहश्लोकाः।

संक्षेप में—शब्द दो प्रकार का माना गया है, असाधु और अपशब्द। उनमें वह असाधु है जो प्रकृतिप्रत्यय आदि से साध्य नहीं होता। 'शब्दनारूप' शब्द-व्यापार से रहित शब्द अपशब्द होता है। शब्दना शब्द के वाच्यार्थ का ज्ञान करानेवाली शक्ति है। इस प्रकार असाधु शब्द भी अपशब्द नहीं कहा जा सकता। वह साधु नहीं हो पाता। क्योंकि दोनों के विषयों में (ज्ञाप्य अर्थों में) भेद है। इसलिए—शब्द के अर्थ का ज्ञान सामर्थ्य से ही हो जाता है तो इस (शब्द) का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये। यह अपनी निष्पत्ति के लिये समर्थ नहीं होता। अतएव शब्द के लिये—केवल प्रकृति का प्रयोग होता है। वह अपने आप में—वचन, कारक, विभक्ति और काल आदि की अपेक्षा नहीं रखता। इतने से उन्हें अपशब्द नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनमें अर्थ का ज्ञान कराने की क्षमता का अभाव नहीं रहता। वाक्य-प्रयोग में असाधु शब्दों के उच्चारण से जो अधर्म पैदा होता है वह कूपखानक के व्यवहार के समान अर्थज्ञान से दूर हो जाता है। या यह कहा जा सकता है कि उन अपशब्दों के पाठ से केवल अर्थज्ञान हो। उनके भी अर्थज्ञान से तो अभ्युदय समझा सुना जाता है।

तस्मादुपपत्तिशून्य एवायं गतानुगतिकतया अनेकार्थशब्दप्रयोगविप्रलब्धव्याख्यातृपरम्परासमयमात्रप्रवर्त्तितः शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपार्थान्तरप्रतीतिपक्षः।

व्याख्यातारोऽप्यलीकविद्वन्मानितया प्रायेणापव्याख्यानैर्न केवलमात्मानं यावत् तत्रभवतो महाकवीनपि ह्रेपयन्तो दृश्यन्ते। तद्यथा—

'तां जानीयाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठागुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बाला
जाता मन्ये शिशिरमथिता पद्मिनीवान्यरूपा॥'

इत्यत्र पाठमिममनुद्बुध्यैव कलितकविहेवाकाः पराकृतप्रतीतिचारुतातिशयास्ते

'अवैमि तदवज्ञानाद्यत्नापेक्षो मनोरथः।'

इत्यादौ दृष्टामपि वाक्यार्थकर्मतां मन्यतेरपश्यन्तो बालायाः कर्मतामस्य मन्यमानाः स्वरसन्धिवशाद् विकृतमिवशब्दमेव भ्रमाद् वाशब्दं परिकल्प्यापव्याख्यामारभन्ते। न चैवमर्थस्य वैचित्री काचित् समुन्मिषति। नापि महाकवेः कालिदासस्यान्वयगतिरियं क्वचनापि प्रबन्धेऽवधारितपूर्वा यदयं रसनिधाने काव्ये व्याधिमिव वाशब्दमिवार्थे प्रयुञ्जीतेति।

कथं तर्हि 'चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली'ति तस्यैव कवेरयं प्रयोगः। उच्यते। श्लिष्टत्वादविभावितार्थपाठेन केनचित् कल्पितोऽयं पाठः। स हि जलधिर्निशीवेति द्रष्टव्यः।

इसलिये शब्दशक्तिमूलक अनुकरणनरूप—जो दूसरे अर्थ की प्रतीति की बात है वह तर्कशून्य है। वह तो एक पिटी-पिटाई बात है। अनेकार्थक शब्दों के जाल में पड़कर व्याख्याता लोगों ने भ्रमवश उसे फैला दिया है। व्याख्याकारों की ऐसी कुछ खोटी स्थिति है कि वे गलत व्याख्या द्वारा अपने आप को ही नहीं उन पूज्य महाकवियों को भी लजाते रहते हैं। जैसे उदाहरणार्थ—तुम उस कम-बोलने वाली को मेरा द्वितीय प्राण समझो, चक्रवाकी के समान मुझ साथी के छूट जाने पर वह अकेली होगी। गहरी हूक से बीते हुए इन पहाड़ जैसे दिनों में वह बेचारी शिशिर ऋतु से मसली गई पद्मिनी के समान और की और हो गई होगी (मेघदूत)। यहाँ इस (ग्रन्थकार द्वारा दर्शित) पाठ को न जानकर कवि के आशय को समझाने की चेष्टा करने वाले व्याख्याताओं ने सौन्दर्य की जो पराकाष्ठा यहाँ है उसे ध्यान में नहीं रखा। जैसा कि—'उसकी अवज्ञा से तुम्हारी इच्छा प्रयत्न से सफल होगी—ऐसा मानता हूँ' (रघुवंश-१) इत्यादि में देखा जाता है कि 'मन्ये, अवैमि' आदि में जो 'मानने' अर्थ की क्रिया आती है उसका कर्म होगा वाक्यार्थ,—सो उन व्याख्याताओं ने इस ओर भी ध्यान नहीं दिया। और (बालाम्—पाठ मानकर) उसका कर्म 'बाला'—को माना। उन्होंने स्वर-सन्धि के कारण बदले 'इव' शब्द को भ्रमवश 'वा' शब्द समझ लिया। और गलत व्याख्या कर दी। इस प्रकार की व्याख्या से अर्थ की कोई विचित्रता समझ में नहीं आती। और महाकवि कालिदास के किसी भी काव्य में इस प्रकार का अन्वय नहीं देखा जाता। जिससे यह मान लिया जाता कि वह (कालिदास) रस के निधान इस (मेघ) काव्य में 'इव' शब्द के अर्थ में व्याधि जैसे इस 'वा' शब्द का प्रयोग करता।

शंका—(यदि कालिदास में इतनी शक्ति मानी जा रही है कि वह दोष कर ही नहीं सकता)

तो फिर 'चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली'—(रघुवंश ५।६१)—इस पद्यांश में उसी कवि का (ऊर्मि शब्द के दो बार प्रयोग के कारण कथित-पदत्व दोष होने से प्रयोग कैसे ठीक माना जाय ?)

उत्तर—वस्तुतः यहाँ 'चन्द्रं प्रवृद्धो जलधिर्निशीव' पाठ था। श्लेष के कारण अर्थ न समझकर किसी ने उसे बदल दिया है।

विमर्श : 'ऊर्मिमालीव' इस प्रकार ऊर्मिमाली के बाद प्रयुक्त होने योग्य 'इव' पद का प्रवृद्धोर्मि के बाद जो प्रयोग हुआ, वह अस्थानस्थपदत्वदोप से दूषित हुआ। यह दोष सुधारे गए पाठ में तदवस्थ है। क्योंकि सादृश्यवाचक सदा उपमान के बाद ही प्रयुक्त होते हैं। काव्य-प्रकाशकार ने—'यथेववादयः शब्दा यत्परास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिः' इस प्रकार उक्त तथ्य दशम उल्लास स्पष्ट भी किया है।

यथा च—'ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय पान्थ ! वसतिर्नैवाधुना दीयते
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा।
तेनोद्गाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत्कृतं
येनाद्यापि करङ्कदण्डपतनाशङ्की जनस्तिष्ठति ॥'

इत्यत्र हि काचित् वसतिं प्रार्थयमानं पथिकयुवानमुद्दिश्योत्पन्नमन्मथ-व्यथावेशा तस्यान्यानुरागितामाशङ्कमाना दारुणतरपरिणामोऽन्यासक्तजनानुराग इति न चेदसि कस्याश्चिदनुरक्तस्तदिदमखिलमेव गृहम्, अयं च जनस्त्वायत्त एवा, अन्यथा गम्यतामिति स्वाभिप्रेतमर्थमस्मै निवेदयितुकामा पूर्ववृत्तान्तं वसतिविहितोपकारकामिनीमरणावेदनफलं वक्तुमुपक्रमत इति तदभिप्रायमविद्वांसस्ते पुरुषवधावेदनं तदिति मन्यमानास्तथैवापव्याचक्षते।

तच्चायुक्तमेव रसभङ्गप्रसङ्गात्। उभयोरनुरागातिशययोगेऽपि पुरुषवधवर्णनस्यात्यन्तमनुचितत्वात् खलार्थकरणार्थयोरसङ्गतिप्रसङ्गात्।

न हि योऽस्ववशः सन् म्रियते तस्य तन्मरणं यद्यपि कस्यचिदुपकारायापकाराय वा स्यात् तदपेक्षमस्य सौजन्यं खलत्वं वा न शक्यं व्यपदेष्टुम्। तावभिसन्धाय मरणे तस्य तद्व्यपदेश्यत्वोपपत्तेः, अन्यथातिप्रसङ्गादिति तन्मतानुविधायिनोऽन्धपरम्पराक्रमेण व्याख्यातारोऽद्यापि तेनैवोपपत्त्यतिपातिना पथा सञ्चरन्त इति स्थितम्।

और जैसे—'अब इस गाँव में राहगीरों को ठहरने नहीं दिया जाता। बीती रात को यहाँ कोई युवा पथिक विहार-मण्डप के नीचे सो गया। जब मेघ गरजे तो प्रिया का स्मरण कर उस दुष्ट ने चिल्ला कर ऐसा किया कि अब तक सब लोग करंक दण्ड के भय से व्याकुल है।'—यहाँ किसी ऐसी स्त्री ने जो ठहरने की प्रार्थना कर रहे किसी रास्तगीर युवक पर कामाविष्ट हो गई और उसमें किसी और स्त्री के प्रति अनुराग की शंका कर यह सोचने लगी कि दूसरी स्त्री पर आसक्त व्यक्ति से किये गये प्रेम का फल बड़ा ही दारुण होता है, उसने उस युवक से कहा कि यदि किसी और को नहीं चाह रहे हो तो यह सारा ही घर तुम्हारा है और यह जन भी तुम्हारे अधीन है। यदि ऐसा न हो तो जाओ।' इस प्रकार अपने अभिप्राय को उस युवक को बतलाने की इच्छा से उस नायिका ने पहले कभी हुई ऐसी घटना को कहना आरम्भ किया जिससे निवास स्थान देने का

उपकार करने वाली किसी स्त्री के मरने की सूचना मिली। इस अभिप्राय को न जानते हुये लोगों ने इस पद्य को पुरुषवधपरक माना और उसीसे वैसी ही गलत व्याख्या की। वह बिल्कुल गलत है। उससे रसभङ्ग होता है। स्त्री-पुरुष दोनों का अनुराग बराबर होने पर भी पुरुष का वध बतलाना अत्यन्त अनुचित है। 'खल' शब्द का और 'कृतम्' शब्द का अर्थ भी उस व्याख्या में नहीं जमता। यह हो सकता है कि जो किसी दूसरे के वश में होकर मरे उसका वह मरण किसी के उपकार या अपकार के लिये हो, परन्तु वह उस व्यक्ति में खलत्व या सौजन्य का साधक नहीं हो सकता। यदि उपकार और अपकार मन में रख कर मरना हो तो उससे मरने वाले में सौजन्य और दौर्जन्य कहे जा सकते हैं, और नहीं तो यह बात और भी आगे बढ़ जायेगी (अर्थात् सौजन्य के कारण मृत को सज्जन और दौर्जन्य के कारण मृत को खल न कहा जाया। मृत्यु-मूलक सुजनता को भी दुर्जनता कहा जा सकेगा और दुर्जनता को भी सुजनता।) इस प्रकार की व्याख्या करने वालों के मत का अनुकरण करने वाले अन्धी परम्परा से व्याख्या करते आये हैं और आज भी उसी युक्तिरहित मार्ग पर चल रहे हैं।

ननु—यावद्भिरर्थैः सम्बन्धः प्राक्छब्दस्यावधारितः।
तावत्स्वन्यनिराशंसः श्रुतः सन् कुरुते गतिम्॥ १२॥
ततो यदर्थानुगुणा सामग्र्यस्योपलभ्यते।
स एवार्थो व्यवस्थाप्यः सत्स्वप्यन्येष्ववाधितः॥ १३॥
तेनोभयार्थानुगुणो व्यनक्त्यर्थावुभावपि।
ययोः सामर्थ्यतः सिध्येदुपमानोपमेयता॥ १४॥
इत्थमर्थान्तरे बुद्धिं ध्वनिरेवादधात्ययम्।
तन्निबन्धननिर्बन्धो निर्निबन्धन एव सः॥ १५॥
एवञ्चात्मन्यधिक्षेप्ये किमर्थं तत्त्वदर्शिनः।
व्याख्यातारोऽप्यधिक्षिप्ता मोहात् को वेत्ति वा हितम्॥ १६॥

(शङ्का)—जितने अर्थों से शब्द का सम्बन्ध जाना हुआ रहता है वह शब्द सुनाई देते ही उतने अर्थों का ज्ञान कराता है, वह उनसे भिन्न अर्थों में कोई गति नहीं रखता (निराशंस)। उसके बाद शब्द की सामग्री जिस अर्थ के अनुरूप मिलती है वही अर्थ स्थिर किया जाता है, भले ही वह अन्य अर्थों में निर्बाध हो। इसलिए दो अर्थों के अनुरूप (उन्हें बतलाने में सक्षम)। शब्द दोनों अर्थों का ज्ञान कराता है; उन अर्थों में उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध अपने आप सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार दूसरे अर्थ का ज्ञान ध्वनि (व्यञ्जना) ही कराती है और उसके (निबन्धन) कारण पर आग्रह निर्मूल ही है। इस प्रकार ग्रन्थकार खुद उपहसनीय हैं; उसने तत्त्वद्रष्टा व्याख्याकारों को नाहक उपहसनीय कहा। जिसे मोह हो जाता है वह ऐसा कौन है जो हित को जान सके?'

उच्यते—यद्यप्यर्थेषु सर्वेषु प्राक्छब्दः कुरुते मतिम्।
तथापि तद्व्यवस्थार्थं विशेषणमपेक्षते॥ १७॥
तद्वत् तद्वदनेकार्थं मुख्योऽर्थः कोऽवतिष्ठताम्।
यस्तत्र प्राकरणिकः पौर्वापर्यगतिः कुतः॥ १८॥

सा चेत् प्रकरणाद् यो हि प्रकृतस्तस्य सा पुरः ।
पश्चादन्यस्य सामर्थ्यगम्या तस्योपमानता ॥ १९ ॥
यतो न तावतैवायं व्यापारो विरतो ध्वनेः ।
व्यापारविरतौ हि स्यान्न ततोऽर्थान्तरे मतिः ॥ २० ॥
ध्वनेरनेकार्थस्यापि यथा प्रकरणादिभिः ।
अनादृत्यैव तच्छक्तिं प्रस्तुतार्थविनिश्चयः ॥ २१ ॥
क्रियते तद्वदेवायं नेष्यतेऽर्थान्तरेऽपि किम् ।
को विशेषोऽस्य यदयं शब्दशक्तिनिबन्धनः ॥ २२ ॥
विशेषणानुगुण्यं चेदर्थान्तरगतेः पदम् ।
यतस्तदप्यनेकार्थमिष्टमेव विशेष्यवत् ॥ २३ ॥

(उत्तर)—ठीक है कि शब्द पहले तो अनेक अर्थों का ज्ञान कराता है, इतने पर भी उसकी व्यवस्था के लिये विशेषण जरूरी होता है। यदि वह विशेषण भी विशेष्य के ही समान अनेकार्थक हो तो बतलाइए कौन सा अर्थ प्रधान समझा जाय ? यदि कहा जाय कि जो प्राकरणिक हो वही प्रधान समझा जाय तो प्रश्न उठता है कि पूर्वापरभाव का ज्ञान कैसे हो ? (अर्थात् प्राकरणिक पहले या अप्राकरणिक) यदि पौर्वापर्यज्ञान को प्रकरण से उत्पन्न मान लिया जाय तो यह बात आती है कि जो अर्थ प्राकरणिक होगा उसका ज्ञान प्रथम माना जायगा और सब अर्थों का बाद में। और उसके बाद के अर्थ का उपमानभाव भी बाद में (इसी शब्द के) सामर्थ्य से जान लिया जाता माना जाएगा। क्योंकि ध्वनि (शब्द) का व्यापार उतने (प्राकरणिक अर्थ का बोध कराने) से ही समाप्त नहीं हो जाता। यदि व्यापार समाप्त मान लिया जाय तो फिर दूसरे अर्थ का ज्ञान भी शब्द से नहीं होगा। शब्द (ध्वनि) अनेकार्थक होता है, इतने पर भी प्रकरणादि द्वारा उसकी (अन्य पदार्थों की) शक्ति का अनादर कर केवल प्राकरणिक अर्थ का ही ज्ञान माना जाता है, उसी प्रकार दूसरे अर्थों में भी क्यों नहीं माना जाता। यदि यह (प्रकृत) अर्थ प्रकरण की सहायता से ज्ञात होता है तो यदि दूसरे अर्थों के लिये साधारण (श्लिष्ट) विशेषण प्रयुक्त किए गए हों तो दोनों में अन्तर क्या रहता है। (अर्थात् यदि प्राकरणिक अर्थ में प्रकरण कारण है तो अप्राकरणिक अर्थ में श्लिष्ट विशेषण, तब दोनों का ज्ञान बराबर ही होना चाहिए) कारण कि विशेष्य के समान वह (विशेषण) भी तो अनेकार्थक माना ही जाता है।

अनेकार्थत्वमप्यस्य कुतस्तदवसीयते ।
एवमेवावसायश्चेद्विशेष्येऽवगतिर्न किम् ॥ २४ ॥
तत एव विशेष्याच्चेद् भवेदन्योन्यसंश्रयः ।
अथोभयपरामर्शादिष्यतेऽर्थान्तरे मतिः ॥ २५ ॥
स्यादेवं प्रकृतार्थश्चेत् सिध्येन्नायं तया विना ।
ततोऽनया विमर्शः स्यादन्यथातिप्रसज्यते ॥ २६ ॥
तस्मादनेकार्थत्वेऽपि विशेषणविशेष्ययोः ।
अर्थान्तरप्रतीत्यर्थं वाच्यमेव निबन्धनम् ॥ २७ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः ।

और विशेष्य की भी अनेकार्थकता जानी कैसे जाती है ? यदि कहें कि यूँ ही (विना कारण) तो फिर विशेष्य में भी (अनेकार्थकता का ज्ञान विना विशेषण की सहायता के) क्यों नहीं होता ? यदि कहें उसी विशेष्य से उसकी (विशेषण की) अनेकार्थता का ज्ञान होता है तो अन्योन्याश्रय दोष आएगा (विशेष्य अनेकार्थक प्रतीत हो तो विशेषण में अनेकार्थकता प्रतीत हो और विशेषण में अनेकार्थकता प्रतीत हो तो विशेष्य अनेकार्थक) यदि यह माना जाय कि दोनों के परामर्श से दूसरे अर्थ का ज्ञान होता है तो प्रकृत अर्थ भी अर्थान्तर के ज्ञान के बिना सिद्ध नहीं होता, इसका ज्ञान उसी (अर्थान्तरज्ञान) से होगा। ऐसा मानने पर अतिव्याप्ति होगी। (प्रकृत अप्रकृत-सापेक्ष है बिना अप्रकृत के प्रकृत का ज्ञान माना जाय तो फिर किसी भी अर्थ को प्रकृत माना जा सकेगा, अभिप्राय यह कि प्रकृत के अर्थ की प्रकृतता का निश्चय भी अप्रकृत अर्थ के ज्ञान पर निर्भर है।) 'इसलिये विशेषण और विशेष्य अनेकार्थक हों तो भी दूसरे अर्थ के ज्ञान के लिए वाच्यार्थ को ही कारण मानना पड़ता है।'

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि

अर्थशक्तिमूलः पुनरुपपद्यत एव धूमादिवाग्नेः सम्बन्धावधारणपुरस्सरीकारेण ततोऽर्थान्तरप्रतीतेरुपपादितत्वाद्, यथा 'एवं वादिनि देवर्षावि'त्यादौ लीलापत्रगणनं गौर्याः शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं रतिभावव्यभिचारिलक्षणं लज्जादिकमनुमापयतीत्युक्तम्।

सर्वोऽर्थः कवेः कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः स्वतस्सम्भवी वास्तु। नैतावता तस्य गमकतायां फलभेदः कश्चित्।

गम्यस्य पुनरर्थस्य प्राधान्यनिबन्धनो व्यपदेश इति तस्य प्रधानेतरभावेन द्वैविध्योपगमः सफल एव। तथाहि—

'प्राप्तश्रीरेव कस्मात् पुनरपि मयि तन्मन्थखेदं विदध्या-
निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः ॥' इति।

यत्र लक्ष्मीलाभलम्पटतया पयोनिधौ मन्थनव्यथावितरणं विलासालसतया योगनिद्रासुखास्वादो द्वीपान्तराधीशदशकन्धरनिधनधिया सेतुबन्धश्चेति भगवतो वासुदेवस्यामी व्यापाराः प्रसिद्धास्सन्तो यदन्यत्र राजादावारोप्य तस्य समीहितप्राप्त्या निषिध्यन्ते तेन तत्कार्यत्वात् कारणभूतभगवद्रूपतारोपमेव तत्रानुमापयन्तीति रूपकानुमितिरिति व्यपदेशः प्रवर्त्तते।

धूम से अग्नि के सम्बन्ध का ज्ञान जैसे व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध के ज्ञान से होता है उसी प्रकार अर्थशक्तिमूलक अर्थान्तर की प्रतीति भी उसी सम्बन्ध से होती हुई बतला दी गई है जैसे— 'एवंवादिनि देवर्षौ०' यहाँ पार्वती जी का लीलाकमल की पंखुड़ियों का गिनना स्थायीभाव रति के सञ्चारी, लज्जा आदि भावों का अनुमान शब्दव्यापार के बिना करा देता है।

सब अर्थ चाहे वे कविप्रौढोक्तिसिद्ध हों, कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध हों या स्वतःसम्भवी,

इससे उसकी अनुमापकता में कोई अन्तर नहीं आता। जो अर्थ गम्य होता है वह प्रधान होता है। अतः उसी के ऊपर उस काव्य का नाम रखा जाता है। इसलिये अर्थ को दो प्रकार का माना जा सकता ही है। प्रधान और अप्रधान। यथा—

जब तुम तट पर पहुँचते हो तो समुद्र कांपने लगता है, मालूम पड़ता है उसके मन में ये वितर्क उठते हैं—इसे श्री तो मिल ही चुकी है, अतः यह मुझे मथने का कष्ट पुनः क्यों करेगा, पहले जैसी नींद भी इसमें दिखाई नहीं देती क्योंकि इसका मन आलस्यरहित है, और इसके पीछे सभी द्वीपों के राजा चल रहे हैं अतः यह पुल भी फिर से क्यों बाँधेगा?—यह।

यहाँ १—लक्ष्मी पाने के लिये समुद्र को मथा।

२—अपनी इच्छा से आलसी बन कर योगनिद्रा का समुद्र में आनन्द लिया।

३—दूसरे द्वीप के रावण को मारने के लिये पुल बांधा—ये तीनों काम भगवान् विष्णु के लिये प्रसिद्ध हैं। किन्तु यदि ये राजा आदि पर आरोपित किये जाते हैं और उनका निषेध इष्ट फल-प्राप्ति हो जाने से किया जाता है तो वे अपने वास्तविक कारण उस राजा पर भगवान् विष्णु के आरोप का अनुमान कराते हैं—क्योंकि वे वस्तुतः विष्णु भगवान् के कार्य हैं। इसलिये इसे रूपकानुमिति कहा जाता है।

'ज्योत्स्नापूरप्रसरधवले सैकतेऽस्मिन् सरय्वा
वादद्यूतं सुचिरमभवत् सिद्धयूनोः कयोश्चित्।
एकः प्राह प्रथमनिहतं केशिनं कंसमन्यः
स त्वं तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम्॥' इति।

अत्र केशिकंसासुरयोः कतरो भवता पूर्वं हत इति योऽयं वधपौर्वापर्यविपर्ययानुयोगस्तस्य साक्षाद् भगवानेव विषयभावेन वक्तुमुचितो नापरो राजादिः, तयोरेव धूमाग्न्योरिव कार्यकारणभावप्रसिद्धेः। सोऽयमन्यविषयतयोच्यमानस्तत्र भगवद्रूपतारोपमन्तरेणानुपपद्यमानस्तद्रूपतामुपकल्पयंस्तयो रूप्यरूपकभावमनुमापयतीति रूपकानुमितिर्व्यपदिश्यते।

चाँदनी की फैली बाढ़ से सफेद इस सरयू की रेत में बड़ी देर तक किन्हीं दो सिद्ध जाति के युवकों का वादद्यूत हुआ। उनमें से एकने केशी नामक राक्षस को पहले मरा बतलाया—और दूसरे ने कंस को! अब आप ठीक बतलाइए कि आपने किसे पहले मारा? (यह बात किसी राजा से कही गई है) यहां जो यह प्रश्न किया गया है कि 'केशी और कंस में से आपने किसे पहले मारा'—यह साक्षात् भगवान् से पूछा जा सकता है, राजा आदि से नहीं क्योंकि (ये कार्य भगवान् के ही हैं) उन्हीं दोनों (उन कार्यों और भगवान्) का कारण-कार्य भाव धूम और अग्नि के समान प्रसिद्ध है। उसे जब दूसरे आदमी पर लादा जा रहा है तो यह उस आदमी पर भगवान् का आरोप कराता हैं। क्योंकि बिना आरोप के ये बातें उस राजा में नहीं बन सकतीं। इस प्रकार इस कथन से रूप्यरूपकभाव का अनुमान होता है। अतः इसे रूपक ध्वनि कहा जाता है।

'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि!।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जडराशिरयं पयोधिः॥' इति।

अत्रापि यदेतत् कस्याश्चिद् यथोदितगुणगणोदितसौन्दर्यसम्पदि वदने सति समुद्रसंक्षोभाविर्भावस्योचितस्यापि कुतश्चित् कारणादभावाभिधानं तत्तस्य पूर्णेन्दुरूपतारोपमन्तरेणानुपपद्यमानं मुखस्य ताद्रूप्यमुपकल्पयत् पूर्ववत् तयो रूप्यरूपकभावमनुमापयतीति रूपकानुमितिव्यपदेशो भवति।

केवलमिदमत्र विचार्यते—यदेतद्वदनेन्दुबिम्बसद्भावे सत्यपि पयोधेस्सलिलोल्लासलक्षणक्षोभाविर्भावनिबन्धनधिया सलिलसमूहमात्रपरमार्थः—'यन्नास्य काचन चेतनचमत्कारकणिका समस्तीत्ये'वमर्थतात्पर्येण जलराशित्वमुपात्तं तत् तस्य सदैव सन्निहितमित्यनारोपितरूपयामिन्दीरमणोदयसमयेऽपि नास्य संक्षोभाविर्भावो भवेत् तदापि जलराशित्वाविशेषात्।

हे चंचल और चौड़ी चितवनवाली! तेरा चेहरा अपना लुनाई और दमक से दिशाओं को लबालब भर देता है। जब यह मुसकुराता है उस समय भी (यह समुद्र) तनिक भर भी आन्दोलित नहीं होता तो यह समुद्र निश्चित ही जलराशि है।'

यहाँ भी रूपकानुमिति ही कही जाती है' यहाँ किसी सुन्दरी के तथावर्णित गुणगणों से उत्पन्न सौन्दर्य-संपत्ति वाला मुख होने पर भी समुद्र के संक्षोभरूप कार्य का जिसका होना उचित था किसी कारण से जो अभाव कहा गया वह उस (मुख) के ऊपर पूर्णचन्द्र के आरोप के बिना सम्भव नहीं। अतः मुख की तद्रूपता (चन्द्ररूपता) का अनुमान कराता है। यहाँ (हम) केवल इतना विचार करते हैं—कि यहाँ जो मुखरूपी चन्द्रबिम्ब के रहने पर भी समुद्र में ज्वाररूपी क्षोभ के अभाव की बात पैदा कर केवल भौतिक अचेतन तोयाशय के रूप में जो उसकी जलराशिता बतलाई जिससे यह अभिप्राय निकला कि इस समुद्र में चेतन-सुलभ हर्षोद्रेक आदि का लवलेश भी नहीं है, सो वह (जलराशिता) तो समुद्र में सदा रहती ही है। वास्तविक चन्द्रमा के उदित होने पर भी समुद्र में ज्वार नहीं आता, उस समय भी वह समान रूप से जलराशि रहता है।

अथ मदनोन्मादलक्षणक्षोभाविर्भावनिबन्धनबुद्ध्या सदसद्विवेकविकलोऽयं जड इति जाड्यप्रतिपादनपरतया तदुपादानमिति। एवमपि वदनस्य सौन्दर्यातिशयशालिनः सौभाग्यातिरेक एवानुमितो भवति, यथात्रैव पाठविपर्यासे सति—'यत् प्रह्वभावमुपयाति न, तेन मन्ये

सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः।' इति

न पुनः पूर्णेन्दुरूपत्वम्। तद्धि तत्कार्यस्य समुद्रसंक्षोभस्याविकलकारणतया सम्भाव्यमानोत्पादस्य सतः प्रतिबन्धकप्रत्ययबलादनुत्पादे सत्यनुमीयते नान्यथा। यथा—

'होइ ण गुणाणुराओ जडाण णवरं पसिद्धिसरणाण।
किर पह्नवइ ससिमणी चन्दे ण पियामुहे दिठ्ठे॥'

[भवति न गुणानुरागो जडानां केवलं प्रसिद्धिशरणानाम्।
किल प्रस्नौति शशिमणिश्चन्द्रे, न प्रियामुखे दृष्टे॥]

इत्यत्र प्रियामुखस्य पूर्णेन्दुरूपत्वं तत्कार्यस्य चन्द्रकान्तमणिप्रस्तुति-लक्षणस्य सम्भाव्यमानोत्पादस्य सतो जाड्यजनितप्रसिद्धिशरणत्वरूपप्रति-बन्धकप्रत्ययबलादनुत्पादे सत्यनुमीयते।

न चेह चन्द्रबिम्बकार्यस्य किमपि प्रतिबन्धकारणमुपात्तमिति कथं तस्य पूर्णेन्दुरूपतानुमितिसिद्धिः।

और यदि बुद्धि की जड़ता के अभिप्राय से यह कहा गया हो, जिससे यह प्रतीत हो कि कामिनी का मुख देखकर भी कामोन्माद-रूपी क्षोभ का आविर्भाव न होने से 'यह समुद्र अच्छे-बुरे का भेद करने की कुशलता नहीं रखता', तो इससे भी अतिशय सौन्दर्य से युक्त मुख की निरतिशय-प्रियता (सौभाग्य) अनुमानित होती है। जैसा कि इसी पद्य में पाठ बदलने पर—'यह प्रहता = चित्तद्रुति को प्राप्त नहीं होता तो समुद्र सचमुच जल(ड)राशि ही है [संस्कृत में 'ड' और 'ल' अभिन्न माने जाते हैं] किन्तु मुख के पूर्णचन्द्र स्वरूप होने का अनुमान नहीं होगा। वह तो तब अनुमित होता जब समुद्री ज्वार के सभी कारण उपस्थित होते और ज्वार सम्भव होता तब भी किसी प्रतिबन्धक (बाधक) के ज्ञान के कारण वह नहीं पैदा हो रहा होता। उसका अनुमान और किसी स्थिति में हो नहीं सकता। जैसे—

'जो जड़ होते हैं वे केवल प्रसिद्धि पर चलते हैं, उन्हें गुणों पर अनुराग नहीं होता। देखिये न चन्द्रकान्त का पत्थर पिघलता है केवल चन्द्रमा के उगने पर प्रियामुख के दिखाई पड़ने पर नहीं।

यहाँ प्रियामुख का पूर्ण चन्द्र स्वरूप होना चन्द्रकान्तमणि के पिघलने से अनुमित होता है क्योंकि पिघलना—चन्द्रोदय का कार्य है और यहाँ उसके अभाव में जडता से उत्पन्न प्रसिद्धि-परायणता को प्रतिबन्धक बतलाया गया है। किन्तु यहाँ (लावण्यकान्ति पद्य में) चन्द्रबिम्ब के कार्य (समुद्री ज्वार) का कोई भी बाधक नहीं बतलाया गया, इसीलिए उसके पूर्णेन्दु रूप होने का अनुमान कैसे हो सकता?

यत्र हि यत्कार्यस्य यत् प्रतिबन्धनिबन्धनभावेनोपकल्प्यते तत्र तस्यैव तदुपादाने सत्यवसायो नान्यस्य अतिप्रसङ्गात्।

मुखे च सौभाग्यातिरेककार्यस्य मदनोन्मादलक्षणस्य क्षोभस्याचेतनत्वं परमार्थजलराशित्वं प्रतिबन्धनिबन्धनभावेनोपात्तम्।

अतस्तस्यैव तत्र प्रतीतिरुपपन्ना न चन्द्रत्वादेः। अन्यथा कमलत्वादेरपि सा स्याद् विशेषाभावात्।

तस्मादुभयार्थसाधारणक्षोभपदप्रयोगमात्रविप्रलम्भकृतोऽयं मुखेन्दुबि-म्बयो रूप्यरूपकभावभ्रम इति स्थितम्। तस्मादेवमत्र पाठः कर्त्तव्यः-

'क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
रूपान्तरं पतिरपां किमपि प्रपन्नः।' इति।

अत्र हि न केवलं वदनस्येन्दुत्वं प्रतीयते, यावदपां पत्युः शृङ्गारित्व-मपि। तेन तव वदनेन्दूदये सत्यनेकसुन्दरीरूपलावण्यसम्पदामन्तरज्ञोऽप्य-पांपतिर्यन्न मनागपि क्षोभमुपयाति तन्मन्ये रूपान्तरं किमपि प्रपन्न इत्ययम-

र्थोऽवतिष्ठते। एष चानन्तरोक्तपाठार्थाद् विशिष्यते न वेति सहृदया एव प्रमाणमिति। यथास्थितपाठपक्षे तु नेदं रूपकानुमितेरुदाहरणमुपपद्यते।

जहाँ जिसके कार्य (फल) का जो प्रतिबन्धक कहा गया हो, वहां उस प्रतिबन्धक का उल्लेख होने से (जिसका फल हो) उसी वस्तु का अनुमान होता है अन्य किसी का नहीं, ऐसा करने से अव्यवस्था हो सकती है (आग-दियासलाई और मनुष्य-प्रयत्न का फल है आग की उत्पत्ति बाधक है—काड़ी का सीड़ खा जाना, सीड़ खा जाने का उल्लेख हो और आग उत्पन्न न होने का भी तो उससे दियासलाई का अनुमान होगा, लकड़ी चकमक पत्थर आदि का नहीं—) और मुख में सौभाग्यातिरेकरूपी कार्य काममद रूप क्षोभ के प्रतिबन्धक अचेतनता और वास्तविक जल (ड) राशित्व ये (दो) धर्म बतलाये गये हैं। इसलिये उस (सौभाग्य) की प्रतीति हो सकती हैं, चन्द्रत्व आदि की नहीं। नहीं तो फिर मुख में कमलत्वादि की प्रतीति भी मानी जानी चाहिये कारण कि उपर्युक्त नियम न मानने पर कोई अन्तर नहीं रहता। इसलिये बात यह तय हुई कि दोनों अर्थों में लगने वाले क्षोभ शब्द के प्रयोग से लोगों को मुख और चन्द्र के रूप्यरूपक भाव का भ्रम हो गया था। इसलिये यहां ऐसा पाठ बदल देना चाहिये।

इसमें थोड़ा भी क्षोभ नहीं हो रहा है अतः विदित होता है कि 'यह जलों का भण्डार किसी और ही रूप में आ गया है।' इसमें केवल मुख का चन्द्ररूप होना ही प्रतीत नहीं होता, जलनिधि समुद्र का शृङ्गारी होना भी प्रतीत होता है। उससे यह अर्थ निकलता है कि तुम्हारे मुखचन्द्र का उदय होने पर भी यदि यह समुद्र जिसने अनेक सुन्दरियों के रूप और लावण्य की सम्पत्ति का रहस्य अनुभव किया है थोड़ा भी चलायमान नहीं होता तो—मैं सोचता हूँ कि यह किसी और रूप में बदल गया है।' पिछले पाठ के अर्थ से यह अधिक अच्छा सिद्ध होता है या नहीं इसमें सहृदयगण ही प्रमाण हैं। पाठ जैसा का तैसा रखने पर तो यह रूपकानुमिति का उदाहरण नहीं माना जा सकता।

'वीराण रमइ घुसिणारुणम्मि ण तहा पिआथणुच्छङ्गे।
दिट्ठी रिउगअकुम्भत्थलम्मि जह बहलसिन्दूरे॥' इति।

[वीराणां रमते घुसृणारुणे, न तथा प्रियास्तनोत्संगे।
दृष्टी रिपुगजकुंभस्थले यथा बहलसिन्दूरे॥]

अत्र कान्ताकुचतटकरिकुम्भस्थलयोः प्राकरणिकेतरयोः प्रमाणान्तरप्रतिपन्नसंस्थानविशेषयोः कुङ्कुमसिन्दूराहितलौहित्यलक्षणनिबन्धनसादृश्याध्यवसायमूलोऽयमुपमानोपमेयभावावगम इति तस्यैव तत्र हेतुत्वम् अप्रतिपन्नसंस्थानस्यानिरूपितसाधारणधर्मस्वरूपस्य च सादृश्यावगमासम्भवाद् इत्युपमानानुमितिरितीयमुच्यते। एवम्—

'तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम्।
बिम्बाहरे पिआणं निवेसिअं कुसुमबाणेन॥'

[तत्तदा श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम्।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन॥]

इत्यत्रापि वेदितव्यम्। केवलमत्र साधारणो धर्मो लौहित्यलक्षणो रत्न उपमानेऽनुमेयो न शब्दोपारूढो, बिम्बरूपतयाधरस्य विवक्षितत्वात्।

'वीरों की दृष्टि कुङ्कुमलिप्त प्रियास्तनों पर उतनी नहीं रमती जितनी शत्रु हाथी के सिन्दूर-लिप्त मस्तकों पर।'

यह उपमानुमिति है। यहाँ कान्ताकुचमण्डल प्राकरणिक है और करिकुंभ अप्राकरणिक। दोनों का रूप लोकप्रमाण से सिद्ध है। इनका सादृश्य कुंकुम और सिन्दूर के लाल रंग से बनता है। सादृश्य के ज्ञान से इस उपमानोपमेयभाव का ज्ञान होता है। इसलिये वही उसमें हेतु है। क्योंकि जिसे स्तन और हाथी के माथे का वैसा रूप ज्ञात नहीं होता और जिसे साधारण धर्म का स्वरूप नहीं जान पड़ता उसे सादृश्य का ज्ञान नहीं होता।

इसी प्रकार—तं ताण०००, यहाँ भी जानना चाहिए। केवल यहाँ साधारण धर्म ललाई रत्नरूपी उपमान में अनुमान से ज्ञान होता है, शब्द से कथित नहीं। क्योंकि वह (रत्न) अधर के बिम्ब-रूप से विवक्षित है।

'स वक्तुमखिलाञ्छक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान्।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं शक्तो ज्ञातुं महोदधेः॥' इति॥

अत्र हयग्रीवगुणान् साकल्येनाभिधातुं न कश्चित् समर्थ इति साध्यम्। तत्र तदभिधानशक्तत्वस्य कुम्भकरणकाम्भोधिपरिच्छेदज्ञानशक्तत्वस्य चोभयोः प्राकरणिकेतरयोरेककर्तृनिष्ठयोस्समशीर्षिकयोपात्तयोस्तुल्ययोगितादिवद् गर्भीकृतोपमानोपमेयभावयोः परिकल्पितेन व्याप्यव्यापकभावेनोपनिबन्धो हेतुः।

तयोर्हि व्यापकस्य धर्मस्य वृक्षत्वादेरिवाम्बुधेरम्भसः कुम्भैः परिच्छेदज्ञानशक्तत्वस्य प्रमाणान्तरावसितायामभावप्रतीतौ व्याप्यस्यापि शिंशपात्वादेरिव हयग्रीवगुणग्रामाभिधानसामर्थ्यस्याभावावगतिरिति तस्यामनुमेयत्वमिति।

अतिशयोक्तिगर्भश्चायमुपमानोपमेयभावावसायो हयग्रीवगुणानां साकल्येनावर्णनीयतात्मकासाधारणविशेषप्रतिपादनपरमाक्षेपमाक्षिपतीत्याक्षेपानुमितिरित्युच्यते।

'हयग्रीव के सभी गुणों को वही कह सकता है जो घड़ों में पानी भर भर कर समुद्र का जल नाप सकता हो' यहाँ साध्य है—'हयग्रीव के गुणों को कोई भी समग्र रूप से नहीं कह सकता'। उसमें हेतु है 'गुणों' के कथन की शक्ति और घड़ों में जल भर भर कर समुद्र के जल को नापने की शक्ति, इन दोनों का कल्पित व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध द्वारा एक साथ कथन। दोनों में हयग्रीव-गुणों का गिनना प्राकरणिक है; जलघट से समुद्र का जल नापना अप्राकरणिक। दोनों का उल्लेख एक ही कर्त्ता में बराबरी के साथ किया गया। उनमें तुल्ययोगिता आदि के समान उपमानोपमेय भाव छिपा है। इनमें व्यापकधर्म है समुद्रजल को घड़ों से नापने की शक्ति, जिसका अभाव दूसरे प्रमाणों से साबित होता है। यह अभाव जब ज्ञात हो जाता है तो हयग्रीव-गुण की शक्ति जो यहाँ व्याप्य है; उसका अभाव भी प्रतीत हो जाता है अतः वह अनुमेय कहा जाता है। इस

उपमानोपमेय भाव सम्बन्ध में अतिशयोक्ति छिपी है। उसका ज्ञान आक्षेप का आक्षेप कराता है। आक्षेप द्वारा हयग्रीव के गुणों का समग्ररूप से कहा न जा सकना रूप असाधारण विशेषता का ज्ञान होता है। अतः यह आक्षेपालंकार अनुमिति कहा जाता है।

'देव्वाअत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं उण भणामि।
कङ्केल्लिपल्लवा पल्लवाण अण्णाण ण सरिच्छा॥'
[दैवायत्तेऽपि फले किं क्रियतामेतत् पुनर्भणामि।
कंकेल्लिपल्लवाः पल्लवानामन्येषां न सदृक्षाः॥]

इत्यत्रार्थान्तरोपन्याससामर्थ्यादेव वस्तुनोः समर्थ्यसमर्थकभावावसायो न शब्दशक्तिमूल इति। तदर्थस्य हिशब्दादेरप्रयोगो गतार्थत्वात्।

फल तो दैवाधीन है। उसके विषय में कहा ही क्या जाय। इतना अवश्य कहना पड़ता है कि—'अशोक के पत्ते अन्य वृक्षों के पत्तों के समान नहीं हैं।' यहाँ दोनों वस्तुओं का समर्थ्य-समर्थकभाव सम्बन्ध अर्थान्तरन्यास की शक्ति से होता है, शब्द की शक्ति से नहीं। अर्थान्तर-न्यासार्थक 'हि' आदि शब्द का प्रयोग नहीं है, क्योंकि उनका अर्थ अपने आप निकल आता है।

'हिअअट्ठाविअमण्णुं अवरुण्णमुहं पि मं पसाअन्त!।
अवरद्धस्स वि ण हु दे वहुजाणअ! रोसिउं सक्कम्॥' इति।
[हृदयस्थापितमन्युमपरुद्धमुखीमपि मां प्रसादयन्।
अपराद्धस्यापि न खलु ते बहुज्ञ रोषितुं शक्यम्॥]

यत्रानाविष्कृतकोपचिह्नायाः कस्याश्चिदन्तर्गतमन्योर्मानिन्याः केनचित् कृतागसा प्रसाद्यमानाया यत् तत्र रोषविषयेऽपि न तव रोषितुं शक्यमित्युक्तं तदनुपपद्यमानतया समर्थनीयमेवेति यत्तत्र वल्लभसम्बोधनद्वारेण बहुज्ञत्वमर्थान्तरभूतमुपात्तं तदेव तत्समर्थकहेतुतामुपयाति; तत एव हि परहृदयवेदिनि जने कः खलु कोपं कर्त्तुमर्हतीत्यस्यार्थस्य प्रतीतिसिद्धेः।

द्विविधो हि हेतुरुक्तः शाब्दश्चार्थश्चेति। तेनेयमार्थस्य हेतोरुपादानादर्थान्तरन्यासानुमितिरित्युच्यते।

'रोष को मैंने मन में छिपा लिया है और मुँह से भी कुछ नहीं कह रही हूँ जिससे रोष व्यक्त हो। इतने पर भी तुम मुझे खुश कर रहे हो। इसलिये तुमने अपराध किया है तब भी हे बहुज्ञ? तुम पर रोष नहीं किया जा सकता।' यहाँ मानवती स्त्री, जिसने कोप व्यक्त नहीं किया था, उसे मन ही में छिपा रखा था, उसका किसी कृतापराध व्यक्ति द्वारा खुश करने की कोशिश करने पर यह कहना कि तुम पर रोष नहीं किया जा सकता—ठीक से बैठता नहीं है अतः उसे ठीक-ठीक बैठाने के लिये उसका समर्थन करना होता है। यह समर्थन प्रिय को बहुज्ञ कहने से उसकी जो बहुज्ञता सिद्ध होती है—उससे होता है। क्योंकि इस बहुज्ञता का यहाँ वाक्यार्थ से कोई उपयोग नहीं। क्योंकि उसी से यह अर्थ निकलता है कि दूसरे के चित्त को जाननेवाले पर कौन-सा व्यक्ति कोप कर सकता है।

हेतु दो प्रकार का बतलाया गया है—शाब्द और आर्थ। यह अनुमिति अर्थान्तरन्यास की हुई क्योंकि यहाँ आर्थहेतु का उपादान है।

'जाएज्ज वणुद्देसे खुज्जोच्चिअ पाअवो घडिअवत्तो ।
मा माणुसम्मि लोए ताएक्करसो दलिद्दो अ ॥'

[जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव पादपो घटितपत्रः ।
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च ॥]

इत्यत्र यथोक्तस्वरूपस्याप्रस्तुतस्यैव वनपादपस्य, पुंसश्च कस्यचिद् दरिद्रस्य प्रस्तुतस्यानुपयोगितया निष्फलयोरुभयोरप्यनभिनन्द्यजन्मताप्रतीतौ तुल्यायां यदेतदेकस्यैव जन्मानभिनन्दनं नेतरस्य तत् तस्य शोच्यतातिरेकलक्षणं व्यतिरेकमनुमापयतीत्यस्य व्यतिरेकानुमितिव्यपदेशसिद्धिः ।

मैं किसी जंगल में ठूँठ ही बन जाऊँ वह अच्छा है, परन्तु इस लोक में मनुष्य न होऊँ, जो त्याग की गहरी रुचि रखने वाला हो और दरिद्र हो ।

यहाँ उक्तस्वरूप का वृक्ष अप्राकरणिक है और कोई दरिद्र पुरुष प्राकरणिक । दोनों का कोई उपयोग नहीं । अतः दोनों ही निष्फल हैं । अतः उनके जन्म की अश्लाघ्यता दोनों में बराबर है । इतने पर भी एक ही के जन्म की अश्लाघ्यता कही गई, दूसरे की नहीं । यह उसके अतिशय शोचनीय होने का अनुमान कराता है । यही व्यतिरेक है । अतः इस पद्य में व्यतिरेकानुमिति का व्यवहार ठीक ही बनता है ।

'चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः ।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः ॥'

इत्यत्र चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलसम्पर्कमात्रेण मूर्च्छाहेतुत्वं मलयमारुतस्य मुख्यमनुपपद्यमानं मूर्च्छाकारित्वलक्षणात् साधर्म्यात् सिंहो माणवक इत्यत्र सिंहत्वमिवोपचरितमाश्रीयत इतीवार्थमनुमापयति ।

मुख्यतानुपपत्तौ च निमित्तं भुजगनिःश्वाससमीरसम्पर्कमात्रेण मलयमारुतस्य न्यग्भावभाजो बहुलीभावासम्भवः ।

यद्वा मुख्यमर्थमनादृत्यार्थान्तरे प्रयुज्यमानः शब्दो यथाकश्चित् सादृश्यमेवावगमयति ।

न चैवंविधे विषये इवादिप्रयोगमन्तरेणासम्बद्धार्थतैवेत्याशङ्कनीयं प्रकरणादितोऽप्यर्थस्य स्वसौन्दर्यादेव वार्थान्तरावगतेः, यथा—

'ईसाकलुसस्स वि तुह मुहस्स णं एस पुण्णिमाचन्दो ।
अज्ज सरिसत्तणं पाविऊण अङ्गे व्विअ ण माइ ॥'

[ईर्ष्याकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूर्णिमाचन्द्रः ।
अद्य सदृशत्वं प्राप्याङ्ग इव न माति ॥]

इत्यत्रेवशब्दस्य ।

'वसन्त में यह मलयपवन पथिकों को तो मूर्च्छित करता ही है, यह स्वयं चन्दनों में लिपटे साँपों की फुफकार से मूर्च्छित है ।' इसमें मलयपवन में चन्दन में लिपटे साँपों की फुफकार मात्र से

मूर्च्छा कारित्व का आना अपने इसी रूप में (मूर्च्छा में) तो अनुपपन्न है। इसलिये 'सिंहोमाणवकः' में जैसे सिंहत्व उपचरित है वैसे ही यहाँ भी मूर्च्छाकारित्वरूप साधारण धर्म के सम्बन्ध से—उसे उपचरित ही मानना होता है। अतः यहाँ वह इव शब्द के अर्थ = 'सादृश्य' का अनुमान होता है।

यहाँ (मलयपवन में मूर्च्छाकारिता) मुख्यता की अनुपपत्ति में कारण है—केवल साँप की फुफकार के सम्पर्क से मलयपवन का गर्हित होना, इसीलिए उसमें बहलीभाव (अधिकता) का न हो सकना या यूँ कहिए कि जो शब्द मुख्य अर्थ में प्रयुक्त न होकर किसी गैर अर्थ में प्रयुक्त होता है, वह जिस किसी तरह सादृश्य का ही ज्ञान कराता है। यहाँ यह नहीं सोचना चाहिये कि 'इव आदि शब्दों का प्रयोग न होने से दोनों अर्थ असंबद्ध पड़ जाते हैं क्योंकि दूसरे अर्थ का ज्ञान प्रकरण आदि से भी होता है अथवा पदार्थ के अपने खुद के सौन्दर्य से भी। जैसे—

'आज यह पूनम का चाँद तुम्हारे ईर्ष्या से बिगड़े चेहरे की समानता पाकर अपने आप में अँट नहीं रहा है।' यहाँ 'इव' शब्द का (प्रयोग नहीं है)।

यथा च—'त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्
पुंभिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि।
तस्थौ तथापि न मृगः क्वचिदङ्गनाभि-
राकर्णपूर्णनयनेषुहतेक्षणश्रीः ॥' इत्यत्र।

शब्दार्थव्यवहारे च प्रतीतिरेव प्रमाणम्। प्रतीतार्थश्च शब्दः प्रयुज्यमानः पौनरुक्त्यमेवावहतीति अत्रेवार्थस्यावगमादुत्प्रेक्षानुमितिरित्येषा व्यपदिश्यते।

एवम्—'अत्युच्चपदाध्यासः पतनायेत्यर्थशालिनां शंसत्।
आपाण्डु पतति पत्रं तरोरिदं बन्धनग्रन्थेः॥' इति
निदर्शनानुमितावप्यवसेयम्।

और जैसे—'एक हिरन घरों के पास पहुँच गया' उसके पीछे एक भी अहेरी न था। इतने पर भी वह कहीं भी ठहरा नहीं, और डर के मारे उछलता कूदता भाग गया। बालाओं की कान तक लम्बी आँख के बाण से उसकी नेत्र-शोभा हत जो हो गई थी' यहाँ।

शब्दार्थ के व्यवहार में प्रमाण केवल प्रतीति ही है। शब्द का जो अर्थ प्रतीत हो चुकता है उसके लिए शब्द का प्रयोग पुनरुक्तिदोष पैदा करता है। इसलिये यहाँ 'इव' शब्द का अर्थ मालूम पड़ने से यह अनुमिति उत्प्रेक्षानुमिति कहलाती है।

इसी प्रकार—

'पेड़ से यह पका हुआ पत्ता बेंट से फिसलकर गिर रहा है—समझदारों को यह समझाते हुए कि अति ऊँचे स्थान पर पहुँचना कभी न कभी पतन का कारण बनता है।' इस निदर्शनानुमिति में भी समझ लेना चाहिये।

'रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः॥'

इत्यत्र वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरमुपमाप्रतिभोद्भेदनिबन्धनभूतं न किञ्चिद-वधारयामः, यत्सामर्थ्याद् वध्व इव वलभ्य इत्यमुमर्थमवगच्छेम। न चोभ-

यार्थसाधारणस्य वलभीविशेषणकलापस्यैव तत्र निबन्धनभावोऽवगन्तुं युक्तः; तस्य भिन्नविभक्तिकस्य वधूभिरभिसम्बन्धानुपपत्तेरित्युक्तमेव।

अथ सममित्यस्य तुल्यार्थस्य वधूवलभीसम्बन्धबलात् विभक्तिविपरिणामेन कल्पिततदुचितविभक्त्यन्तानां वधूनां विशेषणकलापाभिसम्बन्धसहत्वाद् वलभीभिरुपमानोपमेयभावावगतिर्भवति, यथा सममिन्दुना सकलकलोऽब्धिरुत्थित इति।

एवं तर्हि तुल्यतासम्बन्धावधारणनिबन्धनेयं वधूवलभीनामुपमानोपमेयभावावगतिरिति नासावनुमेयतामभिपततीति श्लेषानुमितिरित्युच्यते।

'रम्या इति'—इस (पूर्वानूदित) पद्य में वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद उपमा का ज्ञान कराने का कोई भी हेतु हमें दिखाई नहीं देता जिससे यह समझा जा सके कि वलभियाँ वधुओं के समान हैं। दोनों अर्थों में लगने वाले वलभी आदि शब्दों को भी कारण माना नहीं जा सकता क्योंकि उनमें विभक्तियाँ भिन्न हैं, अतः वे 'वधूभिः' उस पद के साथ मेल नहीं खा सकता। यह बात हम कह चुके हैं। यदि यह कहा जाय कि जैसे—'इन्दु के समान सकलकल समुद्र बढ़ा' में विभक्ति बदल कर ('सकलकल' को 'इन्दु' का विशेषण मान लिया जाता है और उपमा की प्रतीति होती है।) उपमानोपमेयभाव निकाल लिया जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी सभी विशेषणों में वधू की विभक्ति लगाकर वधू के साथ वलभी का साम्य बना लिया जायगा, और ऐसा करने में सहायक होगा 'सम' इस समानता के प्रतिपादक शब्द का प्रयोग।

उत्तर—यदि इस प्रकार तुल्यता के सम्बन्ध के ज्ञान से वधू और वलभी की समता ज्ञात होती है तो इससे वलभी उपमेय नहीं बनती। इसलिये इसे श्लेष की अनुमिति कहना ठीक होगा।

विमर्श : यहाँ समशब्द साम्य का प्रतिपादक नहीं अपितु सहभाव का प्रतिपादक है। अतः वलभी में उपमेयता नहीं बन पाती।

'अङ्कुरितः कोरकितः पल्लवितः कुसुमितश्च सहकारः।
अङ्कुरितः कोरकितः पल्लवितः कुसुमितश्च हृदि मदनः॥'

इत्यत्र मुख्यामुख्याङ्कुरितत्वादिधर्मविशिष्टयोः सहकारमदनयोः प्रमाणान्तरावगतकार्यकारणभावयोरप्यतिशयोक्तिच्छायया यस्तुल्यकालतयोपनिबन्धस्तत्र कार्यकारणधर्माणां यथाश्रुतक्रमं संख्यासाम्यमेव यथासङ्ख्यमनुमापयति, यथाश्रुतक्रमातिक्रमे प्रयोजनाभावात् निबन्धनाभावाच्च।

को ह्यविप्लुतमतिरसति बाधके श्रुतमर्थमनादृत्याश्रुतं परिकल्पयेदिति यथासङ्ख्यानुमितिरितीयमुच्यते।

'इधर तो सहकारतरु अंकुरित, मुकुलित, पल्लवित तथा कुसुमित हुआ और उधर हृदय में मदन (काम)।'

यहाँ अंकुरित होना आदि सहकार में (वास्तविक) मुख्य है और मदन में अमुख्य (झूठ), इन धर्मों से युक्त सहकार व मदन का कार्यकारणभाव लोकप्रमाण से सिद्ध है। इतने पर भी अतिशयोक्ति की भूमिका पर इनमें जो एक साथ अंकुरित आदि होने की बात कही गई उसमें

कारण (सहकार) और कार्य (मदन) के (अंकुरित आदि) धर्मों का क्रम एक सा ही बतलाया गया है, अतः यथासंख्यालंकार का अनुमान होता है। जिसमें संख्या की समानता प्रतीत होती है। निर्दिष्टक्रम को तोड़ने में न कोई प्रयोजन सधता है और न उनका कोई कारण ही है। भला ऐसा कौन होगा जिसकी बुद्धि लुप्त न हुई हो और वह कथित अर्थ को छोड़कर अकथित अर्थ की कल्पना करे। अतः यहाँ यथासंख्यालंकार की अनुमिति है। क्योंकि संख्याक्रम कथित है।

यत्र प्रकरणादिप्रतिपत्त्यानुमितविशेषो वाच्योऽर्थः प्रतीयमानस्यार्थस्य लिङ्गभावमुपयाति सोऽप्यनुमानस्यैव मार्गः।

यथा—'उच्चिणु पडिअं कुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसोह्न ?।
अह दे विसमविराओ ससुरेण सुओ वलयसद्दो ॥' इति।

[उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनु शेफालिकां हालिकस्नुषे ?।
एष ते विषमविरावः श्वशुरेण श्रुतो वलयशब्दः ॥]

अत्र ह्यविनयपतिना सह रममाणा काचित् बहिश्श्रुतवलयकलकलया सख्या प्रतिबोध्यत इत्येतदपेक्षणीयं वाच्यस्य प्रतिपत्तये प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे तस्याविनयप्रच्छादनतात्पर्येणाभिधीयमानत्वादनुमेयाङ्गत्वमेवेत्यस्यानुमान एवान्तर्भावः।

एवमन्यासामपि वाच्यव्यतिरेकिणीनामलङ्कृतीनां यथायोगमनुमानान्तर्भावः स्वयमेवानुसर्त्तव्यः।

जहाँ प्रकरण आदि का ज्ञान होने पर अनुमित हुआ कोई वाच्य अर्थ प्रतीयमान अर्थ का लिङ्ग (हेतु) बनता हो वहाँ भी अनुमान ही होता है। यथा—

'हे हालिक की पुत्रवधू, शेफालिका (हरसिंगार या पारिजात) को झोड़ क्यों रही है, पड़े हुए पुष्प ही बीन ले। तेरे कँगनों का यह अटपटा शब्द ससुर के कानों तक पहुँच रहा है।' यहाँ अविनीत पति से संभोग कर रही किसी दुश्चरित्र स्त्री को बाहर से चूड़ी (या कँगनों) की आवाज सुन कर सखी सजग कर रही है। यह बात वाच्यार्थ की निष्पत्ति के लिये अपेक्षित है। और जब वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाता है, तब उसे उस पुरुष के अविनय को ढाँकने के लिये कहा गया समझा जाता है; अतः वह अनुमेय का अङ्ग ही सिद्ध होता है। अतः उसका अन्तर्भाव भी अनुमान में ही है। इसी तरह और भी वाच्यातिरिक्त (प्रतीयमान) अलंकारों का जहाँ जैसे अन्तर्भाव हो, अनुमान में अन्तर्भाव कर लेना चाहिये।

एवं वस्तुमात्रादीनां गम्यत्वं प्रतिपाद्येदानीं वर्णपदवाक्यसङ्घटनादीनां गमकत्वं प्रतिपाद्यते।

तत्र वर्णसङ्घटनानां तावद् गमकत्वमर्थद्वारकमेव। तथा हि विशिष्टवर्णसङ्घटनोपकृतशब्दप्रतिपादितेनार्थेन रत्यादयः स्थायिनोऽनुमीयमानाः स्पष्टतरमवभासन्त इति शब्दोपाधिभूतयोर्वर्णसङ्घटनयोरपि गमकत्वमुपपन्नमेव पारम्पर्येण, न साक्षात्।

तथाविधशब्दसन्दर्भाभिहितस्यार्थस्य रत्यादेश्च भावस्य तार्णपार्णयोरिव धूमाग्न्योः कार्यकारणभावेनावस्थानात् ।

तथा हि ये ये रतिशोकाक्रान्तान्तःकरणाः ये च क्रोधोत्साहादिविवशास्ते मधुरतरवर्णविरचितामसमासप्रायां रेफशकारटकारकर्कशां दीर्घसमासभूयिष्ठां च सङ्घटनामाश्रित्य भूम्ना भाषमाणा दृश्यन्त इति स्वभाव एवायम् ।

सङ्घटनावर्णाहितविशेषवाचकसमर्पितादर्थात् ।
क्रोधादिविशेषगतिर्धूमविशेषादिव कृशानोः ॥ २८ ॥ इति सङ्ग्रहार्या ।

इस प्रकार वस्तुमात्र आदि की गम्यता (अनुमेयता) सिद्धकर अब वर्ण, पद, वाक्य, सङ्घटना आदि की अनुमापकता का प्रतिपादन आरम्भ किया जाता है—वर्ण आदि में वर्ण और संघटनाएं अर्थ द्वारा ही गमक होते हैं। विशिष्ट वर्णों की संघटना से युक्त शब्द जो अर्थ उपस्थित करते हैं उससे रति आदि स्थायी भावों का अनुमान होता है। और वे अधिक स्पष्ट होकर अनुभूत होने लगते हैं। अतः शब्दों के उपाधिरूप वर्ण और संघटना दोनों ही गमक सिद्ध होते हैं। किन्तु उसकी गमकता परम्परया होती है, साक्षात् नहीं। उस प्रकार के शब्द सन्दर्भों से कथित अर्थ और रति आदि भावों का कार्यकारणभाव वैसा ही है जैसा तिनके और पत्तों से उत्पन्न धुँआ और अग्नि का होता है। (तिनके से आग पैदा होती है और आग से धुंआ, वैसे वर्णसंघटनायुक्त शब्दों से वाच्यार्थ प्रतीत होता है और उससे रति आदि) यह इस प्रकार का होता है कि रति और शोक आदि से जिसके हृदय युक्त रहते हैं और जो क्रोध और उत्साह आदि से अभिभूत होते हैं वे जब बोलते हैं तो प्रायः मधुर वर्ण से युक्त और समास से रहित संघटना का और रकार, शकार और टकार से युक्त होने के कारण कठोर शब्द तथा लम्बे समास से युक्त संघटना का प्रयोग अधिक करते हैं। यह एक स्वभाव ही है, उन बोलने वालों का। इस प्रकार—

'सङ्घटना और वर्णों से उत्पन्न विशेषता वाले शब्द से ज्ञात अर्थ से क्रोध आदि विशेष धर्मों का ज्ञान होता है, जैसे विशिष्ट धूम से अग्नि की।'

पदवाक्ययोः पुनः साक्षादर्थद्वारकं गमकत्वं न वर्णसङ्घटनयोरिव वाचकोपाधिभावनिबन्धनमिति न तुल्यकक्ष्यतया निर्देशस्तयोरुपपन्नः। पदवाक्ययोर्हि द्वयमर्थान्तरप्रतीतौ निबन्धनमिष्यते, उपचारः प्रकरणादिसामग्री चेति।

यत्र हि तत् समारोपितं तत्र यथाकथञ्चित् तत्सादृश्यं तत्सम्बन्धादवगम्यते, न तत्त्वम्, तदभावे सादृश्यानुपपत्तेरिति तदेतदत्रानुमेयमित्युक्तम् ।

एकोऽपि हि शब्दः सामग्रीवैचित्र्यात् तद्धर्मविशिष्टं स्वार्थमेवावगमयतीति तदेव तत्र लिङ्गमवगन्तव्यं न शब्दमात्रम्। तद्धि संज्ञिनमेव प्रत्याययितुमलं न संज्ञिविशेषमित्येतदप्युक्तमेव ।

पद और वाक्य भी अर्थ के द्वारा गमक होते हैं, ये साक्षात् गमक होते हैं, वर्ण और सङ्घटना के समान शब्द की उपाधि बनकर नहीं। इसलिए उन (वर्णसंघटना) का पद-वाक्य के साथ समान रूप से निर्देश नहीं बनता। पद और वाक्य द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति में दो ही कारण हैं०—उपचार और प्रकरणादि की सामग्री। जहाँ वह (अर्थान्तर) समारोपित होता है वहाँ उसके

सम्बन्ध से जिस किसी प्रकार उसके सादृश्य का ज्ञान होता है, तद्रूपता का नहीं। क्योंकि उस (समारोप) के अभाव में सादृश्य ही नहीं बनता अतः उसे अनुमेय कहा।

शब्द एक हो पर यदि सामग्री भिन्न हो तो वह बतलाता है अपने वाच्यार्थ को ही, परन्तु किन्हीं विशिष्ट धर्मों के साथ। अतः उसी (सामग्रीवैचित्र्य को) उस जगह लिङ्ग (हेतु) समझा जाना चाहिये। केवल शब्द को नहीं। शब्द तो केवल साधारण संज्ञावान् अर्थ का ज्ञान करा सकता है। विशिष्ट संज्ञावान् का नहीं। यह तो कहा ही जा चुका है।

तत्र पदस्योपचारतो यथा महर्षेर्व्यासस्य 'सप्तैताः समिधश्श्रियः' इति, यथा च वाल्मीकेः 'निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।' इति, यथा च कालिदासस्य 'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्' इति, यथा च—

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥'

इत्यत्र समिदन्धसन्नद्धमधुरपदानि गमकत्वाभिप्रायेणैव प्रयुक्तानीति उक्तमेव। तस्यैव सामग्री वैचित्र्ये यथा 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रियेणोचितम्' इत्यत्र रामेणेत्येतत् पदं प्रकरणादिसामग्रीवशात् साहसैकरसिकत्वादिधर्मविशिष्टस्य रामार्थस्य गमकम्; अन्यथा हि मयेत्येव वक्तव्यं स्यात्।

दोनों में पद का उपचार द्वारा (गमक होना) यथा महर्षि व्यास का वाक्य—'ये सात (पदार्थ) श्री की समिधाएँ हैं'—या जैसे महर्षि वाल्मीकि का कथन—'चन्द्रमा निःश्वास से अन्धे दर्पण के समान चमक नहीं रहा है' या जैसे कालिदास का—'तुम्हारे सन्नद्ध होने पर विरहातुर जाया की उपेक्षा कौन कर सकता है...', अथवा—'कमल शेवार से घिरा होने पर भी अच्छा होता है, चन्द्रमा का काला कलंक भी उसकी शोभा बढ़ाता है यह तन्वी वक्कल से भी अधिक सुन्दर लगती है, भला मधुर आकृतियों के लिये कौन सी वस्तु शोभादायिनी नहीं होती है।

यहाँ—समिध्, अन्ध, सन्नद्ध, मधुर आदि शब्द गमकरूप से ही प्रयुक्त किये गये हैं। ऐसा कहा जा चुका है। वही शब्द सामग्री की विचित्रता होने पर जैसे—'किन्तु प्राणों के लिए कातर राम ने अपने प्रेम के अनुरूप नहीं किया' यहाँ 'राम' यह पद प्रकरण आदि की सामग्री की सहायता से साहसैकरसिक होना आदि धर्मों से युक्त रामरूपी अर्थ का गमक है। नहीं तो 'मया' ही कहना चाहिये था।

यत्रापि चैकस्यैवार्थस्यैकाभिधानमुखेनोत्कर्षापकर्षतत्त्वाभिधित्सयोपकल्पितभेदस्य विध्यनुवादभावेनोपनिबन्धः, तत्र प्रकरणादिभ्य एवास्योत्कर्षोऽपकर्षः तत्त्वं वानुमेयम्; न तु तत एव। न हि विधेयाभिधायिनः शब्दस्यैव सा शक्तिस्तयोर्विरोधात्। तत्रोत्कर्षो यथा—

'रइकिरणाणुग्गहिआइ होन्ति कमलाइ कमलाइ।' इति।

अत्र द्वितीयः कमलशब्दः । अपकर्षो यथा—

'एमेअ जणो त्तिस्सा देउ कवोलोपमाइ ससिबिम्बम् ।
परमत्थविआरे उण चन्द चन्दो विअ वराओ ॥' इति ।

अत्र द्वितीयश्चन्द्रशब्दः । अत्र हि विधेयाभिधायिनो द्वितीयाच्चन्द्रशब्दाद् यथापकर्षोऽवगम्यते न तथा पूर्वात्कमलशब्दादित्यर्थप्रकरणादिरेव तत्र हेतुभावेनोपगन्तुं युक्तो न शब्दशक्तिः । तस्या ह्युत्कर्षापकर्षावगमः पूर्वापरपदार्थनियत एव स्यात् , नानियतः । तत्त्वे यथा—

'काचो मणिर्मणिः काचो येषां तेऽन्ये हि देहिनः ।
सन्ति ते सुधियो येषां काचः काचो मणिर्मणिः ॥'

इत्यत्र द्वितीयौ काचमणिशब्दौ ।

'जहाँ कहीं एक ही अर्थ को उत्कर्ष अपकर्ष या ताद्रूप्य के कथन की इच्छा से भिन्न मान विध्यनुवादभाव से एक ही शब्द द्वारा कहना अभीष्ट हो, वहाँ उत्कर्ष, अपकर्ष या तद्रूतता प्रकरण आदि की सहायता से अनुमान द्वारा प्रतीत होते हैं, न कि उसी (शब्द) से (उद्देश्यवाचक शब्द का प्रयोग कर यदि केवल विधेयवाचक शब्द का प्रयोग कर दिया जाय और केवल उससे उक्त बातें निकालना अभीष्ट हो तो वह असंभव है कारण कि केवल) विधेयवाचक शब्द (उद्देश्य और तद्गत उत्कर्षादि की प्रतीति कराने में) असमर्थ होता है । यह इसलिए कि दोनों (विधेय-उद्देश्यभूत अर्थों) का परस्पर विरोध होता है । उत्कर्ष का उदाहरण—

रइकिरणानु०० (पूर्वानूदित छाया)—इस पद्य में दूसरा कमलशब्द ।

अपकर्ष का उदाहरण यथा—'एमेअ जनः०० (पूर्वानूदित छाया) इस पद्य में दूसरा चन्द्रशब्द यहाँ जिस प्रकार विधेयता के वाचक द्वितीय चन्द्रशब्द से अपकर्ष प्रतीत होता है, उस प्रकार पहले उदाहरण में (द्वितीय) कमल शब्द से नहीं । अतः इस उत्कर्ष-अपकर्ष में प्रकरणादि ही हेतु माने जाने चाहिये । शब्दशक्ति नहीं ।

उससे होनेवाला उत्कर्ष तथा अपकर्ष पूर्व और पर पदार्थों में ही रहता है (पूर्व में उत्कर्ष पर में अपकर्ष) वह भी नियत रूप से, अनियत रूप से नहीं ।

तद्रूपता का उदाहरण—'वे शरीरधारी और ही हैं जिनके लिए काँच मणि होता है और मणि काँच । वे लोग सुधी = समझदार होते हैं, जिनके लिए काँच-काँच और मणि-मणि होती है ।'

यहाँ द्वितीय काँच तथा द्वितीय मणि शब्द ।

शब्दशक्तिमूलाया अर्थान्तरप्रतीतेरनिबन्धनायाः पराकृतत्वान्न तन्मूला पदवाक्यप्रकाशता सम्भवति । यथा—

'प्रातुं धनैरर्थिजनस्य वाञ्छां देवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि ।
पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तटाकः कूपोऽथवा किन्न कृतो जडोऽहम् ॥' इति ।

अत्र हि जड इत्येतत् पदं निर्विण्णेन केनचिद् वक्त्रा कूपसमानाधिकरणतयैव प्रयुक्तं, नात्मसमानाधिकरणतया 'कूपोऽथवा किं न कृतो जडोऽह'-

मित्यात्मनो जडत्वाशंसास्पदत्वेनेष्टत्वाद्, इत्थमेव वाच्यस्य चारुत्वोपपत्तेः, यतोऽयमत्रार्थो विवक्षितः 'किं ममानेन परदुःखभाजा हतचैतन्येन कृत्यं, जडस्तटाक एवास्मि कस्मान्न कृत' इति।

नचोक्तनयेन निवन्धनान्तरमन्तरेण स्वशक्त्यैवानुरणनरूपतयार्थान्तरसमानाधिकरणतां प्रतिपत्तुमलमित्यनुदाहरणमेतत्।

विना किसी हेतु के शब्दशक्तिमूलक अर्थान्तर की प्रतीति का खण्डन किया जा चुका है, अतः शब्दशक्तिमूला पद और वाक्य की गमकता (अनुमापकता) संभव ही नहीं होती।

जैसे :—

यदि याचकों की इच्छा को धनद्वारा पूर्ण करने के लिए विधाता ने मुझे नहीं बनाया तो किसी रास्ते में स्वच्छ जल वाले तालाब या कुँए के रूप में जड़ ही क्यों नहीं बना दिया गया।'

यहाँ 'जड़' यह शब्द किसी दुःखी व्यक्ति ने कुँए के साथ ही लगाकर बोला, अपने साथ नहीं। किन्तु चाहता है वह उस (जड़) का अपने साथ भी योग क्योंकि वह इस प्रकार कहना चाहता है 'मुझे जड़ कुआ ही क्यों नहीं बना दिया'—और इसी प्रकार वाच्य में चमत्कार सिद्ध होता है। क्योंकि यहाँ अर्थ यह विवक्षित है कि मेरी चेतना से क्या जिसमें दूसरे के दुःख के निराकरण की शक्ति नहीं। मुझे दूसरे के दुःख की शान्ति करने में सक्षम जड़ तालाब या कुआ ही क्यों नहीं बना दिया गया।'

ऊपर बतलाए क्रम से विना किसी और कारण के अपनी ही शक्ति से वह (जड़) घण्टे की गूँज के समान दूसरे अर्थ के साथ लागू होता नहीं समझा जा सकता। अतः यह उदाहरण नहीं माना जा सकता।

'असमप्पिअं वि गहिअं कुसुमशरेण महुमासलच्छिमुहम्।' इति।

[असमर्पितमपि गृहीतं कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्मीमुखम्।]

अत्र ह्यसमर्पितमपि कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्म्या मुखं गृहीतमित्यसमर्पितमपीत्येतदर्थाभिधायि पदमर्थशक्त्या कुसुमशरबलात्कारमनुमापयति।

'वाणिअअ! हत्थिदन्ता कत्तो अह्माण वग्घकित्ती अ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सोण्णा॥'

इत्यत्र द्विरदरदनव्याघ्राजिनानां प्रतिषेधावगतिरुक्तक्रमेण व्यापकविरुद्धकार्योपलब्धिनिवन्धनेत्यनुमान एवान्तर्भावमर्हति।

केवलमिदमत्र निरूप्यते यदुत कस्येयमुक्तिः, किं श्वशुरयोरुत तटस्थस्यैव कस्यचिदिति। तत्र श्वशुरस्य तावत् दुहितुरिव स्नुषायाः सौभाग्यातिशयवर्णनमिदमनुचितमेव। श्वश्वा अपि पुत्रस्नेहविक्लवायाः स्वसद्मसमृद्धिं समीहमानाया वा तत्सौभाग्यातिरेकमसूयमानाया वाणिजकं प्रति नास्ति हस्तदन्तादि विक्रेयमिहेऽेतावति रुक्तउये तद्वर्णनं निष्फलमनुचितं चेति तटस्थस्यैवेयमुक्तिरुचिता तत्रैव लेशतो रसास्वादसम्भवात्। अन्यथा—

'विवरीअसुरअसमए ब्रह्मं दठ्ठूण णाहिकमलम्मि।
हरिणो दाहिणणअणं चुम्बइ हिलिआउला लच्छी ॥' इति

प्रहेलिकादावपि मुख्यवृत्त्या काव्यव्यपदेशः स्यात्। केवलं तत्पक्षे अह्माण इत्यत्र एआण इति पाठः परिणमयितव्यः।

'वसन्तश्री ने अपना मुँह समर्पित नहीं किया' तब भी कुसुमशर (कामदेव) ने उसे अपना लिया।' यहाँ उक्त अर्थ का अभिधान करने वाले 'समर्पित नहीं किया तब भी' ये पद अर्थ शक्ति से कुसुमशर के बलात्कार का अनुमान करते हैं।

'हे व्यापारी जी ? हमारे यहाँ अब कहाँ हाथी-दाँत और कहाँ बाघ की छाल जब से चंचल अलकों से घिरे मुह वाली यह पतोहू घर में जमुहा रही है।' यहाँ हाथी-दाँत और व्याघ्र-चर्म के निषेध का ज्ञान 'भम धम्मिअ०' में कहे गये क्रम से व्यापकविरुद्ध कार्य के ज्ञान से होता है। अतः यह भी अनुमान में अन्तर्भाव के योग्य है। हमारा यहाँ केवल इतना कहना है कि—'यह उक्ति किसकी है ? सास-ससुर की है या और की ? यदि ससुर की है तो पुत्री के समान पतोहू के अतिशय पतिप्रेम का कहना अनुचित है। और यदि सास की हो तो भी वह व्यर्थ है और अनुचित भी क्योंकि उसे व्यापारी से हाँथी-दाँत के अभाव की बात कहनी है तो उसका उतनी ही बात कहना उचित है, नकि घर की उन्नति की इच्छा से अथवा पुत्र के प्रेम में विह्वल होने से पतोहू के ऊपर पुत्र के स्नेहातिरेक के प्रति ईर्ष्या की भी बात कहना। अतः यह किसी तटस्थ व्यक्ति का ही कथन हैं। उसी की उक्ति मानने पर कुछ रसास्वाद हो सकता है। नहीं तो—

'विपरीतसुरतसमये०' (पूर्वानूदित) आदि पहेलियों में भी भी काव्य का व्यवहार यथार्थरूप से माना जाने लगेगा। केवल तटस्थ पक्ष में 'अह्माण' की जगह 'एआण' इतना पाठ-भेद कर दिया जाना चाहिए।

विमर्श:—प्रतीयमान की प्रतीति वक्ता और श्रोता (बोद्धव्य) के ऊपर भी निर्भर है। यहाँ का वक्ता कोई जंगली भील है। वह अपनी पतोहू के शृङ्गार का वर्णन कर सकता है। अशिक्षित की उक्ति में सभ्यता पर आश्रित औचित्य नहीं देखा जाना चाहिये।

'उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्वितेन दहनेन न वीक्षितासि ॥' इति ॥

अत्र ते इति योऽयमसमसौन्दर्यनिधानभूतयोः पुरःपरिस्फुरतोरिव लोचनयोः परामर्शः, स हि सामग्रीयोगान्नायकस्य शोकदहनोद्दीपनविभावतामेतयोरनुमापयतीति मुख्यवृत्त्या तद्वाच्यस्यार्थस्यैव लिङ्गता, न पदस्य। यथा च—

'झटिति कनकचित्रे तत्र दृष्टे कुरङ्गे
रभसविकसितास्ते दृष्टिपाताः प्रियायाः।
पवनविलुलितानामुत्पलानां पलाश-
प्रकरमिव किरन्तः स्मर्यमाणा दहन्ति ॥' इति।

'हे प्रिये ? निश्चित ही तुम्हारा अंशुक भय से खिसक गया होगा, तुम अपनी वे व्याकुल आँखें चहुँओर घुमा रही होगी, ऐसी स्थिति में (तो तुम्हारा सौन्दर्य और अधिक निखर उठा होगा) किन्तु (तब भी) क्रूर अग्नि ने दारुणतावश तुम्हें एकाएक भस्म कर दिया, निश्चित ही उस समय उसने तुम्हें देखा नहीं।'

यहाँ 'ते' (वे) यह जो अद्वितीय सौन्दर्य के निधि नेत्र जो मानों सामने खड़े से हो जाते हैं, का कथन है, वह सामग्री के सहारे नायक के मन में शोकाग्नि की जलन में उन (नेत्रों) की विभावता का अनुमान कराते हैं, अतः यहाँ खास तौर से 'ते' का वाच्य अर्थ ही लिङ्ग—हेतु है। शब्द नहीं। और जैसे—

मैं प्रिया के उन दृष्टिपातों का स्मरण करता हूँ तो हृदय में आग सी भड़क उठती है। जो सोने पर खुदे, या सोने के समान पीले और चमकीले हिरन को देखकर एक क्षण में ही खिल उठे और हवा से चंचल नीलकमलों की पखुँड़ियों का समुदाय सा बिखेरने लगे। (यहाँ भी नेत्रों की विपुलता के प्रति विभावता प्रतीति होती है)।

पदावयवेऽपि विशिष्टः पदार्थ एव, न शब्दमात्रं तस्य व्यापारान्तरप्रतिषेधात्। विशिष्टत्वं च 'मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभाग' इत्यत्र चकितहरिणीहारिणा नेत्रेण सम्बन्धितया त्रिभागस्य विशेषितत्वात् तथाविधस्य चास्य गमकत्वात्।

पद के अवयव को जहाँ गमक माना है वहां भी वस्तुतः विशिष्ट पदार्थ ही गमक होता है, एक मात्र शब्द (पद) गमक नहीं होता क्योंकि उसमें दूसरे व्यापार का अभाव सिद्ध किया जा चुका है। विशिष्टता 'उसी हिरनी के मनोहर नेत्रों के तृतीय भाग के समान सुन्दर कटाक्ष मुझ पर गड़ा दिया' में दिखलाई देती है। यहां चकित हरिणी के सुन्दर नेत्र से सम्बन्धित होने के कारण नेत्र के तृतीय भाग में विशिष्टता आती है और फिर वह गमक बनता है।

वाक्यस्य चोपचारतोऽर्थान्तरप्रकाशनं यथा—

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा रात्रिः पश्यतो मुनेः॥' इति।

अनेन हि वाक्येन न निशार्थो नापि जागरणार्थः कश्चिद् विवक्षितः; किं तर्हि? तत्त्वज्ञानावहितत्वमतत्त्वपराङ्मुखत्वं च मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृतवाच्यस्यास्य गमकत्वम्। यथा च—

'सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥' इत्युक्तम्।

तस्यैव प्रकरणादितो यथा—

'विसमइओ च्चिअ काण वि काण वि वोलेइ अमअणिम्माओ।
काण वि विसामअमओ काण वि अविसामओ कालो॥' इति

[विषमय इव केषामपि केषामपि प्रयात्यमृतमयः।
केषामपि विषामृतमयः केषामप्यविषामृतः कालः॥]

इत्यत्र वाक्ये प्रकरणादिवशाद् विषामृतशब्दाभ्यां सुखदुःखस्वरूप-सङ्क्रमितवाच्याभ्यां व्यवहार इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्यास्य गमकत्वम् ।

उपचार द्वारा वाक्य की अर्थान्तर के प्रति गमकता—'जो सब भूतों के लिये रात है उस में संयमी लोग जागते हैं, और जिसमें सभी भूत जागते हैं वह उन्मीलित आँखों वाले मुनि के लिये रात है—इस वाक्य में न तो कोई निशारूपी पदार्थ विवक्षित है और न जागरणरूपी पदार्थ। जो विवक्षित है वह है मुनि का तत्त्वज्ञान पर एकचित्त होना और तत्त्वविरुद्ध पदार्थों से पराङ्मुख होना। इसलिये यह वाक्य अपने अभिधेयार्थ को हटाकर गमक बनता है। और जैसे—'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्० इसमें बतलाया जा चुका है। वही वाक्य प्रकरणादि द्वारा भी गमक होता है यथा 'समय किसी के लिये विषमय होता है, किसी के लिये अमृतमय और किसी के लिये विषामृतमय और किसी के लिए न विषमय और न अमृतमय।' इस वाक्य में प्रकरणादि के आधार पर विष और अमृत शब्दों से दुःख और सुखरूपी वाच्यों का ज्ञान होता हैं। अतः यहां अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य वाक्य गमक है।

शब्दस्याभिधातिरेकेण शक्त्यन्तरानुपपत्तेस्तन्मूलं पदस्येव वाक्यस्याप्य-र्थान्तरप्रकाशनं न सम्भवत्येव, यथा हर्षचरिते सिंहनादवाक्ये—

'प्रवृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' इति।

नह्येतद्वाक्यमनुरणनरूपमर्थान्तरं शब्दशक्त्यैवानिबन्धनं प्रकाशयितुं क्षममित्युक्तमेव।

'सज्जेइ सुरहिमासो ण आ पणावेइ जुवइजणलक्खसहे।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स सरे॥'
[सज्जति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यसहान्।
अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान्॥]

इत्यत्र कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरे सुरभिमाससम्भवानामाविर्भूताभि-नवपल्लवानां तरूणामचिरभावियुवतिजनमदनोन्माददायित्वमनुमेयम्।

तत्र च सहकारसुरभिमासमदनानां रूपकोपनिबन्धने शरशरकारधानुष्क-तुल्यवृत्तान्तत्वे सति यदसम्पन्नसम्पूर्णरूपतया सम्प्रति सहकाराणां शरा-णामिवानङ्गायासमर्पणं स हेतुः। तदसमर्पणमात्रान्तरायो हि तस्य तद्व्या-पारः। कन्दर्पोद्दीपनसमर्थस्वभावसम्पादनमेव च तेषां सुरभिमासेन कन्दर्पा-यासमर्पणं नान्यदिति।

शब्द का अभिधातिरिक्त शक्ति नहीं बनती अतः पद के समान वाक्य की भी तन्मूलक अर्थान्तर-प्रकाशकता नहीं बनती। जैसे हर्षचरित में सिंहनाद के समय—'चल रहे इस महाप्रलय में धरणी-धारण करने के लिये तुम शेष हो।

यह वाक्य गूंज के समान पीछे से ध्वनित होते अर्थान्तर को बिना किसी कारण के शब्दशक्ति से प्रकाशित नहीं कर सकता।'

'चैत्र का महीना अभी केवल काम के बाण तैयार कर रहा है, जिनके लक्ष्य युवतियाँ हैं जो इन्हें अभी सह लेती हैं। उन (बाणों) के मुँह हैं आम के बौर, और उनके पुंख हैं नई कोंपलें। अभी चैत्र मास ये बाण काम को दे नहीं रहा है।'

यह शुद्ध कविप्रौढोक्ति है। इसमें अनुनेय 'वृक्षों का कुछ ही समय बाद युवतियों को कामोन्माद प्रदान करना' है, क्योंकि वे वृक्ष नई कोपलों से मण्डित हैं, अतः वसन्त के अविलम्ब आगमन की सूचना देते हैं। यहाँ सहकार चैत्र मास आदि का रूपक है। सहकार है शर। चैत्र मास है शरकार = वाण बनाने वाला, और काम है धनुर्धर। इन सबका व्यवहार समान है, अतः शरों के समग्र रूप से न बन सकने के कारण इस समय सहकार (आम्र पुष्पों) का कामदेव को समर्पित न करना हेतु है। काम के वाण चलाने में विघ्न है केवल वाणों का काम को न दिया जाना। यह जो वाणों का काम को न देना है वह और कुछ नहीं, वसन्त का व्यक्तियों के स्वभाव को कामोद्दीपन में सक्षम बनाना ही है।

'सिहिपिञ्छकण्णऊरा जाया वाहस्स गव्विरी भमइ।
मोत्ताफलरइअपसाहणाण मज्झे सवत्तीण ॥'

इत्यत्र नवोढाया व्याधवध्वाः सपत्नीभ्यः सौभाग्यातिरेकोऽनुमेयः। तत्र चास्याः शिखिपिच्छकर्णपूराया अपि सगर्वं भ्रमणं हेतुः, यतोऽयमभिप्रायस्तस्याः—मयि सत्यामयं सम्भोगैकरसिको व्याधो वारितान्यकर्त्तव्यो दिवानिशं मत्परायण एव केवलं मद्विनोदार्थं यदृच्छयान्तिकापतितमयूरमात्रमारणव्यापारो वर्त्तत इति शिखिपिच्छमात्रकर्णपूराहं जाता. भवतीषु सतीषु दूरदेशकालव्यवधानसाध्यमहारम्भमातङ्गमारणादिव्यापारनिरतोऽयमासीदिति मुक्ताफलरचितप्रसाधना भवत्य इति। तेन यदेतत् सगर्वं भ्रमणं तदेव तस्याः सपत्नीभ्यः सौभाग्यातिरेकमनुमापयतीत्यवसेयम्।

सिहिपिच्छ (पूर्वानूदित छाया)

यहाँ नई ब्याही बहेलिये की स्त्री के पति का सौतों की अपेक्षा अधिक प्रेम अनुमेय है। उसमें मोरंगे के करन..ऊ पहनने पर भी उसका गर्व के साथ घूमना हेतु है। क्योंकि उस स्त्री का अभिप्राय यह है कि—मेरे रहने हुए यह बहेलिया मेरे ही संभोग में लगा रहता है। उसने और सभी काम त्याग दिये हैं। दिन रात मुझीपर आसक्त रहता है। वह केवल मुझे बह ; के लिये पास में आ पहुँचे मोर को ही मारने का काम करता है। इसीलिये मैं केवल मोर के मोरंगे का भूषण पहने हुए हूँ। आप लोगों के साथ रहने पर वह दूर जाता है। बड़ा यत्न करता था। हाथियों के मारने आदि में लगा रहता था। इसीलिये आप लोग मोतियों के हार पहने हुई हैं। इसलिये यह जो उसका गर्व के साथ घूमना है वह उसका उसकी सौतों की अपेक्षा अधिक पतिप्रेम का अनुमान कराता है।

वाक्यार्थस्य विभावादिरूपस्य रसादीनां चालक्ष्यक्रमो गम्यगमकभाव इति प्रसाधितमेव। स च वाक्यार्थः शुद्धोऽलङ्कारान्तरसङ्कीर्णश्चेति द्विधा सम्भवति।

तत्र शुद्धो यथा रामाभ्युदये 'कृतककुपितै'—रित्यादिश्लोकः। एतद्वाक्यं परस्परानुरागं परिपोषप्राप्तं प्रकाशयत् सर्वत एव परं रसतत्त्वं प्रकाशयति।

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णो यथा—

'स्मररसनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि-
र्यदपि विधृता दुःखं तिष्ठन्त्यपूर्णमनोरथाः।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः॥' इति।

अत्र हि रूपकेण यथोक्तलक्षणगमकानुगतेनावगमितोऽयं रसः सुतरां प्रकाशत इति मुख्यवृत्त्यार्थस्यैव गमकत्वं न शब्दस्येति स्थितम्।

विभावादिरूप वाक्यार्थ और रसादि के गम्यगमकभाव में क्रम लक्षित नहीं होता (अर्थात् वाक्यार्थ गमक है और रस गम्य, पर इनका गम्यगमकभाव समझ में नहीं आता।) यह कहा ही जा चुका है। वह वाक्यार्थ दो प्रकार का होता है, शुद्ध और अन्य अलंकार से युक्त। दोनों में से शुद्ध—रामाभ्युदय में—'कृतककुपितैः'—[वाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितैर्वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथाम्बया। नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः॥' माँ (कौसल्या) के रोकने पर भी जो ऊपरी कोप, आँसू तथा दीनदृष्टि से मेरे साथ वन आई उसी तुम्हारे बिना नए मेघों से श्याम दिशाएँ देखता हुआ तुम्हारा कठिन हृदय वाला प्रिय (राम) अभी जीवित है हो] पद्य। यह वाक्य एक दूसरे के पुष्ट अनुराग को प्रकाशित करता है। और सर्वोपरि रस को प्रकाशित करता है। अन्य अलंकार से युक्त यथा—

'प्रियजन कामरस की नदी की बाढ में वह जाते हैं' किन्तु गुरुजनों के बाँध उन्हें रोके रहते हैं।, अतः वे, उनकी अभिलाषाएँ पूर्ण नहीं होती, इसलिये दुःख में डूबे रहते हैं' इतने पर भी अपने चित्रलिखित से अंगों से एक दूसरे के प्रति उन्मुख होकर आँखरूपी कमलिनी की नाल से आया कुछ रस पाते रहते हैं।'

यहाँ पहले (लावण्यकान्ति पद्य में) बतलाए लक्षण से युक्त रूपक द्वारा प्रतीत हुआ यह रस स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है, अतः प्रमुखरूप से अर्थ ही यहाँ गमक है, शब्द नहीं।

वाक्यर्थस्येव प्रबन्धस्यापि रसादीनां च योऽयमलक्ष्यक्रमो गम्यगमकभावो महाभारतरामायणादौ प्रसिद्धः तस्य विभावानुभावव्यभिचार्यौचित्यचारुणो वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा कथाशरीरस्य रसाभिव्यक्त्यानुगुण्येनोपनिबन्ध एव निबन्धनम् तस्य रसादीनां च कार्यकारणभावस्य प्रतिपादितत्वात्। यदाह ध्वनिकारः—

'विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा॥
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोऽन्वयः॥
सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया॥

उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥' इति ।

वाक्यार्थ के समान प्रबन्धादि और रस का भी जो अलक्ष्यक्रम, गम्यकभाव, रामायण और महाभारत आदि में प्रसिद्ध है वहाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के औचित्य से सुन्दर इतिहास-प्रसिद्ध या कल्पित कथावस्तु की रसाभिव्यक्ति के अनुरूप योजना ही कारण है, क्योंकि उस (योजना) का और रसादि का कार्यकारणभाव बतलाया जा चुका है। जैसा कि ध्वनिकारने कहा है—

'प्रबन्ध द्वारा रसादि की अभिव्यक्ति में कारण है—ऐतिहासिक या कल्पित ऐसे कथा-शरीर का विधान जो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के औचित्य से सुन्दर हो, जो कथा इतिहास से भी चली आ रही हो उसमें रस के प्रतिकूल घटना का छोड़ देना, और बीच में रसनिष्पत्ति के लिये और भी कुछ कल्पना कर लेना, रस को अभिव्यक्त करने के लिये सन्धि और सन्धि के अङ्गों की योजना करना केवल इसलिये नहीं कि शास्त्र की मर्यादा का पालन करना है, बीच बीच में (रसादि का) उद्दीपन और तिरोभाव भी यथावत् करना, अलंकार योजना की शक्ति होने पर भी रसानुरूप (अलंकार) ही उपस्थित करना।

सुबादीनामपोद्धारपक्षे अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थवत्तावसाये सति अर्थस्य च विभावादिरूपत्वाद् विभावादीनां रसादीनां च कार्यकारणभावस्योपपादितत्वात् तन्मूलो लक्ष्यक्रमो गम्यगमकभावोऽभ्युपगन्तव्य एव। तेषामुदाहरणानि यथा—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन मे
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥' इति।

भूम्ना सर्वेषां स्फुटमेव गमकत्वं दृश्यते। 'तत्र मे यदरय' इति सुप्सम्बन्धवचनानामुक्तनयेन गमकत्वम्, यथायोगमुत्तरत्र च। 'तत्राप्यसौ तापस' इति तद्धितनिपातयोः 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावण' इति तिङ्कारकशक्तीनाम् 'धिग् धिक् शक्रजितमि'त्यादौ श्लोकार्धे कृत्तद्धितसमासोपसर्गाणामिति।

सुप्तिङ्सम्बन्धाद्याः क्रोधोत्साहादिकान् यथा भावान्।
गमयन्ति, तद्विधेयाविमर्श एवोक्तमस्माभिः॥ २९॥ इत्यन्तरार्या।

सुप् आदि विभक्तियाँ अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यदि किसी विशेष अर्थ का ज्ञान करा रही हो, अतः उनका विनियोग आवश्यक हो तो उन्हें भी गमक ही मानना चाहिये। कारण कि—अर्थ तो विभावादि रूप ही होता है और विभावादि और रस का कार्यकारण सम्बन्ध निश्चित है, अतः सुप्तिङादिमूलक लक्ष्यक्रम गम्यगमकभाव मानना चाहिये। उदाहरण—न्यक्कारो०० इस (पूर्वानूदित) पद्य में—

प्रायः सभी साफ साफ गमक है 'मे यदरयः' सुप्सम्बन्ध द्वारा उक्त प्रकार से गमक है। और अन्य सब भी अपनी अपनी विशेषता द्वारा 'तत्राप्यसौ तापसः' इसमें तद्धित गमक है। 'सोप्यत्रैव' आदि में तिङ् और कारक की शक्ति। 'धिग् धिक्' इत्यादि आधे श्लोकों में कृदन्त, तद्धित और उपसर्ग गमक है।'

'सुवन्त और तिङन्त आदि (तद्धित) क्रोध, उत्साह आदि भावों को जिस प्रकार अनुमित करते हैं वह हमने विधेयाविमर्श में ही बतला दिया है।

निपातोपसर्गादीनामसत्त्वभूतार्थानामुपाधिरूपत्वादुपाधिमत्समाश्रयेणैवार्थावगतिरिति पदवाक्ययोरर्थावगमकत्वोक्त्यैव तेषामपि गमकता प्रतिपादितैव। केचित् पुनर्निपाताः क्रोधाद्भुतशोकादीन् भावान् प्रदीपवद् वक्तृगतानेवावद्योतयन्ति न वाच्यगतान्। यथा—

'आस्तिष्ठ रक्षः! क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसी'ति क्रोधः।
'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्य' इति विस्मयः।
'हा धिक् कष्टमहो क्व यामि शरणम्' इति शोकः।

अत एव तेषां द्वित्राणां त्रिचतुराणां वा प्रयोगे पुनरुक्तता नाशङ्कनीया समुदितानां प्रदीपादीनामिव स्वकार्ये प्रकर्षदर्शनात्। तदुक्तम्—

'नामवदुपसर्गास्ते किन्त्वन्योपहितमाहुरर्थं स्वम्।
दीपकवत्तु निपाताः शोकादीन् द्योतयन्ति वक्तृगतान्॥
गमयन्ति कार्यभूतान् गद्गदिकादिवदवाचका एव।
सङ्घटनावर्णाद्याः क्रोधोत्साहादिकान् भावान्॥' इति।

तदेवं ध्वनेरनुमानान्तर्भावाभ्युपगमः श्रेयानिति।

निपात और उपसर्ग जो द्रव्येतर वस्तु के वाचक होते हैं वे उपाधिरूप हैं, वे उपाधियुक्त अर्थ के द्वारा ही दूसरे अर्थ का ज्ञान कराते हैं। अतः उनकी गमकता पद और वाक्य की गमकता से ही चरितार्थ है। कुछ निपात क्रोध अद्भुत और शोक आदि भावों को दीपक के समान वक्ता के भीतर ही सिद्ध करते हैं, वाच्य के भीतर नहीं। जैसे—'आ' ठहर रे राक्षस' मेरी प्रिया को लेकर कहाँ जा रहा है—इसमें क्रोध, 'अहो बत'—तुम्हारी शक्ति स्पृहणीय है इसमें आश्चर्य, 'हा धिक्, बड़ा खेद है, भला किसकी शरण में जाऊँ—इसमें शोक। अतः उनमें से दो-तीन या तीन-चार का एक साथ प्रयोग हो जाने पर भी पुनरुक्ति नहीं माननी चाहिये। इकट्ठे होने से प्रदीप आदि के समान उनके कार्य में कुछ उत्कर्ष दिखाई देता है। जैसा कि कहा है—'उपसर्ग नाम शब्द के समान है, वे अपने अर्थ को बतलाते हैं किन्तु तब जब वह अर्थ किसी अन्य अर्थरूपी उपाधि से युक्त हो।' निपात जो है सो दीपक के समान शोक आदि का वक्ता में ज्ञान कराते हैं। शोकादि के निपातादि कार्य हैं। वे वाचक होते हुये भी स्वर की गद्गदता के समान शोकादि को व्यक्त करते ही हैं।

इस प्रकार ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव मानना ही अच्छा है।

तदिदं विस्तरस्यास्य तात्पर्यमवधार्यताम्।
यार्थान्तराभिव्यक्तौ वस्सामग्रीष्टा निबन्धनम्॥ ३०॥

सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता।
अन्यतोऽन्यस्य हि ज्ञानमनुमैकसमाश्रयम् ॥ ३१ ॥
वाच्यवाचकयोः स्वार्थप्राधान्यप्रतिषेधतः।
ध्वनेः शक्त्यन्तराभावाद् व्यक्तेश्चानुपपत्तितः ॥ ३२ ॥
प्राणभूता ध्वनेर्व्यक्तिरिति सैव विवेचिता।
यत्त्वन्यत् तत्र विमतिः प्रायो नास्तीत्युपेक्षितम् ॥ ३३ ॥
प्रायः प्रतीतिवैचित्र्यरसास्वादविदः प्रति।
सूपकारक्रियेयं मे साफल्यमुपयास्यति ॥ ३४ ॥

इति सङ्ग्रहश्लोकाः।

इस प्रकार यह जो विस्तारपूर्वक विवेचन किया है उसका तात्पर्य यह समझिये कि आप (ध्वनिवादी) को दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति में जो सामग्री मान्य है वही हमें गमक रूप से हमारे अनुमिति पक्ष में मान्य है। दूसरे से दूसरे का ज्ञान एकमात्र अनुमान पर आश्रित है। वाच्य स्वयं प्रधान नहीं होता और वाचक का अर्थ प्रधान नहीं होता। शब्द की दूसरी शक्ति नहीं होती। अतः व्यक्ति बनती नहीं। और ध्वनि का प्राण यही व्यक्ति (व्यञ्जना व्यापार) है। हमने उसी का विवेचन किया। और जो कुछ है उसमें हमारा मतभेद नहीं अतः हमने उसकी विवेचना नहीं की। मुझे आशा है कि प्रतीति की विचित्रतारूप रसास्वाद के जानकारों के प्रति मेरा यह सूपकार जैसा कार्य सफल ही होगा।

आधातुं व्युत्पत्तिं नप्तॄणां क्षेमयोगभोजानाम्।
सत्सु प्रथितनयानां भीमस्यामितगुणस्य तनयानाम् ॥ ३५ ॥
श्रीधैर्यस्याङ्गभुवा महाकवेः श्यामलस्य शिष्येण।
व्यक्तिविवेको विदधे राजानकमहिमकेनायम् ॥ ३६ ॥
प्रतिपाद्यबुद्ध्यपेक्षौ प्रायः संक्षेपविस्तरौ कर्तुः।
तेन न बहुभाषित्वं विद्वद्भिरसूयितव्यं नः ॥ ३७ ॥

अन्यैरनुल्लिखितपूर्वमिदं ब्रुवाणो
नूनं स्मृतेर्विषयतां विदुषामुपेयाम्।
हासैककारणगवेषणया नवार्थ-
तत्त्वावमर्शपरितोषसमीहया वा ॥ ३८ ॥

इति श्रीराजानकमहिमभट्टविरचिते व्यक्तिविवेकाख्ये काव्यालङ्कारे ध्वनेरनुमानेऽन्तर्भावोपदर्शनो नाम तृतीयो विमर्शः।



अति गुणवान् भीम के विद्वानों में प्रसिद्ध (तथा) क्षेम, योग तथा भोज नामक अपने पौत्रों की व्युत्पत्ति के लिये, श्रीधैर्य के पुत्र, महाकवि श्यामल के शिष्य इस विनीत राजानक महिमा (चार्य) ने यह व्यक्तिविवेक बनाया।

ग्रन्थकार प्रायः शिष्यों की बुद्धि को ध्यान में रखकर ही ग्रन्थ में संक्षेप या विस्तार करते हैं, अतः विद्वज्जन मेरे विस्तारपूर्ण विवेचन पर दोष न दें। मुझे विश्वास है कि 'मैं विद्वज्जनों के स्मरण का पात्र अवश्य ही बनूँगा, भले ही वे मेरा स्मरण परिहास के लिए करें या नवीन विषय के तत्त्व-ज्ञान द्वारा आत्मतोष के लिए, क्योंकि मैंने ऐसे तथ्य उपस्थित किए हैं जिनपर दूसरों की दृष्टि नहीं गई थी॥

विमर्श : प्रकाशित प्रतियों में भोज की जगह भाज पाठ है।

इस प्रकार राजानक महिमभट्ट द्वारा रचित व्यक्तिविवेक नामक काव्यालङ्कार (ग्रन्थ) में
'ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव-निरूपण' नामक तृतीय विमर्श पूर्ण हुआ।
इस प्रकार व्यक्तिविवेक तथा उसके संस्कृतव्याख्यान के तृतीय विमर्श का नादनेर
[भोपाल म० प्र०] वासी पं० श्री नर्मदाप्रसाद द्विवेदी के आत्मज
पं० श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दीभाष्य पूर्ण हुआ।

मल्लिनाथमिव प्राज्ञं श्रीहर्षमिव निर्भयम्।
लोचनस्य विधातारमिव भावितसंविदम्॥
बाणदण्डिजगन्नाथैः समं वाचां विजृम्भणे।
पाण्डेयश्रीमहादेवशास्त्रीति जगति श्रुतम्॥
पुरा प्राचार्यता हिन्दूविश्वविद्यालये यथा।
तथा स्वयं वृतवती शंकराचार्यताऽद्य यम्॥

विद्यात्रयीमूर्तिधराऽद्य यावद् यस्योत्तमाङ्गाद् वहति द्युसिन्धुः।
महेश्वरानन्दसरस्वतीति यतो यमार्या ब्रुवते स धीमान्॥

तस्यैव पाण्डित्यकलां श्रयाणः साहित्यविद्याऽध्वनि सार्वभौमः।
साहित्यपीठेऽथ च विश्वविद्यालयद्वयेऽध्यक्षपदं दधानः॥

मल्लः शरीरेण हृदा म्रदीयान् सारस्यसौजन्यनिधिर्महीयान्।
कविर्महान् रामकुबेरनामा स मालवीयश्च बुधो गरीयान्॥

गुरू यदीयौ शिवराजधान्यां काश्यां तदीशाविव शुद्धसत्त्वौ।
रेवाप्रसादः स कृतौ महिम्नां हिन्दीमयं भाष्यमिदं व्यतानीत्॥

सेतुं यथा दाशरथिर्महाब्धौ मन्थानभूध्रं यदि वा गरुत्मान्।
ध्वनौ विवेकं य इमं ततान तस्मै महिम्ने भृशमादृताः स्मः॥

पूर्णश्चायं ग्रन्थः

श्लोकानुक्रमणी

[प्रतीक—आनंद = आनंदवर्धन, उत्तर = उत्तररामचरित, का = कारिका, किरात = किरातार्जुनीय, कुमार = कुमारसम्भव, चण्डी = चण्डीशतक, प्र० वा० = प्रमाण वार्तिक, ध्वन्या = ध्वन्यालोक, माघ = माघकाव्य या शिशुपालवध, मालती = मालतीमाधव, रघु = रघुवंश, वक्रोक्ति = वक्रोक्तिजीवित, विक्रमो = विक्रमोर्वशीय, वेणी = वेणीसंहार, व्या० = व्याख्यान, शाकुन्त० = शाकुन्तल, सूर्यश० = सूर्यशतक, हरवि० = हरविजयमहाकाव्य, हर्षच = हर्षचरित ।]

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१२१



राजानक-श्रीमहिमभट्टप्रणीतः

व्यक्तिविवेकः

श्रीराजानकरुय्यकविरचितसंस्कृतव्याख्यया

रायपुरस्थशासकीयसंस्कृतमहाविद्यालयप्राध्यापक-

एम०ए०-साहित्यशास्त्राचार्य-

पं० रेवाप्रसादद्विवेदिकृतः

तदुभयहिन्दीभाष्येण च सनाथीकृतः





चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : तृतीय, वि० संवत् २०३९
मूल्य : प्रथम विमर्श रु० १६-००
संपूर्ण रु० ५०-००

अन्य प्राप्तिस्थान

१. चौखम्भा ओरियन्टालिया
पो० बा० नं० ३२
गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
टेलीफोन : ६३३५४ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

शाखा—बंगलो रोड, ९ यू० बी० जवाहर नगर
दिल्ली-११०००७ फोन : २२१६१७

२. चौखम्भा विश्वभारती
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

३. चौखम्भा भारती अकादमी
गोकुल भवन, के. ३७/१०९
गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१
फोन : ६३३५४

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

121

*****

VYAKTIVIVEKA

OF

RĀJĀNAKA ŚRĪ MAHIMABHAṬṬA

EDITED WITH

A Sanskrit Commentary of Rājānaka Ruyyaka and Hindi Commentary and Notes

By

Prof. REWĀPRASĀDA DWIVEDĪ, M. A.
Sāhityāchārya
Govt. Sanskrit College, Raipur (M. A.)

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publisher and Distributor of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 139
Jadau Bhawan K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

© *Chaukhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi*

Phone : 65889

Third Edition 1982

Also can be had of

1. CHAUKHAMBHA ORIENTALIA

Post Box No. 32

Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI–221001 (India)

Telephone : 63354 Telegram : Gokulotsav

Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar

DELHI–110007

Phone : 221617

2. CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI–221001

Phone : 65444

3. CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY

Gokul Bhawan, K. 37/109

Gopal Mandir Lane

VARANASI–221001 (India)

Phone : 63354

Printer—Vidya Vilas Press, Varanasi

समर्पण

राष्ट्रभाषा की सेवा में प्रथम बार प्रस्तुत व्यक्तिविवेक का यह
रूपान्तर बस्तर के भू० पू० शासक,

तत्रभवान् महाराज श्री प्रवीणचन्द्र जी भंजदेव

को

सादर अर्पित है,

जिनका व्यक्तित्व ठीक उसी व्यक्तिविवेक के समान है तथा जिनमें
काकतीय वंश की इतिहास प्रसिद्ध संस्कृत-निष्ठा आज भी
उसी प्रकार रक्षित है जिस प्रकार हमारी मातृभूमि
की चिर-संचित आदिमतम तथा अमूल्य
वनश्री बस्तर में—

रेवाप्रसाद द्विवेदी

भूमिका

ग्रन्थकार—

व्यक्तिविवेक मूलतः संस्कृतभाषा में लिखा हुआ एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसके रचयिता राजानक महिमाचार्य हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से ईसवी सन् १००० से १०५० अथवा ११०० के बीच का माना जाता है। ऊपरी सीमा १००० इसलिए निर्धारित होती है कि व्यक्तिविवेक में अभिनवगुप्त के लोचन का एक अंश अक्षरशः उद्धृत मिलता है [द्र० पृष्ठ ९६]। अभिनवगुप्त के अन्य ग्रन्थों का रचनाकाल उनके स्वयं के उल्लेखों के अनुसार ९९०-१ से लेकर १०१४-५ ई० तक निर्धारित है। लोचन भी इसी बीच या इसके आसपास लिखा गया होगा। व्यक्तिविवेक की रचना निश्चित ही लोचन के लगभग २५ वर्ष बाद हुई होगी, क्योंकि लोचन में भट्टनायक के दर्पण के उद्धरण हैं और व्यक्तिविवेककार को दर्पण प्राप्त नहीं हुआ था जैसा कि उनके स्वयं के **'अदृष्टदर्पणा मम धीः'** (१.४ मंगलपद्य) कथन से स्पष्ट है। दर्पण के न मिलने का कारण उसकी प्रतिलिपियों की कमी हो सकती है अथवा उसका लुप्त हो जाना। अभिनवगुप्त महामाहेश्वर थे इस लिए कदाचित् उन्होंने शिष्यसाहस्री द्वारा एक आध प्रति पा ली होगी। लोचन में ध्वन्यालोक की टीका चन्द्रिका का भी उल्लेख है। महिमभट्ट को वह भी नहीं मिली थी (१.५ मंगलपद्य)। व्यक्तिविवेक की रचना उसके रचयिता ने अपने प्रौढ़ नातियों के लिए की है और उनके खण्डन वाक्यों की भाषा में असहिष्णुता तथा खीझ दिखलाई देती है, इससे स्पष्ट है कि व्यक्तिविवेक की रचना के समय वे ६० वर्ष से ऊपर के रहे होंगे। अभिनवगुप्त को उन्होंने **'केचिद् विद्वन्मानिनः, आविष्टचित्त०'** ऐसे शब्दों से झकझोरा है और उनका नाम नहीं लिया, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि महिमभट्ट के समय अभिनवगुप्त जीवित थे। वय में अधिक होने के कारण अथवा काश्मीरी-दर्शन के गुरुपीठ पर महामाहेश्वर के रूप में अभिषिक्त होने के कारण उन्हें महिमभट्ट आदर देते थे। यह तथ्य इससे भी स्पष्ट है कि द्वितीय विमर्श में अभिनवगुप्त के समकालीन अथवा कुछ पुराने कुन्तक का उन्होंने **'काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना कुन्तकेन०'** (पृ० २८५) इसप्रकार नामोल्लेख भी किया है और इसमें कुन्तक के प्रति वे कोई आदर भी व्यक्त नहीं करते। इस प्रकार यदि महिमभट्ट अभिनवगुप्त के समकालीन भी हों तो उनका व्यक्तिविवेक लोचन के बाद की ही रचना है फलतः उसके रचनाकाल की ऊपरी सीमा १००० ई० से अधिक नहीं हो सकती।

निचली सीमा ११०० ई० से १०५० ई० तक के निर्धारण के अनेक प्रमाण हैं। ११४३ ई० के हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन की स्वोपज्ञ विवृति में व्यक्तिविवेक को पंक्तिशः और

अक्षरशः उद्धृत किया है। श्रीहर्ष ने अपने खण्डनखण्डखाद्य में वैयात्य को अनौचित्य से अभिन्न मानते हुए उसे दोष ठहराने के लिए व्यक्तिविवेक का सादर उल्लेख किया है—

'दोषं व्यक्तिविवेकेऽमुं कविलोकविलोचने।
काव्यमीमांसिषु प्राप्तमहिमा महिमाऽऽद्दत॥'

(खण्डन० विद्यासागरी : चौखम्बा प्रकाशन, पृष्ठ १३२७)

श्रीहर्ष कान्यकुब्जाधिपति जयचन्द्र के सभापण्डित थे और जयचन्द्र का शासनकाल ११६९-९५ ई० माना जाता है, अतः व्यक्तिविवेक निश्चित ही खण्डनखण्डखाद्य के ६०–७० वर्ष पूर्व ११०० ई० में ही बना होगा। व्यक्तिविवेक की जो संस्कृतव्याख्या इस संस्करण में दी गई है उसके रचयिता, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाने वाला है, रुय्यक या मंख माने जाते हैं। मंख काश्मीराधिप जयसिंह के सान्धिविग्रहिक थे ऐसा राजतरंगिणी के—

'सान्धिविग्रहिको मंखकाख्योऽलङ्कारसोदरः।
स मठस्याभवत् प्रष्ठः श्रीकण्ठस्य प्रतिष्ठया॥' (८।३३५४)

इस पद्य से स्पष्ट है। जयसिंह का समय ११२८–४९ ई० माना गया है। मंख ने व्यक्तिविवेक के पाठान्तरों की चर्चा अनेक स्थलों पर की है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि मंख के ११२८ ई० तक व्यक्तिविवेक का पुष्कल प्रचार हो चुका था। इसमें निश्चित ही २५, ५० वर्षों का समय लगा होगा। यदि इस व्याख्या के रचयिता रुय्यक हैं तो कुछ समय और लगा होगा, क्योंकि रुय्यक मंख के गुरु हैं। मंख ने अपने श्रीकण्ठचरित महाकाव्य के अन्तिम सर्ग में उन्हें स्पष्ट रूप से गुरु कहा है—

'तं श्रीरुय्यकमालोक्य स प्रियं गुरुमग्रहीत्।
सौहार्दप्रश्रयरसस्रोतःसंभेदमज्जनम्॥' (२५।३०)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महिमभट्ट ने अपना व्यक्तिविवेक अपने नातियों के लिए बनाया अतः उनका वय उस समय ६०–७० से कम का न होगा—उसके अनुसार व्यक्तिविवेक के प्रचार के ५० वर्ष और जोड़ दिए जाएँ तो महिमभट्ट का स्थितिकाल १००८ या १०१८ से १०७८ या ११०३ ई० के बीच सिद्ध होता है। इस समय अभिनवगुप्त जीवित थे ही।

इन निश्चित प्रमाणों के अतिरिक्त एक प्रच्छन्न प्रमाण उक्त सीमा को और भी संकुचित कर देता है। वह है काव्यप्रकाश में व्यक्तिविवेक की छाया। काव्यप्रकाश में पञ्चम उल्लास का उपसंहार अनुमितिवाद के खण्डन से हुआ है। इस अंश में अनुमितिवादी आचार्य का नाम अन्य मतों के आचार्यों के ही समान नहीं दिया गया है। टीकाकारों तथा अध्येताओं की परंपरा इसे व्यक्तिविवेककार का खण्डन मानती है। काश्मीरी टीकाकार भट्टगोपाल और पण्डितराज जगन्नाथ ने तो स्पष्ट रूप से व्यक्तिविवेककार को ही उक्त खण्डन का पूर्वपक्षी कहा है—

(संप्रदायविमर्शिनी तथा रसगंगाधर-उत्तमोत्तमकाव्य)। परम्परा पर विश्वास काव्यप्रकाश तथा व्यक्तिविवेक की पदावली की तुलना से भी होता है। काव्यप्रकाशकार ने वस्तुध्वनि के रूप में ध्वनिकार द्वारा प्रस्तुत प्रसिद्ध गाथा 'भ्रम धार्मिक०' को नहीं अपनाया। उन्होंने निषेध से विधि की प्रतीति या व्यक्ति के लिए भी 'निश्शेषच्युतचन्दनम्०' पद्य स्वीकार किया जिसके लिए ध्वनिकार ने 'अत्ता एत्थ०' गाथा प्रस्तुत की थी। उन्होंने इसे तो पञ्चमोल्लास में प्रसंगान्तर से अपना भी लिया है किन्तु 'भ्रम धार्मिक' को सर्वथा छोड़ दिया है। किन्तु जहाँ वे अनुमितिवादी का मत उपस्थित करते हैं वहाँ वस्तुध्वनि के उदाहरण के रूप में न तो अपना उदाहरण प्रस्तुत करते और न कोई अन्य श्लोक ही। वे 'भ्रम धार्मिक' पद्य को ही प्रस्तुत करते है। अनुमितिवाद का समर्थक ग्रन्थ संपूर्ण काव्यशास्त्र में केवल व्यक्तिविवेक ही है और इसमें ध्वनिपद्यों को अनुमितिपद्य बतलाने के लिए तृतीय विमर्श का आरम्भ इसी पद्य से किया गया है। निश्चित ही मम्मट ने अनुमितिवाद का मूलरूप व्यक्तिविवेक से ही उपस्थित किया है। पदावली भी इसमें प्रमाण है। व्यक्तिविवेक में अनुमिति की उपस्थापना इन शब्दों में की गई है—

'न च वाच्यादर्थान्तरप्रतीतिरविनाभावसंबन्धस्मरणमन्तरेणैव संभवति सर्वस्यापि तत्प्रतीतिप्रसङ्गात् [पृ० ८३] प्रेक्षावत्प्रवृत्तिरनर्थसंशयाभावनिश्चयेन व्याप्ता, तद्विरुद्धश्च अनर्थसंशयोऽस्मात् [भ्रम धार्मिक०] विधिर्वाक्यात् णिजर्थपर्यालोचनयाऽवसीयते, इति व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या०००' (पृ० ४६५-६६)।

काव्यप्रकाश की निम्निलिखित पंक्तियों पर निश्चय ही व्यक्तिविवेक के इन अंशों की प्रतिच्छाया है—

'ननु वाच्यादसंबद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसंगात्, एवं च संबन्धाद्व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतिः००, भ्रम धार्मिक० अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति, यद् यद् भीरुभ्रमणं तद् तद् भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहो-पलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः' (काव्यप्रकाश पञ्चमोल्लासान्त)।

दोषप्रकरण में मम्मट ने प्रायः वे ही उदाहरण दिए हैं जो महिमभट्ट ने द्वितीय विमर्श में दिए थे। न केवल इतना ही, उन्होंने उन पद्यों के सुधारे रूप भी अधिकतर ज्यों-के-त्यों अपना लिए हैं। प्रक्रमभेद में प्रकृतिप्रक्रमभेद का उदाहरण व्यक्तिविवेककार ने 'नाथे निशायाः०' दिया है और उसमें 'निशापि याता' का रूपान्तर 'गता निशापि' किया है। मम्मट ने इसे ज्यों-का-त्यों अपना लिया है (द्र० सप्तम० भग्नप्रक्रमत्व)। इसी प्रकार 'यशोऽधिगन्तुं०' पद्य में 'सुखमीहितुम्', 'महीभृतः पुत्रवतः' पद्य में 'अपत्यवतः', 'काचित् कीर्णा०' पद्य में

'काश्चिद्० अनुविद्धुः' तथा 'कम्पमापुः' ये रूपान्तर मम्मट ने व्यक्तिविवेक से ज्यों-के-त्यों अपना लिए हैं। अन्य उदाहरणों में भी मम्मट ने व्यक्तिविवेक के निर्देशों पर अपनी बुद्धि चलाई है। उदाहरणार्थ व्यक्तिविवेककार ने 'ते हिमालयमामन्त्र्य०' पद्य में 'सिद्धं चास्मै' के 'इदं पद' की जोड़ में 'तद्विसृष्टाः' पद में भी 'इदं पद' का प्रयोग आवश्यक बतलाया था, किन्तु छन्दोयोजना में उसके न जमने से कोई रूपान्तर नहीं दिया था—भगवन्तं शूलिनम् 'इदमा' परामृश्य तेनैव तत्परामर्शः कर्तुं युक्तः, न 'तदा' (पृ० २९२)। मम्मट ने पाठान्तर में 'अनेन विसृष्टाः' ऐसा प्रयोग दिखलाया। निश्चित ही उन्होंने महिमभट्ट के मौन को मुखर करने की उदारता बरती किंतु वे उस मौन का कारण दूर न कर सके। 'गाहन्तां महिषा०' पद्य में महिमभट्ट ने 'विस्रब्धं क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः' को 'कुर्वन्त्वस्तभियो वराहततयो मुस्ताक्षतिं' इस प्रकार बदला था। मम्मट ने उसे 'विस्रब्धं रचयन्तु शूकरवरा मुस्ताक्षतिं' इसप्रकार बदला। निश्चित ही उन्हें महिमभट्ट के रूपान्तर में विस्रब्ध-पद का अभाव खटका जिसके लिए उन्होंने 'अस्तभियः' पद दे दिया था। किन्तु वे अपने पाठ में सूकरों की पाँतों को न ला सके जिसे 'स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि' में कवि भुला न सका था। कदाचित् मम्मट को तति के साथ आए बहुवचन में व्यर्थता या पुनरुक्ति प्रतीत हुई, जिससे 'सूकरवराः' पाठ करने पर भी वे न छूट सके, क्योंकि 'वर' शब्द वहाँ भी अनावश्यक ही है, मुस्ताक्षति तो प्रत्येक सूकर करता है। इसके अतिरिक्त 'क्रियतां' की प्रकृति को वे रक्षित न रख सके और उन्हें 'रच्' धातु का प्रयोग करना पड़ा, जिससे ऐसा कुछ कृत्रिम अर्थ निकलता है कि जैसे मुस्ताक्षति कोई ताने-बाने में फैला सूत है जिसका वस्त्र बुनना है। फिर यदि चतुराई दिखलानी थी तो आत्मनेपद के प्रक्रम के निर्वाह में दिखलानी थी जो महिमभट्ट के ही समान मम्मट के पाठ में भी टूटा ही हुआ है, वे 'गाहन्ताम्, अभ्यस्यताम्, रचयन्तु या कुर्वन्तु, लभताम्'—इसप्रकार आत्मनेपद के उपक्रम और उपसंहार में मम्मट भी महिमभट्ट के ही समान अपना पाठ जमा नहीं सके।

दोषों के विवेचन में मम्मट के काव्यप्रकाश और व्यक्तिविवेक की एकरूपता सर्वनामविधेयाविमर्श आदि से भी बहुत स्पष्ट है। महिमभट्ट ने अपने दोषविवेचन की स्वोपज्ञता का संकेत दिया है (१८४ पृ० स्वकृतिपु० तथा 'अन्तिम श्लोक)। वे अपने आप को कवि भी स्वीकार करते हैं। मम्मट में दोनों ही बातें नहीं मिलतीं। उनका पहला 'नियतिकृत०' पद्य भी 'अपूर्व यद् वस्तु०' इस लोचन के मंगल पर निर्भर है अतः काव्यप्रकाशकार का व्यक्तिविवेककार पर प्रभाव मानना संभव नहीं है।

विषय और भाषा का इतना अधिक साम्य मिलने पर मम्मट के काव्यप्रकाश से महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक को पूर्ववर्ती न मानना तर्क को भले ही रुचे हृदय को तो नहीं रुचता। मम्मट का समय भोज और हेमचन्द्र के बीच का है, क्योंकि उदात्तालङ्कार में उन्होंने भोज पर निर्मित

'यद् विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम्' यह पद्य उद्धृत किया है और हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन की विवृति में व्यक्तिविवेक के ही समान काव्यप्रकाश को भी पंक्तिशः अपना लिया है। भोज का १०७८ वि० सं० का अभिलेख उपलब्ध है। अतः हेमचन्द्र के ११४३ ई० और भोज के १०२१-२ ई० समय के बीच मम्मट का होना निश्चित है। काव्यप्रकाश की उपलब्ध टीकाओं में माणिक्यचन्द्र की टीका 'संकेत' सबसे पुरानी है। इसका निर्माण ११५८ ई० में हुआ था। संकेत में भी प्राचीन टीकाओं के निर्देश हैं अतः काव्यप्रकाश ११०० ई० से पहले की ही रचना सिद्ध होता हैं। इस प्रकार यदि मम्मट को ११०० ई० का भी मान लिया और उक्त संदर्भों के आधार पर महिमभट्ट को उनसे प्राचीन माना जाय तो महिमभट्ट १०५० ई० से नीचे के सिद्ध नहीं होते।

इस प्रकार महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक का रचनाकाल १००० से १०५० अथवा ११०० ई० तक सिद्ध होता है।

व्यक्तिविवेक की अन्तपुष्पिका से स्पष्ट है कि उनके पिता का नाम धैर्य था और गुरु का श्यामलिक। श्यामलिक को उन्होंने महाकवि कहा हैं, किन्तु ऐसे किसी महाकाव्य की अभी तक हमें सूचना नहीं है जिसके रचयिता का नाम श्यामलिक हो। पादताडितक नामक भाण के रचयिता अवश्य ही श्यामलिक हैं, किंतु उन्हें नाटककार और कवि कहा जा सकता है, महाकवि नहीं। फिर पादताडितक गुप्तयुग के मध्य या उत्तर काल की रचना है। डॉ० बरो के अनुसार डॉ० मोतीचन्द्र ने स्वसंपादित चतुर्भाणी की भूमिका में पादताडितक को ई० ४१०-१५ के बीच की कृति माना है। घटनाएँ, उल्लेख, चित्रण और सामाजिक स्तर के अतिरिक्त भाषा के आधार पर हमें भी पादताडितक बाणभट्ट के पहले और कालिदास के बाद की रचना प्रतीत होती है। गुप्तयुग का सौन्दर्यकाल जब जनमानस को आन्दोलित कर ढल गया तब नागर जीवन में जिस इन्द्रिय-परायणता ने घर कर लिया था वह हर्षयुगीन कादम्बरी के जरद्द्रविड धार्मिक और शूद्रक के मृच्छकटिक से स्पष्ट है। पादताडितक में तो हम उसका और भी बीभत्स रूप पाते हैं। यह न तो सौन्दर्यसमृद्धि के समय में सम्भव है जिसमें रूप को पापवृत्ति नहीं माना जाता और न आठवीं शती के बाद के अकर्मण्यता के समय में, जब भारतीय जनमानस विकेन्द्रित अधिक था। संस्कृत के तत्कालीन माघ, हरविजय आदि प्रतिनिधि काव्यों से यह तथ्य स्पष्ट है। यह युग रूढियों के अनुवाद का युग था, सौन्दर्य के साक्षात् दर्शन का नहीं। इसीलिए इस समय शब्दों की नक्काशी अधिक दिखाई देती है, अर्थनिर्भरता और रसपिच्छलता कम। युग के बिम्बविधान का तो उनमें प्रायः अभाव ही है। यह संभव नहीं कि पादताडितक ऐसे युग की रचना हो। क्षेमेन्द्र तक तो उसके सामने टिक नहीं पाते। ऐसी स्थिति में पादताडितक के श्यामलिक को महिमभट्ट के समय १०००-११०० ई० तक खींचना संभव नहीं है। पादताडितक को अभिनवगुप्त ने अपनी

अभिनवभारती में उद्धृत किया है। निश्चित ही उसके रचयिता श्यामलिक उनसे भी अधिक प्राचीन हैं। फलतः महिमभट्ट के गुरु श्यामलिक कोई और ही कवि हैं।

महिमभट्ट ने अपने तीन नातियों का उल्लेख किया है (१) क्षेम, (२) योग और (३) भोज। प्राचीन संस्करणों में 'भोज' की जगह 'भाज' छपा है। हमने उसे कल्पना से ही भोज मान लिया है। महिमभट्ट ने इन्हें विद्वानों के बीच न्यायशास्त्र के लिए प्रसिद्ध बतलाया है। इन तीनों के पिता का नाम भीम है, जिन्हें अमितगुण कहा गया है। भीम महिमाचार्य के पुत्र भी हो सकते हैं और जामाता भी। हमारी दृष्टि में इनको पुत्र ही होना चाहिए। मातृकुल में दौहित्र को उसके पिता के नाम के साथ न पुकार कर उसकी माता के नाम के साथ पुकारा जाता है और यही स्वाभाविक भी है। धैर्य, महिमा, भीम, क्षेम, योग, भोज, ये नामपद भी ऐसे हैं जो एक ही घर में संभव हैं। जामाता का नाम श्वशुर जैसा ही हो यह निश्चित नहीं है। डॉ० काणे ने **'पौत्राणां'** न कहकर **'नप्तॄणां'** कहने पर भीम और महिमभट्ट के बीच ससुरजमाई के नाते पर जोर दिया है। पौत्र कहने पर सचमुच तथ्य का स्पष्टीकरण अधिक हो जाता है किन्तु नप्ता कहने पर पौत्रत्व जितना अस्पष्ट है उतना ही दौहित्रत्व भी। ससुर-जमाई का संबन्ध ही बतलाना था तो महिमभट्ट **'दौहित्रक्षेमयोगभोजानाम्'** लिख सकते थे। यहाँ 'दौहित्रत्व' में कोई विधेयता विवक्षित नहीं है जिससे उन्हें समास करने में विधेयाविमर्श का भय होता। सबसे बड़ी बात तो यह है कि लोक में नाती शब्द अधिक प्रचलित है, पोता या ढोटा (<धोता<दौहित्र) शब्द कम।

महिमभट्ट का निवासक्षेत्र कश्मीर है यह उनके परावाणी को किए प्रणाम तथा राजानक उपाधि से स्पष्ट है।

महिमभट्ट ने **'तत्त्वोक्तिकोश'** नामक अन्य भी कोई काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा था यह उनके द्वितीय विमर्श में किए स्वभावोक्तिनिरूपण से स्पष्ट है (पृ० ४५२-३)। प्रतिभातत्त्व का जो निरूपण उस ग्रन्थ से महिमभट्ट ने यहाँ प्रस्तुत किया है वह संपूर्ण संस्कृत काव्यशास्त्र में अनूठा है। ऐसी सूक्ष्म और तत्त्वस्पर्शिनी प्रज्ञा काव्य के उस अंश में, जिसे निगूढ और पिहित माना जाता है, विशदता के साथ और कितनी दूर तक न गई होगी ? दुःख है कि यह ग्रन्थ अभीतक प्राप्त नहीं है।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य

भारतीय काव्यचिंतन काव्य की असाधारण विशेषताओं की खोज में अलंकार और गुण तत्त्व के बाद—

> 'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
> वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥'

इसप्रकार ज्यों ही पहली बार 'प्रतीयमान अर्थ' तक पहुँचा वह सचमुच परिपूर्ण हो गया। इसे सभी चिंतकों ने एकस्वर से स्वीकार कर लिया। कहा गया कि यह अर्थ नारी अङ्ग में आभूषणों से

अलग प्रतीत हो रहे लावण्य [ध्वनिकारिका-प्रतीयमानं०] के समान है, या इसके सौभाग्य [वक्रोक्तिजीवित०] के समान है, इसे भी मान लिया गया। और आगे बढ़ कर कहा गया कि वस्तुतः यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है—'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' तो उसे भी बहुतों ने मान लिया। (महिमभट्ट ने भी 'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः'—कह कर उसे काव्यात्मा स्वीकार किया ही है) इसप्रकार काव्यार्थ के दो भाग और दोनों में द्वितीय = प्रतीयमान की सर्वाधिक महत्ता तक भारतीय काव्यशास्त्र के प्रायः सभी चिन्तकों की मति संवादमयी रही, उनमें ऐकमत्य रहा। किन्तु इस प्रतीयमान की प्रतीति में ज्यों-ही कारण की मीमांसा शुरू हुई, विसंवाद खड़ा हो गया, जिसका अन्त अभीतक नहीं हो पाया है। कारण की मीमांसा में दो प्रमुख दल खड़े हुए जिनमें एक व्याकरण-मतानुयायी है और दूसरा न्यायानुगामी। दोनों में प्रथम दल के प्रथम समर्थक प्रतीयमान अर्थ की स्थापना करने वाले स्वयं ध्वनिकार हैं। व्याकरण शास्त्र में अनित्य वैखरी से अर्थज्ञान मानना असंभव देख एक नित्यवाणी की कल्पना की गई है। नित्यवाणी आकाश या समुद्री जल के समान सामान्यात्मिका है। किन्तु अनित्यवाणी उसे अपने रूप में व्यक्त करती है। एक प्रकार से अनित्यवाणी टार्च के समान है और नित्यवाणी दीवाल के समान। टार्च का आकार जैसा होता है उससे वैसी ही प्रकाशकिरणें निकलती हैं और उसी आकार में भित्तिअंश व्यक्त होता है। इसप्रकार व्याकरण-शास्त्र ने अनित्य और नित्यवाणी या शब्दों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव स्वीकार किया था। सर्वविदित है कि उन्होंने जहाँ वैखरी वाणी का निर्वचन किया वहाँ उसे नाद या गड़गड़ाहट के पर्याय ध्वनि शब्द से पुकारा है। ध्वनिकार को शब्द अर्थ और प्रतीयमान अर्थ में व्याकरण की उक्त कल्पना का बहुत कुछ साम्य दिखाई दिया। प्रतीयमान अर्थ जैसे अव्यक्त होता है वैसे ही व्याकरण का नित्यशब्द। नित्यशब्द की प्रतीति में जैसे कारण माना जाता है अनित्य शब्द, काव्य में वैसे ही प्रतीयमान की प्रतीति में कारण होता है वाच्य और उसके साथ उसका वाचक इतने साम्य पर ध्वनिकार ने यह समझा कि व्याकरण में नित्यानित्य शब्दों के बीच जो व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध स्वीकार किया गया है वही काव्य के वाच्य प्रतीयमान में भी स्वीकार कर लिया जाय। और उन्होंने उसे स्वीकार कर भी लिया। उन्होंने प्रतीयमानार्थ की प्रमुखता वाले काव्य को ऐसा नाम दिया जिससे व्यञ्जना की सिद्धि के लिए उन्हें व्याकरण की ढाल मिल जाय। वह नाम है 'ध्वनि'। अर्थ यह कि कोई भी विचारक वाच्य और प्रतीयमान के सम्बन्ध को व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूप सिद्ध करने का प्रश्न काव्यशास्त्री से न करे, ध्वनि सुनते ही वह व्याकरण की ओर मुड़ जाय। काव्यशास्त्री ध्वनिकारों का कहना है—विद्वानों में सिरमौर हैं व्याकरणशास्त्री, क्योंकि व्याकरण ही सब शास्त्रों की जड़ है, अतः उनका बतलाया रास्ता सही है या गलत, उन्हीं से पूछा जाय, हम तो उनके अनुयायी हैं—

'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् ते हि श्रूयमाणेषु

वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति, तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसंमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।'

(ध्वन्यालोक १)

जब न्यायानुगामियों ने कहा कि प्रतीयमान के प्रति वाच्य को हेतु मान लिया जाय और दोनों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव की जगह गम्यगमकभाव ही मान लिया जाय तो अपनी व्याकरण-भक्ति से प्रेरित हो उन्होंने उसमें वैषम्य दिखला दिया। अनुमान एक प्रमाण है। उसमें वही हेतु हेतु होता है जो अव्यभिचारी और निश्चित हो। वाच्य का प्रतीयमान के साथ ऐसा सम्बन्ध नहीं होता। तात्पर्यवृत्ति वालों को उन्होंने चुप करने के लिए कह दिया कि तात्पर्यार्थ तो उसी अर्थ को माना जाता है जो अर्थ वहीं शब्दतः कथित हो, हर किसी को नहीं। अन्यथा पूर्व कहने का तात्पर्य पश्चिम में माना जाने लगेगा और पश्चिम कहने का पूर्व में। अधिक क्षोदक्षेम करने पर 'बोद्धृ, स्वरूप, संख्या, प्रतीतिकाल, आश्रय, विषय' आदि में भेद दिखलाकर इतर चिंतकों का मुँह बन्द करना चाहा।

इन व्याकरणानुगामी काव्यमार्गियों ने व्यञ्जना को शब्द की अभिधा जैसी ही भिन्न शक्ति स्वीकार कर लिया। इन्होंने कहा **'सुरभिमांसं भुङ्क्ते'** आदि में सुरभि आदि शब्द प्रकरणादि के अनुसार यदि 'सुगन्ध' रूपी अर्थ बतलाते हैं तो दूसरे 'गाय' आदि अर्थ भी बतलाते ही हैं। पहला अर्थ अभिधा से प्रतीत हो जाएगा, दूसरे के लिए अभिधा कारगर नहीं होगी क्योंकि उसे प्रकरण आदि बाधित कर देंगे, अतः दूसरे के लिए व्यञ्जना माननी होगी, क्योंकि मुख्यार्थबाधादि के अभाव से यहाँ लक्षणा भी नहीं होगी। इसी प्रकार **'गङ्गायां घोषः'** आदि में शैत्यपावनत्व की प्रतीति में न आभिधा कारण होगी और न लक्षणा, क्योंकि शैत्यपावनत्व में न तो गंगा शब्द का संकेत है और न मुख्यार्थबाधादि। अतः व्यञ्जना को ही वहाँ भी कारण माना। इसप्रकार शब्द और अर्थ दोनों में व्यञ्जना का अस्तित्व स्वीकार किया गया। इन्होंने और भी आगे बढ़कर व्यञ्जना को ध्वनि नाम दिया तथा उसकी उत्थानभूमि शब्द और अर्थ, उसके गन्तव्य या लक्ष्य प्रतीयमान तथा इन सब की समष्टि काव्य को भी ध्वनि नाम दे दिया—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥'

इसप्रकार प्रतीयमान अर्थ की उद्भावना से संस्कृत काव्यशास्त्र को समृद्ध करने के ही साथ इन व्याकरणानुयायी आचार्यों ने काव्य को ध्वनिमय बना डाला।

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने ध्वनि के इस महाप्रपञ्च को चुनौती दी। यूँ तो चुनौती मनोहर कवि ने भी दी थी जैसा कि ध्वन्यालोक में उद्धृत **'यस्मिन्नास्ति न वस्तु०'** इत्यादि पद्य से स्पष्ट है, भट्टनायक ने भी भाव्यभावकभाव तथा भोज्यभोजकभाव नामक व्यापारों की कल्पना

कर व्यञ्जना को अमान्य ठहराया था, वक्रोक्तिजीवितकार ने भी प्रकारान्तर से ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया था, किन्तु महिमभट्ट ने न्यायवादी पक्ष से उसका विरोध किया। न्यायवाद को आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में ही उद्धृत कर दिया था अतः महिमभट्ट को उसका प्रवर्तक तो नहीं माना जा सकता, अथापि इस मत को संरम्भपूर्वक प्रस्तुत करने का श्रेय प्रथम और अन्तिम बार उन्हीं को है। इस प्रकार प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में अनुमिति की कारणता तथा ध्वनि की अनुमितिरूपता ही व्यक्तिविवेक का प्रतिपाद्य है।

महिमभट्ट ने काव्य की अर्थबोधप्रक्रिया की तात्त्विक मीमांसा कर शब्द और अर्थ के विषय में दो निष्कर्ष निकाले हैं। शब्द के विषय में उनका कहना है कि उसमें केवल एक शक्ति का होना संभव है जो अभिधा से अतिरिक्त नहीं हो सकती, एकाधिक शक्तियों का शब्द में रहना कथमपि संभव नहीं। इस पर उनका तर्क यह है कि एकाश्रित अनेक शक्तियों में परस्पर निरपेक्षता दिखलाई देती है, जैसे अग्नि की दाहकता, पाचकता, प्रकाशकता आदि शक्तियों में। शब्द की तथाकथित व्यञ्जना अथवा लक्षणा इसके विपरीत अभिधाश्रित हैं।

दूसरा तर्क यह भी दिया जा सकता है कि शब्द कर्म और ज्ञान के ही समान तृतीयक्षणनिष्ठ-ध्वंसप्रतियोगी है, अर्थात् उसका अस्तित्व केवल दो ही क्षणों तक रहता है—प्रथम क्षण वह जिसमें उसका उच्चारण या ज्ञान होता है और दूसरा क्षण वह जिसमें उससे अर्थज्ञान होता है, तीसरे क्षण में अर्थज्ञान के बाद वह समाप्त हो जाता है। यह सर्वमान्य और अनुभवसिद्ध है। ऐसी स्थिति में अभिधा द्वारा अर्थज्ञान कराने के बाद शब्द का अस्तित्व ही नहीं रहेगा अतः उससे अपरार्थ के ज्ञान तथा उसके लिए लक्षणा या व्यञ्जना नामक अपर शक्तियों की कल्पना निर्मूल है। शब्द का संस्कार शब्दात्मक नहीं होता, न तो उससे प्रतीत अर्थ का ही। ये दोनों ज्ञानात्मक होते हैं। ज्ञान एक भिन्न गुण है। वह शब्द रूप नहीं है। उनसे हुई अपरार्थ की प्रतीति में वे ही कारण माने जाएँगे, शब्द नहीं। मम्मट ने लक्षणा को वस्तुतः अर्थगत व्यापार ही माना भी है। 'लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया'—द्वारा उसे शब्द का वास्तविक नहीं आरोपित व्यापार स्वीकार किया है। सच भी है। 'गङ्गाजी पर घर' कहने पर आधाराधेयभाव के न बनने से जब गंगाजी का अर्थ गंगातट किया जाने लगता है तब गंगा शब्द नहीं उससे अभिहित प्रवाहरूपी गंगाअर्थ प्रस्तुत रहता है। उससे तट तक पहुँचा जाता है। दूसरे शब्दों में गंगा शब्द श्रोता के मस्तिष्क को प्रवाह के पास पहुँचा देता है, फिर प्रवाह पर से वह तट के पास पहुँचता है। स्पष्ट ही मस्तिष्क को तट के पास पहुँचाने का व्यापार प्रवाह में रहता है। यह प्रवाह काव्य में शब्द से ही विदित होता है अतः उस व्यापार को शब्दनिष्ठ भी मान लिया जाता है। जो न्याय करण और कारण का भेद करता है, और जो ध्वनिवादी अभिनवगुप्त मीमांसक को प्रपौत्र के प्रति जनक कहकर उसकी बात इसी भेद को स्वीकार करके काटते हैं वे लक्षणा को शब्दाश्रित मान कैसे लेते हैं? ठीक यही तर्क व्यञ्जना के लिए है। 'भ्रम धार्मिक०' में या 'निःशेषच्युतचन्दनं' आदि में जहाँ अभिधेय से विरुद्ध प्रतीयमान अर्थ

भासित होता है वहाँ द्वितीय विरुद्धार्थ की प्रतीति तक शब्द का रहना संभव ही कैसे? जहाँ अभिधा यदि जाति आदि विशेषण का ज्ञान कराकर व्यक्ति आदि विशेष्य के ज्ञान तक टिक नहीं पाती, वहाँ अभिधा के ही समान तृतीयक्षणप्रध्वंसी शब्द अभिधेयार्थ के आगे अपरार्थज्ञान तक कैसे टिक सकता है? अनेकार्थक शब्दप्रयोग स्थल में **'भद्रात्मनो दुरधिरोह०'**— आदि पद्यों के अनेकार्थक पदों से दोनों अर्थ पहले ही अभिधा द्वारा विदित हो जाते हैं, एकार्थ में अभिधा का संकोच बाद में होता है, और दोनों अर्थों के उपमानोपमेय भाव आदि संबन्ध की प्रतीति तक उन शब्दों का अस्तित्व मानना संभव नहीं है।

अपरार्थ की प्रतीति के लिए शब्द की आवृत्ति मानना इसलिए संभव नहीं कि आवृत्ति उस शब्द के अर्थ ज्ञान के आधार पर ही संभव होगी, तब सीधे अर्थज्ञान से ही अपरार्थ का ज्ञान मान लेना सुकर होगा। एक यह तर्क भी किया जा सकेगा कि यदि शब्द की आवृत्ति मानी जाती है तो उसकी अभिधा की भी आवृत्ति मान ली जाय और उसी द्वितीय अभिधा द्वारा अपरार्थ का ज्ञान मान लिया जाय। योगरूढस्थल में रूढि द्वारा योगार्थ के अपहरण की बात इसलिए अमान्य है कि दूसरे रूढ शब्द के प्रयोग से अथवा कविप्रतिभासंरम्भ के प्रत्यय से योगरूढ शब्द की रूढि अवश्य ही शिथिल हो जाया करती है। रूढि यदि अपरार्थप्रतीति में अभिधा का निरोध करती है तो व्यञ्जना का क्यों नहीं करती? व्यञ्जना उसके निरोध से ही पैदा होती है ऐसा कहने से शब्द में रूढि के रहने पर भी अपरार्थप्रत्यायकता की सिद्धि हो जाती है। इस आधार पर रूढि के नियंत्रण में शैथिल्य की कल्पना फलबलात् अवश्य ही मानी जा सकती है। जब रूढि के शैथिल्य का एक कारण माना जा सकता है तो दूसरे को मानना भी असंगत नहीं।

वस्तुतः शब्द एक जड़ और तटस्थ पदार्थ है, उसमें एक ही शक्ति संभव है—एक स्थान से दूसरे स्थान तक संक्रान्त होना, जो बाण या वायु आदि में देखी जाती है, जिसे अर्थवाचकता कहते हैं वह शक्ति हमारे मानस में रहने वाले शब्दज्ञान में रहती है। हमारे मानस में एक ओर शब्दज्ञान रहता है दूसरी ओर अर्थज्ञान। हम व्यवहारार्थ दोनों ज्ञानों का संबन्ध मान लेते हैं। यह संबन्ध संस्कारात्मक होता है। जब शब्दज्ञान, अर्थज्ञान और दोनों के मध्यवर्ती संबन्धात्मक ज्ञान की तीनलड़ी शृंखला का कोई एक पार्श्व जागता है तो अन्य पार्श्व भी जाग उठता है, इसी को व्याकरणशास्त्रियों ने शब्द और अर्थ का दाम्पत्य, अभेद, ऐक्य मान लिया है। वस्तुतः शब्द में कोई शक्ति नहीं रहती।

अर्थ का जहाँ तक संबन्ध है महिमभट्ट का कहना है कि अर्थ की शक्ति शब्दशक्ति नहीं मानी जा सकती। अतः उसे अनुमान आदि के समान काव्येतर तत्त्व ही मानना होगा। नहीं तो अनुमान को भी काव्यांग मानना होगा जिससे काव्याकाव्यत्व का विवेक असंभव हो जाएगा।

अर्थ की शक्ति का निर्वचन करने के लिए महिमभट्ट ने अर्थगत संबन्धों का विश्लेषण किया है। उसमें उन्होंने अनेक उदाहरण देकर सर्वत्र साध्यसाधनभाव का अस्तित्व जतलाया है।

वाक्यार्थ में विध्यनुवादभाव रहता ही है। उसमें विधेय साध्य होता है क्योंकि वह असिद्ध रहता है। फलतः शेषार्थ उसके साधक होते हैं। **'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपयुज्यते'**—सिद्धान्त चलता भी है। यह साध्यसाधनभाव लोक, शास्त्र और अनुभव से सिद्ध रहता है। इसके उदाहरण पृष्ठ ५३ से ५६ तक इसी ग्रन्थ में दे दिए गए हैं। यही साध्यसाधनभाव वाच्य तथा प्रतीयमान के बीच भी रहता है। 'शूर पंडित और सेवापटु के लिए पृथिवी सोना फूलती है।'—इससे जो यह अर्थ निकलता है कि 'शूर आदि को संपत्ति सुलभ होती है' इसमें पूर्वोक्त अर्थ कारण ही तो है?

व्यङ्ग्यव्यञ्जकता उन्हीं पदार्थों में रहती है जो एक साथ रहते या जिनकी प्रतीति में क्रम नहीं रहता। घट और प्रकाश दोनों पूर्वसिद्ध रहते हैं, प्रकाश और घटज्ञान होने में कोई क्रम भी नहीं दीखता, अतः वहाँ व्यंग्यव्यंजकभाव माना जाता है। काव्यार्थों में वाच्यार्थ और प्रतीयमानार्थ की प्रतीति सर्वत्र क्रमिक होती है। कहीं क्रम लक्ष्य होता और कहीं अलक्ष्य। अतः इनमें कार्य-कारणभाव ही मानना उचित है। कार्यकारणभाव संबन्ध मानने पर अनुमिति का माना जाना भी उचित है।

महिमभट्ट के इन तर्कों पर व्यञ्जनावादी व्याकरणभक्तों का यह कथन अमान्य है कि अनुमान एक प्रमाण है, उसमें वही हेतु हेतु होता है जो निश्चित और प्रामाणिक होता है क्योंकि महिमभट्ट ने यह कहीं भी नहीं कहा कि प्रतीयमान की प्रतीति में प्रमाणात्मक अनुमान कारण है। हेत्वाभास से जो अनुमिति होती है वह किसी भी दार्शनिक को व्यञ्जना रूप से मान्य नहीं है। उसे सभी अनुमिति ही मानते हैं, केवल प्रमात्मक नहीं मानते। व्यवहार में यह अनुमिति प्रतिपद काम में आती है। आज इसी अनुमिति ने पुरातत्त्वेतिहास जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों को प्रस्तुत किया है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि काव्य में प्रमाणाप्रमाणत्व की अपेक्षा भी नहीं है। आस्वाद लाभ के लिए यहाँ अप्रामाण्य या आहार्यता ही अधिक महत्त्व रखती है। रूपक उत्प्रेक्षा अपह्नुति, अतिशयोक्ति इसीलिए चमत्कारी हैं। रस में इस अप्रामाण्य का सहयोग है ही। शंकुक का चित्रतुरगन्याय अभिनवगुप्त को भी अमान्य नहीं है। इसीलिए तो आलंकारिक आचार्यों ने बौद्धों के—

'मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥'

इस वाक्य को वेदवाक्य के समान स्वीकार कर दुहराया है।

सब कुछ के बाद देखना तो यह है कि जो ध्वनिवादी इसप्रकार दूसरे सिद्धान्तों का साहित्य में सांगोपांग समन्वय देखना चाहता है और उसके अभाव में उन्हें अमान्य ठहराता है इसका अपना स्वयं का ध्वनिमत अपने मूल से काव्य में कितना सांगोपांग समन्वित हो पाया है। व्याकरणवादी ध्वनि को केवल शब्द और वह भी अनित्य शब्द तक सीमित मानते हैं। इसे न तो शक्ति रूप मानते न नित्यशब्दरूप और न उनके [illegible] से अभिन्न ही। किन्तु ध्वनिवादी काव्यशास्त्री

वाचक, वाच्य, व्यञ्जना, प्रतीयमान और काव्य सबको ध्वनि कह देते हैं। व्याकरणशास्त्री का प्रतीयमान अर्थ भी शब्दात्मक ही है, काव्यशास्त्रियों का प्रतीयमानार्थ केवल अर्थात्मक है। शब्दात्मक कदापि नहीं। शब्द प्रतीयमान केवल तन्त्रशास्त्र में होता है जहाँ बीजमन्त्रों की लिपि संकेतों द्वारा द्योतित की जाती है जो उच्चारणात्मक नहीं होती, स्वरूपमात्र से प्रस्फुटित होती है। यथा—

'वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम्।
अर्धेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम्॥'

अथवा नैषध का—**'अवामावामार्धे सकलमुभयाकारघटनाम्'**—पद्य। इसे प्रहेलिका तो माना जा सकता है काव्य नहीं। काव्य में **'रुचिं कुरु'** आदि में जो अश्लीलार्थद्योतक पद निकलता माना जाता है वह भी उच्चारणात्मक है अतः उसे द्योतित नहीं माना जा सकता **'निमीलिताक्षीव भियामरावती'** में नागेश ने जो 'मरावती' की प्रतीति के कारण सन्धि को अश्लील कहा है वहाँ अश्लीलता विना पद के तो प्रतीत नहीं हो सकती और पद का वहाँ उच्चारण हो ही रहा है। अतः काव्य में प्रतीयमान हो सकता है केवल अर्थ। जब कि व्याकरण में प्रतीयमान है केवल शब्द। दूसरा वैषम्य यह है कि नित्यशब्दरूपी प्रतीयमान का व्यञ्जक व्याकरण में केवल अनित्यशब्द माना जाता है, वह भी व्यञ्जक माना जाता है स्वरूपतः। उससे अर्थप्रतीति नहीं मानी जाती। अर्थप्रतीति मानी जाती है प्रतीत हुए नित्यशब्द से। अतः अर्थप्रत्यायक व्यापार जिसे वहाँ केवल अभिधा रूप माना गया है इस व्यञ्जक शब्द में नहीं रहता। इस प्रकार व्याकरण के व्यञ्जक की व्यञ्जना में अभिधानिरपेक्षता है और इसलिए वह टार्च या दीपक आदि के समान ही है। उनमें अभिधा नहीं रहती। काव्य के व्यञ्जक में अभिधा रहती ही है। निपात या पदैकदेश पूर्ण पद से निकलने वाली व्यञ्जना को अभिधा के माध्यम से बढ़ाते हैं, अतः उनमें भी अभिधानिरपेक्षता नहीं है। जो लोक निपातों को वाचक नहीं मानते उन्हें तो अभिनवगुप्त के शब्दों में यह उत्तर दिया जा सकता है कि किसी ने खड्ग का लक्षण किया कि खड्ग एक ऐसी वस्तु है जिसे ओढ़ा जा सकता है, लपेटा जा सकता है, और विरोधियों द्वारा यह कहने पर कि ओढ़ने और लपेटने योग्य वस्तु तो वस्त्र कहलाती है खड्ग नहीं, लक्षणकर्ता ने उत्तर दिया—हम ओढ़ने-लपेटने योग्य वस्तु को ही खड्ग कहते हैं—यह ऐसा ही है। भाषाशास्त्र से सिद्ध है कि प्रत्येक शब्द स्वतन्त्ररूप से वाचक है। पाणिनिव्याकरण के कुछ नियम कटने लगते हैं अतः उन्हें वाचक न मानना वैज्ञानिक नहीं है। इसप्रकार व्याकरण का ध्वनिशब्द मेघ की गड़गड़ाहट के ही समान अवाचक या अभिधाशून्य है। संगीत के नाद से जैसे चेतना पर प्रभाव पड़ता है और उसमें विकास, विस्तार या क्षोभ का स्फार होता है कदाचित् वैसा ही कोई प्रभाव व्याकरण के ध्वनि शब्द से भी उनके तथाकथित स्फोटनामक नित्यशब्द पर पड़ता है। फिर व्याकरण ने शब्द को 'प्रतीतपदार्थक ध्वनि' कहा, और साहित्य ने भी उसे उसी रूप में स्वीकार कर लिया तो—

'मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा०', 'अलमलमालि मृणालैः' आदि ध्वनिग्रामों में गुणों का आनुभविक अस्तित्व भी क्यों स्वीकार नहीं करते ? ओजस्विता और कोमलता अनुप्रास से व्यक्त होने वाले अलग धर्म हैं। यदि वे सहृदय के हृदय में माने जाते हैं तो उन्हें काव्यगुण कैसे माना जाता है। यदि अभिव्यञ्जकत्व सम्बन्ध से, तो यह अभिव्यञ्जकत्व अन्य पद ग्रामों में क्यों नहीं रहता, उन्हीं में क्यों रहता है। कोई व्यावर्त्तक तत्त्व स्वीकार करने पर उसे ही गुण कह दिया जाएगा। केवल अनुप्रास व्यावर्त्तक होता तो 'अकुण्ठोत्कण्ठया तूर्णमाकण्ठं०' पद्य में भी वह माना जाता। फिर गीतगोविन्द या गीतगौरीश की पदावली में केवल अनुप्रास ही है, माधुर्य नहीं ?

इसलिए एक तो काव्यशब्दों को ध्वनि कहना ही नहीं था और यदि कहा तो केवल व्यञ्जनात्मकता तक ही उसे सीमित नहीं रखना था और वहाँ तक सीमित रखना था तो फिर उससे गुणों के सर्वाभिमत अस्तित्व को नहीं हटाना था।

स्पष्ट है कि ध्वनिवादी भी व्याकरण के 'ध्वनिसिद्धान्त' को सर्वात्मना जैसा का तैसा स्वीकार नहीं कर सका। उसे उसको अपने अनुरूप ढालना पड़ा। किन्तु आश्चर्य यह है कि अनुमितिवादी, तात्पर्यवादी और अन्य वादियों से दूसरे दर्शनों के सिद्धान्तों के काव्य में अक्षरशः निर्वाह का वह आग्रह करता है।

अनुमिति और ध्वनि के विषय में अन्यतर के निर्वाचन के लिए यदि दार्शनिकों की मतगणना हो तो अनुमिति को ९९% मत मिल जाते हैं। ध्वनि को केवल व्याकरण ही मानता है। शब्द से अर्थ के ज्ञान में अन्य दार्शनिक पूर्व-पूर्व वर्ण संस्कार से युक्त अन्तिम वर्ण के अनुभव को कारण मानते हैं। संस्कार के उद्बोध में विपर्यय न होना शाब्दबोधस्थल में प्रकृतिसिद्ध है, अतः संस्कार से शाब्दबोध मानने पर वैयाकरण की 'नदी' की जगह 'दीन' के ज्ञान की सम्भावना का तर्क अमान्य है। स्फोटनामक नित्यशब्द की कल्पना व्याकरण के अतिरिक्त कोई करता ही नहीं। वे यदि शब्द को नित्य मानते भी हैं तो किसी अनित्य शब्द की कल्पना नहीं करते। अनित्यता केवल कण्ठताल्वादिसंयोग में मानते हैं। अतः तब भी उनके यहाँ शब्दों के दो रूप नहीं रहते। और इसीलिए उन्हें व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं पड़ती। व्याकरण जिसे अनित्य मानता है ये अन्य दार्शनिक उसी में अभिधा स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार ध्वनिवादी जिस आधार पर अपना सिद्धान्त बना रहा था स्फोट नामक वह आधार ही विवादास्पद है। इसके विरुद्ध अनुमिति चार्वाक को छोड़ सब को स्वीकार है। जहाँ तक उसके प्रामाण्य का प्रश्न है कहा जा चुका है कि काव्य में उसकी अपेक्षा ही नहीं रहती। अप्रामाणिक अथवा हेत्वाभासजनित अनुमिति को व्यञ्जना इसलिए नहीं माना जा सकता कि व्यञ्जना प्रकरणादिनिरपेक्ष होती है, दीपक घट की अभिव्यक्ति में न प्रकरण को देखता न देश, काल को। वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसंनिधि की वहाँ कोई गुंजाइश ही नहीं। 'अप्रामाणिक' अनुमिति में इन सब

की आवश्यकता होती है। गुप्तचर व्यक्तियों की चेष्टाओं से, उनके रहन सहन, समय, स्थान आदि के ही आधार पर तो किसी तथ्य को ताड़ते हैं, उनका यह ताड़ना शिथिलानुमान ही तो होता है। उसे व्यञ्जक कौन कहेगा? काव्य में प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में प्रकरणादि भी सहायक माने गए हैं, परन्तु उतने पर भी ऐसे काव्य में व्यञ्जना स्वीकार कर ली गई, जब कि व्यञ्जना में प्रकरण आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती। यह केवल व्याकरण की अतिशय भक्ति का दुर्विपाक है। वस्तुतः यह भी वस्त्र के लक्षण को खड्ग पर थोपने जैसी बात है। जहाँ व्यञ्जना मानी जाती है वहाँ भी अनुमान का अस्तित्व स्वीकार किया ही गया है। मम्मट ने अभिनवगुप्त की रसप्रक्रिया का आरम्भ ही अनुमान से किया है **'स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववताम्'**। शंकुक के 'चित्रतुरगन्याय' को वे मानते ही हैं। तो क्या प्रमदादि से स्थायी का अनुमान प्रामाणिक अनुमान है? शकुन्तला का **'आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्'** आदि द्वारा जो अनुभाव वर्णित है क्या दुष्यन्तविषयक अनुराग के साथ उसका सम्बन्ध असंदिग्ध और प्रामाणिक माना जा सकता है। यह तो स्वयं दुष्यन्त भी नहीं मानता। वह भी उसमें **'कामी स्वतां पश्यति'** कह कर सन्देह व्यक्त करता है। लौकिक स्थिति में यह भी अनुमान ही तो है। यदि कोई मनचला युवक किसी साध्वी सुन्दरी पर कटाक्ष कर दे और वह सुन्दरी मुकदमा दायर कर दे तो क्या उसे दण्ड दिया जा सकता है? कदापि नहीं। किन्तु जनमानस उसका सुनिश्चित अर्थ निकाल ही लेता है और युवक अपनी चेष्टा में सफल ही रहता है। कितनी समृद्ध है यह संदिग्धानुमिति?

अनुमिति का नाम सुनते ही लोग चौंकते इसलिये हैं कि वह तर्क के साथ रहती है और तर्क कर्कश होता है अतः उससे चमत्कारानुभूति या आनंदसंप्लव में व्याघात की संभावना रहती है। किंतु यह अनुमिति अदालत की तो अनुमिति है नहीं और न बौद्धिक अखाड़ेबाजों की ही अनुमिति है, यह अनुमिति तो जीवन को पदे-पदे व्याप्त तथा बुद्धि के दीपक में स्नेह के समान हमारी अनुभूतियों के मार्ग प्रशस्त करने वाली अनुमिति है, यह काव्यानंद के कृष्णाभिसार में विदग्ध दूती का काम करने वाली विद्युत् है। यदि इसी बौद्धिकतन्तुसन्तान को व्यञ्जना कहा जा रहा हो तो विवाद केवल नाममात्र का है, तत्त्वतः तो दोनों एक हैं। न्याय की दृष्टि से उसे काव्यानुमिति कहा जा सकता है और व्याकरण की दृष्टि से व्यञ्जना। इतना अवश्य है कि व्यञ्जना की सत्ता भावकता पर निर्भर है, युक्ति और तर्क पर नहीं। भावकता काव्य में आवश्यक है किंतु काव्यशास्त्र में नहीं। शास्त्र तो तत्त्वमींमांसा और तथ्यनिर्णय के लिए ही प्रवृत्त होता है, चित्त में मिश्री घोलने के लिए नहीं। उसमें तर्क और अनुभूति के नग्न रूप को ही महत्त्व दिया जाना चाहिए। अनुमिति के मानने और व्यञ्जना के खण्डन से काव्य का कुछ बिगड़ता भी नहीं है। ये तो काव्य की आत्मा आनंद के नीचे की सीढ़ियाँ हैं। अनुमितिवादी ने स्वयं कहा भी है—

'यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः साऽनुमान एव [illegible] । विभावानु-

भावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते। ते हि रत्यादीनां भावानां कारण-कार्यसहकारिभूतास्तानुनुमापयन्त एव रसादीन् निष्पादयन्ति। त एव हि प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते।' (पृष्ठ ४७७)

व्यञ्जनावादी भी बार-बार यही कहता है कि विभावानुभावव्यभिचारी या इनकी प्रतीति ही रस नहीं है अपितु वे रसके निष्पादक हैं—"न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः अपितु रसस्तैः।" परवर्ती ध्वनिमार्गियों ने विभावानुभावव्यभिचारी के समूहालम्बनात्मकज्ञान से व्यंजना का आविर्भाव माना है और उससे रत्यादिविषयक आत्मचैतन्यनिष्ठ मायिक आवरण का भङ्ग स्वीकार किया है (रसगंगाधर रससूत्र) इस प्रकार उनके मत में भी व्यंजना रस के नीचे ही रहती है। रसगंगाधरकार ने 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः'—इस काव्यप्रकाश की पंक्ति के 'व्यक्त' शब्द का अर्थ किया है 'व्यक्तिविषयीकृतः' (स्थायी) और 'व्यक्ति' का अर्थ किया है 'भग्नावरणा चित्' ऐसा मानने पर व्यक्ति व्यापार रूप नहीं रह जाती। जब कि व्यञ्जना का वह पर्याय है और व्यंजना को व्यापार माना जाता है। निश्चित ही पंडितराज की उक्त उक्ति व्यञ्जना-व्यापार को रस रूप सिद्ध नहीं कर सकती और न उन्हें वैसा सिद्ध करना अभीष्ट ही है। उन्होंने तो मम्मट की पंक्ति की शाब्दी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।

समूहालम्बनात्मकज्ञान में अवश्य ही व्यञ्जना मानी जा सकती है, क्योंकि उससे आत्मावरण का भङ्ग होता है, किन्तु यह व्यञ्जना शब्दवृत्तिरूप तो नहीं हो सकती। आगे बढ़ कर कहा जाय तो इस आवरणभङ्ग में भी सहृदयता या भावकतामात्र को कारण मानने से भी काम चल सकता है। पंडितराज ने प्रमाता या सहृदय के साधारणीकरण में भावना के साथ सहृदयता को भी सहकारी माना है।

इस प्रकार व्यञ्जना न व्याकरण में ही सिद्ध होती है और न साहित्य में ही। व्याकरण का स्फोट विवादास्पद वस्तु है इसलिए उसके लिए कल्पित व्यञ्जना की अपेक्षा अपने सर्वमान्य और सत्य प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए काव्यशास्त्रियों को वैसी ही सर्वमान्य और सर्वानुभवसिद्ध शिथिलानुमिति को कारण मानने में विचिकित्सा नहीं करनी चाहिये। चाहने पर व्यञ्जना के समान अनुमिति का भी वे उतना ही समर्थन कर सकते हैं। व्यञ्जना एक भौतिक वस्तु है, प्राकृतिक और जड़ उपादान है, अनुमिति बौद्धिक और चेतनाश्रित तत्त्व है। काव्य का असली रूप ज्ञानात्मक ही है अतः उसमें अनुमिति ही संभव है व्यञ्जना नहीं।

इसी प्रकार महिमभट्ट लक्षणा भी नहीं मानते। जैसा कि पहले बतलाया गया है बोद्धा की बुद्धि गंगा-शब्द से पहले प्रवाह के पास पहुँचती है फिर प्रवाह से तट के पास, तब 'गंगाजी पर घर' इस वाक्य का अर्थबोध होता है। इस क्रम से स्पष्ट है कि यहाँ गंगा शब्द यदि मस्तिष्क को कहीं पहुँचाता है तो केवल प्रवाह के पास। तट के पास उसे पहुँचाने वाला गंगा शब्द नहीं, प्रवाहरूपी

अर्थ का ज्ञान है। अतः तटज्ञापक व्यापाररूपी लक्षणा का आश्रय गंगा शब्द नहीं प्रवाहरूपी अर्थ का ज्ञान है, फलतः लक्षणा अर्थव्यापार माना जा सकता है जैसा कि मम्मट ने भी माना है। और इसलिए वह अनुमान रूप है। 'गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते'— गौणी में साम्य का अनुमान होता है अर्थात् अनुमान द्वारा साम्य की प्रतीति होती है। अभिप्राय यह कि प्रयोजनवती में प्रयोजन और निरूढा में साम्यमात्र अनुमान से प्रतीत होंगे। निरूढा अभिधारूप भी मानी जा सकती है।

इसी संदर्भ में महिमभट्ट ने तात्पर्यवृत्ति (पृ० १३७–१४१) तथा वक्रोक्ति (पृ० १४२) आदि का खण्डन भी ठीक वैसे ही किया है जैसे अभिनवगुप्त ने ध्वनिसिद्धि में।

इस प्रकार व्यक्तिविवेक की प्रमुख स्थापना शब्द में अमुख्य शक्तियों का अभाव तथा अर्थ में केवल अनुमिति का सद्भाव है। अपनी इस स्थापना की पुष्टि में उन्होंने ध्वनिकार का खण्डन करने के लिए उनके सिद्धान्तों की समीक्षा के साथ ही उनके शब्दों और भाषा की भी समीक्षा की। यह समीक्षा समीक्षा नहीं ध्वनिकार की भाषा की शल्यचिकित्सा है। उन्होंने ध्वनिलक्षण 'यत्रार्थः शब्दो वा' में दस प्रमुख दोष दिखलाए हैं (पृ०–११०)। इतने से उन्हें संतोष नहीं हुआ तो वे 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'० पद्य पर टूटे और उसके लिए ग्रन्थ के आधे भाग से बड़े द्वितीय विमर्श में शब्दानौचित्यों का विचार किया, जो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जा सकता है।

व्यक्तिविवेक के इस विमर्श का एक स्वतन्त्र महत्त्व है और इस दृष्टि से अर्थ की पूर्ण और स्पष्टतम अभिव्यक्ति के लिए नपी-तुली भाषा के प्रयोग पर विश्व भर में लिखे गए ग्रन्थों में व्यक्तिविवेक का स्थान भी मूर्धन्य है। इस प्रकार की तीव्र, तीक्ष्ण और तेजस्वी संदर्भमीमांसा का लाभ संस्कृत वाङ्मय को कदाचित् यह अवश्य मिला कि परवर्ती दार्शनिकों में नव्यन्याय की प्रवृत्ति जागी और उपाधि, तद्विशिष्ट तथा दोनों के संबन्धों तक को अभिधावृत्ति द्वारा ही कहने योग्य भाषा का अनुसंधान हुआ, मानों शब्द प्रयोग में शास्त्र व्यवहाराधिकरण बन गए। नहीं तो स्थिति यह थी कि विवक्षा कुछ रहती थी और लिखा कुछ जाता था। अभिनवगुप्त, आनंदवर्धन के ग्रन्थ ऐसे ही हैं। भामह में तो यह वैषम्य इतना उदग्र है कि उससे कौटल्य के अर्थशास्त्र का स्मरण हो आता है। स्वयं महिमभट्ट भी इस उपालंभ से मुक्त नहीं हैं। भाषा को लेकर जैसी छीछालेदर उन्होंने ध्वनिकार की की है वैसी ही इनकी भी की जा सकती है और व्याख्यानकार ने उन्हें आड़े हाथों लिया भी है। कहीं-कहीं हम भी यह अविनय कर बैठे हैं। जहाँ तक सिद्धान्तों को झकझोरने का संबन्ध है यदि महिमभट्ट ने उसमें संरम्भ दिखलाया है और स्वमत बहुत थोड़ी मात्रा में प्रस्तुत किया है तो कोई अनुचित नहीं। स्वमत बिलकुल भी न दिया होता तो कोई हानि न होती, विवेक में और होता ही क्या है? परिपवन, तितउ, चालनी या छन्ने किंवा सूर्य जब वस्तुविवेक करने लगते हैं तो कोई नई वस्तु थोड़े ही प्रस्तुत करते हैं?

महिमभट्ट की अन्य उद्भावनाओं में काव्य से संबन्ध रखने वाली उद्भावनाओं में पद्यकाव्यगत छन्दों की शब्दालंकारता अत्यन्त मौलिक और अतिनवीन है। द्वितीय विमर्श के आरंभ में ही (पृ० १८१) उन्होंने यह निरूपण कर दिया है। मम्मट उनकी इस स्थापना को अपना तक नहीं सके। विधेयाविमर्श आदि छह शब्दानौचित्यों को जिस रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया है उसी रूप में उन्हें प्रायः सभी आचार्यों ने मान्य माना है। इस संदर्भ में शब्दश्लेष पर महाकवि रत्नाकर के हरविजय महाकाव्य से उद्धरण प्रस्तुत करते हुए जो प्रकाश डाला गया है वह अपनी सूक्ष्मता और श्लक्ष्णता के लिए संस्कृतसाहित्यशास्त्र में अद्यावधि बेजोड़ है। मम्मट ने न जाने उसे क्यों छोड़ दिया। शायद दशम उल्लास में वे अन्त में शब्दालंकार के दोषों के बीच इस प्रकरण को देना चाहते रहे होंगे जिसके पहले ही वे चल बसे। अल्लट को उनका ध्यान नहीं रहा। शब्दों की इन विशेषताओं के साथ ही अर्थ की विशेषताओं पर भी महिमभट्ट ने कुछ नई बातें कही हैं। इनमें गुणीभूतव्यंग्य और ध्वनि नाम से अभिहित काव्यों में भेद न मानना (पृ० १४) प्रमुख है। उन्होंने यहाँ उलटी गंगा बहाई है। दीपक में उपमा को प्रधान बतलाया है। प्रत्येक प्रतीयमान को उन्होंने काव्य का प्रतिपाद्य या तात्पर्यभूत अर्थ माना है। कवि का संरम्भ वाच्य में भी रहता है ऐसा प्रतीयमानस्थल में वे स्वीकार नहीं करते। सहृदयता की बात ठहरी। उनसे कुछ कहा नहीं जा सकता। उन्हें कदाचित् वैसा ही अनुभव होता रहा होगा। वस्तुध्वनि पर उनकी अनास्था है। अन्तरित, अन्तरितान्तरित आदि प्रतीयमान वस्तु को वे प्रहेलिकाप्राय और चमत्कारशून्य मानते हैं। उनकी यह सूक्ष्म और दाक्षिण्यशून्य मति कहीं-कहीं पिटे-पिटाए पथ पर चल पड़ी है। कुन्तक ने अलंकारों को अभिधात्मक माना था। उसे उन्होंने जैसा का तैसा स्वीकार कर लिया है। संभवतः वह कुछ उलट भी गई है क्योंकि उन्होंने अभिधात्मकता के अभिधा शब्द का अर्थ शब्दसंकेत मान लिया है. जिस पर व्याख्यानकार को सफाई करनी पड़ी है, काव्येतर विषयों के विषय में महिमभट्ट ने कुछ मौलिक मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। इनमें 'क्रिया की शब्दप्रवृत्तिनिमित्तता' (पृ० ३०) और 'अपशब्दों का निर्णय' (पृ० ४८४) प्रमुख हैं। शाकटायन के व्युत्पत्तिनिमित्तवाद से इसे पृथक् सिद्ध कर उन्होंने इस मौलिकता की ओर संकेत किया है। निपातसंबन्धी विवेचन पर भी वे काफी दूर तक स्वतन्त्रता बरतते हैं।

तृतीय विमर्श में उन्होंने ध्वनिपद्यों में अनुमिति की सामग्री का स्पष्टीकरण किया है। इसके आधार पर कुछ पद्यों में अनुमितिप्रकार कुछ ऐसे हो सकते हैं—

१—भ्रमधर्मिक—

गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणयोग्यम्, दृप्तसिंहवत्त्वात्, यन्नैवं यन्नैवं यथा प्रमदोद्यानम्।

२—अत्था एत्थ०—

इयं प्रोषितपतिका पथिककर्तृकस्वशयनीयोद्देशाधिकरणकनिभृतोपस्थानाभिप्रायवती,

अविदितस्वरूपपथिकविषयकाकस्मिकनिशान्धतोपक्षेपकर्तृत्वे सति तादृशपथिकोद्देश्यकस्वशयनीयोद्देशदर्शनकर्तृत्वात्, या नैवं सा नैवं यथा पतिव्रता।

३—वच्च महल्विअ०—

प्रकृतो नायकः अन्यानुरागातिशयवान् नायिकाकर्तृकनायिकान्तराधिकरणोद्देश्यकप्रस्थानानुमतिविषयत्वात् यो नैवं स नैवं यथा अहम्।

४—देआ पसिअ०

प्रकृतनायिकावदनं कान्त्यतिरेकविशिष्टम्, स्वानुयोगिकाभेदविशिष्टशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहत्वेन वर्ण्यमानत्वात्।

५—कस्य वा न०—

प्रकृतनायिका परपुरुषपरिभोगरहिता सभ्रमराम्भोजाघ्राणशीलत्वेन भ्रमरदष्टाधरपल्लवत्वात्।

६—सुवर्णपुष्पाम्०

शूरादयस्त्रयः सर्वत्र सुलभविभवाः, सुवर्णपुष्पपृथिवीचयनकर्तृत्वेनोपादीयमानत्वात्

७—शिखरिणि०

त्वदधरपल्लवपरिचुम्बनाऽमृतं नाल्पपुण्यपुरुषाप्यम्, लोकोत्तरपरिणामशालित्वेन समारोप्यमाणशुकशावकखण्ड्यमानतरुसादृश्यावलम्बिफलसादृश्यप्रतियोगित्वात्।

८—अत्रान्तरे कुसुमसमय०—

(क) प्रकृतं महाकालपदं महाकालदेवताविशेषप्रतिपादनपरम्, युगसंहाराट्टहासबोधकपदसमभिव्याहृतत्वात्,

(ख) महाकालो नाम देवविशेषः अत्रत्यमहाकालपदप्रतिपाद्यः, युगसंहाराट्टहाससम्बन्धित्वात्।

सामान्य अनुमिति से इन अनुमितियों में अन्तर यह है कि इनके प्रतिपादक काव्यपदों में साध्य और दृष्टान्त शब्दतः कथित नहीं होते अतः ये अनुमितियाँ भी अनुमितिसाध्य हैं। साध्य और दृष्टान्त के अभाव पर महिमभट्ट ने उत्तर दिया है—

'तद्भावहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तद्वेदिनः।
व्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः॥' (पृ० ६९)

अभिप्राय यह कि वे लोकानुभव से सिद्ध हैं। उनके शब्दोपादान से अनुमिति में प्रामाण्यमात्र का निष्पादन होता है जो काव्य में अनावश्यक है।

इस प्रकार महिमभट्ट का चिंतन संप्रदायश्रद्धा से जड़ नहीं है, उन्होंने अन्वयव्यतिरेक द्वारा प्रतिपाद्य के निगमन की जो मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया शास्त्रपथ में चलती है उसे कुंठित नहीं होने

दिया है, और इस प्रकार संस्कृतकाव्यशास्त्र में व्यक्तिविवेक का स्थान प्राचीन के नीरक्षीरी विवेक तथा नवीन की विशद स्थापना दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'—कहकर प्राचीन आचार्यों ने काव्यक्षेत्र में जिसे अमुख्यवीथी का संकेत किया था केवल उसी को अपना कर जिस प्रकार ध्वनिकार ने स्वतंत्र ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' का निर्माण किया और प्रतीयमान अर्थ की स्थापना की उसी प्रकार प्रतीयमान को अपना कर महिमभट्ट ने उसकी प्रमाणमीमांसा पर 'व्यक्तिविवेक' का निर्माण किया तथा अनुमिति की स्थापना की। इस प्रकार उन्होंने काव्यविश्व के प्रतीयमानरूपी परार्ध के एक-एक अंग पर स्वतन्त्र विचार का उपक्रम किया, जिसमें पूर्ववर्ती अभिनवगुप्त और परवर्ती अन्य आचार्य पिछड़े दिखाई देते हैं। प्रतीयमान के एकदेश रसध्वनि को अभिनवगुप्त ने ही सर्वाधिक महत्त्व दिया है। वे चाहते तो स्थायी भाव को लोकभूमिका से रस की लोकोत्तर भूमिका तक पहुँचाने वाले अनुमान, विभावनादि व्यापार, साधारणीकरण, विकासादिरूप भोग या व्यक्ति इत्यादि तत्त्वों में से एक-एक तत्त्व का सर्वांगीण विवेचन कर कोई 'रसालोक' नामक ग्रन्थ भी 'तन्त्रालोक' के ही समान लिख सकते थे, किन्तु मंदिर की देहली पर ही लोचन और अभिनवभारती के केवल दो ही पुष्प चढ़ा कर उन्होंने संतोषानुभव कर लिया, साहित्यदेवता की साक्षात् पूजा की कोई उत्सुकता उनमें न जागी। प्रसन्नता का विषय है कि न्यायशास्त्र ने अनुमिति के एक-एक अंग—पक्षता आदि पर स्वतंत्र ग्रन्थों का निर्माण किया है और इस कार्य में अलंकारों पर साहित्य भी चूका नहीं है। निश्चित ही महिमभट्ट ने काव्यशास्त्र की आवश्यकता पहचानी थी।

व्यक्तिविवेक कई दृष्टियों से सदोष भी है। सबसे पहले तो उसकी भाषा ही अस्त-व्यस्त है। यद्यपि कुन्तक के समान व्यक्तिविवेककार ने भी भाषा को काव्यात्मक बनाने का प्रयत्न किया है किंतु उन्होंने सुदूर पूर्व के विषयों का परामर्श बहुत आगे बढ़कर सहसा सर्वनामपद से जगह-जगह किया है। काफी ऊहापोह के पश्चात् उसकी पहचान हो पाती है। भाषा की प्रवृत्ति अनेक स्थलों पर संदिग्ध है। उसका निश्चित अर्थ निर्धारित करना कठिन है। प्रथम विमर्श में ऐसे स्थल अधिकमात्रा में प्राप्त हैं, द्वितीय विमर्श के अन्त में—'**ता एता दोषजातयो महाकवीनामपि दुर्लक्षा दृश्यवसीयन्ते**' (पृ० ४५५) पंक्ति के पश्चात् ११ पंक्तियों में उदाहरणविवेचन कर, बाद में '**यतो वस्तुमात्रोपनिबद्धप्रायेऽपि पदसमुदाये दृश्यन्त एव ते अन्येषां यथा**'–यह पंक्ति लिखी गई है। निश्चित ही 'यतः' मध्यवर्ती ११ पंक्तियों के पहले की '**ता एता**······**सीयन्ते**' पंक्ति पर निर्भर सम्बन्ध का द्योतक अव्यय है। इस अंश की योजना वस्तुतः ऐसी होनी चाहिए थी—**ता एता दोषजातयो वस्तुमात्रोपनिबद्धप्राये पदसमुदायेऽपि दृश्यन्त एव** यथा '**काव्यस्यात्मा०००' एवन्महाकवीनामपि दुर्लक्षा दृश्यवसीयन्ते** यथा–'**उमावृषांकौ०००**'। पंक्तियों का क्रम वैसा ही रखना हो तो 'यतः' के स्थान पर 'एवमेव' और 'अपि' को पदसमुदाये के अनन्तर रख देना था।

व्यक्तिविवेक में विषयों का प्रतिपादन अनावश्यक विस्तार लिए हुए है। प्रथम विमर्श में 'क्त्वा' की पूर्वकालिकता का प्रपंच इसका जीता-जागता उदाहरण है।

महिमभट्ट आलोचना करते हैं किन्तु आलोच्य के साथ पक्षपात करते हुए। कालिदास के **'तां जानीयाः०'** पद्य (पृ० ४८५) में द्वितीयान्त पदों को लेखकभ्रम कह कर प्रथमान्त पाठ को ही कविविवक्षित बतलाते हैं और इसीप्रकार **'चंद्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली'** को **'चंद्रं प्रवृद्धो जलधिर्निशीव'** बना देते हैं। व्यक्तिविवेक में उद्धृत पद्यों में भी पर्याप्त पाठान्तर है। कुछ पद्य तो ऐसे हैं जिनके पूर्वार्ध-उत्तरार्ध में विपर्यास हो गया है। व्याख्यानकार ने उन्हें सुधारा नहीं है यद्यपि ग्रन्थकार को **'प्रौढवादरचनाविचक्षण'** कहने में वे नहीं चूके हैं। ऐसे अन्य दोषों के रहते हुए भी 'व्यक्तिविवेक' संस्कृतकाव्यशास्त्र का पूरक और अनिवार्य, महत्त्वपूर्ण और आदरणीय ग्रन्थ है। काव्य के निर्माण और अनुशीलन में यह ग्रन्थ आनन्दवर्धन और मम्मट के ग्रन्थों से अधिक व्युत्पादक है। दुःख की बात है कि इसकी गुरुशिष्य परम्परा नहीं चली और इसपर अच्छी टीकाएँ नहीं बनीं। कोई ऐसा पण्डित अभी भी नहीं है जिसने काव्यप्रकाश के समान व्यक्तिविवेक पर दस-बीस वर्ष विशेषाध्ययन कर इसके एक-एक अंश को स्पष्ट कर लिया हो। यह ग्रन्थ केवल संदर्भग्रन्थ के रूप में देखा जाता रहा। मल्लिनाथ, हेमाद्रि आदि टीकाकार व्यक्तिविवेक को उद्धृत करते हैं। मल्लिनाथ ने एकावली पर टीका लिखी, किन्तु व्यक्ति-विवेक पर नहीं। सब कुछ के बाद इस ग्रन्थ का महत्त्व इसी से विदित है कि प्रबल विरोध के बाद भी यह मृच्छकटिक के समान जीवित है, हृदयदर्पण के समान लुप्त नहीं हो गया।

राष्ट्रभाषा हिन्दी में हमें एक शुभ लक्षण दिखाई दे रहा है कि यह विचारक्षेत्र में पूर्वग्रह से जकड़ी नहीं है, जिसमें पड़ने से संस्कृत का उत्तरकाल विवेक और न्याय से उज्ज्वल कम, श्रद्धाभक्ति से अन्धकारपूर्ण अधिक है। हमें आशा है कि हिन्दी अन्य पौरुषेय पदार्थ चिन्तन के ही समान व्यक्तिविवेक द्वारा प्रस्तुत काव्यार्थ चिंतन में भी धधकती यज्ञाग्नि सिद्ध होगी।

टीकाकार—

व्यक्तिविवेक की जो संस्कृत टीका यहाँ दी जा रही है उसमें उसके रचयिता का नाम नहीं मिलता, किन्तु इसमें 'साहित्यमीमांसा' तथा 'हर्षचरितवार्तिक' को टीकाकार ने अपनी अन्य कृति बतलाया है—

'अस्य च विधेयाविमर्शस्य०००अस्माभिः साहित्यमीमांसायां०प्रपञ्चः प्रदर्शितः इति ग्रन्थविस्तरभयादित 'एवोपरम्यते' (पृ० २८६) **एतच्चास्माभिः हर्षचरितवार्त्तिके निर्णीतमिति तत एवावगन्तव्यम्।'** (पृ० ३९३)

इन दोनों ग्रन्थों को अलंकारसर्वस्वकार ने भी स्वकृति कहा है—

'एषापि समस्तोपमाप्रतिपादकविषयेऽपि हर्षचरितवार्तिके साहित्यमीमांसायां च००० उदाहृता, इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न प्रपञ्चिता' (निर्णयसागर सं०-२, पृ० ७७, उत्प्रेक्षा-प्रकरण)

अलंकारसर्वस्व के टीकाकार जयरथ भी 'साहित्यमीमांसा' को अलङ्कारसर्वस्वकार की अपरकृति मानते हैं—

'ग्रन्थकृतापि साहित्यमीमांसायामेतच्छ्लोकविवृतौ पदद्वयमेवोक्तम्' (विमर्शिनी, अ० स० पृष्ठ-१६० संस्करण वही)

साथ ही व्यक्तिविवेक व्याख्यान को भी उन्होंने ग्रन्थकार की अपर रचना कहा है—

'वाच्यस्य प्रतीयमानेन तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावादि नेह प्रतन्यते व्यक्तिविवेकविचारे हि मयैतद् वितत्य निर्णीतमिति भावः' (वही पृ० १६)

जो साहित्यमीमांसा त्रिवेन्द्रम् से छपी है उसमें दोषप्रकरण खण्डित है अतः विधेयाविमर्श तो बिलकुल ही नहीं है, किन्तु उत्प्रेक्षा की वह सामग्री उसमें अवश्य प्राप्त है जिसे सर्वस्वकार ने सर्वस्व में छोड़ दिया है और वहीं से समझ लेना पर्याप्त बतलाया है। यह सामग्री 'मन्ये शंके०' आदि उत्प्रेक्षावाचक पदों की है। जयरथ ने विभावना प्रकरण में जिस 'अनंगलेखा०' इत्यादि पद्य पर प्रदर्शित तीन मतों में से तृतीय मत को प्रक्षिप्त माना है वह साहित्यमीमांसा में नहीं है, यद्यपि अन्य दो के भी संकेत ही मिलते हैं (पृ० ४७ सी० मी०)। अतः इस छपी साहित्यमीमांसा को ही अलङ्कारसर्वस्वकारकृत माना जा सकता है। हर्षचरितवार्तिक अभी तक प्राप्त नहीं है, किन्तु साहित्यमीमांसा के साथ समान रूप से उसका दोनों ग्रन्थों में उद्धरण उसकी अभिन्नकर्तृकता प्रमाणित कर ही देता है।

जहाँ तक अलङ्कारसर्वस्व के रचयिता का सम्बन्ध है उसके नाम में भी विवाद है। अलङ्कार-सर्वस्व की छपी प्रतियों में से निर्णयसागरीय प्रति में उसके रचयिता का उल्लेख नहीं है और त्रिवेन्द्रम् से समुद्रबन्ध की टीका के साथ छपी प्रति में उसके रचयिता के लिए यह अनुष्टुप् दिया हुआ है—

'इति मंखुको वितेने काश्मीरक्षितिपसांधिविग्रहिकः।
सुकविमुखालङ्कारं तदिदमलङ्कारसर्वस्वम् ॥'

निर्णयसागरीय प्रति में 'निजालङ्कारसूत्राणाम्' यह जो प्रथम पद्य है, उसके स्थान पर इन दक्षिणी प्रतियों में 'गुर्वलङ्कारसूत्राणाम्'—पाठ है। समुद्रबन्ध ने भी वृत्ति का रचयिता मंख को माना है। राजतरंगिणी के ८।३३५४ पूर्वोद्धृत पद्य में मंख को सांधिविग्रहिक कहा भी गया है। मंख ने अपने श्रीकण्ठचरित के प्रागुक्त संदर्भ में रुय्यक को अपना गुरु और अनेक शास्त्रों पर सूत्रों का निर्माता बतलाया है। इसके अतिरिक्त अलङ्कारसर्वस्व की वृत्ति में श्रीकण्ठचरित के

अनेक पद्य उद्धृत भी हैं यद्यपि उनमें सम्बन्ध सूचना के लिए 'यथा मम श्रीकण्ठचरिते' इत्यादि कुछ भी निर्देश नहीं है। गुरु के पद्यों को उद्धृत करना तो प्रसिद्ध है किन्तु शिष्य के पद्यों को उद्धृत करने का कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। निश्चित ही मंख ने अपने पद्यों के साथ सम्बन्ध-सूचक शब्द केवल विनयभाव के कारण नहीं दिये। इस प्रकार सूत्रों के रचयिता रुय्यक और वृत्ति के मंख ही विदित होते हैं।

निर्णयसागर की प्रति में उसके संपादक श्रीगिरिजाप्रसाद द्विवेदी ने वृत्ति का रचयिता भी रुय्यक को ही माना है। मंख के विषय में प्राप्त उद्धृत प्रमाण को वे प्रसिद्धि के आधार पर प्रतिलिपिक द्वारा अपनी ओर से जोड़ा हुआ और अप्रामाणिक मानते हैं। उनका कथन है कि मंख सांधिविग्रहिक नहीं थे, उनके बड़े भाई अलङ्कार सान्धिविग्रहिक थे अतः उक्त पुष्पिका पद्य अप्रामाणिक है। कदाचित् उन्होंने राजतरंगिणी का ८।३३५४ वां—

'सांधिविग्रहिको मंखकाख्योऽलङ्कारसोदरः।
स मठस्याभवत् प्रष्ठः श्रीकण्ठस्य प्रतिष्ठया॥'

यह पद्य नहीं देखा था। उन्होंने जिन प्रतियों के आधार पर अलङ्कारसर्वस्व का सम्पादन किया है वे अवश्य ही अपूर्ण थीं। यह इसी से सिद्ध है कि उनमें प्रारम्भ में मंगल पद्य है किन्तु अन्त में पुष्पिका नहीं। उनके अन्य तर्क उक्त प्रमाण से अपने आप कट जाते हैं। 'गुर्वलंकारसूत्राणाम्' में आए गुरु पद को वे गम्भीरता के अर्थ में जमा देना चाहते हैं। किन्तु वह सदोष है। क्योंकि उस अर्थ में गुरु शब्द की आवश्यकता ही नहीं रहती। सूत्र शब्द अपने-आप में गाम्भीर्य का द्योतक होता है।

इस प्रकार जब 'अलङ्कारसर्वस्व' की वृत्ति के रचयिता मङ्ख सिद्ध होते हैं तो व्यक्तिविवेक-व्याख्यान का रचयिता भी उन्हें ही मानना पड़ता है। उनका समय ई० ११२८ का विचार पहले ही किया जा चुका है।

इस व्याख्यान की विशेषता यह है कि इसमें जहाँ एक ओर व्यक्ति-विवेक के मर्मस्थानों का स्पष्टीकरण किया गया है वहाँ दूसरी ओर ध्वनि के समर्थन में इस पर आक्षेप भी किए गए हैं। व्याख्याकार ने मूलकार को 'साहित्यविचारदुर्निरूपक' तो कहा ही है (पृ० ४, श्लोक ३ की व्याख्या) निरंकुश भी कहना चाहा है (पृ० ३३८)। महिमभट्ट ने श्लोकरचना में दोष दिखलाए हैं अतः उनके स्वयं के श्लोकों पर उन्हीं की दृष्टि से कटाक्ष करने की पूरी छूट व्याख्याकार ने बरती है। ध्वनिकार के मत का खण्डन कर जहाँ महिमभट्ट ने संग्रहकारिका द्वारा उसका उपसंहार किया है वहाँ ध्वनिकार का समर्थन कर व्याख्याकार ने कारिका द्वारा ही प्रत्युत्तर दिया है। ग्रन्थकार की प्रशंसा भी की है किन्तु दबे स्वर में। इतना होने पर भी इस टीका का शास्त्रीय महत्त्व उतना ही है जितना ध्वन्यालोक के लोचन का। भाषा की सफाई में तो हम इसे लोचन से भी

समृद्ध मानते हैं। विधेयादिमर्श में जहाँ सर्वनाम का विवेचन किया गया है वहाँ व्याख्यान मूलग्रन्थ से आगे बढ़ा दिखाई देता है। विशेषण की प्रौढ़ि-अप्रौढ़ि पर जो सूक्ष्म, विस्तृत तथा सोदाहरण विवेचन किया है वह मम्मट के भी दोषविवेचन का पूरक है।

व्याकरण और बौद्धसाहित्य तो व्याख्यानकार के खिलौने हैं। धर्मकीर्ति की—**'नैमित्तिक्याः श्रुतेरर्थम्'** (पृष्ठ ३३९) इस कारिका को लेकर जहां मनोरथनन्दी और प्रज्ञाकरगुप्त में परस्पर विवाद है वहां यह उसे सहज भाव से उद्धृत कर देता है। मनोरथनन्दी उक्त कारिका का चतुर्थ चरण—**'अबाधनार्हो हि वर्णितः'** मानते हैं और प्रज्ञाकरगुप्त **'न बाध्यस्तेन वर्णितः।'** मनोरथनन्दी श्रुति शब्द को सामान्यशब्दपरक मानते हैं और प्रज्ञाकरगुप्त वेदपरक। व्याख्यानकार पाठ मानते हैं प्रज्ञाकरगुप्त का और अर्थ में अनुकरण करते हैं मनोरथनन्दी का। मनोरथ के अनुसार उक्त कारिका का अर्थ यह है—

'नैमित्तिक्याः वस्तुभूतगुणादिनिमित्तवत्याः श्रुतेः अर्थं गुणादिकं पारमार्थिकमर्थं गुणिगुणादिसंबन्धं शब्दानां गुणादिवाचिनां प्रतिसन्धानोऽबाधनार्हो बाधां नार्हतीत्युक्तो भवति।'

शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त गुण, क्रिया, जाति, यदृच्छा हैं। किन्तु वस्तुतः इनके अर्थ गुणादि न होकर उनके संबंध हैं जो (सिरफिरा) इन संबन्धादि का विरोध करता है (वह विरोध करता रहे) उससे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। प्रज्ञाकरगुप्त के भाष्य का अभिप्राय ऐसा कुछ है—श्रुति अर्थात् वेद मन्त्रों के निर्माण का प्रयोजन है कोई प्रलोभन, अन्य शब्दों की प्रवृत्ति होती है संकेत से ऐसा नहीं मानना चाहता उसे सताने की आवश्यकता नहीं है। व्यक्तिविवेकव्याख्यान में यहां निमित्त बल से शब्द की प्रवृत्ति होने पर निमित्त के अभाव में शब्द प्रयोग अनुपपन्न बतलाया गया-दरसाया गया है और तब यह कारिका प्रमाण रूप से उद्धृत की गई है। अतः यहां उसका वही अर्थ मान्य है जो मनोरथनन्दी ने स्पष्ट किया है। प्रथम दोनों संस्करणों में उक्त कारिका अशुद्ध छपी थी और उसके साथ '?' यह प्रश्न चिह्न लगा हुआ था। इसी प्रकार और भी ऐसे स्थल इस व्याख्यान में हैं जो स्पष्ट नहीं हो पाये थे। उनमें से कुछ अभी भी स्पष्ट नहीं हैं। इस टीका के अतिरिक्त व्यक्तिविवेक की दो टीकाएँ और हैं एक अकालजलद कहे जाने वाले चामुण्डसिंह की प्रेरणा से लिखित तिलक नामक और दूसरी पं० मधुसूदनजी मिश्र की मधुसूदनीविवृति। पहली टीका अभीतक प्रकाशित नहीं है उसकी प्रति पूना भण्डारकर प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान में है। दूसरी चौखम्बा से बहुत पहले छप चुकी है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा में यह ग्रन्थ पहली बार प्रस्तुत हो रहा है। कदाचित् विश्वभर में व्यक्तिविवेक का यह पहला भाषान्तर है। इसमें हमने हिन्दी में मूल और टीका दोनों का अनुवाद कर उनमें अपेक्षित टिप्पणियां भी दे दी हैं। यथासम्भव विषय भी स्पष्ट कर दिया है। शीघ्रतावश इसमें श्लोकों के सन्दर्भ ढूंढे नहीं जा सके, पुस्तक छपने पर

हमें रत्नाकर का हरविजय मिला तो उसमें अनेक पद्यों के पाठ कुछ और ही दिखाई दिये—'उपसि विगलितान्धकार' (पृ० ४१४) की जगह हरविजय में टीकाकार ने 'विगलित-वितितान्धकार' पाठ माना है (२८।८२ ह० वि)। इसी प्रकार स्फुटदलनमनाश्च (पृ० ४१५) की जगह हरविजय में 'स्फुटद्लनघनाश्च' (२८।९५) पाठ है, 'सरसमन्थरतामर-सोदर०' (पृ० ४१५) की जगह 'सरसमन्थरतामरसादर०' (३।१५) पाठ है, 'संग्रामनाटक०' (पृ० ४१८) पद्य के 'उत्थापनेन' के स्थान पर हरविजय में 'उत्थापकेन' (४०।३८) पाठ है। इन कारणों से जो-जो कठिनाइयां यहां रह गई हैं उनका परिहार विज्ञ पाठक स्वयं कर लेंगे। इन अंशों पर व्याख्यान लब्ध नहीं है। राजानक अलक ने उत्थापकेन का अर्थ 'उत्कृष्टः स्थापकः सूत्रधार-प्रायः, उक्तं च स्थापकः प्रविशेदन्यः सूत्रधारसमाकृतिः इति०', 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इति सकारस्य थकारः, उत्थापको वा सात्वतीवृत्तिभेदः, उक्तं च (खण्डित)।' उन्होंने 'उत्थापनेन' पाठ पर भी विचार किया है और लिखा है—क्वचित् 'उत्थापनेन' इति पाठः, तत्रोत्थापनम्, उत्प्लावनम् 'यस्मादुत्थापयन्त्यत्र प्रयोगं नान्दिपाठकाः, पूर्वमेव तु रङ्गेऽस्मिंस्तस्मादुत्थापनं स्मृतम्' इति पूर्वरङ्गाङ्गं च। नान्दी नगाड़े का भी नाम है। मालविकाग्नि-मित्र में गणदास जहां प्रयोग का आरम्भ करते हैं वहां उसके आरम्भ की सूचना नगाड़ा बजाकर ही देते हैं—

जीमूतस्तनितविशंकिभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य।
निर्ह्रादिन्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि॥

पद्य द्वारा वहां वाद्यध्वनि के उत्थापन का उल्लेख भी किया गया है अतः यहां कदाचित् उत्थापन का नान्दी निनाद अर्थ ही विवक्षित है। उसे सुनते ही सहृदयजन प्रयोगारम्भ की सूचना से प्रसन्न हो उठते हैं। हमारा अर्थ इस अर्थ के पास तक पहुंचा हुआ है।

व्यक्तिविवेक का प्रथमानन मैंने काशीहिन्दूविश्वविद्यालय के भूतपूर्व साहित्यविभागाध्यक्ष तथा संस्कृतमहाविद्यालय-प्राचार्य पं० महादेवजी शास्त्री संप्रति ऊर्ध्वाम्नायकाशीपीठाधीश्वर अनन्त-श्रीविभूषित शंकराचार्य श्रीमन्महेश्वरानन्दजी सरस्वती से तथा शेषांश का० हि० वि० विद्यालय के भूतपूर्व तथा वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय के वर्तमान साहित्यविभागाध्यक्ष पं० रामकुबेरजी मालवीय से पढ़ा है। इन दोनों आचार्यों ने चौखम्बा तथा त्रिवेन्द्रम् की प्रतियों का अपने सुदीर्घ अध्यापनकाल में जो संशोधन किया था मैंने उसका पूर्ण लाभ लिया है, यद्यपि मैंने स्वयं भी, जहां-तहां संशोधन किये हैं, उनका मैंने स्पष्ट उल्लेख भी कर दिया है। औपचारिक कृतज्ञता प्रकाशित कर मैं अपने इन गुरुजनों और अपने बीच तटस्थता नहीं लाना चाहता, क्षमा अवश्य चाहता हूँ, यदि इस ज्ञानरिक्थ को सम्हालने में मुझसे क्वचित् स्खलन हुआ हो या मैं उनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप कार्य न कर पाया होऊँ।

मेरे प्रेरणागुरु डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल जिन्हें मैं 'सारस्वतदधीचि' कहूँ तो सरस्वती को प्रसन्नता होगी, कलकत्ता के काव्यशास्त्रविनोदी और कलामर्मज्ञ श्रीमान् गोपीकृष्ण जी कानोडिया, सहज सनातनी श्रीमान् गौरीशङ्कर जी गोयनका तथा उसी नगरी के 'समृद्ध चारुदत्त' श्रीयुत सेठ हनुमानप्रसाद जी पोद्दार का मैं हृदय से अनुग्रह मानता हूँ जिनके आधार पर मैं काशी में रह सका अतः जिनकी स्मृति मेरे प्रत्येक ज्ञानकण के साथ सदा संलग्न रहेगी।

इस ग्रन्थ का अधिकांश मैंने काशी के आदरणीय श्री श्रीनन्दनजी शाह के दुर्गाकुण्डस्थ आवास में रहकर निष्पन्न किया है। मुझे दुःख है कि इस प्रकाशन के समय आज वे इस संसार में नहीं हैं।

वाराणसी के विश्वविख्यात प्रकाशन-संस्थान चौखम्बासंस्कृतसीरीज तथा चौखम्बाविद्याभवन के संचालक श्रीयुत मोहनदास जी गुप्त तथा श्रीयुत विट्ठलदास जी गुप्त ने इस भाष्य के निर्माण में आवश्यक ग्रन्थादि देकर सक्रिय सहयोग दिया तथा इसके प्रकाशन का भार स्वयं लेकर इसे यथासमय प्रकाशित भी कर दिया, एतदर्थ मैं उनकी वृद्धि-कामना करता हूँ।

राष्ट्रभाषा की सेवा में पहली बार प्रस्तुत हो रहे मेरे इस आरम्भिक प्रयास का विद्वानों में यदि कोई आदर हुआ और छात्रों ने इससे लाभ उठाया तो मैं इसे सफल समझूंगा—

६।१।६४
शासकीय संस्कृतमहाविद्यालय
रायपुर

रेवाप्रसाद द्विवेदी

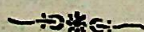
विषय-सूची

प्रथम विमर्श

द्वितीय विमर्श

तृतीय विमर्श

श्लोकानुक्रमणी



अथ द्वितीयो विमर्शः

एवं तावत् प्रथमे विमर्शे ध्वनिलक्षणं दूषयित्वा ध्वनिशास्त्रगतं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' ग्रन्थान्तरं दूषयितुं सामान्येन तावत् काव्यगतमनौचित्योल्लासरूपं दूषणप्रपञ्चमुपपादयितुमाह—इह खल्वित्यादिना—

इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम्, अर्थविषयं शब्दविषयं चेति। तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते।

अपरं पुनर्बहिरङ्गं बहुप्रकारं सम्भवति। तद्यथा—विधेयाविमर्शः, प्रक्रमभेदः, क्रमभेदः, पौनरुक्त्यं, वाच्यावचनं चेति।

इस प्रकार प्रथम विमर्श में पहले तो ध्वनि लक्षण को सदोष ठहराया, अब ध्वनिशास्त्र में आए एक दूसरे ग्रन्थांश (काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति···) को सदोष ठहराने के लिए पहले सामान्य रूप से काव्य में आने वाले दोषों के जो अनौचित्य प्रतीति स्वरूप होते हैं, प्रपञ्च का उपपादन करने के लिए कहते हैं—इह खलु इत्यादि द्वारा—

यहाँ जो है सो, दो प्रकार का अनौचित्य कहा गया है—(१) शब्दविषयक और (२) अर्थविषयक। इनमें से एक का स्वरूप, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का रसों में जो बेमेल उपयोग है—बस इतना ही है, यह अनौचित्य अन्तरङ्ग होता है, इसका निरूपण पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने ही कर दिया है अतः यहाँ इसका फैलाव नहीं किया जा रहा है। दूसरा जो है, वह बहिरङ्ग होता है, और वह कई प्रकार हो सकता है—जैसे विधेयाविमर्श, प्रक्रमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य और वाच्यावचन।

उक्तमिति सहृदयैः। अन्तरङ्गमिति साक्षाद् रसविषयत्वात्। आद्यैरिति ध्वनिकारप्रभृतिभिः। तदुक्तम्—

> 'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
> प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥' इत्यादिना।

उक्तम् = कहा है = कहा गया है = अर्थात् सहृदयों द्वारा।
अन्तरङ्गमिति = अन्तरङ्ग होता है, इसलिए कि वह साक्षात् रस विषयक होता है।
आद्यैः = ध्वनिकार आदि द्वारा जैसा कि—
रसभङ्ग का कारण अनौचित्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।
प्रसिद्ध औचित्य का निर्वाह रस का परम रहस्य है—इत्यादि द्वारा कहा है।

बहिरङ्गमिति। वाच्यमुखेन रसे पर्यवसानाद्। विधेयः प्राधान्येन प्रतिपिपादयिषितो योऽर्थस्तस्य अविमर्शोऽननुसन्धानम् उपसर्जनीकरणात्। प्रक्रमः कस्यचिद्वस्तुनो निर्वाहायारम्भस्तस्य भेदो मध्येऽन्यथीकरणम् अन्यथानिर्वाहश्च। क्रमस्य परिपाट्या भेद उल्लंघनं व्युत्क्रम इति यावत्। पौनरुक्त्यं पुनःप्रतिपादनम्। वाच्यस्य वक्तव्यस्य अवचनमनुक्तिः।

बहिरङ्ग = अर्थात्—वाच्य के माध्यम से रस में पर्यवसित होने से।

विधेय = अर्थात् वह पदार्थ जिसका प्रतिपादन प्रधान रूप से करना हो, उसका अविमर्श = अर्थात् उपसर्जनीकरण = गौण या अप्रधान बना देने के कारण = अनुसंधान न होना—प्रधान रूप से समझ में न आना।

प्रक्रम = अर्थात् किसी वस्तु के निर्वाह के लिए आरम्भ, उसका भेद = अर्थात् बीच में परिवर्त्तन या जैसा एक रूप निर्वाह चाहिए वैसे निर्वाह का न होना।

क्रम = अर्थात् परिपाटी का भेद = अर्थात् उल्लङ्घन, अर्थात् व्युत्क्रम—

पौनरुक्त्यम् = दुबारा प्रतिवाद करना।

वाच्यस्य = जिसे कहा जाना चाहिए उसका अवचन = अर्थात् न कहना।

एता अवान्तरभेदभिन्नाः पञ्चदूषणजातयः। यदेतदिह ग्रन्थकृता विचारसरणिमाश्रित्य विधेयाविमर्शादिदोषपञ्चकमुद्भावितं, न तत्राद्यतनपुरुषमात्रबुद्धिप्रणयनासूययानादरः करणीयः। पूर्वैरेवंविधदोषोद्भावनरूपस्य विचारस्य प्रणीतत्वात्। तथा हि। 'दास्याः पुत्र' इत्यादावाक्रोशे षष्ठ्या अलुकं प्रतिपादयता सूत्रकृता विधेयाविमर्शः सूचित एव। तथा 'स्वामीश्वराधिपतिदायादे'(२-३-३९)त्यत्र सूत्रे 'नहि भवति गवां स्वामी अश्वेषु चे'ति वदता—भाष्यकृता स्पष्टमेव प्रक्रमभेदः प्रतिपादितः। तथा 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (३-१-४०) इत्यत्रानुप्रयोगस्यानुशब्दपर्यालोचनया व्यवहितपूर्वप्रयोगं 'तं पातयां प्रथममास' इत्यादौ निषेधता, चादीनां च 'नहि भवति च वृक्षः' इत्यादिना प्रयोगनियमख्यापनेन द्योतकत्वं कथयता अस्थानप्रयोगलक्षणः क्रमभेदः स्फुटीकृत एव। तथा 'कर्मधारयमत्वर्थीयाभ्यां बहुव्रीहिर्लघुत्वात् स्यादि'ति वृत्तिलाघवं चिन्तयता कात्यायनेन पौनरुक्त्यमपि प्रकाशितमेव। तथा ईषदसमाप्तौ (५-३-६७) इत्यत्र प्रतिज्ञानसमधिगम्यं सूत्रकारोक्तं रूपकलक्षणमर्थं दूषयता प्रकृत्यर्थसदृशे कल्पबादिविधानमि'ति प्रतिज्ञानसमधिगम्यार्थभूतामुपमां व्यवस्थापयतोपमाश्रयेण वाच्यावचनमपि द्योतितमेव। एतेन रूपकाश्रयेणावाच्यवचनमपि द्योतितमेव। तदेवं महाविदुषां मार्गमनुसृत्य सहृदयशिक्षादराय विचारय(न्दरं ?)तोऽस्य महामतेर्न कश्चित् पर्यनुयोगलेशस्याप्यवसर इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

दोषों की ये पाँच ही जातियाँ हैं, ये ही अनेक अवान्तर भेदों में बँट जाती हैं। ग्रन्थकार ने ऐसा विचारपथ अपना कर यह जो विधेयाविमर्श आदि पाँच दोषों की उद्भावना की है उसपर यह सोचकर कि यह अभी के नए व्यक्ति की सूझ है—असूया और अनादर नहीं किया जाना चाहिए क्यों इस प्रकार दोषों की उद्भावना करने का विचारपथ पुराने लोगों ने ही बना दिया है। 'दास्याः पुत्र' 'दासी का जाया'—इसमें षष्ठी का लोप न करने की व्यवस्था देने वाले सूत्रकार (पाणिनि) ने विधेयाविमर्श की सूचना दी है। इसी प्रकार—स्वामीश्वराधिपति दायादसाक्षिप्रतिभू...इत्यादि सूत्र पर भाष्य करते हुए 'नहीं होता गायों का मालिक घोड़ों पर भी' ऐसा कहते हुए भाष्यकार ने भी प्रक्रमभेद स्पष्ट ही बतलाया है।[1] इसी तरह 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि (३।१।४०) यहाँ 'अनुप्रयोग' शब्द के 'अनु' उपसर्ग की अनुवीक्षा द्वारा 'तं पातयाम्प्रथममास (रघुवंश ९।६१) इत्यादि स्थलों में व्यवहित प्रयोगों का निषेध करते हुए तथा 'न हि भवति च वृक्ष' इत्यादि द्वारा चकारादि (निपातों) के प्रयोग का नियम बतलाकर उनकी

१. इस सूत्र पर पातञ्जल भाष्य नहीं मिलता।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ		पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१		१०	जननीमपि	जननीं मयि
२	※नी०	८	संचार	संचार से
१७		१०	गन्थकार	ग्रन्थकार
१७		१२	शब्दों का	शब्दों के
२१	नो०	३	खिन्नमानसाम्	खिन्नमनसाम्
२३		९	वैचित्र्यापरपर्याय	वैचित्र्यापरपर्यायं
२४		१४	व्यङ्ग्येव	व्यङ्ग्यैव
२५		२	के शब्द ज्ञान से	के लिए शब्द ज्ञान से
२८		८	पढ़ती	रहती
३०		२	रहने वाले उसके	रहनेवाला उसका
३०		३	अत्वं यह एक धर्म	अत्व
३०		४	रुय्यक	व्याख्यानकार (इसी प्रकार अन्यत्र भी)
४३		३१	न नत्वसा०	न तत्त्वासा०
१२८		४	प्रथम प्रकाश	प्रथम उल्लास
१४६		७	काव्यहेतु	हेतु
१६९		२	उसका फल	उसका
२०८		१५	स्मृतिभूस्मृति०	स्मृतिभूः स्मृति०
२२७		२१	कल्पितर्घाय	कल्पितार्घाय
२७४		१३	प्रधानेतर	प्रधानेतरभाव
२७४		२५	स्वमनोपिकयै०	स्वमनीपिकयै०
३४२	नी०	११	भूमनन्दा	भूमनिन्दा
४०१	नी०	४	मुद्धीच्यको	मुद्धीच्य को
४११	नी०	१४	वभ्रव	वभ्रवः
४१५		३	वघटित	विघटित
४३६	नी०	१४	सरसींश्च	सरसीश्च
४३९		१५	येनालङ्कृत	येनालङ्कृत
४६३		६	शुकनो	शुनको
५१२		११	व्यक्तिविवेक तथा उसके संस्कृत व्यख्यान के	व्यक्तिविवेक के
५१२		१४	निर्भयम्	निर्भयम्

※ 'नो' का अर्थ है नीचे से।

सूचना—अशुद्धियाँ इनके अतिरिक्त भी संभव है। सहृदय पाठक उन्हें स्वयं सुधार लेंगे।

प्राप्तिस्थान

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)